

भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

42880



डा० रतिमानु सिंह नाहर, एम० ए०, डी० फिल०

891.43

Nah



किताब महल (होलसेल डिवाजन) प्राइवेट लिमिटेड

रजिस्टर्ड आफिस : ५६ ए, जौरो रोड, इलाहाबाद

LIBRARY, B.S. DEVI.
LIBRARY, B.S. DEVI.

Acc. No. 44690
Date 19.8.1966
Call No. 891.43 / Nah

प्रकाशक : किताब महल (होलसेल डिप्टी), प्राइवेट लिमिटेड ;
मुद्रक : प्रेम प्रेस, कटरा ।
आवरण मुद्रक : ईगल ऑफसेट प्रिंटर्स, १५, थार्नहिल रोड,

इलाहाबाद ।
इलाहाबाद ।
इलाहाबाद ।

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ

१. प्रस्तावना
२. आन्दोलन की यथार्थता ७
३. भक्ति भावना से भक्ति आन्दोलन तक वैदिक युग १२
४. उत्तर वैदिक काल—संहिताओं से उपनिषदों तक २६
उपनिषद तथा भक्ति, उपनिषदों के साध्य, साधक तथा साधन ।
५. उपनिषदों से महाकाव्य युग तक ४६
सूत्र साहित्य, महाभारत—नारायण तथा वासुदेव का समीकरण, वासुदेव तथा विष्णु का समीकरण, वासुदेव तथा कृष्ण का समीकरण, सार्वत, वृष्णि वंश तथा पांचरात्रिक, भवत व भगवान का सामान्य रूप, वासुदेव कृष्ण तथा गोपाल कृष्ण का समीकरण, महाकाव्य युग तक अवतारवाद, रामावतार व वाल्मीकि रामायण, राम व सीता की प्राचीनता, गीता की भक्ति, गीता में अवतार, गीता में भक्ति का महत्व, निर्गुण तथा सगुण भक्ति, भवत के प्रकार, भवत के लक्षण, गीता की भक्ति-साधना, गीता के आराध्य देव, वर्णाश्रम की स्थापना ।
६. पौराणिक तथा पांचरात्रिक युग १०१
पुराण—भक्ति-आन्दोलन में पुराणों की देन, श्रुतियों की प्रामाणिकता एवं वर्णाश्रम धर्म की स्थापना, वैष्णव पुराणों की दार्शनिकता, वैष्णव पुराणों की धर्म-साधना, अवतारवाद, कृष्ण चरित्र, पांचरात्रिक भक्ति, आन्दोलन में उनकी देन, पांचरात्र नामकरण, संहिताएँ, पांचरात्र संहिताओं में अवतारवाद ।
७. भक्ति-आन्दोलन के विकास में प्राचीन राजनीतिक शक्तियों का सहयोग १४५
८. पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन १६२
दक्षिण भारत के आलवार, दक्षिण भारत की उपयुक्त परिस्थिति, दक्षिणी भक्ति-परम्परा का काल—निर्धारण, आलवार भवत आचार्य-रंगनाथ मुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, वल्लभाचार्य दार्शनिक मत-वाद, मध्यकालीन भक्ति, आन्दोलन की दार्शनिक आधार-शिला, ब्रह्मसूत्र मीमांसा, विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद ।
९. रामावत सम्प्रदाय १९३
स्वामी राघवानन्द, स्वामी रामानन्द—रामानन्द के सिद्धान्त, रामावत सम्प्रदाय में रसिकता—रामकाव्य एवं नाटक, संहिता ग्रन्थ, उपनिषद ।
१०. भागवत सम्प्रदाय से मधुरोपासना तथा रसिकता २०७
११. हिन्दी भक्ति साहित्य—एक सामान्य परिचय २२२
हिन्दी भक्ति-साहित्य-सामान्य परिचय, निर्गुण भक्ति धारा—संत, संत मत एवं परम्परा, संतों की भक्ति, कुछ प्रमुख संत—प्रारम्भिक युग, संत नामदेव, कबीर दास, कुछ अन्य संत, मध्ययुगीन संत ।

१२. पूर्वमध्यकालीन सांस्कृतिक पर्यावरण २४७
 राजनीतिक अवस्था, धार्मिक असहिष्णुता की इसलामी प्रतिक्रिया, जनसमुदाय पर प्रभाव, बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की सामाजिक परम्परा एवं प्रगति, कबीर ने जैसा पाया, अन्यान्य संत कवियों द्वारा समाज का चित्रण, धार्मिक अवस्था—प्रथम सोपान—आठवीं से दसवीं शती तक—देवता-देवी, शास्त्रों का प्रणयन, परिवर्द्धन, शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय की स्थिति जैन व बौद्ध धर्म, द्वितीय सोपान, दसवीं से बारहवीं शती, हिन्दू धर्म, नव वैष्णव धर्म, जन धर्म, इसलाम धर्म, सूफी, ख्वाजा सम्प्रदाय—निजारी धर्म, प्रचारक, कबीर की दृष्टि में तत्कालीन धर्म, सामाजिक व धार्मिक समन्वय के प्रारम्भिक प्रयत्न ।
१३. मध्यकालीन सांस्कृतिक पर्यावरण २८४
 संक्रान्ति काल—प्रान्तीय राज्य एवं राजनीतिक विशृंखलता, मुगलों की धार्मिक नीति, सामाजिक विषमता, तथा नैतिक पतन ।
१४. गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय २९८
 चैतन्य महाप्रभु, षट् गोस्वामी, गौड़ीय सम्प्रदाय के सिद्धान्त ।
१५. महाराष्ट्र, उत्कल तथा आसाम में वैष्णव धर्म ३०८
 बारकरी मत—संत ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, बारकरी सिद्धान्त, रामदास, उत्कल का वैष्णव धर्म, आसाम का वैष्णव धर्म ।
१६. रामभक्ति शाखा के हिन्दी कवि ३१३
 मर्यादोपासना शाखा—महात्मा तुलसीदास, कुछ अन्य कवि, रसिकोपासना-शाखा ।
१७. बल्लभ और अष्टछाप के कवि ३१२
 गोपीनाथ, विट्ठलनाथ, महात्मा सूरदास, नन्ददास, परमानन्द दास, कृष्ण दास, कुम्भन दास, चतुर्भुज दास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, फुटकर कृष्ण कवि—रसखान, मीराबाई, नरोत्तमदास ।
१८. हितहरिवंश और राधावल्लभीय साहित्य ३४०
 राधावल्लभ सिद्धान्त, राधावल्लभीय साहित्य ।
१९. हरिव्यास जी और सखी सम्प्रदाय के कवि ३४८
 २०. भक्ति-आन्दोलन की आधुनिकतम प्रगति ३५२
 २१. उपसंहार ३५८

१ : प्रस्तावना

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन-हिन्दी भक्ति-साहित्य के विशेष संदर्भ सहित'। भारतीय धर्म-साधना में भक्ति-मार्ग का अपना विशिष्ट धार्मिक, साहित्यिक तथा सामाजिक महत्व रहा है। यही वह मार्ग है जिसने सर्वप्रथम व्यापक रूप से समाज के सम्पूर्ण अंग को प्रभावित किया और एक बहुत लम्बी अवधि तक इसका पथ-प्रदर्शन करते हुए इसे स्थायी मोड़ दिया। इसे धर्माधिकारियों, साहित्यकारों तथा समाजसेवियों का समान रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है। लगभग छठों शताब्दी ई० पू० से ही भक्तिपरक साहित्य का निर्माण आरम्भ हो चुका था और छठों शताब्दी ई० तक भारतीय वाङ्मय में भक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक तथा ललित साहित्य का कोष अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध हो गया। कर्म-मार्ग की अनुपयुक्तता तथा ज्ञान-मार्ग की दुरूहता के समक्ष भक्ति-मार्ग की उपयुक्तता एवं सरलता को बहुमत प्राप्त होता गया जिससे आगामी शताब्दियों में भी भक्ति-साहित्य की अभिवृद्धि हुई। फलतः संस्कृत साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग भक्ति-दर्शन तथा भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हो गया। देशज भाषाओं पर भी इसका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा और उसीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक हिन्दी, बंगला, तामिल, कन्नड़, गुजराती, उड़िया, असमिया आदि क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति-सम्बन्धी साहित्य बहुत अधिक परिमाण में लिखा गया। स्थानीय बोलियों में भी इस लोकप्रिय साधना-मार्ग की अनेक कथाओं को लोक-गीतों में बाँधा गया। आशय यह कि सम्पूर्ण भारतीय भाषा-साहित्य एवं लोकसाहित्य का एक बहुत बड़ा अंश भक्ति-सम्बन्धी दर्शन-ग्रन्थों, महाकाव्यों, इतिहास-पुराणों, फुटकल काव्यों, टीका-ग्रन्थों, अनुवादों, भावानुवादों, स्फुट लेखों, मुक्तकों एवं गातों से परिपूर्ण है। साहित्य की भाँति समाज में भी अन्य साधना-मार्गों की अपेक्षा भक्ति-मार्ग को अधिक महत्व दिया गया जिसके मूल में इसकी उपयुक्तता एवं सरलता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

भक्ति-आन्दोलन के इसी महत्त्व ने साहित्य, धर्म, दर्शन तथा इतिहास के पण्डितों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और १९वीं शताब्दी से ही इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये जाने लगे।

इन कार्यों में विशेष उल्लेखनीय वे हैं जो सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन या भागवत सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हैं अथवा स्थान विशेष में पल्लवित वैष्णव धर्म की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं। प्रथम कोटि के ग्रन्थों में डा० भण्डारकर की पुस्तक 'वैष्णवइश्वर, शैवइश्वर एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स' का प्रथम स्थान आता है। भण्डारकर महोदय ने साहित्य एवं पुरा-तात्विक सामग्रियों की पूरी छान-बीन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि भक्ति-आन्दोलन पूर्णतया भारतीय मनीषियों की देन है। इनके मतानुसार पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में वैष्णव

२ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

धर्म एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों को आधार बना कर धर्म-सुधार-आन्दोलन के रूप में एका-न्तिक धर्म के नाम से खड़ा हुआ। तभी 'गीता' की रचना हुई और शीघ्र ही इसने एक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया जिसे पांचरात्र या भागवत सम्प्रदाय कहा जाने लगा। सात्वत वंश वालों ने इसे बढ़ावा दिया। पहली शती ई० तक इस सम्प्रदाय में बाल गोपाल का अभाव रहा। तत्पश्चात् आभीरों ने बाल गोपाल की कथाओं का समवेश कराया और आठवीं शती तक यह सम्प्रदाय इसी रूप में चलता रहा। तभी शंकराचार्य का आविर्भाव होता है जिससे भक्ति-आन्दोलन में गतिरोध आने की आशंका उपस्थित हो गई, किन्तु ग्या-रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने इसे सँभाला और इसे नया रूप प्रदान किया। उत्तर में निम्बार्काचार्य ने इनके पदचिह्नों को अपना कर बाल गोपाल की उपासना को प्रधानता दी। तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाया। उत्तरी भारत में रामानन्द ने इसके विकास को गतिशील किया और भागवतधर्म में रामोपासना का प्रचार किया। १५वीं शताब्दी में कबीर ने भक्ति-आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया और फिर १६वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने बाल गोपाल और राधा-उपासना को बहुत अधिक आगे बढ़ाया। चैतन्य महाप्रभु ने राधा तत्व को प्रधानता देते हुए राधा-कृष्ण की युगल उपासना का प्रचार किया। महाराष्ट्र में नामदेव (सम्भवतः १४वीं शती) तथा तुकाराम (१६वीं शती) ने विठोबा नाम से इसे आगे बढ़ाया।

इस प्रकार डा० भण्डारकर ने भक्ति-आन्दोलन का प्रथम पूर्ण ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया था। किन्तु अब भी कुछ समस्याएँ ऐसी रह गयी थीं जिनका निराकरण आवश्यक था। विशेषतया भक्ति के उद्भव, भागवतधर्म-सम्बन्धी चरित्रों के समीकरण एवं उनके स्वरूप को लेकर विलियम्स ('इण्डियन-विजडम'), कोथ ('माइथॉलॉजी आफ आल रसेज' भाग ६), विलसन ('रिलिजस सेक्ट्स आफ हिन्दू'), मैक्स वेबर ('दि रिलिजन आफ इण्डिया'), बार्थ ('दि रिलिजन आफ इण्डिया') हार्पकिंस ('इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू'), आदि ने अपने ग्रन्थों में जो विभिन्न मत व्यक्त किये थे उससे भक्ति-आन्दोलन-सम्बन्धी सामग्रियों का पुनः परीक्षण आवश्यक प्रतीत होने लगा था। समस्या इतनी जटिल हो गयी थी कि 'इण्डियन एण्टिक्विटी' तथा 'जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' जैसी प्रमुख ऐतिहासिक पत्रिकाओं में ग्रियर्सन (ज० आ० रा० ए० सो० १९०७ तथा इ० ए० १९०८), केन्डो (ज० आ० रा० ए० सो० १९०७) हार्पकिंस (ज० आ० रा० ए० सो० १९०८) ए० गोविन्दाचार्य स्वामी (ज० आ० रा० ए० सो० १९११) कोथ (ज० आ० रा० ए० सो० १९११ व १९१५) तथा अन्यान्य विख्यात इतिहासकारों ने इस विषय के विभिन्न अंगों पर अनेक खोजपूर्ण लेख लिखे। कुछ विदेशी विद्वानों ने भक्ति को ईसाइयत की देन सिद्ध करने की भी चेष्टाएँ कीं। इन समस्त विद्वानों के मतमतान्तरों की समीक्षा कर के वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास को सम्यक रूप-रेखा प्रस्तुत करने के अभि-प्राय से सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० हेमचन्द्र रायचौबरी ने 'मैटिरियल फार द स्टडी आफ अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट' की रचना १९२० ई० में की जिसमें उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की थी कि वैदिक विष्णु का कोई सम्बन्ध 'महाभारत' के विष्णु से नहीं था और वैदिक एवं ब्राह्मण कालों में विष्णु-पूजा तथा भक्ति धर्मान्तर्गत विष्णु-पूजा में कोई सम्बन्ध नहीं रहा क्योंकि भक्ति-मार्ग में सर्वशक्तिमान् कृपालु परमात्मा तथा उसके प्रति अनुरक्ति की भावना ये दो तत्व

आवश्यक है जब कि वैदिक एवं ब्राह्मणकालीन विष्णु का सम्बन्ध यज्ञ से ही बना रहा। किन्तु जिन विद्वानों ने भक्ति को ईसाइयत की देन स्वीकार किया था उनका उत्तर देते हुए डा० चौधरी ने बेसनगर अभिलेख (२०० ई० पू०), धुमुण्डी अभिलेख (ईसा के कुछ पूर्व) तथा नानाघाट अभिलेख (१०० ई० पू०) की ओर हमारा ध्यान पुनः आकृष्ट कराते हुए और इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती इतिहासकार डा० भण्डारकर के तत्सम्बन्धी मत का पूर्ण समर्थन करते हुए यह सिद्ध किया कि पाँचवीं शती के पूर्व भी भागवतधर्म का उदय हो चुका था जिसके उपासक वासुदेव कहलाते थे। भागवत धर्म-सम्बन्धी चरित्रों का जो समीकरण डा० भण्डारकर ने प्रस्तुत किया था और जिसका खण्डन-मण्डन पूर्व लिखित विद्वानों ने किया था उस पर डा० चौधरी ने नये ढंग से प्रकाश डाला। उन्होंने डा० भण्डारकर के इस मत को स्वीकार किया कि वासुदेव और कृष्ण पहले दो भिन्न देवता थे और कालान्तर में वे एक दूसरे के साथ जोड़ दिये गये तथा कीथ के इस मत को स्वीकार किया कि दोनों एक ही देवता थे। चौधरी महोदय ने 'छान्दोग्य उपनिषद्' के देवकी-पुत्र कृष्ण और 'गीता' के कृष्ण को एक सिद्ध करके बहुत ही सराहनीय कार्य किया है क्योंकि अब सरलतापूर्वक भागवत धर्म के उद्भव की तिथि पाँचवीं-छठीं शताब्दी ई० पू० ठहराई जा सकती थी। उक्त विद्वान ने कृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रचलित भूल धारणाओं का भी निराकरण करते हुए उन्हें वनस्पति देवता या कुलीय देवता के रूप में नहीं स्वीकार किया है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि डा० चौधरी ने कृष्ण के मानवी रूप को सदैव सुरक्षित दिखाया है। उपनिषद् से लेकर 'महाभारत' तथा 'गीता' तक में कृष्ण का मानवी रूप स्पष्टतया प्रदर्शित होता है। इस प्रकार मैक्समूलर, मैक्डोनेल तथा कीथ आदि के इस मत का कि 'छान्दोग्य उपनिषद्' के 'कृष्ण' व 'महाभारत' या पुराणों के 'कृष्ण' शब्दों को नाम साम्य का संयोग स्वीकार करना चाहिए, खण्डन सरलतापूर्वक हो जाता है। डा० चौधरी की यह धारणा है कि ऋग्वैदिक विष्णु-सम्बन्धी अनेक कथाओं को 'महाभारत' में स्थान दे दिया गया है और पुराणों ने उन्हीं कथानकों को कृष्ण पर लागू कर दिया है। कीथ ने औपनिषदिक कृष्ण तथा 'महाभारत' के कृष्ण में जो चारित्रिक विषमता देखी है और यह आश्चर्य प्रकट किया है कि एक ही व्यक्ति योद्धा तथा उपदेशक साथ-साथ कैसे चित्रित किया गया है, उसका उत्तर भी डा० चौधरी ने मूसा तथा मोहम्मद साहब का उदाहरण प्रस्तुत करके दे दिया है। सात्वत राजकुमार देवकी-पुत्र कृष्ण को ही उन्होंने भागवतधर्म-संस्थापक स्वीकार किया है जिन्हें मृत्यु के पश्चात् देवत्व प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार डा० चौधरी ने भी डा० भण्डारकर, डा० सील, बृहलर, ग्रियर्सन तथा गाबे की भाँति कृष्ण को उपदेशक स्वीकार किया है। उन्होंने भी डा० भण्डारकर से सहमत होते हुए कृष्ण का शृंगारिक रूप बाद का जोड़ा हुआ माना है। हार्पकिंस आदि ने 'महाभारत' के कृष्ण-चरित्र में जो निम्न-पक्ष देखा है उसे डा० चौधरी ने प्रक्षिप्त स्वीकार किया है और कृष्ण, सात्वती या वृष्णियों के इतिहास के लिए उन्होंने महाभारत या पुराणों के स्थान पर संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की सामग्रियों का उपयोग करने की सलाह दी है। डा० चौधरी ने अर्वाचीन वैष्णवधर्म के जनक भागवत धर्म के उदय के सम्बन्ध में अपना यह निर्णय दिया है कि यह मथुरा में उदित हुआ था और इसके संस्थापक यादववंशीय वृष्णि या सात्वत गोत्रीय कृष्ण थे जिनके गुरु सूर्योपासक घोरअंगिरस थे। डा० चौधरी ने ग्रियर्सन के इस मत का

४ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

समर्थन किया है कि भागवत धर्म सूर्योपासना का ही विकसित रूप है। उनके मतानुसार चौथी शती ई० पू० तक मथुरा में ही भागवतों की संख्या अधिक थी, तीसरी शती ई० पू० में इसका प्रभाव कम हो जाता है पर दूसरी शती ई० पू० में यह पुनः जोर पकड़ता है और अब यह भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में भी पहुँच जाता है। अब अनेक विदेशी भी इसे स्वीकार करने लगते हैं। प्रथम शती ई० पू० तक यह महाराष्ट्र में भी पहुँच जाता है जहाँ से यह तमिल प्रदेश में गया और फिर वहाँ से एक नई गति एवं नया कलेवर लेकर सारे हिन्दू जगत में फैल गया। गुप्तों के उदय के पश्चात् तो भागवतधर्म का प्राधान्य स्थापित हो गया। किन्तु उस युग में रामावत सम्प्रदाय का कोई आभिलेखिक प्रमाण नहीं मिलता है। गुप्तों के पतन के पश्चात् भागवत धर्म उत्तर भारत में धोमा पड़ गया। नवीं शताब्दी में भागवतों का पुनः प्राधान्य स्थापित हो गया। दक्षिण भारत में इस धर्म का प्रवेश प्रथम शती ई० पू० में ही हो गया था। इस प्रकार डा० चौधरी ने भक्ति-आन्दोलन के प्राचीन इतिहास के अध्ययन की सामग्रियों की पूरी-पूरी छान-बीन करके उन समस्याओं एवं शंकाओं का निराकरण कर दिया जो डा० भण्डारकर के महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना के पश्चात् भी रह गई थीं।

उपर्युक्त दो महत्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त, जो भक्ति-आन्दोलन के इतिहास के बहुत बड़े भाग पर प्रकाश डालते हैं, कुछ अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ है जो स्थान विशेष में पल्लवित वैष्णव धर्म पर अथवा किसी वैष्णव आचार्य पर प्रकाश डालते हैं। इनमें श्री एस० के० ऐंथ-गर की पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव इज्म इन साउथ इण्डिया', डा० एस० के० दे की पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल' डा० बी० के० गोस्वामी की पुस्तक 'द भक्ति कल्ट इन ऐशियन्ट इण्डिया' डा० एन० ए० यूथी की पुस्तक 'द वैष्णवाज आफ गुजरात' जे० गोंडा की पुस्तक 'ऐस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार श्री वैष्णव सम्प्रदाय पर ए० गोविन्दाचार्य तथा श्री गोपीनाथ राव ने, ब्रह्म सम्प्रदाय पर श्री सी० एम० पद्मनाभाचार तथा कृष्ण स्वामी ऐय्यर ने, गौड़ीय सम्प्रदाय पर सर यदुनाथ सरकार डा० दिनेश चन्द्र सेन तथा निशिकान्त सान्याल आदि ने महत्वपूर्ण कार्य किये। उपनिषद् 'महाभारत' 'गीता' वैष्णव पुराणों, पांचरात्र संहिताओं तथा भागवत धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों का भी जो अध्ययन किया गया उससे भक्ति-आन्दोलन के उद्भव एवं विकास का इतिहास अंशतः प्रकाशित हुआ। ऐसे ग्रन्थों में ए० ए० मैकडोनेल की 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', 'सैकरेड बुक्स आफ दी ईस्ट एण्ड वेस्ट' आस्टे की 'सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन दी गृहशास्त्राज', डा० हाजरा की 'स्टडीज इन पुरानिक रेकर्ड्स', पी० एस० देशमुख की 'दी ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ रिलिजन इन वैदिक लिटरेचर', मैकडोनेल की 'वैदिक माइथालॉजी', श्रेडर की 'पांचरात्र एण्ड अहिंसे के संहिता' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिनसे काल विशेष की धर्म-साधना-पद्धतियों का बौध होने के साथ-साथ भक्ति-आन्दोलन की तत्कालीन परिस्थिति का परिचय प्राप्त होता है। इसी कोटि में हम उन ग्रन्थों को भी रख सकते हैं जो भागवत धर्म के दार्शनिक पक्ष को प्रकाशित करते हैं। आचार्यों की जीवनी या सम्प्रदायों पर प्रकाश डालने वाले पूर्वोक्त ग्रन्थों की गणना यहाँ की जा सकती है। भक्ति-आन्दोलन के इतिहास पर, फुटकल रूप में,

भारतीय इतिहास की पुस्तकों में भी कुछ प्रकाश डाला गया है। इन पुस्तकों में नीलकान्त शास्त्री की 'एज आफ नन्दाज एण्ड मौर्याज' डा० एस० के० एयंगर की 'ऐशियन्ट इण्डिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री', भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित 'द एज आफ इम्पीरियल युनिटी' 'क्लासिकल एज' आदि, श्री आर० सी० मजुमदार की 'द बाकाटक गुप्ता एज' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त विवरण प्रस्तुत करने का यह आशय रहा कि भक्ति-आन्दोलन के इतिहास पर पूरा-पूरा प्रकाश डालने वाले केवल दो ही प्रमुख ग्रन्थ हैं जिनकी रचना डा० भण्डारकर तथा डा० चौधरी द्वारा हुई है। अन्य ग्रन्थ आन्दोलन के केवल किसी एक ही अंग पर प्रकाश डालते हैं।

हिन्दी में भी इस विषय पर कुछ कार्य किया गया है। भक्ति-आन्दोलन पर प्रकाश डालने वाले केवल दो ही प्रमुख ग्रन्थ हैं—पं० बलदेव उपाध्याय का 'भागवत धर्म' तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी का 'वैष्णवधर्म'। अभी हाल में डा० मुंशीराम शर्मा का 'भक्ति का विकास' भी आया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में भी भक्ति-आन्दोलन विषयक सामग्री यत्र-तत्र दी गई है। इनमें आचार्य शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा मध्यकालीन धर्म-साधना, पं० परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना', डा० रामकुमार वर्मा की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि उल्लेखनीय हैं। सम्प्रदाय विशेष पर भी हिन्दी में कुछ महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। डा० दीनदयाल गुप्त ने वल्लभ सम्प्रदाय पर, डा० विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभी सम्प्रदाय पर, कामिल बुल्के ने रामोपासना पर, डा० भगवती प्रसाद सिंह ने रसिक रामावत सम्प्रदाय पर तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने सन्तों पर कार्य किया है। इसी प्रकार हिन्दी भक्त कवियों—कबीर, सूर, तुलसी आदि पर जो कार्य किये गये हैं उनसे भी भक्ति-आन्दोलन के कुछ अंशों पर प्रकाश पड़ता है।

किन्तु इन समस्त कार्यों के पश्चात् भा भक्ति-आन्दोलन के सांगोपांग अध्ययन की आवश्यकता थी, भक्ति के उद्भव से लेकर विकास के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं का एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास अपेक्षित था। पूर्व लिखित इतिहासकारों ने भक्ति-आन्दोलन का जो इतिहास प्रस्तुत किया था उसकी प्रामाणिकता निश्चित रूप से अधिकांशतः असंदिग्ध है और नई खोजों से भी कोई ऐसी महत्वपूर्ण बात नहीं ज्ञात हो सकी है जो इतिहास की स्थूल रूप-रेखा में कोई विशेष परिवर्तन ला सके, पर उनका दृष्टिकोण पूर्णतया ऐतिहासिक रहा है और स्वभावतः साहित्यिक उपलब्धियों को वहाँ गौण या नगण्य स्थान प्राप्त हुआ है। इनमें भक्ति-दर्शन को भी गौण या अमहत्वपूर्ण स्थान दिया गया है क्योंकि विशुद्ध इतिहासकारों का इससे कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा है। इसी प्रकार पूर्णतया साहित्यिक दृष्टिकोण को सामने रख कर चलने वाले परवर्ती ग्रन्थकारों ने या तो इतिहास की उपेक्षा की है अथवा फिर पुरानी सामग्री को नये अनुसंधानों की उपेक्षा करते हुए ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। पर प्रस्तुत अध्ययन का विषय ही कुछ ऐसा रहा जिसमें इतिहास, दर्शन और साहित्य को साथ-साथ लेकर चलना पड़ा है। प्रारम्भिक अवस्था में संस्कृत साहित्य की ओर जाना पड़ा है और इस साहित्य

के आधार पर भक्ति-आन्दोलन का जो इतिहास अब तक चित्रित किया गया था, उसकी छान-बीन की गई है। ऐसा करते समय यत्र-तत्र मतभेद के अवसर आये हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वैदिक युग से भक्ति का उदय, भागवतों का सूर्योपासक होना, वालकृष्ण का आर्भारों की देन होना, अवतार की कल्पना के सूत्रपात की अवधि आदिकुछ ऐसे स्थल थे जहाँ हम पूर्वलिखित कुछ विद्वानों से सहमत नहीं हो सके हैं और तब अपने मत के समर्थन में हमने उन्हीं आधारों या साधनों का सहारा लिया है जिनसे भक्ति-आन्दोलन का इतिहास प्रकाशित होता है। हमारा आशय वैदिक साहित्य से है। महाकाव्यों एवं पुराणों ने भक्ति-आन्दोलन को मोड़ देने में समय-समय पर भक्ति-दर्शन की नवीन उद्भावनाओं या नूतन व्याख्याओं ने भी उल्लेखनीय कार्य किया है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में इसका समुचित उपयोग नहीं किया गया था और न उस भाव-सूत्र की ओर ही संकेत किया गया था जो भक्ति-आन्दोलन को एक निश्चित दिशा की ओर खींचे लिये जा रहा था; किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में इस सामग्री का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है और भक्ति-भावना की जन्मस्थली उपनिषदों से लेकर गीता, ब्रह्मसूत्रों तथा मध्यकालीन भाष्यों से होते हुए हिन्दी भक्त कवियों के भक्ति-सिद्धान्तों तक का आवश्यक उल्लेख किया गया है। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन के इतिहास के अध्ययन में जो एक कमी थी उसकी पूर्ति करने का प्रयास किया गया है। विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में साहित्यिक उपलब्धियों को महत्व न देने का उल्लेख ऊपर किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में इस ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है। भागवत ग्रन्थकारों ने किस प्रकार साहित्य के माध्यम से अपने मत का व्यापक प्रचार किया था और किस प्रकार पूर्व प्रचलित धर्म-साधना-पद्धतियों को भक्ति की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की थी इस पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। भारत की भावात्मक एकता की स्थापना में भक्ति-आन्दोलन की देन के मूल में वैष्णव कवियों की साहित्य-साधना को ही स्वीकार किया जा सकता है। अतः भक्ति-आन्दोलन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए वैष्णव साहित्य का अध्ययन भी अपेक्षित था। किन्तु हमारा सम्बन्ध विशेषतया हिन्दी भक्ति-साहित्य से था। अतः हमने हिन्दी भक्त कवियों की तत्सम्बन्धी उपलब्धियों की ओर ही संकेत किया है। इस प्रकार भक्ति-भावना के उद्भव से लेकर भक्ति-आन्दोलन के विकास की प्रत्येक अवस्था का सम्यक अध्ययन करते हुए तथा भागवत सम्प्रदाय की आधुनिकतम गतिविधियों तक का व्यौरा देते हुए प्रस्तुत अध्ययन में भागवत सम्प्रदाय का एक पूरा इतिहास चित्रित किया गया है।

२ : आन्दोलन की यथार्थता

भक्तिमार्गीय साधना के उद्भव एवं विकास को इतिहासकारों ने आन्दोलन (मूवमेन्ट) या फिर धर्म-सुधार (रिलीजस रिफार्म) की संज्ञा दी है। 'मूवमेन्ट' शब्द का अर्थ है कुछ व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों द्वारा किसी विशेष उद्देश्य को उपलब्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न। इसके अन्यान्य अर्थों से भी यह व्यंजित होता है कि किसी विशेष प्रकार की गति-विधि या क्रियाशीलता से ही इस शब्द का संबंध है। 'आन्दोलन' शब्द भी लगभग यही अर्थ देता है।

'सुधार' या 'रिफार्मेशन' शब्द पर विचार करने के पूर्व हमें 'क्रान्ति' (रेवोल्यूशन) पर ध्यान देना होगा क्योंकि धार्मिक गतिविधियों के लिए इसका प्रयोग भी किया जाता है— जैसे, छठा शताब्दी ई० पू० के युग को, जब महात्मा गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, जरथुस्त, कन्फ्यूशस, लाओत्से, आदि महात्माओं ने कुछ नई धार्मिक चेतना को प्रचारित किया था, तो उसे विश्व-इतिहास में बौद्धिक क्रान्ति का युग कहते हैं। यहाँ 'बौद्धिक' शब्द से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, द्रष्टव्य है 'क्रान्ति'।

अस्तु, धार्मिक गतिविधियों तथा क्रियाशीलताओं के लिए १. आन्दोलन, २. सुधार तथा ३. क्रान्ति ये तीन शब्द मिलते हैं। इनमें भी सुधार तथा आन्दोलन कभी-कभी मिल-जुलकर एक भाँ बन जाते हैं जैसे धर्म-सुधार-आन्दोलन। 'पुनरुत्थान' या 'पुनरजागरण' शब्दों का व्यवहार भी कभी-कभी किया जाता है, जैसे गुप्तयुग को ब्राह्मण पुनरुत्थान का युग कहते हैं। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो धार्मिक आन्दोलन या धर्म-सुधार-आन्दोलन में कोई अन्तर नहीं है। आन्दोलन स्वयं अपने में सुधार या इसी कोटि की कोई भावना लिये रहता है। 'पुनरुत्थान' भी कुछ-कुछ आन्दोलन का भाव देता है, किन्तु क्रान्ति और आन्दोलन को एक ही वजन पर नहीं रक्खा जा सकता। धार्मिक आन्दोलन अपने को युग की आवश्यकतानुसार पूर्व प्रचलित धर्म-पद्धति में सहिष्णु परिवर्तन एवं परिवर्द्धन तक ही सीमित रखता है जबकि धार्मिक क्रान्ति पुरानी व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना लेकर आमूल परिवर्तन के लिए खड़ी होती है। धार्मिक सुधार (सामाजिक सुधार भी) दोनों को अभीष्ट हो सकता है, होता भी है, पर जहाँ पहली स्थिति राजनीतिक शब्दावली में समाजवादी मनोवृत्ति की द्योतक है तो दूसरी साम्यवादी; या फिर पहली स्थिति आदर्शोन्मुख यथार्थवादी प्रवृत्ति को इंगित करती है तो दूसरी विशुद्ध यथार्थवादी प्रवृत्ति है। प्राचीनता तथा नवीनता में सामंजस्य स्थापित करके चलने वाली गति-विधियों को आन्दोलन तथा दोनों में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सामंजस्य न मानकर विरोधात्मक तत्त्वों पर आधारित संगठित प्रयास को क्रान्ति की कोटि में रखेंगे। परिवर्तन दोनों का लक्ष्य रहता है पर जहाँ आन्दोलन में सुधार की भावना अधिक रहती है वहाँ क्रान्ति में आमूल परिवर्तन की भावना ऊपर उठ जाती है जिसका अनुगमन सुधार स्वतः ही करता जाता है।

अब हम देखेंगे कि भागवत सम्प्रदाय को हम किस रूप में एक आन्दोलन कहते हैं।

धर्म-साधना की दो पद्धतियाँ कर्म तथा ज्ञान ब्राह्मण युग तक प्रचलित हो चुकी थीं, किन्तु वैदिक युग के ज्ञान तथा कर्म में से ब्राह्मण-ग्रन्थों ने यज्ञीय कर्मकाण्ड को पराकाष्ठा की चरम सीमा पर पहुँचा दिया था और अब स्थिति यह हो गई थी कि यज्ञ और यज्ञ के पुरोहित के प्रभाव-मण्डल में स्वयं यज्ञ के देवता का ही तिरोधान होता जा रहा था। अवशेष रह गया था केवल नाम। 'इन्द्राय स्वाहाः' कह कर ही पुरोहित पर्याप्त दक्षिणा प्राप्त करते जा रहे थे। इन्द्र के स्वरूप, गुण, शक्ति आदि को सोमांसा उन्हें अपेक्षित नहीं। किन्तु धर्म कभी भी 'डिक्टेटरशिप' से नहीं चल सकता है क्योंकि यह तत्व तथा आचार का सम्मिश्रण है। तत्वों की खोज धर्म की एक स्वाभाविक गति है और जब तत्वों की खोज की जायेगी तो सभी एक ही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं। तत्वान्वेषण के लिए विश्वविख्यात उपनिषद्कार इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं जिनमें परस्पर अनेक मतमतान्तर उपलब्ध होते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि तत्त्वचिन्तन-क्षेत्र में कुछ भी नित्य ब्रह्मवाक्य नहीं है। अस्तु, त्राट्विक दृष्टि से भी तानाशाही अनुपयुक्त सिद्ध हो जाती है। पर धार्मिक तानाशाही को हम महत्वहीन भी नहीं स्वीकार कर सकते। किसी एक मूल धर्म में से विभिन्न सम्प्रदायों या फिर सम्प्रदायों के भी उप-सम्प्रदायों के संगठन के अनेकानेक कारणों में से इस तानाशाही को भी एक कारण (गोण ही सही) माना जा सकता है। तत्त्वचिन्तन मेधावियों तथा बुद्धिजीवियों की वस्तु है जहाँ वैसे भी बौद्धिक अधीनता स्वीकार नहीं, और आचार-पक्ष, धर्म का वह पक्ष है जो लोक की वस्तु है, एक ऐसी वस्तु है जिसे बहुमत का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे शब्दों में आचार-पक्ष पूर्णतया गणतांत्रिक है। स्वभावतः यहाँ तानाशाही स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकती। पर जैसा कि हमें ज्ञात है, वैदिक पुरोहितों ने लोक-जिज्ञासा का कोई उत्तर न देकर केवल अपनी दक्षिणाओं को ही बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया था। परिणामस्वरूप उपनिषद्कारों ने तत्वचिन्तन-पक्ष को, जिसका बोध ऋग्वेद में भी विद्यमान था, सँभाला। पर केवल इतने से काम नहीं चल सकता था क्योंकि साध्य के साथ-साथ साधन, की भी आवश्यकता थी। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, ब्राह्मणकालीन साधना, युग की परिस्थितियों के अनुसार अपर्याप्त ही नहीं, अनुपयुक्त सिद्ध हो रही थी। अनुपयुक्तता का कारण आर्थिक तो था ही, साथ ही सामाजिक भी था। भारतीय आर्यों से किसी प्रकार भी कम संख्या अनाथों की न थी। इन अनाथों के आर्थिकरण की समस्या उस समय अवश्य जटिल रूप में उपस्थित हुई होगी जब अनाथों को आर्य वर्ग में सम्मिलित किया जाने लगा होगा। कुछ मनोषियों ने इन्हें अपने धर्म में दीक्षित करना उचित समझा होगा और कुछ ने इन्हें वैदिक धर्म से बाहर रखना ही श्रेयस्कर स्वीकार किया होगा। पहले भाव-धारा के परवर्ती नेता विश्वामित्र माने जा सकते हैं जिन्होंने वैदिक धर्म को सार्वभौमिक धर्म के रूप में स्थापित करना चाहा तथा दूसरों के वशिष्ठ हैं जो वैदिक धर्म को केवल आर्यों तक ही सीमित रखना चाहते थे। एक अन्य तथ्य की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है। उत्तर वैदिक युग तक आते-आते ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार को भारी आघात लगता है दार्शनिक क्षत्रियों की अवतारणा से। भारतीय इतिहास की यह प्रथम ऐतिहासिक घटना है जब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को ज्ञान देना आरम्भ किया। अब धर्मोपदेश या सत्यान्वेषण केवल ब्राह्मणों के गुरुकुलों या शिक्षा-परिषदों तक ही सीमित न रह कर क्षत्रिय राजाओं के आश्रय

में होने वाले विद्वत् सम्मेलनों तक पहुँचता है। प्राचीन भारत के सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक याज्ञवल्क्य, जिन्होंने अपने युग के अनेक विख्यात दार्शनिकों को पराजित कर दिया था, राजा विदेह से उपदेश ग्रहण करते हैं। क्षत्रियों के सामने ब्राह्मणों की धार्मिक अधीनता का यह अकेला उदाहरण नहीं है। पंचाल के राजा प्रवाहण जैबलि ने शिलक, दालभ्य, श्वेतकेतु तथा उनके पिता उद्दालक को उपदेश दिये थे। इसी प्रकार केकयनरेश अश्वपति के अनेक ब्राह्मण शिष्यों का पता चलता है। हम राजा चित्र गांगायनि से उद्दालक आरुणि तथा उनके पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश लेते हुए पाते हैं। ज्ञानी क्षत्रिय राजाओं की तो जैसे बाढ़ आ गई थी।^१

उपर्युक्त विवेचन का आशय यह दिखाना था कि एक ओर तो अत्यधिक आडम्बर-युक्त एवं व्ययसाध्य होने के कारण याज्ञिक कर्मकाण्डों की उपेक्षा आरम्भ हो चुकी थी और दूसरे, अनार्यों के आर्यकरण की समस्या भी उपस्थित थी जिससे ब्राह्मण एकाधिकार खतरे में था। इसी समय ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों ने भी धर्मोपदेश एवं सत्यान्वेषण में भाग लेना आरम्भ कर दिया। फलतः सम्पूर्ण मध्यदेश का सांस्कृतिक पर्यावरण कुछ देर हो गया जिसमें प्राचीन उत्तर वैदिक या ब्राह्मण धर्म (ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म) नहीं खप सकता था। इसी पृष्ठभूमि में भागवत, जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय की नींव पड़ती है। पहला प्राचीन ब्राह्मण धर्म के एक अंग के रूप में ही विकसित होता है जबकि शेष दो अब्राहमण या अधिक उपयुक्त शब्दों में ब्राह्मण-विरोधी सिद्ध हुए।

भागवत सम्प्रदाय में, जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्राचीन वैदिक देवताओं तथा उनकी परम्परित कथाओं को ही कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ अपनाया गया, उन्हीं 'मूर्तियों' को नये ढंग से सँवारा गया। युग की आवश्यकता को पूर्णतया ध्यान में रखते हुए, साथ ही प्राचीन मनीषियों के सत्यान्वेषण द्वारा प्राप्त दार्शनिकता की अधिकांशतः रक्षा करते हुए भागवत धर्म के प्रारम्भिक उन्नायकों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, आर्य तथा अनार्य सबके लिए भगवद् प्राप्ति का जो स्वाभाविकों, सरल एवं मानवी भावनाओं तथा प्रवृत्तियों से अनुमोदित मार्ग निकाला और विभिन्न उपदेशकों, प्रचारकों या स्वयं साधारण अनुयायियों द्वारा भी उस मार्ग को जिस रूप में आगे बढ़ाया गया उसे आन्दोलन कहना सर्वथा उचित है। इनके ब्रह्म, तृमूर्ति तथा अवतार एवं उन सब के स्वरूप, गुण आदि सब कुछ वैदिक हैं। इसी वैदिक भित्ति पर भागवत सम्प्रदाय का महल खड़ा किया गया था और उसकी यह वैदिकता या श्रुतिसम्मतता अन्त तक इस सम्प्रदाय का प्रमुख अंग बनी रह गई, यहाँ तक कि श्रुतियों के बाहर की बातों पर भी श्रुतिसम्मतता का ठप्पा आगे चलकर लगाया जाने लगा। बस इसी अर्थ में हम इसे आन्दोलन कहेंगे। इसके विपरीत जैन तथा बौद्ध धर्म को हम धार्मिक क्रान्ति के रूप में स्वीकार करेंगे। यद्यपि उक्त दोनों धर्म-सम्प्रदायों के उद्भव के मूल में भी बहुत कुछ वही धार्मिक या सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जो भागवत सम्प्रदाय के उद्भव को उत्प्राणित करती हैं किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। जहाँ भागवत सम्प्रदाय, जैसा कि हमने अभी देखा है और जिस पर आगे विस्तारपूर्वक यथास्थान विचार किया जायेगा, प्राचीन वैदिक मान्यताओं को अपनाते हुए भी उन्हें युग के ढाँचे में ढालकर चल रहा था वहाँ उक्त दोनों सम्प्रदायों ने वैदिक आर्यों

के--अधिक उपयुक्त शब्दों में ब्राह्मणों के आदि धर्म को, उनके आदि ग्रन्थ को, चुनौती दी थी। यही कारण है कि बहुत कुछ तत्व ब्राह्मण धर्म से ग्रहण कर लेने वाले बौद्ध तथा जैन धर्म को अब्राह्मण धर्म ही कहा गया है। वैदिक धर्म से उनके इसी विरोध और विलोम के कारण भारतीय धर्मों के इतिहास में इन्हें एक क्रांति के रूप में स्वीकार किया गया है।

एक बात और। स्थायित्व की दृष्टि से भी आन्दोलन तथा क्रांति में बहुत बड़ा अन्तर है। आन्दोलन निरन्तर चलने वाला हो सकता है जबकि क्रांति बहुधा अल्पकालीन ही होती है। किसी परम्परित या रुढ़िगत मत या व्यवस्था में आमूल परिवर्तन ला देने के पश्चात् क्रांति का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और वहीं उसकी गतिशीलता समाप्तप्राय हो जाती है जबकि आन्दोलन हर नई परिस्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए परम्परा और प्रगति में सामंजस्य स्थापित करने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है अतः यह दीर्घकालीन ही नहीं, अधिकांशतः नित्य होता है।

हम देखते हैं कि आन्दोलन के रूप में आरम्भ होने वाला भागवतधर्म अन्त तक आन्दोलन ही बना रह जाता है। ब्राह्मण कालीन याज्ञिक कर्म-काण्डों द्वारा उत्पन्न जिन आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने इसके उद्भव को प्रेरित किया था और जिसके समाधान के लिए भागवत धर्म की स्थापना की गई थी उसे अपनी विकासावस्थाओं में भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ा जिनमें मान्यताओं के प्रति विद्रोह न करके उनकी सुदृढ़ स्थापना की ही व्यवस्था करना पड़ी थी। इस व्यवस्था में पुनः नवीनित सामाजिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया। ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को जगत्पालक तथा शिव को संहारक का रूप देकर, जिसके बीच वैदिक साहित्य में ही निहित थे, तृमूर्ति की सर्वमान्य कल्पना करके वैदिक धर्म को सार्वभौमिक बनाने की चेष्टा प्रारम्भ में ही की गई थी, किन्तु इन तीनों देवताओं के प्रति कोई साधक समानभाव से कृतज्ञता और निष्ठा नहीं दिखा सकता था। फलतः चयन का प्रश्न उठा। इस चयन में ब्रह्मा पीछे रह गये क्योंकि उनका जो कार्य था वह साधकों के लिए उतना महत्वपूर्ण न था। किन्तु विष्णु का पालक रूप बहुसंख्यकों के आकर्षण की वस्तु बना और शिव के संहारक रूप ने भी शक्ति द्वारा प्राप्ति को प्रेरित किया। इस प्रकार तृमूर्ति में से विष्णु और शिव को महत्त्व मिला और कालान्तर में दो स्पष्ट पृथक् सम्प्रदाय खड़े हुए। पर इस परिस्थिति का सामना भी सामंजस्य तथा समन्वय द्वारा ही भागवत सम्प्रदाय में किया गया। छिट-पुट विरोधों को छोड़कर प्रायः सभी युगों में भागवत सम्प्रदाय ने विष्णु तथा शिव को समान आदर की दृष्टि से देखा। इसी प्रकार निर्गुण तथा सगुण की समस्या भी पारस्परिक समझौते द्वारा ही सुलझाई गई।

भक्ति-भावना को लेकर चलने वाला भागवत या सात्वत सम्प्रदाय अपने विकास के प्रथम महत्वपूर्ण युग में ही अब्राह्मण धर्मों एवं कुछ ब्राह्मण सम्प्रदायों के अवैदिक तत्वों को अपने वैदिक एवं श्रुति-स्मृति सम्मत धर्म में प्रविष्ट होता देखता है। अतः इन अवैदिक तत्वों के बहिष्कार के लिए पुनः प्राचीन मौलिक पद्धति का अनुसरण करना पड़ा; अर्थात् वेदों का प्रामाणिकता एवं वर्णाश्रम धर्म का स्थापना करना पड़ा (पुराणों का अध्ययन करते समय इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।) सामाजिक समस्या भी कम जटिल न थी। जहाँ उद्-

भवे काल में अनार्यों को लेकर चलने का प्रश्न था वहीं अब भारतीय समाज में सम्मिलित विभिन्न विदेशियों को भी समस्या थी। इन सारी समस्याओं का एक ही पूर्वोक्त साधन था प्राचीन मान्यताओं का नवीन उपयोग। वैदिकता और लौकिकता में सामंजस्य स्थापित करने के लिए क्रान्ति नहीं; आन्दोलन ही आवश्यक था।

इतिहास को पुनरावृत्ति होती है। शंकराचार्य के आविर्भाव ने पुनः प्राचीन युगीन समस्याओं को भागवतों या वैष्णवों के सामने उपस्थित कर दिया। इस बार वैष्णवों से उनके साकार ब्रह्म को छान लिया गया और इस अनहरण का आवार बनाया गया श्रुतियों को। फलतः श्रुतियों का पुनः सहारा लिया गया और 'प्रस्थानत्रय' (उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र) के आधार पर ही प्राचीन भागवत धर्म का पुनर्स्थापना की गई। रामानुज इस आन्दोलन के प्रमुख नेता हुए और दक्षिण भारत प्रमुख कार्य-क्षेत्र बना। आगामाचार चार शताब्दियों तक खण्डन-मण्डनात्मक शास्त्राग्र ग्रन्थों का प्रगल्भ मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का प्रमुख विशेषता है। यद्यपि नवोदित परिस्थितियों ने आन्दोलन के कर्णधार आचार्यों को कुछ नवीन उद्भावनाओं के लिए प्रेरित किया था पर उनका बाँज भी वैदिक ग्रन्थों में निहित था। इस प्राचीन बाँज से ही नवान अंकुर उगाये गये थे। अतः औपनिषदिक युग से लेकर आचार्यों के युग तक अर्थात् उद्भवकाल से लेकर चरमावस्था के युग तक भागवत सम्प्रदाय एक आन्दोलन के रूप में ही अनवरत चलता रहा है। उसकी इस गतिविधि में जब कभी कोई बाधा आई है तो वह आन्दोलन में नवीन स्फूर्ति और शक्ति प्रदान करके ही रह गई, शिथिलता और संकीर्णता उसमें कभी भी न ला सकी। इसका केवल मात्र कारण भागवत धर्म की सार्वभौमिकता ही थी। यहाँ निर्वन शूद्र भी 'पत्र-पुष्प फल तोय' से भगवान की कृपा पा सकता था और ऐश्वर्यशाली लक्ष्मीपति के दरबार में लक्ष्मीपतियों को भी परम पद प्राप्त हो सकता था। शरणागति या प्रपत्ति को मनोनुकूल एवं मानवोचित मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित भावना पर आधारित मार्ग को जनमत प्राप्त होना स्वाभाविक था। यह इसी जनमत का प्रतिफल था कि कोई भी विरोधी राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक परिस्थिति इस आन्दोलन में स्थायी अवरोध न ला सकी। इस हृदयतत्त्व प्रधान मार्ग को जब सहृदय कवियों का समर्थन प्राप्त हो गया, जो जनता के प्रतिनिधि होते हैं, तब तो यह और भी सुदृढ़ एवं स्थायी हो गया। सौभाग्यवश इन कवियों ने भी भक्ति को आगे बढ़ाने की वही प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया और यद्यपि कुछ झाड़-फूटकार वाले भाकों-कहीं हुए थे, तथापि उनका यह विद्रोह भक्ति की मूल भावना से और उसकी प्रचार-पद्धति से किसी प्रकार भी सम्बन्धित न था। इसी पृष्ठभूमि में हम भक्ति-भावना के उद्भव एवं विकास का अध्ययन करेंगे।

३ : भक्ति-भावना से भक्ति-आन्दोलन तक वैदिक युग

हमारा क्रमबद्ध सांस्कृतिक इतिहास सिन्धु घाटी की सभ्यता से आरम्भ होता है। यह सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता की पूर्ववर्ती और साथ ही भारत की प्राचीनतम सभ्यता है। सिन्धु-सभ्यता के युग में प्रकृति-पूजा प्रचलित थी^१ और ऋग्वैदिक युग तक आते-आते प्रकृति के विभिन्न अंगों ने देवता का रूप धारण कर लिया। देवताओं में अब भी प्राकृतिक गुणों का समावेश था। कुछ मनाशियों ने सृष्टि-कर्ता ईश्वर की ओर भी संकेत करना आरम्भ कर दिया था। प्रकृति को प्रसन्न रखने का जो परम्परा प्रारम्भिक ऋग्वैदिक आयों से चली आ रही थी उसमें और अधिक अभिवृद्धि हो गई। कारण, तब तक आयों को राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त हो चुका था। मनु, पुष्यवा, नहुष, मन्धाता आदि राजाओं ने उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर अपने बाहुबल द्वारा आधिपत्य स्थापित कर लिया था और उर्वर शत्रुओं को अवस्था उत्तरोत्तर बिगड़ती जा रही थी। उस प्रभुत्व ने उनके आर्थिक जीवन को सुदृढ़ बना दिया था और अब वे अपने देवताओं को दुध, अन्न, मांस तथा सोमरस का अधिकाधिक पान कराने में समर्थ हो चुके थे। भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, अगस्त्य, गौतम आदि ऋषियों द्वारा देवताओं की प्रशस्ति भी आरम्भ हो चुकी थी, पुष्यवा और उर्वशी की प्रेम-ऋचायें भी रची जाने लगी थीं। भारतीय धार्मिक साहित्य का (अन्य साहित्य का भी) सृजन यहीं से आरम्भ होता है। कालान्तर में संहिताओं के बाद ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, दर्शन-ग्रन्थों, महाकाव्यों (रामायण तथा महाभारत), धर्म-शास्त्रों तथा पुराणों की रचना द्वारा सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय जितन-धाराओं एवं साधना-पद्धतियों का प्रणयन, विवेचन, विश्लेषण एवं प्रतिपादन किया गया। आशय यह कि ऋग्वैदिक युग से धार्मिक (तथा अन्य विषयक) अध्ययन की सामग्री उपलब्ध होने लगती है। अतः यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक वस्तु का मूल ऋग्वेद से खोजने की सफल या असफल चेष्टा की जाय। भक्ति के साथ भी यही प्रश्न लगा हुआ है। अनेक भारतीय इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों ने भी भक्ति का मूल ऋग्वेद से ढूँढ़ना आरम्भ किया है। 'भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है' तक की घोषणा की गई है। विशुद्ध इतिहासकारों की प्रेरणा से साहित्य के इतिहासकारों ने भी भक्ति का मूल वेद से प्रमाणित करने की चेष्टाएं की हैं। ऋग्वेद ही क्यों सिन्धु-सभ्यता को शिव-पूजा को ही भक्ति का आदि रूप तक प्रमाणित किया गया है। कुछ विद्वानों तथा उनके समर्थकों को तो 'भक्ति का ऐसा मूलप्रमाण अन्यत्र प्राप्त नहीं,..... आयों से पूर्व द्रविड़ों में यही भक्ति जन्म ग्रहण कर चुकी थी और प्रच-

१ विभिन्न भक्ति-चित्रों, मुहरों व प्रस्तर-चित्रों के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने भक्ति-पूजा, शिव-पूजा तथा लिंग-पूजा की भी बात की है।

लित हो चुकी थी ' यहाँ इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि यदि सिन्धु सभ्यता के द्रविड़ों (ऋग्वेद के पणियों) से भक्ति का उदय होता है तो फिर ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा-विरोधी और घोर शत्रु-भावधारियों द्वारा यह भक्ति इतनी जल्दी कैसे ग्रहण कर ली गई थी। दूसरे, स्वयं ऋग्वेद ही घोषित करता है कि वे पणि (सिन्धु निवासी द्रविड़) कर्महीन, बकवासी, कटुभाषी, अश्रद्ध, पूजाहीन, यज्ञहीन हैं—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्वाचः पर्णैरश्रद्धां अवृधांअयज्ञान-ऋग्वेद ७।६।३

तब ऐसी अवस्था में किस निर्णय पर पहुँचा जायेगा ? ऋग्वैदिक ऋषियों का कथन मानते हैं तो सिन्धु-निवासियों में भक्ति-भावना का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा और यदि विभिन्न मूर्तियों और सालों की गवाही स्वीकार करते हैं तो फिर यही नहीं रकना पड़ेगा। फिर तो 'उत्पन्ना द्रविड़' के परवती साक्ष्य को परम्परा का रूप देना पड़ेगा जिसके लिए तत्सम्बन्धी साम-ग्रियों का अभाव नहीं है। हमें ज्ञात है कि ऋग्वैदिक युग के पूर्व ही पश्चिमोत्तर तथा धुर उत्तर भारत में द्रविड़ सभ्यता का पूर्ण विकास हो चुका था और मैदानी भागों पर भी इसका प्रभाव स्थापित था। आर्यों के घोर शोषण के पश्चात् भी समाज के एक बड़े भाग में द्रविड़ सभ्यता कहीं स्वतंत्र और कहीं मिश्रित रूप से लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में, विशेषतया पश्चिमी भारत में, फलती फूलती रही। उपनिषद् के महान ऋषि याज्ञवल्क्य के समय में भी वैदिक कर्म-काण्डों के अतिरिक्त द्रविड़, किरात आदि जातियों में उनको प्राचीन धार्मिक परम्परायें चली आ रही थीं। तब तो द्रविड़ों के प्रमुख निवास-स्थान पश्चिमोत्तर तथा पश्चिम भारत में, आगामो शताब्दियों में, पाशुपत-पूजा के प्राधान्य को 'महिष्मुण्ड' या आदि पशुपत के संदर्भ में भी विचार करना पड़ेगा। किन्तु आश्चर्य है कि भक्ति की विस्तृत एवं शास्त्रीय व्याख्या करने वाले प्राचीन मनीषियों ने भक्ति का जो मूल प्राण निदिष्ट किया है उसका ही इस आदि युग में नितान्त अभाव है, हाँ इसके अंगों-उपांगों के कुछ चिह्न विचाराधीन युग में अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। 'भगवद्गीता' के रचयिता तथा भक्ति-शास्त्र के आचार्यों-शांडिल्य, नारद एवं भक्ति-भावना पर विचार करने वाले अन्यान्य चिन्तकों ने भक्ति के लिए जिन तत्त्वों का निरूपण किया है उनमें ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति (सा परानुरक्तिरीश्वरे-शांडिल्य भक्ति-सूत्र) या ईश्वर के प्रति परमप्रेम (सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा) के साथ-साथ अहेतुकी भाव^३ का होना नितान्त आवश्यक माना गया है। 'श्रीमद्भागवत' में भक्ति की व्याख्या ही इन्हीं तत्त्वों को लक्ष्य करके इस प्रकार की गई है—

‘उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान में लग जाय।’

१ डा० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन प० ३६८-६९

२ स वै पुंसां परोषर्षो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहेतुक्य प्रतिहता यथाऽऽत्मा संप्रसीवति। भागवत १. २. ६

३ वही ३-२५-३२-३३

प्रकट है कि सभी परवर्ती शास्त्र-प्रणेता तथा धर्माचार्यों ने भक्ति की व्याख्या उपर्युक्त आधार-शिला पर ही की है। यहाँ 'श्रीमद्भागवत' का तृतीय स्कंध, अध्याय २९ श्लोक ७-१४ मोद्रष्टव्य है जिसमें मानवीय वृत्तियों के अनुसार भक्ति के चार भेद गिनाये गये हैं—

१. सात्त्विकी भक्ति जिसमें मुक्ति की कामना रहती है,
२. राजसी भक्ति जिसमें धन-कुटुम्ब की कामना रहती है,
३. तामसी भक्ति जिसमें दूसरों के अहित तथा शत्रुओं के विनाश की कामना रहती है तथा

४. निर्गुण भक्ति जिसमें कोई कामना (मुक्ति तक की कामना) नहीं रहती है।

उपर्युक्त प्रथम तीन काम्या भक्तियाँ चतुर्थ वर्ग की भक्ति की तुलना नहीं कर सकती हैं। भागवतकार ने अनेक स्थलों पर निष्काम भगवत् प्रेम को ही भक्ति का वास्तविक स्वरूप घोषित किया है। आनेवाला पांडों तो इसे ही भक्ति की संज्ञा भी देता है और भगवान की निष्काम उपासना को ही उसने भक्ति की कोटि में रखा है। सांसारिक कामनाओं का त्याग ही भक्ति के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार प्रार्थना का एक सीमा पर 'भगवद्गीता' और दूसरी सीमा पर 'भागवत' है। 'भागवत' का मत देखा जा चुका है। 'गीता' में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

‘चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरार्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

और यह भी बताया है कि इन चारों प्रकार के भक्तों में सबसे उत्तम ज्ञानी, उससे हेय जिज्ञासु, जिज्ञासु से हेय आर्त और सबसे हेय अर्थार्थी भक्त होता है।

अब हम आदि युग पर पुनः दृष्टिपात करते हैं। लिखित सामग्रियों के अभाव में सिन्धु सभ्यता कालीन भक्ति-भावना के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और केवल सैन्धव देवता के महिष्मुण्ड या शिव पर भक्ति को केन्द्रित कर देना तथा उससे ही भक्ति का उद्गम सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। देवों के रूपों तथा उनके स्थान एवं उनकी चरित्रगत विशेषताओं में समय की दूरी के साथ-साथ कितना अन्तर पड़ता जाता है इसके ज्वलन्त उदाहरण ऋग्वैदिक देवता हैं। अतः कुछ विशेष प्रकार की मूर्तियों, चित्रों या सोलों पर अंकित रेखाओं में परवर्ती देवताओं का रूप-साम्य पाकर उनमें धर्म-साम्य या गुण साम्य की भी कल्पना कर लेना अधिक तर्कसम्मत नहीं जान पड़ता। जहाँ तक ऋग्वैदिक काल का सम्बन्ध है, 'ऋग्वेद' की ऋचायें वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त हैं। जिन विद्वानों ने 'ऋग्वेद' में भक्ति के तत्व प्रमाणित करने की चेष्टायें की हैं उन्होंने ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें किसी देवता की माता-पिता या सखा आदि सम्बन्धों से युक्त किया गया है अथवा

१ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो वभूविषा ।

अथा ते सुम्नमीमहे ।

(ऋ० ८।९।८।११)

तथा

सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्तॄन् लोकमुशतेवयोवाः । (बही ४।१७।१७)

कुछ ऐसी ऋचायें ली गई हैं जिनमें देवता विषयक रागात्मक तत्त्वों की झलक मिलती है।^१ ऐसी भी ऋचाओं का उल्लेख किया गया है जिनमें 'स्तुति' तथा 'नामस्मरण' की बात की गई है। इसी प्रकार अनेकानेक विद्वानों ने नवधा भक्ति के मूल तत्त्वों का मूल, 'ऋग्वेद' में ढूँढ़ने की चेष्टायें की हैं। जिस ऋचा में भी 'श्रवणकीर्तन...' आदि नौ शब्द अथवा 'नारद-भक्ति सूत्र' के 'गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्ति...आदि ग्यारह शब्दों में से कोई भी शब्द या शब्द रूप दीख पड़ा है उसे भक्ति के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। एकपंडित ने तो कठिन परिश्रम करके 'ऋग्वेद' के इन्द्र की समता कृष्ण से करने की चेष्टा की है और वहाँ माखन-चोरी तक का बाँज देखा है।^२

वास्तव में शब्दसाम्य अमहत्वपूर्ण है। प्रमाण स्वरूप वैदिक साहित्य में 'श्रद्धा' एवं 'भक्ति' शब्द के प्रयोगों को लिया जा सकता है।

'ऋग्वेद' से ही 'श्रद्धा' शब्द उपलब्ध होने लगता है जो भक्ति को आदिकाल से चली आने वाली साधना सिद्ध करने वालों को आकृष्ट कर सकता है क्योंकि मध्यकाल में भक्ति और श्रद्धा शब्द इतने निकट आ जाते हैं कि वे कभी तो परस्पर पूरक से दिखाई पड़ते हैं और कभी श्रद्धा-भक्ति पर्याय से लगते हैं। अतः यहाँ 'श्रद्धा' शब्द के वैदिक प्रयोगों पर विचार कर लेना आवश्यक है।^३

ऋग्वेद में 'श्रद्धा' शब्द क्रिया या कृदन्त के रूप में कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति श्रुत्+घा से हुई है—

अघा चन श्रद् दधाति त्विषीमत् । ऋ० १।५५।५

स जातू भर्मा श्रद्धधान ओजः पुरोविभिन्दन्नचरद् वि दासीः । ऋ० १।१०३।३

तदस्येदं पश्यता भूरी पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्ययि । ऋ० १।१०३।५

अघा मन्ये श्रुत् ते अस्मा अघायि वृषा चोदस्व महते धनाय । ऋ० १।१०४।७

१ कुह स्विद दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

(वही १०।४०।२)

२ मध्ययुगीन कृष्ण और ऋग्वैदिक इन्द्र से बलपूर्वक समता स्थापित करने के लिए गो (इन्द्र पक्ष में) या माखन (कृष्ण पक्ष में) चोरी के उदाहरणों का अभाव नहीं है। जैसे कृष्ण माखन चुरा कर या छीन कर ग्वालबालों में बाँट देते हैं उसी प्रकार इन्द्र भी द्रविड़ों की गायों का अपहरण करके यजमानों में बाँट देते हैं। और इस प्रकार के 'अभिप्राय' भी मिलते हैं जिसमें ऋग्वैदिक आर्यों के पणियों (द्रविड़ों) की गायें चुरा लेना पाप नहीं, पुण्य था—(वही १।९३।४-५।३४।७)

३ इस सामग्री के लिए हम सुश्री मृणालिनी दासगुप्ता के आभारी हैं जिनका तत्सम्बन्धी लेख डा० एस० के० दे के सुझावों के साथ इण्डिया हिस्टारिफल क्वार्टर्ली, (इ० हि० क्वा०) १९३० में छपा था।

प्रयोग का दूसरा रूप भी द्रष्टव्य है —

मान्तरां भुजमा रीरिषो नः श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय । ऋ० १।१०।४।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् । ऋ० २।२६।३
इन्द्रो धुनिं च चुभुरिं च दम्भयच्छ्रद्धा मनस्या शृणुते दभीतये । ऋ० १०।११३।९
इनके अतिरिक्त 'श्रद्धा' शब्द अन्य रूपों में भी उपयुक्त हुआ है—

आ यदश्वान वनन्वतः श्रद्धयाहं रथेरुहम् । ऋ० ८।१।३।१

ऋत वाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्द्रोपरि खव । ऋ० ९।११३।२

तां सत्यां श्रद्धामभ्या हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य । ऋ० १।१०।८।६

श्रद्धा इत् ते मधवन् पायं दिवि वाजी वाजं सिषासति । ऋ० ७।३२।१४

सायण ने श्रद्धा-शब्द से श्रद्धा की व्युत्पत्ति बताते हुए श्रद्धा का अर्थ सत्य तथा श्रद्धा का अर्थ 'आदरातिथ्य बहुमान' अथवा 'विश्वास' लिया है। अतः 'ऋग्वेद' में श्रद्धा का अर्थ 'सत्य में विश्वास' या फिर 'सम्मान' है। उवटाचार्य को भी यही अर्थ मान्य है। महीधर ने 'परलोक में विश्वास' अर्थ लिया है।

'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल में श्रद्धा को स्वयं एक देवी का रूप दिया गया है और उस पर पाँच ऋचायें कही गई हैं। यहाँ श्रद्धा कदापि भाव विशेष के अर्थ में नहीं है यद्यपि 'प्रियं' एवं 'यजमान' शब्दों के साथ इसका प्रयोग हुआ है।^१

श्रद्धा का जो अर्थ ऊपर दिया गया है उसकी पुष्टि 'वाजसनेयि संहिता' से हो जाती है जिसमें श्रद्धा का अर्थ सत्य और अश्रद्धा का अर्थ असत्य स्पष्ट रूप से इंगित किया गया है—

द्रष्टवा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः अश्रद्धामनृते ऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये

प्रजापतिः ऋतेन सत्यमिन्द्रिय । १९-७७

प्रजापति ने यहाँ श्रद्धा और अश्रद्धा का पृथक्करण करते हुए असत्य में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया है। उवटाचार्य तथा महीधर की व्याख्या भी द्रष्टव्य है—

उ०—अश्रद्धाम् अनृते अदधात् अनृत निमित्तत्वात् अश्रद्धाया ।

श्रद्धामातिसक्यम् सत्ये.....।

म०—सत्ये श्रद्धामघात् सत्यस्य श्रद्धानिमित्तत्वात् श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः ।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ऋग्वेद' में 'श्रद्धा' शब्द का जो भी प्रयोग हुआ है वह सत्य अथवा फिर विश्वास (ईश्वर में या परलोक में विश्वास) के अर्थ में ही, कहीं भी इसका अर्थ अनुरक्ति नहीं है। पर इस शब्द के अर्थ में परिवर्तन भी आरम्भ हो गया था और 'अथर्ववेद' तक आते-आते केवल अति उदार यजमानों को ही

१ प्रियं श्रद्धे दत्तः प्रियं श्रद्धे विदासतः प्रियं भोजेषु यज्वात्स्विदं स उदितं कृषि । ऋ० १०।१५।१२

श्रद्धा देवा यजमाना वायुगोपा उपासते । ऋ० १०।१५।१४

श्रद्धा से युक्त माना जाने लगा। 'अथर्ववेद' के 'श्रद्धाश्रद्धानाः' की व्याख्या करते हुए सायण ने 'कर्मानुष्ठानतत्पराः' लिखा है जो निश्चित रूप से श्रद्धा शब्द का संकुचित अर्थ है। वैदिक यज्ञों एवं कर्म-काण्डों के बढ़ते हुए महत्व ने दान-दक्षिणा का महत्व बढ़ा दिया और अब सबसे अधिक दक्षिणा देने वाला यजमान ही श्रद्धावान हो सकता था। पर 'श्रद्धा' शब्द का सर्वथा और सर्वत्र यहाँ सोमित अर्थ ही नहीं लिया गया है। ओल्डेनबर्ग ने ठीक ही कहा है कि 'श्रद्धा' शब्द का यह सोमित अर्थ ब्राह्मण-साहित्य को देना है जब कि पुरोहितों की दृष्टि में श्रद्धा का मानवीकरण बहुत अधिक लाभप्रद सिद्ध होने लगा; क्योंकि इससे उन्हें यज्ञों में पर्याप्त दक्षिणा प्राप्त होने लगी। हमें ज्ञात है कि 'ऋग्वेद' के १०वें मण्डल में ही यह घोषित किया गया है कि श्रद्धा देवों की कृपा उत्ती पर होती है जो यज्ञ करता है और दान में उदारता दिवाता है।^१ श्रद्धा का उपर्युक्त अर्थ उत्तरोत्तर प्रचलित पाता गया और बा० स० १९।३०, अ० वे० ९।५।११, वृ० उ० ३।९।२१, तै० उ० १।२।३ आदि में 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में किया गया। यास्क के 'निरुक्त' में 'श्रद्धा' शब्द को जो व्याख्या की गई है उसका विवरण यहाँ अनावश्यक है पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि यास्क ने भी श्रुत् का अर्थ सत्य ही लिया है।^२

अन्त में हम यह संकेत करके आगे बढ़ेंगे कि 'श्रद्धा' शब्द पूरे वैदिक साहित्य में सत्य अथवा विश्वास के अर्थ में लिया गया है और यद्यपि भक्ति के लिए भी विश्वास तथा ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है और इससे ही भक्ति का उदय भी होता है, तथापि ये दोनों एक नहीं हैं।

हम पुनः 'भक्ति' शब्द के वैदिक प्रयोग पर दृष्टिपात करेंगे। 'ऋग्वेद' संहिता १।१२७।५ में 'भक्त' तथा 'अभक्त' शब्द आते हैं पर इनका अर्थ सायण ने 'सेवामान' 'असेवामान' अर्थात् 'पूजने वाले' और 'न पूजने वाले' ठाक ही लिया है। यहाँ 'भक्त' शब्द 'महाभारत' या 'गीता' के 'भक्त' शब्द के अर्थ में कदापि नहीं है। यदि 'गीता' के अर्थ में यहाँ 'भज' धातु का प्रयोग होता तो कृष्ण ९वें अध्याय श्लोक २०-२१ में वैदिक 'भक्तों' के लिए ऐसा कदापि न कहते—

त्रैविधा मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गंति प्रार्थयन्ते।

१ ऋग्वेद का यह दसवाँ मण्डल 'पुरुषसूक्त' काफी बाद का माना गया है।

२ यास्क ने 'सत्यनामान्युत्तराणि षट्' की व्याख्या करते हुए लिखा है—प्रज्ञावन्त एव हि सत्यवादिनो भवन्तीति प्रज्ञानामभ्य उत्तराणि सत्यनामानि षट्। श्रुत्। सत्रा। इत्येवमादीनि ॥ निरुक्त ३।१३

तथा

'श्रद्धा श्रद्धानात्' की व्याख्या की है—

अत्र श्रुत-इति सत्यनाम् पूर्वं पदम्। तदस्यां धीयति इति श्रद्धाश्रद्धानं तस्मात्।

....." निरुक्त ९।३०

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक—

मदनन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान् ॥

ते तंभुत्वा स्वर्ग लोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं काम कामा लभन्ते ॥

क्योंकि अपने भक्त को तो वे स्वयं अपने में मिला लेते हैं और तब वह गमनागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। (गीता ८।१५)

ग्यारहवें अध्याय, श्लोक ५३ में तो भगवान् कृष्ण ने यहाँ तक कह दिया है कि उनका अर्जुन द्वारा देखा हुआ विराट् रूप न वेद से न तप से देखा जा सकता है पर भक्ति से सम्भव है।

अतः 'भज' धातु के जितने भी प्रयोग वैदिक साहित्य में हुए हैं वे भक्ति के परवर्ती अर्थ के रूप में कदापि नहीं हैं। वहाँ उनका अर्थ 'विभाजन', 'पृथक्त्व', 'अलगाव' 'विभाग' आदि ही है। अनुराग या अनुरक्ति के अर्थ में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं किया गया है और 'भक्ति' शब्द का प्रेममूलक अर्थ पाणिनी तथा यास्क के समय से लेना आरम्भ होता है।^१

भागवत नामकरण के लिए कुछ विद्वानों ने वैदिक देवता भग से इस सम्प्रदाय को सम्बन्धित बताया है और उनके मतानुसार भग-पूजकों को भागवत कहा जाने लगा। 'ऋग्वेद' में इस देवता के विषय में महत्वपूर्ण उल्लेख यह मिलता है कि यह विधता अदिति के पुत्र हैं और निर्धन, धनी, राजा सभी भग कह कर इनकी प्रार्थना करते हैं। (७।४१) आगे चलकर इन्हें आनन्ददायक माना जाने लगा। पर 'अथर्ववेद' तक तो हम विष्णु तथा भग को पृथक्-पृथक् रूप में ही पाते हैं क्योंकि वहाँ वरुण, मित्र, विष्णु तथा भग का एक ही स्थल पर दो पृथक् देवता के रूप में उल्लेख किया गया है। (अ० वे० ७।११) किन्तु इसी वेद में इन्हें प्रेम का देवता भी कहा गया है (४।६।१।३) और वे भीम, मरुत तथा अग्निदेव की भाँति जीवनदाता हैं (२।८।१।२) । भग देवता का विष्णु के साथ किस प्रकार समीकरण कर दिया गया, इसका कोई विवरण हमें प्राप्य नहीं है पर भग का जो रूप ऊपर देखा गया है वह इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि उसके पूजकों का कोई विशेष वर्ग बनता और वही वर्ग आगे चल कर इतनी ख्याति प्राप्त कर लेता। अतः हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वैदिक भग-पूजकों का ही परवर्ती नामकरण भागवत है।

अब हम पुनः अपने पूर्व विषय पर आते हैं और यहाँ 'ऋग्वेद' में माता-पिता सम्बन्धी भावों पर विचार करेंगे।

१ 'भज' तथा 'भक्त' शब्द की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य हैं—

ज० आ० रा० ए० सो० (J.R.A.S.) १९१०, पृ० ८६१, ६२; १९११, पृ०

१९४, ७२७-३८ आदि

माता-पिता अथवा सखा का सम्बन्ध स्थापित करने की प्रथा यदि केवल मात्र 'ऋग्वेद' या दूसरे शब्दों में प्राचीनतम आर्यधर्म में ही पाई जाती तो इस 'प्रमाण' की प्रामाणिकता को कुछ महत्व दिया जाता, किन्तु देवताओं के साथ मनुष्य के ऐसे सम्बन्धों के चिह्न लगभग सभी जाति के आदि धर्मों में उपलब्ध हैं। फिर तो 'अवेस्ता' से लेकर 'बाइबिल' और 'कुरान' तक में भक्ति-भावना खोजी जानी चाहिए। वास्तव में मानव मात्र में समान मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। सभी धर्मों की उत्पत्ति में मानव की यही समान मूल प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं। समान सम्बन्धित संवेग सब के आदि कारण बनते हैं। तब कालान्तर में भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण धर्म के उस आदि रूप में क्रमशः परिवर्तन-परिवर्द्धन लाते जाते हैं। सभी प्राचीनतम मानव सभ्यताओं (आदि सभ्यताओं) के आदि धर्म का स्वरूप प्रकृति-पूजा होना इस तथ्य की प्रामाणिकता का ज्वलन्त उदाहरण है। सिन्धु, सुमेरियन, असीरियन, बेबीलोनियन आदि सभ्यताओं में प्रकृति-पूजा का ही प्राधान्य है। प्रकृति-पूजा से ही बहु-देववाद या एकेश्वरवाद की ओर धर्म अग्रसर होता है। और प्रकृति-पूजा के मूल में मानव का पलायन (Escape), संवेदन (Appeal) तथा जिज्ञासा (Curiosity) आदि मूलप्रवृत्तियाँ तथा सम्बन्धित संवेगों—क्रमशः भय (Fear), दुःख (Distress) तथा आश्चर्य (Wonder) आदि का भी विशेष हाथ रहता है। किसी धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय के रूप-परिवर्तन या कुछ नवीन तत्वों के समावेश (परिवर्द्धन) का जो बात ऊपर कही गई है उसके मूल में निवृत्ति (Repulsion), संचय (Acquisition) आदि मूलप्रवृत्तियाँ कार्य करने लगती हैं। यह अवस्था तब आती है जब किसी सम्पूर्ण जाति या सम्प्रदाय के समस्त सदस्य अथवा किसी सर्वशक्तिमान सदस्य में, जिसमें अपने समुदाय को मोड़ देने की क्षमता रहती है, अपने धर्म या विश्वास विशेष के प्रति अपनत्व या लगाव का भाव स्थापित हो जाता है और वह उसे विशिष्टता प्रदान करने की चिन्ता के साथ-साथ उसके प्रचार एवं प्रसार की चेष्टायें भी करने लगता है। अनेक प्रतिक्रियात्मक धर्मों या धर्म-सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप उत्पन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उद्भव इस तथ्य का ठोस प्रमाण है। धर्म के रूप-परिवर्तन का एक दूसरा भी मनोवैज्ञानिक कारण है। मानव-मन अनुभवशील होता है और अनुभव तृप्तीय है—(१) ज्ञानात्मक, (२) भावात्मक तथा (३) क्रियात्मक।^१ अतः सामाजिक या सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुसार उन अनुभवों की प्रक्रिया पूर्व प्रचलित धर्म-भावना पर हुआ करती है जिससे धर्म-परम्परा को नूतन प्रगति या कर्मा-कर्मों नई दिशा प्राप्त होती है। अतः माता-पिता या सखा के सम्बन्धों का सहारा निराधार है। भय, दुःख तथा आश्चर्य आदि संवेगों से उत्प्राणित मानव-समाज के आदि धर्म में, जिसकी सृष्टि, सृष्टि के साथ न होकर मानव-समाज के साथ हुई है, देवताओं या इष्ट देवों को सामाजिक सम्बन्धों से देखना स्वाभाविक है, प्राकृतिक है।^२ वास्तव में द्रष्टव्य तो यह है कि इन सम्बन्धों में एकान्त प्रेम, अत्यन्त अनुरक्ति

१ धर्म-साधना की तीन पद्धतियाँ—ज्ञान, भक्ति तथा कर्म मन के इसी तृप्तीय अनुभव का प्रतिफल हैं।

२ एक विद्वान ने देवताओं के साथ उनके सामाजिक सम्बन्धों की परिकल्पना के मूल में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किया है—

तथा अहेतुकी भावना का कितना अंश है। स्त्रीता 'बालक' अपने 'पिता' में कितनी भक्ति रखता है और कितनी स्वार्थ-भावना, 'माता' में कितना मान-प्रेम रखता है और कितना दुग्ध-प्राप्ति की कामना, इसी प्रकार 'पत्नी' में कितना वन्द्यत्व है और कितना सहयोग-प्राप्ति की याचना। स्पष्ट है कि 'ऋग्वेद' का प्राचीनतम ऋचाओं में ऋषियों ने सभी महत्वपूर्ण देवताओं से भौतिक सुख-सुविधा की कामना की है। और तो और वशिष्ठ ऋषि का ऋचा-रचना मात्र का उद्देश्य उन्हीं के चर्यों में देखें—

‘धेनुं नत्वा सुयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वशिष्ठः

—ऋ० ४।७।१८

यहाँ धेनु को दूहने का इच्छा से घास उगाने वाला प्रवृत्ति ऋचा-निर्माण (इन्द्र की स्तुति-सम्बन्धी ऋचाओं के निर्माण) के मूल में है। देवताओं की विस्तृत स्तुति में 'हमारे लिए कल्याणकारी हों' की दुहाई पग-पग पर दी गई है। धन-धान्य और गौ की कामना सीमरस का प्रकीर्णन देकर भी धन-तन्त्र की गई है, चाहे वह ऋचा इन्द्र को सम्बोधित हो व वरुण या विष्णु को। देवताओं के साथ-साथ देव-पत्नियों से भी धन की कामना की गई है। ये तो हैं ऋग्वेदिक ऋषियों के माता-पिता-पत्नी विरुद्धारी देवताओं के प्रति उनके भाव। इसके विपरीत, मध्यकालीन उपासक अपने आराध्य देव से माँगना तो दूर रहा देने पर भी किसी वस्तु की चाह नहीं रखते—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्त एकान्तिनो मम।

वाञ्छन्त्यपि मयादत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।

—भागवत, स्क० ११, अ० २०

पर इसके लिए उन्हें दीया भी नहीं ठहराया जा सकता। वह युग ही कुछ इस प्रकार का था जब भौतिक उन्नतियों के लिए संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में शताब्दियों—पाँड़ियों दर पाँड़ियों के कटु अनुभव संस्कार बन कर ऋग्वेदिक आर्यों के मस्तिष्क में घर कर चुके थे। कुछ क्षेत्रों में तो अभी तक संघर्ष चल ही रहा था।

अब हम ऋग्वेदिक देवताओं तथा उनके उपासकों के मध्य रागात्मक या भावात्मक सम्बन्धों का अध्ययन करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेदिक आर्य अपने देवताओं को शक्तिशाली, पराक्रमी आदि के साथ दयावान और कल्याणमय मानते रहे और ऐसी अवस्था में उनके प्रति 'श्रद्धा' का भाव रखते थे किन्तु जिस 'रागात्मक सम्बन्ध' की अपेक्षा

“The relation between the gods in antiquity and their worshippers was expressed in the language of human relationship, and this language was not taken in a figurative sense but with strict literality. If a god was spoken of as father and his worshippers as his offspring, the meaning was that the worshippers were literally of his stock, that he and they made up one natural family—with reciprocal family duties to one other..... This account of the position of religion in the social system holds good, I believe for all parts of races of the ancient world in the early days of their history.” W. R. Smith—*Lecture On The religion of the Semite*, pp. 29-30

हिन्दू समाज में वशिष्ठ गोत्र, कश्यप गोत्र आदि ऋषि या देवता-सम्बन्धी गोत्रों की जो परम्परा है वह उपर्युक्त मत के समर्थन में एक पुष्ट प्रमाण है।

भक्ति में की जाती है उसका यहाँ अभाव है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि 'ऋग्वेद' में प्रेम-कथा भी है जो निश्चित रूप से लौकिक है। पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम-कथा-सम्बन्धी ऋचाओं में अथवा किसी ऋग्वेदिक कवि की मधुर उपमाओं एवं दृष्टान्तों में भक्तिपरक प्रेम ढूँढ़ना कहाँ तक तर्कसंगत है। ऐसा प्रेम तो प्राचीन धर्मों में बहुलता से मिलेगा।^१

जिन पंडितों ने नवधा-भक्ति या भक्ति की ग्यारह आसक्तियों को 'ऋग्वेद' में ढूँढ़ने की चेष्टा की है, यदि उतनी ही चेष्टा और उतने ही परिश्रम से वेद-विरोधी या और अधिक स्पष्ट शब्दों में हिंदू-विरोधी धर्म-ग्रन्थों में से समान भावपरक दृष्टान्त ढूँढ़ जायें तो समान सफलता हो मिलेगी। 'कुरान' से ऐसे अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनका कुछ अंश समानमानवधारा होगा।^२ कोई भी धर्म-साधना केवल पद्धति-विशेष तक नहीं सीमित रहती। यदि ऐसा हो तो फिर धर्मों में पारस्परिक भेद दिखाना बड़ा ही कठिन हो जायेगा। कुछ सूक्ष्म भेद के साथ सभी धर्मों में अपने आराध्य देव का उपासना की जो पद्धतियाँ मूलतः निर्मित हुईं या फिर कालान्तर में उनमें जो नये अध्याय जोड़े गये वे सब अनेक स्थानों में साम्य रखते हैं। दास्य भक्ति का इससे ज्वलन्त प्रमाण क्या हो सकता है कि सेमाइट धर्म के उपासकों में अपने उपास्य देव के प्रति सेवा-भावना इतनी प्रबल हो उठी थी कि उन्होंने अपने नाम के साथ दास (Abd)^३ जोड़ना आरम्भ कर दिया। विशेषता यह है कि यह विरुद् बहुधा शासकों अथवा पुरुषों के कुलों में प्रयुक्त होता था। फिर भी प्राचीन वैदिक साहित्य में भक्तिपरक ऋचाओं-मंत्रों का संग्रह करने वाले पंडितों का प्रयास स्तुत्य है क्योंकि जब नाम मात्र का साम्य देखकर पादरी विद्वान और उनके 'जुठवटोर' भक्ति पर बर्षश ईसाइयत लादते हैं अथवा जब मौलवी-मुल्ला और उनके फरमावरदार इस पर ईमामियत का रंग चढ़ाते हैं अथवा फिर कुछ 'इतिहासवाज' जब इसे ब्रविडों की देन सिद्ध करने का अटकल लगाते हैं तो फिर इन हठधर्मियों और जबर्दस्तियों से तो वह सत्य कहीं अधिक तर्कसंगत और प्रामाणिक है। यदि मध्यकालीन

१. फरोह-नरेश के वेश में आमीन नामक मिश्री देवता का फरोह-रानी के शयनागार में जाने और रानी के मुग्ध हो जाने का आभिलेखिक प्रमाण द्रष्टव्य है—

"He found her as she rested in the beauty of her palace. She awoke at the perfume of the god and laughed in presence of his Majesty. He straightway came unto her and greatly desired her to behold him in his divine form after he had come into her presence. She rejected to behold her beauty and his love passed into her body, the palace overflowed with perfume of the god....."

देर-एल-बहरी (Der-el-bahri) के हत्शेपसुत (Hetshepsut) देवालय का अभिलेख, एलन-डब्लू शाटर द्वारा अपनी पुस्तक 'Egyptian God' पृष्ठ १५ पर उद्धृत

२. "तोबा करने वाले, दोषा करने वाले, तारीफ करने वाले, हकू (समर्पण) करने वाले, सिजदा (बन्दना) करने वाले.....मोमिन हैं"—कुरान, ग्यारहवाँ पारा (याताजिह्न) हकू १३, आयत ११२।

३. "Abd Eshmun—Servant of Eshmun, Abd-Baab, Abd-Osirete W. R. Smith, 'Lectures On The Religion of Semites', p.68

'दास' विरुद् का प्रयोग मध्यकालीन भारतीय भक्तों में भी द्रष्टव्य है।

भक्ति-साधना का मूल नहीं, मूलात्मादिक अग्रतन्त्र कारण देखा जाय तो वह वैदिक साहित्य में ही मिलेगा, अन्यत्र नहीं। तदर्थ आगे तत्सम्यग्धी ऋचाओं को सूची दी गई है। फिर भी हम यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि इतिहासकारों तथा साहित्याचार्यों ने 'ऋग्वेद' में जिस भक्ति-भावना का दर्शन किया है वह समस्त मानव जाति के प्रारम्भिक धर्मों में किसी न किसी रूप में उपलब्ध है और यदि 'भक्ति' के सामान्य अर्थ को लिया जाय, न कि उस भक्ति-विशेष का जो उपनिषद्काल से आरम्भ होकर मध्यकाल तक अपना चरम पराकाष्ठा पर पहुँचता है और जिसमें प्रेम तथा निष्काम-भाव का ही प्राधान्य है, तो वह 'ऋग्वेद' तो क्या आर्यों-अनार्यों सभी जातियों के प्रारम्भिक धर्मों में विद्यमान रहत हुए, ऋग्वेद में भी उपलब्ध है और वह 'गीता' की 'अर्थार्थी' या 'आर्त्ता' तथा भागवत का 'काम्या भक्ति' है।

ऋषि कश्यप माराचि के उद्गार द्रष्टव्य हैं—

यन्नानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदः आसते।

कामस्य यन्नाप्तः कामास्तत्र माममृतं कृधोन्द्रायेन्दो परित्स्व ॥ ऋ० १।११३।११

अब पीछे जाने की बात को लेते हैं। शास्त्रवेत्ताओं, धर्माचार्यों आदि के अपने मत को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के भगोरथ प्रयत्नों और पीछे जाने को जिन प्रवृत्तियों का चित्रण डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने किया है, इस संदर्भ में उनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है—

“वेद को अंतिम प्रमाण मानने वाले धर्ममतां और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या एक-दो नहीं है। उत्तर मध्यकाल में वेदान्त के अनेक परस्पर विरोधी सम्प्रदाय हुए हैं। सब अपन को श्रुतिमत मानते हैं।” (मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० १४)

“वास्तविक तथ्य यह है कि इस काल की कोई भी कृति सर्वांशतः वेद की प्रतिध्वनि नहीं है, यद्यपि वेदों में इसका मूल खोज लिया गया है। धार्मिक साधना जीवन्त वस्तु है। वह आसपास से अपने विकास के लिए पोषक द्रव्य संग्रह करती है।”

(वही पृष्ठ २८) आगे कहा गया है:

“वे (भक्त) समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकंठ चित से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेमपक्ष में लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों के प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियाँ, नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी।” (वही)

हमें ज्ञात है कि स्वयं भक्ति के आचार्यों को भी इस प्रवृत्ति या दूसरे शब्दों में इस दुर्बलता से मुक्ति न मिल सकी थी और वे वेदवेदान्त को अपनी भाव-धारा की उद्गम-भूमि घोषित करते रहे। फिर मध्यकालीन भक्तों ने भी “नाना पुराणनिगमागम” का सहारा लेते हुए आधुनिक युग को यह परम्परा प्रदान कर दी है। जब स्वयं धर्म के आचार्यों या सम्प्रदाय विशेष के आधिष्ठाताओं ने ‘श्रुति सम्मत’ का सहारा लिया है तो फिर दूसरों को इसमें क्या आपत्ति।

यह केवल उपनिषदों का ही साहस था कि उन्होंने वेदों को टूटी नाव घोषित करके अपना नया 'बजरा' तैयार किया था, शेष तो आदि या अन्त में श्रुतिसम्मतता का सहारा ही लेते रहे। बात आगे विष्णु पर आकर रुकती है। वैष्णव भक्ति के मूलाधार विष्णु ही हैं। अतः भक्ति की प्राचीनता सिद्ध करने के साथ-साथ वैदिक विष्णु को भी 'मध्यकालीन विष्णु' की दृष्टि से देखने की चेष्टा की गई है। 'ऋग्वेद' में विष्णु से सम्बन्धित मंत्रों की स्वल्पता को महत्वहीन समझा गया है। कुछ विद्वानों ने विष्णु पर 'कृष्ण' का चरित्र आरोपित करने की भी चेष्टायें की हैं। पूर्व मध्यकालीन 'गोलोकवासी विष्णु' से ऋग्वैदिक विष्णु को समता स्थापित करने के लिए हो पण्डित बलदेव जी उपाध्याय ने लिखा है—“मेधातिथि ऋषि की आध्यात्मिक अनुभूति... विष्णुगोपा अदाम्यः (ऋग्वेद १।२२।१८) अर्थात् विष्णु अजेय गोप हैं।” उक्त विद्वान ने दुहरा-प्रमाण देने के उद्देश्य से दीर्घतमा ऋषि का भी एक उदाहरण (ऋग्वेद १।१५।६) प्रस्तुत किया और अन्त में यह घोषणा की है कि “इन्हीं मन्त्रों के आधार पर अवान्तर कालीन वैष्णव मत के अनेक सिद्धान्त अवलम्बित हैं। विष्णु का सर्वोच्च पद 'गोलोक' कहलाता है... गोपवेष-धारी विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं।”^१ पर विष्णु की जो स्थिति 'ऋग्वेद' में है उसे देखते हुए हम परवर्ती 'विष्णु' तक उनकी विकास-अवस्थाओं की कल्पना निश्चय से नहीं कर सकते। उनसे अधिक शक्तिशाली और साथ ही 'भागवतीय' विष्णु से अपेक्षाकृत अधिक निकटता रखने वाले दूसरे भी समकक्ष ऋग्वैदिक देवताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं जिनमें पूषण व वरुण को ही उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। पूषण की प्रशंसा में भरद्वाज ने जो ऋचायें लिखी हैं उनसे पूषण एक महान्तम रथी कपर्दधारी (जुड़ाधारी), वैभवशाली, गोरक्षक, इन्द्र-सखा (उपासक के भी सखा) शत्रु-संहारक, पशुपालक आदि ज्ञात होते हैं। एक स्थल पर तो भरद्वाज ने इनके सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है—

पूषण द्यौ और पृथ्वी के सुन्दर बन्धु, अन्नपति, धनवान्, दर्शनीय, रूपवान् हैं।^२

ऋग्वैदिक विष्णु के सम्बन्ध में राहुल जी का विचार है, “यह ऋग्वेद के गौण देवता हैं। पीछे के विष्णु की कल्पना में ऋग्वेद के इन मंत्रों का सहारा उसी तरह लिया गया है जिस तरह शिव की रचना में ऋग्वेद के कपर्दी रुद्र का। पर वैदिक आर्यों को पौराणिक या महाभारत के विष्णु और रुद्र से कोई मतलब नहीं था।”^३ इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना होगा कि केवल विष्णु को ही गोपालक या गोलोकवासी माना गया होता और वे केवल इसी रूप में प्रसिद्धा रहते तो फिर पणिगण के निकट आर्यों की द्वाती के रूप में गई हुई सरमा को पणि यह नहीं कहत कि ‘वह इन्द्र आवे, हम उसे मित्र मानेंगे। वह हमारी गायों का गोपालक बनेगा।’^४ तब तो वह

१. श्री बलदेव उपाध्याय—‘भागवत सम्प्रदाय’, पृष्ठ ७८-७९

२. पुषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इलस्पतिर्मधवा दस्मवर्चाः।

ऋ० ६।५।४, महापण्डित राहुल

के ‘ऋग्वैदिक आर्य’ पृष्ठ ४८४ से उद्धृत।

३. वही पृष्ठ १९७

४. आ च गच्छन्मित्रमेना दधामाथा गवा गोपतिनो भवति।

ऋग्वेद, ६।४।३

विष्णु को इसके लिए आमंत्रित करता। देवताओं की स्थिति वनती-विगड़ती रही है और आगे भी रहेगा। अधिक दूर न जाकर विक्रम का छठी-सातवीं शताब्दी पंच-देवोपामना में ब्रह्मा को दुंदुभे या फिर वैदिक साहित्य में राधा-कृष्ण (या कृष्ण-राधा ही सही) को खोज लें। किन्तु भावना के स्रोत की कोन उपेक्षा कर सकता है; वह चाहे वैदिक विष्णु, इन्द्र, वरुण आदि हों, 'महाभारत' के वामुदेव-नारायण हों, 'गीता' के योगी कृष्ण हों या फिर 'पुराणों' के राधा-कृष्ण हों। जिस भावसाम्य के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को द्रविड़ों अथवा ईसाइयों या फिर मुसलमानों की देन स्वाकार किया है उनसे हम भक्ति-भावना-सम्बन्धी विचारों, भक्ति-सम्बन्धी अन्यान्य सिद्धान्तों—साधन, भक्ति-प्रकार, भेदोपभेद तथा भक्ति का मूल शक्ति अनुरक्ति, से बहुत-कुछ मिलती-जुलती—कम से कम उन विदेशी तत्वों से तो कहीं अधिक मिलती-जुलती भावधारा का प्रवाह प्राचीन वैदिक साहित्य में देखने की अपील करेंगे। तदर्थ स्थानाभाव के कारण यहाँ पूरा ऋचा या मंत्र न देकर केवल संख्या-संकेत किया जा रहा है—

भक्त और भगवान का पिता-माता-सखा सम्बन्धी भाव

ऋ० ४१७१७, ४१२५२, ६११५, ६३३४, ८१८१३२, ८१९३३, ८१९८११, तथा १०७३३ आदि।

नवधा भक्ति

ऋ० २३३३८, ८१६३१, साम० पूर्व २११५१०, २१२११२, अथर्व० २०४४११ आदि। कीर्तन के लिए—ऋ० ११२२१७, ८१०२१५, सा० उत्तर ७२११४३, पूर्व ३११३९, शु० य० ५११५ आदि। पादसेवन के लिए—ऋ० ८१९२१९, सा० पूर्व २१२१४ तथा ४१२३३३। अर्चन के लिए—शु० य० २५१२१। श्रवण के लिए—ऋ० ११६३९, ११५६३२, ३३७३, ३६२१०, ८१११५, अथर्व० २०११३३, शु० य० ३३५ आदि। नामस्मरण के लिए—ऋ० ७३३३२२, शु० य० २७३५, सा० पूर्व २११५३ आदि। वन्दन के लिए—ऋ० ८१९३४, शु० य० ३३३५, सा० पूर्व० २११४२, अथर्व २०११२११ आदि। दास्य के लिए—ऋ० ११११९, ११९१२, ४१७१९, शु० य० २५११५, सा० पूर्व २११-४१३ आदि। सख्य के लिए—ऋ० १०१८६१२, सा० उत्तर १२१११२ पूर्व० २१२१०१ ये आत्मनिवेदन-भाव के लिए भी द्रष्टव्य हैं।

आसक्तियों के लिए

ऋ० ९१८६४४ (गुण), अथर्व० १०७२२२३ (रूप), ऋ० १०५०११ (पूजा), ऋ० ६११४ तथा ८४४११९ (स्मरण), ऋ० ७२५४ तथा ७८६३ (दास्य), ऋ० ८४५१२-३, ८६१११ तथा ९६१४ (सख्य), ऋ० १०४३११ (कान्ता), ऋ० १६२१११ (तन्मयता), ऋ० ४११५ तथा ४४४१२३ (विरहासक्ति) द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रकार भक्ति के साधन—सत्संग, श्रद्धा, अद्रोह, दान-दया, नियम-संयम आदि के लिए भी अनेक ऋचायें उद्धृत की जा सकती हैं। गौणी और परामक्ति के भी परोक्ष दर्शन हो सकते हैं।

ऐसा लगता है कि जब ईसाई धर्म-प्रचारक पण्डितों ने बुद्धिबल द्वारा 'कृष्ण' शब्द को तोड़-मरोड़ कर क्राइष्ट तक पहुँचाकर भक्ति को ईसाई धर्म से प्रभावित होने की बात कही तो फिर इतिहास जानने वालों ने भक्ति को प्राचीनतम सिद्ध करना आरम्भ कर दिया पर आखिर इतना पीछे भागने का भी क्या आवश्यकता है। दूसरे, इसलामी प्रभाव के वकीलों—डा० तारा-चन्द्र तथा प्रो० हुमायूँ कबीर ने तो केवल वैष्णव भक्ति को ही नहीं प्रत्युत शैव भक्ति और विशेषतया शंकराचार्य तक को इसलामी प्रभाव का उपज माना है।^१ (शायद आठवीं शताब्दी में भी तुर्की सरदार या मुसलमानी दरवेश काबा की वे ३६० मूर्तियों और शिवलिंग या पिण्डा सरीखा काला पत्थर लेते आये थे क्योंकि ग्रहण या त्याग के लिए शंकराचार्य को देने के लिए उनके पास और कुछ न था।)

इतना ही नहीं कुछ लेखक 'कृष्ण काला अतः 'द्रविड़' अथवा 'उत्पन्ना द्रविड़' साह' अतः 'द्रविड़' आदि का बात कहते हैं और वे भक्ति को द्रविड़ों का देन मानते और मनवाते हैं। पर भक्ति कोई देने-दिलाने वाली वस्तु नहीं है। यह एक उपासना-पद्धति है न कि वैज्ञानिक आविष्कार। इसका जन्म-भूमि भारत ही है, हाँ समय का निर्धारण भले ही विवाद का विषय हो, जिस पर आगे विचार किया जायेगा।

१. और उधर ई० बी० हेवेल का मत देखें—“यह भारत ही था यूनान नहीं जिसने इसलाम को उसके यौवन काल में शिक्षा दी, उसके संस्कार किये, धार्मिक आदेशों तथा दर्शन का निर्माण किया तथा साहित्य, कला एवं वास्तुकला के महत्वपूर्ण प्रकाशनों को प्रोत्साहित किया।”

४: उत्तर वैदिक काल--संहिताओं से उपनिषदों तक

अकेला 'ऋग्वेद' ही लगभग एक हजार वर्षों की मानवी भावनाओं एवं विभिन्न भौतिक तथा आध्यात्मिक विकासों का प्रतिनिधित्व करता है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वेद-वर्णित विचार सर्वांशतः सार्वजनिक और लोकमतानुमोदित अथवा बहुव्यवहृत नहीं हैं। जहाँ मनीषियों द्वारा जनता जनार्दन की आवाज ऋचाओं के रूप में दुहराई जा रही थी वहाँ कुछ नये प्रयोग भी किये जा रहे थे जिससे सर्व साधारण का उस युग में सहमत होना ही आवश्यक न था। 'ऋग्वेद' संहिता के बाद शेष तीन संहिताओं का स्वर समान ही रहा और वैदिक धर्म-भावनाओं में सर्वोच्च एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड एवं ज्ञान-संधान ही रहे। कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय लोक-जीवन के बहुत निकट आने वाली संहिता हैं अथर्ववेद संहिता जिसमें घरेलू, पारिवारिक, जीवन तक के अनेकानेक पहलुओं से सम्बन्धित मंत्र हैं। रोग-निवारण, जादू-टोने से लेकर प्रेमगीत तक यहाँ उपलब्ध हैं। संहिताओं के बाद ब्राह्मण आते हैं जो भारतीय गद्य-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें वेदों के एक विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड को पूर्ण विस्तार दिया गया—इतना अधिक कि उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का विवेचन किया गया। कथाओं द्वारा, इनमें कर्मकाण्ड का महत्व भी समझाया गया और साथ ही कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया। इन कर्मकाण्डों तथा कथाओं की धरोहर ही हमें महाकाव्यों से होते हुए पुराणों के माध्यम से मिलती है।

प्राचीनतम वेद 'ऋग्वेद' से सम्बन्धित होने के कारण 'ऐतरेय' ब्राह्मण का स्थान अपेक्षा-कृत महत्वपूर्ण है। भागवत सम्प्रदाय के आराध्य विष्णु को सर्वप्रथम सम्मानित पद देने का श्रेय इसी ब्राह्मण को है जिसने प्रारम्भ में ही यह घोषणा की है—

‘ओउम् अग्निर्वेदेवानाम् अवमः विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः’

किन्तु इसका कदापि यहाँ अर्थ नहीं है कि अग्नि हेयतम देवता हैं और विष्णु श्रेष्ठतम।^१ सम्भावना तो इस बात की हो सकती कि ये दोनों देवता दो वर्गों के देवताओं—पार्थिव व आकाशीय देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे अपने वर्ग के स्थानांय देवताओं को अपने में समेटे हुए हैं। 'शतपथ' ब्राह्मण ने तो ऋग्वेदिक विष्णु को और भी ऊँचा पद देने की चेष्टा की और उसने इनके 'तीन डँगों' की कथा को इतना विस्तारपूर्वक प्रचारित किया कि अब विष्णु के तीन पद 'ऋग्वेद' के अनुसार (इदं विष्णुर्विचक्रमे ब्रध्ना निदधे पदम् समूढ-मस्थपांशुरे) सूर्य की दैनिक परिक्रमा के तीन स्थानों—उदय, मध्य और अन्त न रह कर (और्ण-वाम की व्याख्या के अनुसार जिसने शाकपूणि की भाँति, ऋग्वेदिक विष्णु को अर्वाचीन दृष्टि से नहीं देखा है) तीन लोक—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बन्धित हो गये। इस प्रकार उक्त ब्राह्मण ने विष्णु को अन्य देवताओं की अपेक्षा महत्व प्रदान करने

१. अग्नि और विष्णु (ऋग्वेद के दोस्थानीय देवता) इन दोनों देवताओं द्वारा धरती और आकाश और फिर अन्य देवताओं को इसी के बीच का बताना भी तो लक्ष्य हो सकता है।

में 'ऐतरेय' ब्राह्मण को योग दिया। फिर भी हम डा० कोथ (ज० आ० रा० ए० सी० १९१५, पृ० ८३९) के इस मत में पर्याप्त सत्यता पाते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु का सम्बन्ध यज्ञों से है और उन्हें सर्वोच्च देवता मानना ठीक नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ऋग्वेद' के 'कृतस्य गर्भ' विष्णु ब्राह्मण के भी 'यज्ञो वै विष्णु' हो रहे हैं। किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि इसके लिए रामानुज की प्रतीक्षा थी और उस पर ईसाई धर्म का प्रभाव अपेक्षित था, जैसा कि कोथ ने उक्त लेख में ही पृष्ठ ८३६-३७ पर लिखा है। ऐसा लिखते समय कोथ ने न केवल तिथि-सिद्ध प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों को उपेक्षा की है प्रत्युत जैसा कि हम आगे देखेंगे, उक्त विद्वान ने आभिलेखिक साक्ष्यों की भी अवहेलना की है। हम यहाँ केवल इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक और ब्राह्मण कालीन विष्णु-पूजा तथा भक्तिधर्मन्तिर्गत विष्णु-पूजा में कोई आंतरिक सम्बन्ध नहीं दृष्टिगोचर होता। कारण स्पष्ट है। भक्तिधर्मन्तिर्गत भगवान की आराधना में दो तत्व प्राप्त हैं—पहला आराध्य देव को महान करुणालय, सर्व शक्तिसम्पन्न एवं ऐश्वर्य-शाली मानना तथा दूसरा तत्व है परानुरक्ति। इस दृष्टि से ब्राह्मण के विष्णु महान ऐश्वर्यशाली एवं सर्वशक्तिमान नहीं हैं। इन्हें बहुत अधिक बढ़ावा देनेवाला 'ऐतरेय' ब्राह्मण भा 'देवानाम द्वारपाह' (ऐ० ब्रा० १.३०) कह कर इन्हें सर्वशक्तिसम्पन्नता और श्रेष्ठता से कई सीढ़ों नीचे खड़ा करता है।

पर ब्राह्मणों में कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनसे परवर्ती शास्त्रकारों की कथा-विस्तार का सूत्र प्राप्त हुआ और आधुनिक पण्डितों को ब्राह्मण ग्रन्थों को पौराणिक दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिली। 'विष्णुः परमः' और 'विष्णुविचक्रमे त्रेधा' कुछ ऐसे ही कथन हैं। ब्राह्मणों में भक्ति-तत्व के खोजियों ने यहीं से कदम बढ़ाया है। तत्पश्चात् वैदिक विष्णु के तीन ढगों द्वारा संसार माप लेने का (ऋ० ११.५.४।२) और वामनावतार का तुक मिलाया गया है जो पर्याप्त अंशों तक मिल भी गया है। विष्णु के तृविक्रम (जो महाभारत युग तक तो वासुदेव का पर्याय बन जाता है) के सम्बन्ध में स्वयं प्राचीन व्याख्याकारों का मत-वैमन्य भी द्रष्टव्य है और तब उसी संदर्भ में तीन ढगों में धरती माप लेने वाली कथा का सूत्र भी देखना होगा। निश्चय ही वामन वाली कथा का 'अवतार विशेष' के रूप में विकास ब्राह्मण युग की देन नहीं है, इसके लिए 'जय', 'भारत' या 'महाभारत' का युग आने वाला था; पुराणकारों की प्रतीक्षा थी। 'महाभारत' के नारायणीयोपाख्यान में पहले वराह, नृसिंह, वामन, भागव राम (परशुराम), दाशरथि राम तथा वासुदेव कृष्ण इन छः अवतारों की बात कही गई है और आगे हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि अवतारों को जोड़ कर दशावतार का भी उल्लेख कर दिया गया है। 'हरिवंश' पुराण भी केवल छः अवतारों का ही उल्लेख करता है।^१ वामन अवतार की भाँति वराह, मत्स्य तथा कूर्म आदि अवतारों के बीज भी ब्राह्मणग्रन्थों में खोजे गये हैं। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि परवर्ती ग्रन्थकारों ने जब अवतारों की कल्पना की और विष्णु

१. इस प्रकार डा० भण्डारकर की 'महाभारत' के उस अंश की जिसमें चार (हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि) अवतारों का उल्लेख है, प्रक्षिप्तांश मानने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।

को सर्वोपरि सिद्ध करने की चेष्टायें होने लगीं तो सभी महत्वपूर्ण कार्यों का श्रेय विष्णु को दिया जाने लगा। साथ ही अपने मत को श्रुतिसम्मत भी बनाने का सजग चेष्टा की गई। फलतः वैदिक कथाओं को ही आधार बनाना पड़ा। हम आगे इस मत के समर्थन में वराह अवतार को ले सकते हैं। वराह अवतार का बोज ऋग्वेद में देखें—

विश्वेत ता विष्णुराभरदुहकमस्तवेधितः।

शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम॥

ऋ० ८।७।१०

यहाँ इन्द्र वराह का वध करते हैं। पर 'शतपथ' ब्राह्मण (१।४।१।२।११) में ही कथा परिवर्तन की ओर झुक जाती है और वहाँ एमुष नामक वराह पृथ्वी को ऊपर उठा लेता है। फिर 'तैत्तिरीय' संहिता (६।२।४।२।३) में भी यही कथा आती है। पर जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है, विष्णु को महत्वप्रदान करने का ध्येय सदा सामने रहता है और निश्चय ही यह किसी वर्ग विशेष की चेष्टा थी क्योंकि 'तैत्तिरीय' संहिता वाला वराह प्रजापति का रूप था (७।१५।१) जब कि पुराणों का वराह विष्णु का रूप है। और 'ऋग्वेद' का एमुष वराह? अब हम बोज और शाखाओं एवं बल्लियों को भलोंभाँति समझ सकते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ब्राह्मणकालीन कथाएँ अवतारों के उद्देश्य से नहीं कही गई हैं प्रत्युत पुराणकारों ने अवतारों का मेल ब्राह्मणकालीन कथाओं से मिलाने की चेष्टा की है। एक दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है। वासुदेव तथा नारायण का उल्लेख सर्वप्रथम क्रमशः 'तैत्तिरीय' आरण्यक तथा 'शतपथ' ब्राह्मण में मिलता है, इसके पूर्व नहीं, किन्तु 'शतपथ' के 'नारायण' का कोई सम्बन्ध विष्णु से नहीं है^१ और यह सम्बन्ध सर्वप्रथम 'तैत्तिरीय' आरण्यक में ही स्थापित किया जाता है। उसी समय तक ('तैत्तिरीय' आरण्यक के रचना-काल तक) दोनों नाम मिलकर एक ही देवता के बोधक भी बन जाते हैं किन्तु यह 'खिलरूप' अर्थात् बाद का जोड़ा हुआ अंश है। संहिता, ब्राह्मण या उपनिषदों में कहीं भी विष्णु को वासुदेव नहीं कहा गया है। (नारायणाय विद्यमहे वासुदेवाय धीमही तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्—तैत्तिरीय आरण्यक, दशम प्रपाठ)। किन्तु जैसा कि डा० राय चौधरी का मत है "विष्णु अब भी किसी भी आर्य समूह द्वारा सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में नहीं स्वीकृत हुए थे।"

'महाभारत' जिस पर हम आगे विचार करेंगे विष्णु की ऋग्वैदिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए वासुदेव कहलाने का कारण बताता है कि 'मे' वासुदेव इसलिए कहलाता हूँ कि अपनी या अन्य दिव्य प्रभा से सभी प्राणियों को ढके रहता हूँ। सूर्य के रूप में अपनी किरणों द्वारा समस्त विश्व को ढक लेता हूँ।' इसी सूत्र को पुराणकारों ने आगे बढ़ाया था। किन्तु यह भी ठाक है कि लोक-जीवन चुपचाप बैठा न था क्योंकि जब उसमें कर्मकाण्डों और तत्सम्बन्धी अनेकानेक कथाओं का प्रचलन हो चुका था तो वह स्वयं भी देवताओं के नाना महत्कार्यों की कल्पना करता रहा होगा। विशुद्ध लोक-साहित्य के अभाव में हम कुछ निश्चयपूर्वक भले ही

न कह सकें पर 'महाभारत', जो शताब्दियों की धार्मिक-लौकिक कथाओं का विश्वकोष है, हमें कुछ इसी प्रकार से सोचने का प्रेरणा देता है।

अवतारों के अतिरिक्त भक्ति के अन्यान्य तत्वों को खोज भी ब्राह्मण ग्रन्थों में ठीक उसी पद्धति पर की गई है जिसका उल्लेख 'ऋग्वेद' में भक्ति-तत्व के सम्बन्ध में किया गया था। यहाँ भी जप, ध्यान, गुण-गान आदि सम्बन्धी स्तुतियाँ खोजी जाती हैं और यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि ब्राह्मणों में भी भक्ति का विकसित रूप प्राप्त होता है। एक पंडित ने तो 'शतपथ' ब्राह्मण की, 'यजुर्वेद' के मंत्रों एवं शब्दों की व्याख्या को देख कर इसे 'शब्द-भक्ति' घोषित किया है। यज्ञ के विधि-विधानों को सविस्तार प्रकाशित करने वाले ग्रन्थ में भक्ति का प्रचार ढूँढना तर्कसम्मत नहीं लगता। ज्ञान या कर्मकाण्ड-सम्बन्धी ग्रन्थ यदि सच्चरित्रता, सदाचार, शुद्धता, नैतिकता आदि का पाठ पढ़ाये और हम इसे 'भक्ति-काण्ड' की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करना स्वकार कर लें तो फिर इसे 'भक्ति का विकास' ही क्यों कहते हैं 'सर्वधर्म-विकास' की संज्ञा क्यों नहीं देते। ब्राह्मण ठीक अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और यह उद्देश्य है वैदिक, यज्ञीय कर्मकाण्डों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन जिसमें ज्ञान की आवश्यकता पड़ ही जाती है।

ब्राह्मणों ने कर्म-काण्डों के विस्तार में जो योग दिया वह सराहनीय है, उधर आरण्यकों में ज्ञान के पूर्ण विकास के लिए ऋग्वैदिक अंकुर को सुरक्षा की जा रही थी। ये आरण्यक ही उपनिषदों से पहले की कड़ी हैं। 'ऐतरेय' आरण्यक का एक वाक्य उद्धृत करके हम उपनिषदों पर आते हैं—

“किसलिए हम वेदों का अध्ययन करें, किसलिए हम यज्ञ करें? हम तो प्राण की वाक् में और वाक् को प्राणों में आहुति देते हैं।”—ए० आ० ३।२।६

'ऋग्वेद' में प्रमुखतः दो प्रकार के विषय हैं—कर्म-काण्ड तथा ज्ञान-काण्ड। कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणों में तथा ज्ञान-काण्ड का विकास उपनिषदों में हुआ है। 'छान्दोग्य', 'बृहदारण्यक', 'कठ', 'ईश', 'श्वेताश्वतर', 'मन्त्रायणीय', 'तैत्तिरीय', 'मुण्डक', 'प्रश्न', 'माण्डूक्य' तथा 'केन' प्रसिद्ध उपनिषद् हैं, वैसे गिनाने को इनकी संख्या सवा दोसौ के लगभग पहुँचा दी गई है। इतिहासकारों ने 'छान्दोग्य', 'बृहदारण्यक' तथा 'कठोपनिषद्' को ही प्राचीन स्वीकार किया है तथा शेष उपनिषदों को बुद्ध से अधिक पूर्व का नहीं माना है।

जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, ऋग्वैदिक युग ही अकेले एक हजार वर्षों की चिन्तन-धारा का प्रतिनिधित्व करता है और जहाँ उसमें यज्ञीय कर्मकाण्डों के प्रतिपादक ऋचा-निर्माताओं का ऊँचा स्वर था वहीं कालान्तर में कुछ ऐसे भी ऋषि हुए जिन्होंने सत्यान्वेषण की जिज्ञासा प्रकट की थी। इसी जिज्ञासा का प्रतिफल उपनिषद् है। एक तथ्य की ओर ध्यान स्वभावतः जाता है, उपनिषदकारों में कुछ घोर या कट्टर ज्ञानवादी हैं और वैदिक कर्मकाण्डों के इतने असहिष्णु विरोधी हैं कि अनेक स्थलों पर इन्होंने वेद की उपेक्षा तक की है। उनकी यह उपेक्षा-भावना तथा ज्ञान और तप पर बल इतना सशक्त और तीक्ष्ण था कि पूर्ववर्ती साहित्य ने यदि सरस उपासना के लिए कुछ गुँजाइश भी छोड़ी थी तो उसमें शंका ही घुन लगते लग गया। हाँ, कुछ ऐसे भी उपनिषद अवश्य हैं जिन्होंने मधुर उपासना के लिए थोड़ी-बहुत

जगह दे रखी है, पर निश्चित रूप से उनको रचना बहुत बाद में हुई—कम से कम महाभारत युग के ठीक पूर्ववर्ती युग में। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् को हम इसी कोटि में रखेंगे। 'मुण्डक' उपनिषद् (१।१।२।३, ३।२।६) ने अब तक का सारा प्रचलित विद्याओं (चारों वेद तथा छः वेदांग) को अपरा विद्या घोषित किया और बताया कि आत्मज्ञान, जो सर्वोच्च ज्ञान है और जो उपनिषदों का सच्चा विषय है, परा विद्या द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसे उक्त उपनिषद् में वैदिक विज्ञान का अन्तिम और सर्वोच्च पद प्रदान किया गया है। वेद की उपेक्षा का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि नारदने यह बताते हुए भी कि उन्होंने चारों वेद और छः वेदांग का अध्ययन किया है, दुख प्रकट किया कि उन्हें आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका ('छन्दोग्य' उपनिषद् ७।१।)। आश्चर्य है कि कुछ विद्वानों ने नारद के उक्त कथन को भक्ति की ओर पसोटा है और उन्होंने नारद के प्रति सनतकुमार के उपदेशों को पूर्ण उपेक्षा की है जो भक्ति का उपदेश न होकर पूर्णतया ज्ञान का उपदेश है। इस प्रकार 'कठोपनिषद्' ने भा वेदविरोधी स्वर ऊँचा करते हुए कहा कि 'न तो आत्मा वेद-ज्ञान से मिलता है न मेधा से और न बहुत पोथी के पढ़ने से।' इतना ही नहीं उसने समस्त अपरा विद्या को, जिसमें वेद भी सम्मिलित हैं, अविद्या (सच्ची विद्या का अभाव) स्वीकार किया है। 'मुण्डक' ने एक स्थान पर (१।२।७) यज्ञीय धर्म-काण्ड को श्रेयस्कर मानने वालों को मूढ़ तक घोषित किया है और स्वर में स्वर मिलते हुए 'बृहदारण्यक' (१।४।१०) ने देवों को आहुति देने वाले व्यक्तियों को तुलना उन पशुओं से की है जो अपने स्वामी के लाभ के लिए कार्य करते हैं। इस विवरण से हमारा अभिप्राय एक ओर तो यह दिखाना था कि उपनिषद् युग तक आते-आते आर्यों ने धर्म के बाह्य उपकरणों को तो अधिकाधिक विकसित कर ही लिया था, जिसमें प्रवृत्ति मार्ग का प्राधान्य था, साथ ही निवृत्ति मार्ग मूलक तप और ज्ञान के लिए भी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जाने लगी थी।

उपनिषदों में भक्ति खोजने वालों के लिए बहुत अधिक अवसर नहीं मिले हैं अतः इन सीमित अवसरों से भक्ति-परक अर्थ लेने के लिए बहुत अधिक खींचातानी करनी पड़ी है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। 'कठोपनिषद्' में निम्नलिखित श्लोक आता है—

नायात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवंप ब्रूते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विद्वन्ते तनू स्वाम् ॥ १।२।२३।

इसमें आत्मा द्वारा व्यक्ति को वरण करने की बात कही गई है और बताया गया है कि जिसका वरण आत्मा द्वारा किया जाता है उसे ही आत्मा का ज्ञान होता है न कि उत्कृष्ट शास्त्रीय व्याख्यान अथवा मेधा द्वारा। भक्त भी 'बिनु हरि कृपा' कुछ भी मिलना सम्भव नहीं मानते। अतः 'कठोपनिषद्' के उक्त कथन से कुछ-कुछ संगत बैठती-सी लगती है। पर यह संगति बैठाना ही है और शंकर ने जो उक्त श्लोक की व्याख्या की है वह भी केवल असंगति के लिए आग्रह ही है। दोनों ओर से खींचातानी ही की गई है—शंकर ने अर्थ में तो दूसरों ने अर्थ की

संगति बैठाने में।^१ इसी प्रकार का अर्थ-विवादास्पद एक दूसरा श्लोक 'कठोपनिषद' में पहले ही आ चुका है—

अणोरणीयान् महतो महीया—

नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १।२।२०।

इस श्लोक में 'धातुः प्रसादात्' को लेकर अपने-अपने पक्ष का अर्थ प्रतिपादित किया गया है। रामानुज के मतानुसार उक्त श्लोक का आशय है कि ईश्वर की कृपा से ही आत्मा का दर्शन होता है किन्तु इनके पूर्व शंकर ने 'धातुः प्रसादात्' के स्थान पर 'धातु प्रसादात्' पाठ ग्रहण करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि धातु अर्थात् मन आदि इन्द्रियाँ, उनके प्रसाद अर्थात् निर्मलता प्राप्त होने पर ही (इन्द्रियों की निर्मलता प्राप्त होने पर ही) आत्मदर्शन होता है। प्रायः वैष्णव भक्ति समर्थकों ने 'धातुः प्रसादात्' ही लिया है, शंकर को भक्ति का प्रसंग यहाँ नहीं उठाना था अतः उन्होंने भिन्न पाठ ग्रहण किया। शंकर का मत न मानने वालों ने अपने समर्थन में 'श्वेताश्वतर' उपनिषद का निम्न श्लोक उद्धृत किया है जिसमें 'देव प्रसादात्' शब्द आया है और जिसका अर्थ 'ईश्वर की कृपा' के पक्ष में ही सर्वमान्य है—

तपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च

ब्रह्महि श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् । (श्वे० उ० ६।२१)

इन सारे उल्लेखों से हम यह सोचने की प्रेरणा तो मिलती ही है कि ब्राह्मण तथा आरण्यकों के पश्चात् उपनिषदों के युग तक आते-आते भक्ति-भावना का सूत्रपात होने लगा था। डा० भण्डारकर ने भागवत धर्म के वेद 'गोता' (उनके अनुसार ४०० ई० पू० की रचना) के धर्म के साधनों का मूल उपनिषदों को बताते हुए उनमें भक्ति का स्रोत देखा है। 'बृहदारण्यक' उपनिषद (१।४।८।) में आत्मा को पुत्र-क्लत्र से भी प्रियतम तथा उसी उपनिषद (४।४।२२) में पुत्रैषणा-वित्तैषणा आदि की कामना छोड़कर आत्मा को प्राप्त करने की चर्चा को तथा अनेकानेक उपनिषदों में ध्यान की बात को वे भक्ति-पक्ष में लेते हैं और जोरदार शब्दों में घोषणा करते हैं कि यद्यपि उपनिषदों में 'भक्ति' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है तथापि उनके 'प्रिय' और 'प्रेयस' का अर्थ भक्तिमूलक ही है। भक्ति की परम्परा को इन्होंने काफी पीछे तक पहुँचाया है। वासुदेव तथा नारायण का समीकरण करके और फिर अन्त में विष्णु से इनकी समता स्थापित करके उन्होंने प्रथम प्राचीन काल से वैदिक विष्णु सम्बन्धी धर्म-साधना, द्वितीय पार्थिव

१. शंकर ने उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—'यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्व्यमात्मा लभ्यो निष्कामस्यात्मानमेव एवमित्येतत् । ज्ञायत प्रार्थयत । आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः ।' शंकर ने साधक द्वारा आत्मा को वरण करने की बात कही है जबकि परवर्ती आचार्य श्री रामानुजानुयायी श्रीरंग ने आत्मा द्वारा साधक को वरण करने का अर्थ लिया है। एक को ज्ञान द्वारा मोक्ष की चिन्ता लगी है जिसमें ब्रह्म की कृपा की अपेक्षा नहीं और दूसरे को भगवत्कृपा पर ही सब कुछ आधारित होना सिद्ध करना अभीष्ट है।

दार्शनिक देवता नारायण सम्बन्धी धर्म-साधना तथा नृनायक वामुदेवोपासना—इन तीन धर्म-साधनाओं के एकीकरण द्वारा परवर्ती त्रैलोक्य धर्म (पौराणिक त्रैलोक्य धर्म) का निर्माण स्वीकार किया है। पर उन्होंने भी गोपाल-कृष्ण और विशेषतया गोकुल के बाल गोपाल की विभिन्न लीलाओं को (जिन्हें हमारे कृष्ण भक्त कवियों ने अपनी भक्ति और माहित्य का एक मात्र आधार बनाया था) ईसवी सन् के पूर्व तक अपरिचित बनाया है। इनके अनुसार पाणिनि के युग के पूर्व भी भक्ति का उदय हो चुका था। इन्होंने भी ऋग्वेदिक ऋचाओं में माता-पिता-सम्बन्धी सम्बोधनों को ओर संकेत किया है और उनसे भक्ति का लक्षित होना बताया है जिससे हम सहमत नहीं हो सकते। हाँ उपनिषदों—विशेषतया परवर्ती 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् से तो हम निश्चित रूप से ही भक्ति का उदय मानेंगे और यहीं से इस साधना-पद्धति को रूप प्राप्त होना स्वीकार करेंगे।

उपनिषद् तथा भक्ति

उपनिषदों का संख्या अनन्त है, उपनिषद्कार अगणित हैं, रचना-काल भी लम्बी अवधि का है। अतः सभी उपनिषदों एक मत नहीं हैं। जहाँ कुछ उपनिषदें वैदिक कर्म-काण्डों की पूर्ण उपेक्षा करती हैं वहीं कुछ अप्रत्यक्ष रूप से उन मध्यकालीन भक्ति के लिए पृष्ठ-भूमितैयार करती हैं जिसे निर्गुण ब्रह्म का उपासना (निर्गुण भक्ति) का संज्ञा दी गई है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि प्राचीन भागवत सम्प्रदाय को उपनिषदों ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। 'गीता' स्वयं इसका बहुत बड़ा प्रमाण है जिसमें कृष्ण ने 'छान्दोग्य' उपनिषद् में सीखे हुए ज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया है। ('गीता' की तिथि विद्वानों ने ४०० ई० पू० स्वीकार की है पर कृष्ण की तिथि बुद्ध के बहुत पूर्व पड़ती है, अतः 'गीता' कृष्ण के बाद की रचना होते हुए भी यह प्रमाणित करती है कि इस युग में ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय का चेष्टा हो रही थी।)

परा भक्ति का सर्वप्रथम महत्व सूचित करने वाली उपनिषद् है 'श्वेताश्वतर'—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः (६।२३)

इसी उपनिषद् में 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' कह कर शरणागति भाव की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है। जिस युग की बात का जा रही है वह क्षत्रिय-प्रधान युग था। धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में समान रूप से क्षत्रिय समाज का नेतृत्व कर रहे थे। कृष्ण, महावीर तथा गौतम आदि क्षत्रिय नेताओं द्वारा रुढ़िगत धर्म में जो नई भाव-धारा प्रवाहित की जा रही थी उससे उपनिषदों का कोई विरोध न था, विरोध यदि था तो उन धर्म-स्त्रोतों से ही जिनसे स्वयं उपनिषदों का भी आशिक विरोध था। वस्तु स्थिति तो यह ज्ञात होती है कि उपनिषदों की आत्मान्वेषण की प्रेरणा जिन सूत्रों से मिली थी उन्हीं सूत्रों तथा परिस्थितियों ने जैन-बौद्ध और भागवत धर्म को भी उत्प्रेरित किया था। भक्ति का जो रूप भक्ति विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थों 'महाभारत' तथा 'गीता' में मिलता है वह उपनिषदों की ध्वनि से पर्याप्त साम्य रखता है। उपनिषदों की भक्ति में आडम्बर नहीं है, अन्तःसाधना पर अधिक बल है, सत्यान्वेषण

की जिज्ञासा है और इनमें सर्वोपरि है गुरु का महत्व जिसके बिना ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता। गुरु के महत्व को सभी धर्म-सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, यह निर्विवाद सत्य है; और जहाँ उपनिषदों ने गुरु के महत्व को बढ़ाया है वहीं वे सगुण पूजा को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करके भक्ति-भावना का सुदृढ़ीकरण हो करती हैं।^१ यहाँ 'छान्दोग्य' उपनिषद्, सप्तम प्रपाठक को कुछ बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। नारद सनतकुमार के पास जाकर कहते हैं कि मुझे शिक्षा दोजिए। सनतकुमार पूछते हैं कि अब तक आपने कौन-कौन सी विद्यायें सीखी हैं, पहले यह बताइए तब मैं आपको सूचित करूँगा कि इसके इतर क्या है। तदुपरान्त नारद पढ़े हुए ग्रन्थों एवं उन सीखी हुई विद्याओं का उल्लेख करते हैं—

‘ऋग्वेद’, ‘यजुर्वेद’, ‘सामवेद’ ‘अथर्ववेद’ इतिहास-पुराण; पितृ, राशि, दैव, निधि, एकायन, देवविद्या ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षात्र विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प तथा देवजन विद्या आदि। कन्तु इन सब विद्याओं के ज्ञाता होते हुए भी नारद ने कातरस्वर में स्वीकार किया है कि ‘मैंने केवल मंत्रों को पढ़ा है, आत्मा से परिचित नहीं हूँ। वे सनतकुमार से अनुरोध करते हैं कि वे उन्हें आत्मा से परिचित करा दें क्योंकि तभी दुःख का अन्त होगा।^२ यहाँ एकायन विद्या हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। ‘ईश्वर संहिता’ (१।१८) में वैष्णव सम्प्रदाय का ही दूसरा नाम एकायन कहा गया है क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति का यहाँ एक मात्र ‘अयन’ या साधन है अतः यहाँ नारद को सनतकुमार से भक्ति का उपदेश लेना किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं होता जैसा कि कुछ विद्वानों ने सिद्ध करने की चेष्टा की है। नारद को इस विषय का ज्ञान पहले से हो था फिर सनतकुमार उन्हें जो उपदेश देते हैं उसमें भी भक्ति के सिद्धान्तों की ही चर्चा नहीं है। वे नारद से नाम, वाक्, मन, संकल्प, बल, अन्न, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, स्मरण, आशा, प्राण आदि अनेक तत्वों का ध्यान करने को कहते हैं क्योंकि इसी साधन से कोई अतिवादित हो सकता है। अतः केवल उक्त ‘ध्यान’ से भक्तिपरक उद्देश्य नहीं लिया जा सकता।

१. गुरु के महत्व को सभी मतावलम्बी स्वीकार करते आ रहे हैं ‘धरम्मपद नवसूत्र’ में लिखा है—

‘जिस प्रकार देवता इन्द्र की पूजा करते हैं उसी प्रकार मनुष्य को अपने धर्म-गुरु की पूजा करनी चाहिए।’ आगे गुरु के गुणों पर लिखा है—

‘जिस व्यक्ति ने धर्म को नहीं समझा है, धर्म के रहस्यों का श्रवण नहीं किया है, जिसने शंकाओं पर विजय नहीं प्राप्त कर ली है वह भला दूसरे को क्या उपदेश देगा’ ‘छान्दोग्य’ उपनिषद् (६, १४), ‘कठोपनिषद्’ (१।२, ७-९) ‘श्वेताश्वतर’ (६, २३) आदि ग्रन्थ गुरु के महत्व को बढ़ाते हुए दीख पड़ते हैं।

२. मैक्समूलर ने इस कथन पर शंका प्रकट की है कि वेद को जाननेवाला आत्मा को क्यों नहीं जानेगा क्योंकि अन्यत्र इसका उल्लेख है कि वेद से आत्मा का बोध होता है ‘संकरेड बुक्स’ प्रथम खण्ड, पृष्ठ ११०

मैक्समूलर की उक्त शंका निराधार है क्योंकि उपनिषद् युग का स्वर ही कुछ ऐसा था। ‘कठोपनिषद्’ में तो स्पष्ट कहा गया है कि, ‘न तो आत्मा वेद ज्ञान से मिलती है न ज्ञेया से, और न बहुत पथों के पड़ने से’। अतः नारद की उक्त अभिव्यक्ति शंका रहित है।

यहाँ इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना होगा कि नारद एक ऐसे पात्र हैं जिन्हें हर युग में हर ग्रन्थकार ने सभी शंका-समाधानों, सिद्धान्त-निरूपणों एवं भाव-प्रकाशन या रहस्यों-द्घाटन का माध्यम बनाया है। अतः इनका तिथि-निर्धारण ग्रन्थों के आधार पर नहीं किया जा सकता। 'नारद पाँचरात्र', 'नारद भक्ति सूत्र' अथवा 'महाभारत' के नारद आदि को हमें तिथि-क्रम की उपेक्षा करते हुए ही ग्रहण करना पड़ेगा। पुनः 'कठोपनिषद्' के कुछ मंत्र निश्चित रूप से भक्ति-भावना को उत्प्रेरित करते हैं।^१ इन्हीं भावनाओं को 'मुण्डक' द्वारा बल मिलता है और उपासक तथा उपास्य के निकट सम्बन्धों की भूमिका सृजित होने लगती है।^२ पर इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् का है जिसने सगुणोपासना का मार्ग अप्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् ६।१८ से हमें सगुण ब्रह्म की झलक मिल जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी उस सर्वशक्तिमान सृष्टिकर्ता परमात्मा की कल्पना की जाने लगी थी जो अव्यक्त के साथ-साथ व्यक्त भी है। उसकी उदारता, दयालुता आदिकी भी कल्पना की गयी थी जिससे भक्ति का अंकुर पल्लवित होने का अवसर मिला। वस यहीं से हम भक्ति का उद्भव मान सकते हैं। भक्त को भगवान के जिस रूप की आवश्यकता थी उसकी कल्पना कुछ प्राचीन उपनिषदों में ही की जा चुकी थी और परवर्ती उपनिषदों^३ में इस कल्पना को और आगे बढ़ाया गया था। उनको ईश्वरवादिता का ही कभीक विकास सगुण ब्रह्म-वाद है। वास्तविकता यह है कि अनेक उपनिषदों में लोकमत को मान्यता प्रदान करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि हमें तत्कालीन लोकमत का कोई पृथक् विवरण नहीं प्राप्त है तथापि इतना तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उपनिषद्-युग तक आते-आते मध्यदेश में आयीं तथा अनार्यों का सम्मिश्रण एवं निकट सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और उनका सांस्कृतिक जीवन परस्पर प्रभावित होता जा रहा था और यह जीवन निश्चय ही सर्वत्र और सर्वथा शास्त्रोक्त विधि से अनुशासित नहीं रहा होगा। साथ ही स्थानीय देवी-देवताओं से लोक-जीवन का अपेक्षाकृत निकट का सम्बन्ध रहा होगा जिसमें भावनाओं तथा संवेगों का अंश अधिक होता है। शास्त्र-प्रणेतार्यों को लोकमत के साथ निश्चय ही कहीं-कहीं चलना पड़ा है। यही कारण है कि कुछ उपनिषदों में, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, ईश्वर के व्यक्त तथा अव्यक्त एवं उदार-रूप की ओर संकेत किया गया है।

अतः उपनिषद्-युग, जिसे हम दसवीं या नवीं शताब्दी ई० पू० सरलतापूर्वक मान सकते हैं, भक्ति के उद्भव का युग है।

उपनिषदों के साध्य, साधक तथा साधन

अब तक हम उपनिषदों का भक्ति-भावना के अनुसंधान की दृष्टि से अध्ययन कर रहे थे, अब उनके दार्शनिक अंग पर भी दृष्टिपात करेंगे क्योंकि भक्ताचार्यों की प्रस्थानत्रया में उप-

१. कठ० १।३।१५। २।२, ९-११, १।३।१, २।३।४, १।३।१२, १।२।१६, २।२।३, १।२।८-९, १।३।१४ आदि।

२. मुण्डक १।१।६, ३।२।८, ३।१।३, ३।१।१-२, २।१।१ आदि

३. यहाँ परवर्ती उपनिषदों से हमारा अभिप्राय अत्यन्त अर्वाचीन-मध्यकालीन उपनिषदों से नहीं है।

निषद् का प्रथम स्थान है। यही नहीं, उपनिषदों के माध्यम से ही प्राचीन वैदिक ज्ञान को आगे बढ़ाया गया है और तदन्तर 'गोता' को प्राप्त हुआ यह ज्ञान अनेकानेक शास्त्रों, 'ब्रह्म सूत्रों' आदि द्वारा पुराणों में लौकिक एवं अलौकिक कथा-शैली का आवरण लेकर अधिकाधिक रूप में जन-समुदाय तक पहुँचता है। सभी परिवर्ती चिन्तकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढ़ाया है, भक्ति के चिन्तकों को भी यहीं से बढ़ना पड़ा है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, उपनिषदों की अनेक आध्यात्मिक एवं भौतिक मान्यताएँ हमारे परवर्ती भक्ति-साहित्य में ज्यों की त्यों उतरी हुई हैं। निर्गुण भक्तों को तो प्रायः इसके इतर कहीं जाना ही नहीं है। इसी प्रकार हमारे सगुण भक्तों में भी जो बौद्धिक तत्व (हृदय को पूर्णतया भक्ति से सम्बन्धित कर देने के सीमित अर्थ में बौद्धिक तत्व) उपलब्ध होते हैं उनका उद्गम-स्थल ये उपनिषद ही हैं। तथ्य यह है कि उपनिषदों के दर्शन पर ही सूत्रकार व भाष्यकार का दर्शन आधारित है। अतः हम यहाँ उपनिषदों के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों पर संक्षेप में विचार करेंगे, जिससे भक्ति-दर्शन को समझने में सुविधा होगी। प्रारम्भ में ही इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि प्रायः सभी प्राचीन उपनिषदों का स्वर कुछ सीमा तक एक-सा ही है।^१ सब में आत्मा तथा परमात्मा के गूढ़ रहस्यों को समझाने की चेष्टायें की गई हैं, सबने अद्वैत भाव को ही प्रचारित किया है, सभी उपनिषदें सदाचार, संयम, तप आदि को प्रधानता देती हैं और सबका लक्ष्य इसी जीवन में ब्रह्म को पहचानना है।

साध्य—पहले हम साध्य पक्ष का अध्ययन करेंगे।

सृष्टि के रहस्य के विषय में सभी उपनिषदें प्रायः मतैक्य रखती हैं। 'प्रश्नोपनिषद्' में कबन्धी ऋषि का उत्तर देते हुए ब्रह्मवेत्ता पिप्पलाद ऋषि ने सूचित किया है कि 'समस्त जीवों के स्वामी परमात्मा की, सृष्टि के आरम्भ में, जब प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई तो उन्होंने संकल्प रूप तप किया जिससे उन्होंने रयि और प्राण का जोड़ा उत्पन्न किया। आशय यह था कि रयि और प्राण मिलकर परमात्मा की विविध प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे।'

'सम्पूर्ण दृश्यमान जगत रयि और प्राण इन्हीं दोनों तत्त्वों के समन्वय से निमित्त है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह सूर्य ही प्राण है और चन्द्रमा ही रयि है। पृथ्वी, जल, तेज ये सभी आकार वाले एवं आकाश तथा वायु जो आकारहीन हैं, रयि ही हैं। अतः दृश्य एवं बोधगम्य समस्त वस्तुएँ रयि हैं।'

'.....सूर्य ही सब प्रणियों का प्राण है।.....प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान आदि पाँच रूपों में विभक्त प्राण भी सूर्य का ही अंश है, अतः सूर्य है।'

'सूर्य संसार के समस्त रूपों का केन्द्र है। सभी रंग, रूप एवं आकृतियाँ सूर्य से ही प्रकाशित हैं। यह सविता ही सबका उत्पत्ति-स्थान है। यही सब की जीवन-ज्योति का मूल है।'

परमात्मा द्वारा लोकों की रचना करने के संकल्प का निर्देश 'ऐतरेयोपनिषद्' में भी मिलता है—

'प्रकट होने से पहले यह संसार एकमात्र परमात्मा ही था। इसके अतिरिक्त और

१. वादरायण ने उपनिषदों के परस्पर विरोध का तर्कसम्मत समन्वय 'ब्रह्मसूत्र' में कर दिया है, जो सर्वमान्य है। इस विषय पर अन्यत्र विचार किया जायेगा।

दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला न था। मैं लोंकों की रचना कल, यह संकल्प निश्चय ही उस ब्रह्म ने किया।”

उक्त उपनिषद् ने आगे लोंकों की रचना का उल्लेख करके बताया है कि उपर्युक्त लोंकों की रचना करने के बाद परमात्माने विचार किया कि सभी लोंकों की रचना तो हो गई, अब इनकी रक्षा के निमित्त लोकपालों को भी रचना करना चाहिए। यह सोचकर उसने जल, आदि सूक्ष्म तत्वों से हिरण्यमय पुरुष को निकाल कर उसको सभी अंगों से परिपूर्ण बनाकर मूर्तिमान बनाया।

इसी हिरण्यगर्भ पुरुष के शरीर से उक्त उपनिषद् ने मुख, मुख से वाणी, वाणी से अग्नि आदि की उत्पत्ति बताई है और क्रमानुसार मारा शरीर उत्पन्न हुआ दिखाया है। परमात्माने सारे अंगों का निर्माण करके तथा उनके देवताओं की भी सृष्टि करके, देवताओं की इच्छा-पूर्ति के लिए मानव-शरीर का निर्माण किया।

जगत का कारण स्वयं ब्रह्म ही है इसका समर्थन ‘इवेतादवतर’ उपनिषद् से भी हो जाता है। छठे अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है—

‘कितने ही विद्वान् स्वभाव को जगत का कारण बताते हैं। कुछ लोग काल को ही जगत का कारण मानते हैं किन्तु ऐसे सभी लोग वस्तुतः मोहग्रस्त हैं। वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण जगत से केवल परमात्मा की ही महिमा का विस्तार है जिसके द्वारा यह संसार-चक्र चलाया जा रहा है। पृथ्वी, जल, आकाश, आदि पाँचों तत्व उसी परमात्मा के शासनाधीन हैं।’

‘परमात्माने अपनी मूल शक्ति प्रकृति से स्थूल महाभूतों आदि की रचना करके उनका निरोक्षण किया, फिर जड़-तत्व के साथ चेतन तत्व-का सम्बन्ध स्थापित करके अनेक रूपों में दिखाई पड़ने वाले संसार की रचना की।’

‘तैत्तिरीयोपनिषद्’ ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक् में सृष्टि एवं पुरुष को संक्षेप में इस प्रकार चित्रित किया गया है—

‘यह निश्चय है कि सर्वप्रथम इस परमात्मा से सर्वत्र विस्तृत यह आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से यह मानव-शरीर उत्पन्न हुआ। यह मानव-शरीर अन्न और रसमय है।’

आगे दूसरे अनुवाक् में कहा है—

‘अन्न के रस से बने हुए स्थूल शरीर से भिन्न उसमें ही निवास करनेवाला एक प्राणमय पुरुष है।’ तृतीय अनुवाक् में, ‘बिना प्राण के किसी का भी जीवन नहीं रह सकता क्योंकि प्राण ही प्राणियों का जीवन है’ सूचित किया गया है। इसी अनुवाक् में आगे कहा गया है—‘प्राणमय पुरुष से भिन्न उससे भी सूक्ष्म होने के कारण उसके भीतर निवास करने वाला दूसरा पुरुष है मनोमय।’ चौथे अनुवाक् में मनोमय शरीर से भी सूक्ष्म होने के कारण उससे निवास करने वाली आत्मा का उल्लेख करते हुए इसे विज्ञानमय पुरुष कहा गया है और इसकी कल्पना इस प्रकार की गई है—

‘बुद्धि की निश्चित विश्वास रूप वृत्ति-श्रद्धा उसका मस्तक, सदाचार उसका दाहिना

पंख, सत्य-भाषण उसका वायाँ पंख, ध्यान द्वारा परमात्मा के साथ संयुक्त रहना इस विज्ञानमय शरीर का मध्यभाग तथा परमात्मा पूँछ है।'

शरीर के भी दो विभाग किये गये हैं: १. स्थूल शरीर जिसकी रचना आकाश वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से हुई है तथा २. सूक्ष्म शरीर।

'कठोपनिषद्' अध्याय १, तृतीय वल्ली में शरीर, जीवात्मा तथा मन का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया गया है—

'जीवात्मा को रथ पर बैठने वाला स्वामी समझो तथा शरीर को ही रथ जानो। बुद्धि इस शरीर रूपी रथ का सारथी है और मन घोड़ों की रास (लगाम) है। इन्द्रियाँ को हाँ जानी लोग घोड़ा मानते हैं और सभी विषय-वासनाएँ इन घोड़ों के विचरने के स्थान हैं।'

सृष्टि एवं मानव-शरीर के पश्चात् हम औपनिषदिक आत्मा पर आते हैं। आत्मा तथा परमात्मा का गूढ़ रहस्य समझाने की चेष्टा लगभग सभी उपनिषदों में की गई है, जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है। यहाँ केवल कुछ प्राचीन उपनिषदों के विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

'कठोपनिषद्' प्रथम अध्याय द्वितीय वल्ली में यम नचिकेता को बताते हैं कि 'यह आत्मा न मरती है, न पैदा होती है। जो वस्तु पैदा होती है और मरती है, उसी में समस्त विकार हुआ करते हैं। अतः आत्मा निर्विकार है '..... यह अजन्मा है, नित्य है, अनश्वर है, अतः यह प्राचीन होकर नवीन है। शरीर में रह कर भी आकाश के समान निर्लिप्त है।'

'ऐसी आत्मा को न पहचान कर जो केवल शरीर को ही आत्मा समझते हैं अथवा जो किसी अन्य के प्रति यह विचार करते हैं कि मैं उसे जान से मार डालूँगा अथवा मारा जाने वाला यह समझता है कि मैं मार डाला गया—वस्तुतः ऐसा समझने वाले आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचानते क्योंकि आत्मा निर्विकार है। वह न मर सकती है और न मारी जा सकती है।'

'यह आत्मा अणु से भी अणुतर तथा महान से भी महत्तर है। यह जीव की हृदय रूपी गुफा में बैठी हुई है। यह अचल होकर भी दूरात्मा है, शयन करती हुई भी गतिशील है। हर्ष से युक्त और हर्षरहित है।'

(इसके आगे ही वह विवादास्पद श्लोक आता है जिसके अर्थ में शंकर तथा रामानुजानुयायी श्रीरंग का मतवैभिन्न्य देखा जा चुका है।)

'तैत्तिरीय' उपनिषद् ने आत्मा को मनोमय शरीर में निवास करने वाला बताया है जिसका उल्लेख किया जा चुका है, इसे विज्ञानमय भी कहा है और वहीं पाँचवाँ अनुवाक्य यह सूचित करता है कि 'विज्ञान ही यज्ञों का विस्तार करता है, कर्मों का भी विस्तार करता है। सभी इन्द्रिय रूप देवता सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के रूप में विज्ञान की ही सेवा करते हैं।..... विज्ञानमय का यह परमात्मा ही शरीर के भीतर रहने वाला परमात्मा है।' पर आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि निस्सन्देह पूर्वकथित विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न इसके भी भीतर रहने वाला आनन्दमय परमात्मा है।'

‘कठोपनिषद्’ अध्याय २, वल्ली १ में जीवात्मा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ‘जीवात्मा का स्वभाव है एक शरीर को छोड़कर दूसरे को अपनाता। जब वह एक शरीर को छोड़कर निकल जाता है तब उनके साथ इन्द्रियाँ और प्राण भी चले जाते हैं। उस समय देखने में मृत शरीर में कुछ भी नहीं शेष रह जाता, किन्तु सर्वव्यापी ब्रह्म उस समय भी उसमें व्याप्त रहता है।’ ‘मनुष्य आदि जितने प्राणी हैं, वे न तो प्राण की शक्ति से जीवित रहते हैं और न अपान का शक्ति से हो, इन्हें जीवित रखने वाली शक्ति जीवात्मा ही है। प्राण और अपान वायु दोनों ही जीवात्मा के आश्रित रहते हैं।’

वासना के अनुसार पुनर्जन्म की ओर संकेत करते हुए उक्त स्थान पर ही कहा गया है कि ‘अपने-अपने कर्मों के अनुसार शास्त्र-ज्ञान, गुरु-ज्ञान, सत्संग, शिक्षा, व्यवसाय आदि साधनों के द्वारा मनुष्य देखकर, सुनकर, ध्यान करके जो अनुभव करता है उसी के आधार पर उसके भाव बनते हैं। जैसा जिसकी वासना रहती है, उसी के अनुसार कोई प्राणी मृत्यु के पश्चात् वीर्य के साथ माता की योनि में प्रवेश कर दूसरा शरीर धारण करता है। इनमें जिनके पाप व पुण्य समान होते हैं वे मनुष्य को, जिनके पुण्य कर्म और पाप अधिक होते हैं वे स्थावर अर्थात् जड़ वृक्ष आदि योनि को प्राप्त होते हैं।’

जीवात्मा और परमात्मा के सान्निध्य का बहुत ही सुन्दर उल्लेख उपनिषदों में कई बार आया है। ‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् चतुर्थ अध्याय में कहा गया है—

‘यह मानव-शरीर एक पीपल का वृक्ष है। ईश्वर और जीवात्मा सदा साथ-साथ रहने वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों उस शरीर रूपी वृक्ष के हृदय रूपी कोटर में साथ-साथ वास करते हैं। सुख-दुख रूपी कर्मफल मानो इस पीपल के दो फल हैं। इन फलों को जीवात्मा रूपी पक्षी तो बड़े स्वाद से खाता है पर दूसरा ईश्वर रूपी पक्षी खाता नहीं है, केवल देखता है।’

प्राण को भी मानवी दृष्टि से बहुत अधिक महत्व दिया गया है।

शरीर को धारण करने वाली वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आदि अन्तःकरण के चौदह देवताओं के ऊपर प्राण का स्थान सर्वोच्च बताया गया है। प्राण की उत्पत्ति परमात्मा से की गई है और जिस प्रकार छाया पुरुष के अधीन रहती है उसी प्रकार प्राण परमात्मा के अधीन रहता है। प्राण को जंगों का रस-आगिरस भी कहा गया है।

अब हम परमात्मा पर विचार करेंगे। एकेश्वरवाद को जितना अधिक महत्व उपनिषदों में दिया गया है और जितना इसका प्रचार किया गया है उतना इसके पूर्व सम्भवतः नहीं किया गया था। परमात्मा या परब्रह्म को ही आदि घोषित करते हुए ‘कठोपनिषद्’ अध्याय २, वल्ली १ में कहा गया है कि ‘परमात्मा जल से पहले हिरण्यगर्भ में उत्पन्न हुआ था, सबसे पहले तप से उत्पन्न हुआ था, जीवधारियों की हृदय-गुफा में निवास कर... सभी जीवात्माओं के साथ निवास करता है।’

परमात्मा का महाशासक के रूप में चित्रण करते हुए यहीं आगे कहा गया है, ‘मनुष्य के शरीर रूपी नगर में दो-दो आँख, दो कान, नाक के दो छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और मूत्रेन्द्रिय ये ग्यारह द्वार हैं। यह सरल, विशुद्ध ज्ञान स्वरूप अजन्मा

परमात्मा की नगरी है। सर्वं परिपूर्ण सर्वत्र समभाव रहते हुए भी परमात्मा इस राजधानी में राजा की भाँति निवास करता है।', 'शरीर के भीतर प्राण आदि वायु तत्व की जो क्रियायें हुआ करती हैं, उनकी संचालिका परमात्मा की शक्ति ही है' आगे इसी बल्ली में यह भी कहा गया है कि 'जो परमात्मा अन्तरात्मा बना हुआ है, सब के भीतर निवास करता है, जो अद्वितीय है, समस्त चराचर को अपने वश में रखता है, वही सर्वशक्तिमान अपने एक रूप को अपना माया से बहुत प्रकार का बना लेता है।' द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड में परमात्मा को जन्म-मरण के विकारों से रहित सर्वथा विशुद्ध बताया गया है क्योंकि न उसके प्राण हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न मन ही है। आगे परमात्मा के विराट रूप का चित्रण करते हुए यहीं कहा गया है—'समस्त दृश्यमान जगत् परमात्मा का विराट रूप है। उसका मस्तक द्युलोक है सूर्य और चन्द्रमा उसके दो नेत्र हैं। समस्त दिशाएँ कान हैं। अनेक छन्दों और ऋषियों के रूप में फैले हुए चारों वेद उस विराट रूप की वाणी हैं। वायु प्राण है। सम्पूर्ण चराचर जगत् हृदय है। पृथ्वी मानो पैर है।'।

'माण्डूक्य' उपनिषद् ने ब्रह्म के चार चरण बताये हैं—

(१) 'जाग्रत अवस्था का यह स्थूल जगत् जिसका शरीर है, जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत् में फैला हुआ है, भूःभुवः आदि सात लोक जिसके सात अंग हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण ये १९ विषय जिसके १९ मुख हैं, जो स्थूल जगत् को भोगने वाला है, उसका अनुभव करनेवाला है, वह विश्व को धारण करने वाला वैश्वानर परमात्मा का पहला चरण है।'।

(२) 'स्वप्न की भाँति यह जगत् जिसका स्थान है, जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत् में व्याप्त है, पूर्वोक्त सात अंगों तथा १९ मुखों वाला सूक्ष्म जगत् को भोगने वाला, प्रकाश का स्वामी सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उस पूर्ण परब्रह्म का दूसरा चरण है।'।

(३) 'जिस अवस्था में सोया हुआ आदमी किसी भी भोग की कामना नहीं करता है, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति अवस्था है। यही सुषुप्ति ही जिसका शरीर है, जो एक रूप ही रहा है, प्रकाश ही जिसका मुख है, जो एकमात्र आनन्द का भोक्ता है, वह प्राण ब्रह्म का तीसरा चरण है। यही सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ है..... ...यही समस्त सृष्टि का रचयिता, पोषक और संहारक भी है।'।

(४) 'जिसका ज्ञान न बाहर की ओर है, जो न भीतर की ओर न दोनों ही ओर है, जो न ज्ञान स्वरूप है, जो न जानने वाला है और न नहीं जानने वाला ही है, जो न दिखाई पड़ता है और न व्यवहार में लाया जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है और न जिसकी चिन्ता या वर्णन ही किया जा सकता है, जिसका कोई लक्षण नहीं है, जिसमें सभी प्रपञ्च का अभाव है, परमात्मा की सत्ता की प्रगति ही जिसका प्रमाण है, ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्वपूर्ण ब्रह्म का चौथा चरण है।'।

परमात्मा के तीन धर्मों का उल्लेख 'ऐतरेय' उपनिषद् प्रथम अध्याय, तृतीय खण्ड में किया गया है जिससे यह पहला स्थान हृदयरूपी गुण, दूसरा विशुद्ध आकाश रूप

परमधाम गोलोक या ब्रह्मलोक तथा तीसरा स्थान समस्त ब्रह्माण्ड सूचित होता है। यहाँ संसार की स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणरूप अवस्थाओं को परमात्मा का तीन स्वप्न कहा गया है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् के तृतीय अध्याय से निराकार ब्रह्म को भी समस्त आकार युक्त एवं इन्द्रियजन्य विषयों का ज्ञाता बताते हुए कहा गया है कि 'हाथ और पैरों से रहित परमात्मा सभी वस्तुओं को ग्रहण करने वाला है, बड़े वेग से सर्वत्र गमन करने वाला है, नेत्र न रहते हुए भी सब कुछ देखने वाला है, कानों बिना भी सब कुछ सुनने वाला है।' यही उपनिषद् छठे अध्याय में हमें परमात्मा के धर्म-सम्बर्द्धन एवं पाप-दमन की सूचना भी देती है और उसे समस्त ऐश्वर्यों का अधिपति घोषित करती है।

अब हम 'केनोपनिषद्' तृतीय खण्ड की ओर संकेत करते हुए भगवान के यज्ञ-रूप धारण करने का उल्लेख करेंगे जिसमें यह दिखाया गया है कि देवानुर संग्राम में विजयी हुए देवों में अभिमान का सूत्रगत देख कर भगवान ने देवताओं की भलाई के लिए उनके व्यर्थाभिमान का नष्ट करने के उद्देश्य से दिव्य यज्ञ का रूप धारण किया है। इस दिव्य यज्ञ को पहचानने के लिए देवताओं ने क्रमशः अग्निदेव, वायुदेव तथा इन्द्र को भेजा किन्तु सब की शक्ति अभिमान के कारण उस यज्ञ के सम्मुख क्षीण हो गई और तब इन्द्र को भगवती उमा देवी ने सूचित किया कि यह दिव्य यज्ञ स्वयं माझात् भगवान थे। भगवान का यह रूप-धारण इतना महत्वपूर्ण रहा कि उक्त तीनों देवताओं—अग्नि, वायु तथा इन्द्र को, इस उपनिषद् में इसीलिए श्रेष्ठ देव घोषित किया गया है कि इन्हीं तीनों ने ब्रह्म का संस्पर्श प्राप्त किया था। परब्रह्म का दर्शन, परिचय, और उनके साथ वार्तालाप करने का सर्वप्रथम सौभाग्य इन्हीं देवताओं को मिला था। किन्तु यहीं आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल दर्शन और वार्तालाप से ही काम नहीं चलता। यही कारण है कि भगवती उमा द्वारा देवराज इन्द्र को ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण वे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। अग्नि व वायु को केवल दर्शन प्राप्त हुआ था। यह ब्रह्म रहस्यात्मक ढंग से इच्छुक साधक के हृदय में उठी ब्रह्म-प्राप्ति की अभिलाषा को तोंत्रतम बनाने के लिए विजली की चमक या आँखों की झपकी की भाँति झलक दिखाता है और फिर छिप जाता है, उक्त उपनिषद् का यह कथन भी किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है। यहीं ब्रह्म-प्राप्ति के लिए मन की व्याकुलता को भी बात कहाँ गई है क्योंकि ब्रह्म सभी को प्रिय कहा गया है और प्रिय को सभी चाहते हैं। अन्तिम तथ्य की ओर संकेत करके हम आगे बढ़ेंगे। यह तथ्य है ब्रह्म का स्वरूप। 'कठोपनिषद्' द्वितीय अध्याय, द्वितीय बल्ली में अग्नि और वायु का उदाहरण देते हुए समझाया गया है कि जिस प्रकार एक ही निराकार अग्नि जब साकार रूप से प्रज्वलित होती है तब उन आधार-भूत वस्तुओं के समान रूप धारण कर लेती है अथवा अलक्ष्य वायु जिस प्रकार प्रकट होने पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के समान संयोग से उन-उन वस्तुओं के अनुरूप गति और शक्ति वाला दिखाई देता है उसी प्रकार सभी प्राणियों में निवास करने वाला एक ही परमात्मा भिन्न-भिन्न प्राणियों के सम्बन्ध से विभिन्न रूप और शक्ति वाला दिखाई पड़ता है।

निर्विकार निराकार परमात्मा के भी सृष्टि के आदि में किसी अज्ञात प्रयोजन-वश विविध शक्तियों से युक्त होकर अनेक रंग-रूप धारण करने का उल्लेख 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

इसी संदर्भ में परमात्मा और आत्मा के दो पक्षियों के रूप में हृदय रूपी कोटर में साथ-साथ निवास करने का उल्लेख भी 'उक्त' उपनिषद् करती है।

यह दो पक्षियों वाली बात अनेक उपनिषदों में मिलती है जिसका यही आशय है कि हृदय में ही आत्मा और परमात्मा दोनों हैं। अज्ञानता के कारण आत्मा-परमात्मा को नहीं पहचान पाती है।

अब हम परमात्मा की माया पर दृष्टिपात करेंगे।

परमात्मा की माया को उपनिषदों में बहुत ही शक्तिशालिनी बताया गया है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् चतुर्थ अध्याय में बताया गया है कि परमात्मा ने माया द्वारा ही जीवात्मा को बाँधा है। भगवान की शक्ति रूप प्रकृति माया है और मायापति महेश्वर हैं। उसी के अंग भूत कार्य-कारण समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त हो रहा है। 'कठोपनिषद्' प्रथम अध्याय, तृतीय बल्ली में माया की शक्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

‘.....इन्द्रियां से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श विषय अधिक बलवान हैं; इनसे अधिक बलवान मन है, मन से भी अधिक बलवान बुद्धि है और इन सबसे महा बलवान आत्मा है। जीवात्मा से भी परम बलवान भगवान की माया है और भगवान की अव्यक्त माया से श्रेष्ठ स्वयं परमात्मा है।’

आगे यह भी सूचित किया गया है कि घट-घट में वास करने वाला परमात्मा भी इस-लिए नहीं दिखाई पड़ता है कि माया का पर्दा पड़ा हुआ है। माया द्वारा ही भगवान अपने एक रूप को बहुत प्रकार का बनाता है।

साधन पक्ष—अब तक हमने उपनिषदों के तत्व पक्ष पर विचार किया था जिसको अधिकांशतः परवर्ती भक्ति आचार्यों ने अपनाया है। अब हम उपनिषदों के आचार पक्ष पर विचार करेंगे।

कर्मानुसार फल की प्राप्ति की सूचना उपनिषदों ने यत्र-तत्र दी है, किन्तु यहाँ कर्म का सम्बन्ध सदाचार, नैतिकता और हर प्रकार की मानसिक शुद्धता से है।

इस उद्देश्य से सर्वाधिक महत्व हम 'ईशावास्य' उपनिषद् को दे सकते हैं जिसमें प्रारम्भ में ही मनुष्य को सांसारिक भोगों से निर्लिप्त रहने तथा सदा सक्रिय रहने का उपदेश दिया गया है। उक्त उपनिषद् में संसार की सभी सम्पत्तियों को परमात्मा की वस्तु बताकर और इस प्रकार यह सोचने की प्रेरणा देकर कितेरा अपना कुछ नहीं है, सब कुछ भगवान का ही है, यह सूचित किया गया है कि ऐसी बुद्धि रखने वाले मनुष्य में ही पराये धन के प्रति नती लोभ ही होगा और न किसी के वैभव से उसे ईर्ष्या ही होगी। 'जो व्यक्ति आलस्य एवं अकर्मण्य जीवन व्यतीत करने की कामना करता है वही पराये धन की भी कामना करता है। अतः चाहिए कि संसारम रहते हुए कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की कामना रखो। निष्क्रिय बन कर बिना कर्म किये जीवन की कामना करना जीवन के साथ विश्वासघात करना है।.....। यह

निश्चित समझो कि मनुष्य से कर्म नहीं लिपटता प्रत्युत कर्म-फल प्राप्त करने की वासना लिपटती है। कर्मफल की कामना करने पर जीवन भारस्वरूप हो जाता है। समस्त पापों का मूल भी यही है। जो मनुष्य भगवान को भूलकर भोग-विलास में लीन रहते हैं, कर्तव्य एवं कर्म का परित्याग करके आलस्य का जीवन बिताते हैं वे इसी जीवन में घोर नरक में बाम करते हैं।

कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराने वाली वस्तु है बुद्धि। 'कठोपनिषद्' ने द्वितीय अध्याय, तृतीय बल्ली में इंगित किया है कि 'जो भाग्यवान् श्रद्धा सम्पन्न मन से परमात्मा का चिन्तन करता है, विशुद्ध हृदय से उसके दिव्य स्वरूप का अध्ययन करता है वही विशुद्धात्मा बुद्धि रूप नेत्रों से परमात्मा के दिव्य रूप को देख सकता है।' 'बुद्धि का महत्व धर्म-साधना में कितना अधिक है, इसका संकेत इसी उपनिषद् के प्रथम अध्याय द्वितीय बल्ली में देते हुए कहा गया है कि 'श्रेय अर्थात् विद्या अन्य वस्तु है और प्रेय तथा अविद्या एक अन्य वस्तु है। यद्यपि दोनों के प्रयोजन भी भिन्न हैं तथापि इन्हीं के द्वारा सब लोग अपने कर्तव्य में बँधते हैं। इन दोनों में से जो मनुष्य श्रेय को ग्रहण करता है उसका कल्याण होता है और जो प्रेय को ग्रहण करता है वह पुष्टार्थ से गिर जाता है। श्रेय तथा प्रेय दोनों परस्पर मिश्रित रूप से मनुष्य को प्राप्त होते हैं। जो बुद्धिमान होता है वह भली भाँति विचार करके उन दोनों को पृथक् कर लेता है। विवेकी लोग प्रेय के समक्ष श्रेय को स्वीकार करते हैं तथा इनके विपरीत जो अल्पमति वाले होते हैं वे भौतिक सुखों के प्रदाता प्रेय को ही स्वीकार करते हैं।'

'ईशावास्य' उपनिषद् ने विद्या और अविद्या को प्रवृत्ति और निवृत्ति का अंग कहा है और इन दोनों को एक दूसरे का पूरक बताया है। 'आत्मतत्त्व को जानने वाला व्यक्ति इन दोनों को एक साथ अपनाता है। केवल एक का सहारा लेना अंधकार में डूबना है। जो व्यक्ति अविद्या में डूब गये वे घोर अंधकार में डूब गये और जो विद्या में डूब गये वे उनसे भी अधिक घोर अंधकार में डूब गये। अतः..... उभय दोष-रहित तथा उभय गुणसम्पन्न आत्मनिष्ठा ही अभीष्ट है।'

उपनिषदों ने आत्मतत्त्व के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने पर बहुत अधिक बल दिया है और इसे ही मुक्ति का मार्ग स्वीकार किया है। इस आत्मतत्त्व को पहचानने का मार्ग उक्त उपनिषद् ने इस प्रकार दिखाया है—

'विद्या तथा अविद्या इन दोनों के सहारे जो लोग आत्मतत्त्व को जानते हैं वे उस आत्मतत्त्व के द्वारा अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत को प्राप्त करते हैं।' आशय यह है कि जब आत्मज्ञान की ओर रुचि हो जाती है तो मनुष्य अविद्या के सहारे अनात्म विषयों से बुद्धि को हटा लेता है और इस प्रकार वह सहज ही मृत्यु सागर को पार कर लेता है। तत्पश्चात् विद्या के सहारे आत्मचिन्तन करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए यहीं आगे कहा गया है—

'विकास और निरोध इन दोनों के साथ जो लोग आत्मतत्त्व को समझते हैं वे उसी आत्मतत्त्व के सहारे निरोध से मृत्यु को पार करके विकास से अमृत को प्राप्त करते हैं। आशय यह कि नये दोषों को न लिपटने तथा पुराने दोषों के निकल देना ही मृत्यु को

पार करने की कुंजी हैं और विकास से व्याप्त विश्व-प्रेम का अभ्यास करने से अमृत या मोक्ष प्राप्त होता है।'

इन्द्रियों को वश में रखने का बहुत सुन्दर वर्णन 'कठोपनिषद्' प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली में इस प्रकार किया गया है—

‘जो व्यक्ति अविवेकी और चंचल मन वाला होता है उसकी इन्द्रियाँ सारथी के विगड़ल घोड़े की भाँति कभी वश में नहीं रहतीं, किन्तु जो विवेकी एवं स्थिरचित्त होता है उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के सधे-सधाये घोड़ों की भाँति सदैव वश में रहती हैं।’

आगे यह भी सूचित किया गया है कि अविवेकी, असंयत चित्त एवं अपवित्र व्यक्ति को परमपद (मोक्ष) नहीं प्राप्त होता है तथा वह बार-बार जन्म लेता है और मरता है। इसके विपरीत पवित्र व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त हो जाता है और आवागमन का बंधन कट जाता है। इस प्रकार मन रूपी लगाम को वश में कर लेने पर इन्द्रिय रूपी घोड़ों पर स्वतः शासन हो जायेगा, किन्तु मन द्वारा ही परमात्मा नहीं प्राप्त हो जाता है। मन द्वारा तो मनुष्य इस स्थिति में आता है कि वह परमात्मा-प्राप्ति के मार्ग पर चल सके। इन्द्रियों को मन द्वारा वशीभूत करने के बाद उक्त उपनिषद् में ही आगे यह बताया गया है कि ‘मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में लय करे, ज्ञान स्वरूप बुद्धि को महान आत्मा में विलीन करे और तब उस आत्मा को सत्चित् आनन्द-स्वरूप परमात्मा में विलीन कर दे।’ इसी उपनिषद् के द्वितीय, अध्याय, तृतीय वल्ली में इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की स्थिरता को योग बताया गया है—‘जब मन के सहित पाँचों इन्द्रियाँ भली भाँति निश्चल हो जाती हैं तथा बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती है, उस स्थिति को योगी परमगति कहते हैं। इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की स्थिरता का ही नाम योग है—ऐसा योगी लोग मानते हैं, क्योंकि उस अवस्था में साधक प्रमादरहित हो जाता है परन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है। अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधक को निरन्तर योगयुक्त रहना चाहिए।’ उक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि निरन्तर अभ्यास साधना के लिए आवश्यक है। किन्तु केवल इन्द्रियों को वश में कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। ‘मुण्डक’ उपनिषद्, तृतीय मुण्डक, प्रथम खण्ड में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ‘परमात्मा न नेत्रों से, न वाणी और न अन्य दूसरी इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है। तप अथवा कर्म से भी वह नहीं ग्रहण किया जा सकता है। उस अवयव रहित परमात्मा को विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक अपने विशुद्ध अन्तःकरण से ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देख सकता है’, और ज्ञान की निर्मलता का आधार इसी स्थल पर पहले ही बताया गया है सत्य-भाषण, तप तथा ब्रह्मचर्य। सत्य और ज्ञान का अटूट सम्बन्ध उपनिषदों में अनेक स्थानों पर दिखाया गया है और यह घोषित किया गया है कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य की पराजय। तप को ‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् प्रथम अध्याय में सत्य एवं संयम का ही रूप कहा गया है और परमात्मा-प्राप्ति के लिए पुनः ध्यान करने का उपदेश दिया गया है—

‘जैसे तिल में तेल, दही में घी, सोतों में जल तथा अरणिष्ठा में आग छिपी रहती है, उसी प्रकार यह परमात्मा अपने हृदय में छिपा हुआ है। जो साधक इसे सत्य और संयम रूपी तप से देखता है—ध्यान करता है, उसके द्वारा वह उसे प्राप्त कर लेता है।’

‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद्, दूसरे अध्याय में विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

‘भोगों एवं आसक्तियों पर अधिकार कर लेने पर अर्थात् भोग सम्बन्धी पाँचों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेने से जीवात्मा का वास्तविक रूप स्वच्छ हो जाने पर भी पूर्ण स्वच्छता नहीं आ पाती क्योंकि वह अनेक जन्मों के मलिन कर्मों से ढका रहता है, किन्तु ध्यान योग द्वारा मनुष्य जब इसे स्वच्छ कर लेता है तो वह निर्मल बन जाता है और अकेला ही मोक्ष पद को प्राप्त कर, शोक-क्लेशरहित हो जाता है।’

‘ईशावास्य’ उपनिषद् में ‘हे दृढ़ संकल्पमय जीव ! भगवान को स्मरण कर, उसके महत्कार्यों का स्मरण कर मेरे जीव ! स्मरण कर, अपने संकल्पों को त्याग कर उसके महत्कार्यों का स्मरण कर’ कह कर ध्यान करने का ही उपदेश दिया गया है।

अन्य उपनिषदों की अपेक्षा ‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् के भगवत्प्राप्ति के साधनों में श्रद्धा-भक्ति को विशेष महत्व दिया गया है। इतना ही नहीं, इसने अप्रत्यक्ष रूप से दास्य भाव की भी प्रेरणा दी है। तदर्थ उक्त उपनिषद् का पंचम अध्याय द्रष्टव्य है जहाँ यह कहा गया है कि ‘परमात्मा शरीर रहित है तथा संसार का उत्पादक एवं संहारक है।..... ऐसा होते हुए भी वह परमानन्द परमात्मा श्रद्धा और भक्ति द्वारा ग्रहण किया जा सकता है।’ अगले अध्याय में क्रमशः दास्यभाव एवं आत्मनिवेदन की ओर संकेत किया गया है—

‘जिस परमात्मा से यह समस्त संसार घिरा हुआ है, वह ज्ञान स्वरूप परमात्मा काल का भी महाकाल है, सर्वगुण सम्पन्न तथा सर्वज्ञ है, उससे ही शासित यह संसार रूप कर्म विभिन्न प्रकार से चल रहा है तथा पृथ्वी जल, आकाश आदि पंच तत्व भी उसी परमात्मा द्वारा शासित हैं—ऐसा भाव रखकर भगवान का चिन्तन करना चाहिए।’

‘जो व्यक्ति तीनों गुणों से युक्त कर्मों का आरम्भ करके उनको तथा समस्त भावों को परमात्मा को समर्पित कर देता है तो उसके उन कर्मों का अभाव हो जाने पर पूर्व जन्म के संचित कर्म-समुदाय नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मों का नाश हो जाने पर वह साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।’

‘कठोपनिषद्’ प्रथम अध्याय में बालक नचिकेता को यमराज द्वारा आत्मत्व की शिक्षा दिलाते हुए तृतीय वल्ली में, अन्त में यह कहा गया है कि ‘नचिकेता को यमराज द्वारा दिये गये इस ज्ञान-उपदेश को जो पढ़ता है, सुनता है तथा मनन करता है वह ब्रह्मलोक में जाकर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जो मनुष्य शरीर और मन से पवित्र होकर इस संवाद को ब्राह्मणों की सभा में सुनता है अथवा श्राद्धकाल में भोजन करने वालों को सुनाता है वह अनन्त, अविनाशी फल प्राप्त करता है।’ इससे यह ज्ञात होता है कि श्रवण भी ब्रह्मलोक-प्राप्ति का एक मार्ग था।

उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम यह संकेत करना चाहेंगे कि उपनिषद्-काल में भी भगवान के तामसी भक्त थे और तदर्थ ‘तैत्तिरीय’ उपनिषद्, भृगु वल्ली, दसवाँ अनुवाक की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करके हम अपना यह अध्ययन समाप्त करेंगे—

‘वह भगवान मन है—ऐसा समझ कर उसकी उपासना करने वाला मननशील हो जाता

है। वह नमस्कार योग्य है—ऐसा समझकर जो उसकी उपासना करता है उसके समस्त भोग्य पदार्थ विनीत बन जाते हैं। जो उसे ब्रह्म मानकर उपासना करता है वह ब्रह्मभय हो जाता है। जो उपासक भगवान् को सबका संहारक अधिकारी मान कर उसकी उपासना करता है उसके समस्त शत्रुओं का नाश हो जाता है।’

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन तथा आचार-सम्बन्धी जो भी सिद्धान्त पिछले पृष्ठों में दिये गये हैं वे लगभग सभी प्राचीन उपनिषद् के मान्य सिद्धान्त हैं। यहाँ हमने उपनिषदों के प्रमुख दार्शनिक प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणी, याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल आदि के मतों पर पृथक्-पृथक् अध्ययन नहीं किया है क्योंकि इसका हमारे विषय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, हमने उन्हीं सिद्धान्तों का निरूपण किया है जिन्होंने परवर्ती दर्शन शास्त्रों—‘गीता’, ‘ब्रह्मसूत्र’ एवं मध्यकालीन भाष्यों को प्रभावित किया है और साथ ही जिनको अधिकाधिक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

५: उपनिषदों से महाकाव्य तक

सूत्र-साहित्य

जैसा कि प्रारम्भ से ही कहा जा चुका है, उपनिषद् की अवधि बहुत लम्बी है और इस लम्बी अवधि के बीच अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों की रचना भी होती रही: किन्तु प्रचार और महत्व की दृष्टि से लगभग चार-पाँच सौ वर्षों तक संस्कृत साहित्य से केवल मात्र उपनिषदों की ही धाक जमी रही। कालान्तर में कुछ पहले से चले आ रहे ग्रन्थों एवं कुछ नवीन ग्रन्थों को महत्व मिलना आरम्भ हुआ। ऐसे ग्रन्थों में सूत्र, 'महाभारत' 'रामायण' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सूत्रों में व्याकरण ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का उपयोग भक्ति की खोज के सम्बन्ध में किया गया है। इस युग के धर्म-सूत्रों में भक्तिपरक कुछ ही सामग्री मिलती है जिससे उपनिषदोपरान्त भक्ति के क्रमिक विकास का स्वरूप आभासित हो जाता है। सूत्र-ग्रन्थों में 'गीतम', 'बोधायन' 'वसिष्ठ' और 'आपस्तम्ब' आदि प्रमुख हैं। 'बोधायन' धर्म-सूत्र में हमें चार आश्रमों में से वैखानस आश्रम का बोध होता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास ये चार आश्रम वैदिक काल से चले आ रहे थे। सूत्र-युग में अन्तिम दो आश्रमों को भिक्षु तथा वैखानस नाम भी दिया गया था। वैखानस भिक्षु वे कहलाते थे जो ऋषि विखनन के बनाये हुए नियमों का पालन करते थे। धर्म-सूत्रों में वैखानस आश्रम वालों के कर्तव्यों की जो विस्तृत सूची दी हुई है उससे हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं है, पर 'महाभारत', वैष्णव धर्म पर्व में युधिष्ठिर ने कृष्ण से जो प्रश्न पूछा है वह द्रष्टव्य है—

कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशास्तु ते।

वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पांचरात्रिकाः॥

कृष्ण ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि वान-प्रस्थ धर्म के ज्ञाता मनुष्य मुझे अनिरुद्ध स्वरूप बताते हैं और उनसे भिन्न जो पांचरात्रिक हैं वे मुझे वामुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—इस प्रकार चतुर्व्यूह स्वरूप बताते हैं। सूत्र-युग में व्यूहों की मान्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता पर 'महाभारत' की गवाही पर हम सूत्रकालीन वैखानसों से कुछ पांचरात्रिक तत्वों की कल्पना कर सकते हैं।

हमारे विषय की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु इन सूत्रों में वर्णाश्रम धर्म एवं गृहस्थ-जीवन को पूर्णतया मर्यादित करना और उसे अधिकाधिक शास्त्रानुमोदित बनाना है। छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर छठी शताब्दी ई० तक की अवस्था कुछ ऐसी रही है जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थ-कारों को वैदिक धर्म की रक्षा की विशेष चिन्ता लगी हुई थी और सबसे बड़ी समस्या तो तब उपस्थित होती है जब स्वयं ब्राह्मण धर्मानुयायियों में ही अब्राह्मण तत्वों का समावेश होने लगा, वैदिक कर्म-काण्डों का और विरोध आरम्भ हुआ तथा वर्णाश्रम धर्म की नींव झकझोरी जाने लगी। यद्यपि यह अवस्था पुराणों के 'कलियुग' की है, जिसका हम अन्यत्र अध्ययन

करेंगे, किन्तु इन सूत्रों का महत्व हम इसी परिवेश में देख सकते हैं कि पुराणकारों ने ब्राह्मण धर्म की रक्षा इन्हीं सूत्रों तथा स्मृतियों की दुहाई देकर की थी। यदि इन सूत्रों एवं स्मृति-ग्रन्थों ने ब्राह्मण धर्मानुयायी समाज के नियमन की व्यवस्था न की होती तो पुराण-युग तक पहुँचे हुए पाँचरात्र भक्तों को भी तंत्र प्रभावित 'आगमों' एवं संहिताओं की धूरी पर झूलना पड़ जाता और सारे भक्ति-आन्दोलन का नक्शा ही बदल गया होता। अतः इन सूत्रों का इस दृष्टि से अपना बहुत बड़ा महत्व है।

गृहस्थ जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के समस्त कर्त्तव्य-कर्मों का निर्देशन गृह्य-सूत्रों में किया गया है। जन्म से पूर्व, जन्म के समय, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि से सम्बन्धित अनेक संस्कारों का प्रचार इन सूत्रों में किया गया। १. ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय व अध्ययन के रूप में, २. पितृ यज्ञ एवं अन्नोदक द्वारा पितरों के तर्पण के रूप में, ३. देव यज्ञ अग्नि में सिद्धान्न की हवि के रूप में ४. भूत यज्ञ बलि या भोजन देकर तथा ५. नृ यज्ञ या अतिथि यज्ञ आदि पंच महायज्ञों का महत्व प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया गया। अष्टका श्रावणां, आग्रहायनी, चैत्री, आश्वयुजी, पार्वण तथा श्राद्ध (पितरों का मासिक श्राद्ध) आदि सात पाक यज्ञों का विधान किया गया। वर्णाश्रम धर्म की तो जो रूप-रेखा इन सूत्रों ने निर्धारित की वही परवर्ती हिन्दू समाज की नींव बनी। पुराणकारों ने वेद-विरोधक एवं ब्राह्मण-धर्म-विरोधक भक्तों को सूत्रों के इन्हीं बन्धनों से पुनः बाँधा था। अतः हम दुहराना चाहेंगे कि 'कलियुग' में भक्ति की रक्षा एवं प्रचार करने वालों के लिए सूत्रग्रन्थ रामबाण सिद्ध हुए। पर भक्ति का प्रचार और प्रसार करने वाले ग्रन्थ हैं 'महाभारत' तथा 'रामायण' जिसकी तिथि की समस्या इतनी जटिल है कि आज तक इतिहासकारों में, इस विषय पर मतैक्य नहीं हो पाया है। इन दोनों महाकाव्यों में भी कौन अधिक प्राचीन है, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है पर अधिकांश विद्वान् 'रामायण' को महाभारत से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं और साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि 'रामायण' में प्रक्षिप्तांश अपेक्षाकृत कम है जबकि 'महाभारत' का कलेवर तो केवल प्रक्षिप्तांशों की कृपा से ही दूना-तिगुना हो गया है। विषय की दृष्टि से पहले हम 'महाभारत' को लेते हैं। हमें यहाँ केवल यही मानकर चलना होगा कि 'महाभारत' का आदि रूप लोक-गाथा के रूप में ईसा के हजार वर्ष पूर्व से भले ही चला आ रहा हो पर अपने वर्तमान रूप में 'महाभारत' 'पातंजलि' के महाभाष्य के समय अर्थात् द्वितीय शती ई० पू० में भली प्रकार अस्तित्व में आ चुका था।

महाभारत

'वैष्णवधर्म पर्व' (आदि पर्व, शान्ति पर्व) आदि खण्डों से वैष्णव भक्ति के प्राचीन इतिहास को न केवल आगे बढ़ाया गया है प्रत्युत शताब्दियों की लौकिक भक्ति-परम्परा को सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में लिपिबद्ध करके उसे शास्त्रानुमोदित एवं प्राचीन प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है। 'महाभारत' का महत्व भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में बहुत अधिक है। पुराणकारों ने भी अधिकांशतः 'महाभारत' की सामग्री का ही उपयोग किया है। अतः यहाँ हम

‘महाभारत’ द्वारा प्राप्त सामग्री का कुछ विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम हमारा ध्यान ‘वैष्णवधर्म पर्व’ आकृष्ट करता है जिसमें युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण से वैष्णवधर्म विषयक प्रश्न करते हैं। किन्तु इसके पूर्व कि हम युधिष्ठिर तथा कृष्ण के वार्त्तालाप पर विचार करें, यह बता देना आवश्यक होगा कि ‘महाभारत’ में वैष्णव शब्द कहीं भी सम्प्रदाय विशेष या धर्ममत के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है और ‘महाभारत’ १८।६।९७ में इस अर्थ में जो प्रयोग हुआ भी है वह बहुत बाद का, प्रक्षिप्तांश है क्योंकि यहाँ १८ पुराणों का भी उल्लेख है जो निश्चित रूप से अत्यन्त अर्वाचीन हैं। यहाँ ‘भागवत’ शब्द ‘महाभारत’ में सम्प्रदाय विशेष के अर्थ में आया है।

वैष्णव धर्म विषयक प्रश्न करते हुए युधिष्ठिर कृष्ण को यह बता चुके हैं कि उन्होंने (युधिष्ठिर ने) मनु, वशिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गोतम, गोपालक, पराशर, मैत्रेय, उमा, महेश्वर, नन्दि द्वारा कहे गये पवित्र धर्मों का श्रवण किया है, तथा ब्रह्मा, कतिकेय, धूमायन काण्ड, वैश्वानर, भार्गव, याज्ञवल्क्य, मार्कण्डेय द्वारा कहे गये तथा भरद्वाज और बृहस्पति के वनाये हुए तथा जो कुणि, कुणिबाहु, विश्वामित्र, सुमन्तु, जैमिनि, शकुनि, पुलस्त्य, पुलह, अग्नि, अगस्त्य, मुद्गल, शाण्डिल्य, शलभ, बालखिल्यगण सप्तर्षि, आपस्तम्ब, शंकलिखित, प्रजापति, यम्, महेंद्र, व्याघ्र, व्यास और विमाण्डक के द्वारा कहे गये हैं उनका भी सुना है एवं जो नारद, व्यापति, विदुर, भृगु, अंगरिस, कौव, मृदंग, सूर्य, हारोत, पिशंक, कर्पति, सुबालक, उद्दालक, शुक्राचार्य, वैशम्पायन तथा अन्यान्य महात्माओं द्वारा बताये हुए हैं; उन समस्त धर्मों का भी आद्योपान्त श्रवण किया है। युधिष्ठिर का यह २२ पक्तियों वाला वक्तव्य शाण्डिल्य तथा नारद जैसे भक्ति के आदि आचार्यों का तो उल्लेख करता ही है साथ ही अन्यान्य शास्त्रप्रणेतार्यों की भी सूची देता है। युधिष्ठिर का उक्त वक्तव्य हमें यह सोचने की प्रेरणा देता है कि नारद और शाण्डिल्य द्वारा बताये गये धर्म से इतर भी कुछ जानना शेष था जिसको आशा वे भगवान् कृष्ण से करते हैं। (यह विवाद का विषय हो सकता है कि ओपनिषदिक नारद, ‘महाभारत’ के नारद और ‘भक्ति सूत्र’ के नारद एक ही व्यक्ति हैं या नहीं क्योंकि तीनों में समय की एकरूपता नहीं है। शाण्डिल्य के साथ भी यही प्रश्न लगा हुआ है।) इस दाक्षिणात्य प्रति में प्रक्षिप्तांशों की आशंका अधिक रहते हुए भी हम उसके निम्न वक्तव्य से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस समय तक (ईसा की दूसरी, तीसरी शती पूर्व तक) धर्म-साधना के तीन मार्गों—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति में से भक्ति को इतना अधिक महत्व दिया जा चुका था कि उसका-उदय हजारों वर्ष की तपस्या से अन्तःकरण को शुद्धि के पश्चात् ही होता था—

जन्मान्तर सहस्रेषु तपसा भावितात्मनाम्।

भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणां न संशयः॥

अपनी महिमा का गान करने के पश्चात् तथा अपने स्वरूप का बोध करा देने के बाद भगवान् कृष्ण ने आगे भक्ति के साधनों की ओर संकेत करते हुए श्रवण, कीर्तन, वन्दन, आदि का उल्लेख किया है। यहाँ हम पांचरात्र-शास्त्र की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे जिसमें पौराणिक नवधाभक्ति के बीज निहित हैं। हमें ज्ञात है कि पांचरात्र संहिताओं का भागवत सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ‘नारद पांचरात्र’ की ज्ञानामृत संहिता में कीर्तन, स्मरण, पादसेवन,

अर्चन, वन्दन तथा आत्मनिवेदन आदि छः विधियों का उल्लेख है। कालान्तर में 'भागवत-पुराण' ने तीन अन्य विधियों—१. श्रवण, २. दास्य तथा ३. सख्य जोड़कर नवधा भक्ति की व्यवस्था की थी। अब हम 'महाभारत' और 'भागवतपुराण' के बीच की कड़ी को भलीभांति समझ सकते हैं। पाँचरात्रिकों ने सख्य भाव को अभी नहीं अपनाया था। 'महाभारत' में भक्ति को अन्य विधियाँ तो उपलब्ध हैं किन्तु सख्य भाव का प्रचार सम्भवतः आगे चल कर हुआ ज्ञात होता है। सम्भवतः सात्वतों ने ही आगे चलकर अपने पूर्वज कृष्ण के साथ उक्त भाव को जोड़ दिया होगा अस्तु।

दस जन्मों तक के पाप-नाश के निमित्त भगवान् कृष्ण ने 'आदि पर्व' में युधिष्ठिर को जो मार्ग बताया है उसके कुछ जप विशेष द्रष्टव्य हैं—

'गोविन्दाय नमो नमः' 'नमोऽस्तु वासुदेवाय' 'ॐ नमो नारायणाय'

आगे वे बताते हैं कि किस मास में किस नाम से पूजन करना चाहिए और ये नाम हैं—
केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, ऋषिकेश, पद्मनाभ तथा दामोदर।

कृष्ण ने 'महाभारत' में अपने जिन असंख्य नामों का उल्लेख किया है उनमें से अधिकांश नाम तो वैदिक एवं उत्तर वैदिक ही हैं जैसे विष्णु, नारायण आदि; किन्तु कुछ सर्वथा नवीन हैं जैसे दामोदर। 'गीता' में भी अर्जुन ने, हे कृष्ण। हे केशव ! हे गोविन्द ! हे जनार्दन ! हे माधव ! हे वृष्णिवंशोय' आदि जिन नामों से सम्बोधित किया है वे प्राचीन परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं और इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि भागवतों के आदि देव विष्णु का विस्तार नाम व महत्व दोनों दृष्टियों से होता जा रहा था। डा० भण्डारकर ने नारायण को वासुदेव से भी प्राचीन सिद्ध किया है और उन्होंने 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल 'पुरुषसुक्त' के नारायण से आरम्भ करके 'महाभारत' तक के नारायण की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट घोषणा की है कि नारायण ब्राह्मण-युग के एक उच्च देवता थे और जब महाकाव्यों के युग में वासुदेव पूजा का श्रीगणेश हुआ तो वासुदेव की समता नारायण से स्थापित कर दी गई।^१ इस पर थोड़ा और विचार करके हम आगे बढ़ेंगे। द्रष्टव्य है 'शान्ति पर्व' (३३।८-९)

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्भुजः सनातनः।

धर्मतमजः सम्बभूव पितॄन् मेऽभ्यषात ॥

कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे।

नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः ॥

धर्म के चार पुत्रों नर, नारायण, हरितथा कृष्ण का उल्लेख नारायण और वासुदेव की समता स्थापित करने में योग देता है क्योंकि 'महाभारत' में अनेक स्थलों पर इसी प्रकार नर-नारायण का साथ उल्लेख किया गया है और अर्जुन-वासुदेव को नर-नारायण घोषित किया गया है। इस प्रकार 'महाभारत' तक आते-आते विष्णु के अनेक पर्याय हो जाते हैं किन्तु अभी तक गोपाल कृष्ण का कहीं नाम नहीं मिलता है।

१. भण्डारकर—शै० वें० पृ० ४५। इस विषय पर हम आगे कुछ विस्तार में विचार करेंगे।

‘महाभारत’ में भक्ति का जो इतिहास दिया हुआ है उसका भी संक्षेप से उल्लेख कर देना आवश्यक है। पांचरात्रिक तथा श्वेत-द्वीप दो ऐसे प्रसंग हैं जिनका हमारे विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पहले हम पांचरात्रिक को लेते हैं।

प्रारम्भ में ही युधिष्ठिर के प्रश्न का उल्लेख किया गया था जिसमें उन्होंने कृष्ण से वैखानस तथा पांचरात्रिकों के विषय में पूछा है।

धर्म के चार पुत्रों-नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ‘शान्ति पर्व’ में ही आगे यह घोषित किया गया है—

एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधाः।

धर्मस्य कुल संताने धनदिभिर्विवर्धितः॥^१

इस सन्दर्भ में जब हम ‘वैष्णवधर्म पर्व’ का वह श्लोक पढ़ते हैं जिसमें पांचरात्रिकों द्वारा चतुर्व्यूह स्वरूप वामुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को भी स्वाकार करने का उल्लेख है तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपर्युक्त श्लोक (एका मूर्तिरियं.....आदि) की घोषणा करने वाले नारद ही यदि आदि नहीं तो कम से कम प्रथम महत्वपूर्ण पांचरात्रिक हैं। नारद ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि नर-नारायण की पूजा ही गार्हस्थ्य मूलक आश्रम वाले करते हैं। नर-नारायण से वे वदिकाश्रम में मिलते हैं जहाँ वे (नर-नारायण) पूजा में लगे थे और तब नारद ने उनसे पूछा कि आप लोग किसकी पूजा करते हैं क्योंकि आपकी पूजा गार्हस्थ्य मूलक चारों आश्रमों के लोग करते हैं। उत्तर में नर-नारायण ने कहा है—

‘जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव है; जो इन्द्रियों, विषयों और सम्पूर्ण भूतो से परे है वही सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, अतः क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारा जाता है; वही त्रिगुणातीत तथा पुरुष कहलाता है। उसी से त्रिगुणामय अव्यक्त की उत्पत्ति हुई है। उसी को व्यक्त भाव में स्थित अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा गया है। वह सत्-सत्स्वरूप परमात्मा ही हम दोनों की उत्पत्ति का कारण है। हम दोनों उसी की पूजा कर रहे हैं तथा उसी को देवता और पिता मानते हैं।’^२

इस विवरण से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि गार्हस्थ्यमूलक चारों आश्रमों में लोक प्रचलित पूजा थी नर-नारायण की अर्थात् गृहस्थाश्रम में भागवत सम्प्रदाय का प्राबल्य था। नारद को भी इस साधना-पद्धति का ज्ञान न था, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि प्राचीन संस्कृत धर्म-ग्रन्थों के नारद एक ऐसे पात्र हैं जिनको जब-तब अनभिज्ञ बताया गया है और इन्हें उपदेश देने के माध्यम से ही कुछ कहा गया है। ‘छान्दोग्य’ उपनिषद् का उदाहरण दिया जा चुका है। ‘महाभारत’ में भी नारद को ऐसे सन्दर्भों में याद किया गया है। सम्भावना यह है कि नारद को पांचरात्र शास्त्र का बोध था, वे ही एकान्त धर्म के प्रचारक थे। यही हमें दो संताओं पर ध्यान देना होगा—पहली यह कि एक ओर तो जहाँ स्वयं भगवान् नारायण द्वारा, जिन्हें नारद ने पांचरात्रिक नाम से संबोधित किया है, नारद का सात्वत धर्म का उद्देश दिया

जाता है वहीं 'महाभारत' के दूसरे महत्वपूर्ण स्थान पर, (शा० प० ३३५ तथा ३४९) जहाँ चित्रशिखण्डियों द्वारा उस उत्तम पांचरात्र शास्त्र के प्रणयन की बात की जाती है और जहाँ एकान्त धर्म के परम्परित हस्तान्तरण का विवरण दिया जाता है, वहाँ नारद का नाम नहीं आता। अध्याय ३४९ में सात बार ब्रह्मा के जन्म और एकान्त धर्म के उदय, हस्तान्तरण एवं विलयन की बात करने के पश्चात्, जिनके अनेक उत्तराधिकारियों में से नारद का यहीं नाम नहीं आता, अन्त में केवल इतना जोड़ दिया जाता है कि देवर्षि नारद ने नारायण से यह धर्म प्राप्त किया। चित्रशिखण्डियों के संदर्भ में नारद का उल्लेख न होने का कारण तो यह प्रतीत होता है कि नारद इनके बाद श्वेतद्रोण जाते हैं और तब इन्होंने नये सिरे से इस पांचरात्र धर्म को नारायण से प्राप्त किया था। दूसरी शंका है नारद द्वारा प्राप्त मत को लेकर। उपर्युक्त विवरण में कहा गया है कि 'यहां सात्वत धर्म है' और इसका वर्णन 'हरिगता' में किया गया है। पर इस विवरण में आश्चर्य है कि कहीं भी चित्रशिखण्डियों का नाम नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि नारायण द्वारा नारद को सिखाया हुआ सात्वत-धर्म, चित्रशिखण्डियों या उपरिचर के एकान्त, धर्म और पूर्वलिखित 'हरिगता' के धर्म में क्या सम्बन्ध है। हम यहाँ केवल इतना ही मान सकते हैं कि अनेक समानताओं के रहते हुए भी उनमें उतना ही असमानताएँ भी हैं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम हापकिंस के इस मत से सहमत हैं कि नारायणाय मत वालों का कृष्ण या सात्वत मत वालों से घोर विरोध था। सम्भावना इस बात की है कि नारायणाय व भागवत मत कभी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते रहे होंगे पर कालान्तर में उन दोनों के भक्ति या प्रेम तत्व ने दोनों के एकीकरण का अवसर प्रदान किया।

'पांचरात्र' शब्द सर्वप्रथम 'शतपथ ब्राह्मण' में प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि समस्त प्राणियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से 'पांचरात्र सत्र' किया था। किन्तु इस शब्द की पूर्व व्याख्या 'महाभारत' के नारायणायोपाख्यान से ही उपलब्ध होती है। इसके पूर्व कि हम स्वयं भगवान् द्वारा नारद को दी गई पांचरात्र सिद्धान्तों की शिक्षा का उल्लेख करें, यहाँ सर्वप्रथम बसु उपरिचर तथा चित्रशिखण्डियों का विवरण देना आवश्यक है क्योंकि इसी शास्त्र को प्राप्त करने के उद्देश्य से और भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करने के लिए चित्रशिखण्डियों ने नारद से पहले ही श्वेतद्रोण की यात्रा की थी। उपरिचर तथा चित्रशिखण्डियों का भागवत सम्प्रदाय से सीधा सम्बन्ध भी है। उपरिचर इस धर्म का प्रथम प्रश्रयदाता राजा जात होते हैं जिनके दरबार में पांचरात्र विद्वान् रहते थे। उपरिचर के सम्बन्ध में 'महाभारत' में निम्न लिखित उल्लेख मिलता है—

“इन्द्र के आदेश से उपरिचर ने अत्यन्त रमणीय चेदि देश का राज्य स्वीकार किया,^१ (आ० प० ६३।३) 'देवताओं ने कहा—“राजा (उपरिचर) तुम्हारे द्वारा सुरक्षित धर्म ही सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए है। (वही ५), इन्द्र ने स्वयं उसे अपना सखा बनाया (वही ७),

१. बसु उपरिचर की ऐतिहासिकता प्रमाणित की जा सकती है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने 'पोलीटिकल हिस्ट्री आफ एन्सियेन्ट इण्डिया' पृ० ४१८ पर यह सुझाव दिया है कि अशोक के पश्चात् जिस कलिंगाधिपति खारबेल का विवरण हम पाते हैं उसकी समता चेदि-नरेश उपरिचर से की जा सकती है क्योंकि दोनों के जीवन में काफी साम्य है।

‘राजा उपरिचर भगवान नारायण के भक्त थे’ (शा० प० ३३५।१७) ‘जो पहले सूर्य के मुख से प्रकट हुआ था उस सात्वत विधि का आश्रय लेकर वे प्रथम तो देवदेवर भगवान नारायण का पूजन करते थे’.....^१ उपरिचर ने अपना सर्वस्व भगवान का समर्पित कर दिया था (वहा २३) ‘उनके घर में पांचरात्र शास्त्र के प्रमुख विद्वान रहते थे जिन्हें भगवान का चढ़ाया हुआ प्रसाद पहले मिलता था तब अन्य लोग पाते थे।^२ ‘बृहस्पति से राजा वसु उपरिचर ने चित्र-शिखण्डियों के बनाये हुए शास्त्र का अध्ययन किया’ (शा० पा० ३३६।३), ‘बृहस्पति के उपाध्यायत्व में एक महान यज्ञ उपरिचर ने किया . . . सारे सामान एकत्र किये गये पर किसी का बंध नहीं हुआ’ (वहा ५।१०) ‘उस समय नारायण ने केवल उपरिचर को ही दर्शन दिया, शेष १६ उपस्थित मुनिगण दर्शन नहीं पा सके।’^३

उपरिचर को घोर अहिंसावादा दिखाने के पश्चात् ‘महाभारत’ में पुनः एक स्थान पर पशुबलि का समर्थन करने के अपराध में उन्हें दण्डित होने का विवरण प्राप्त होता है। देवताओं और ब्रह्मर्षियों में यज्ञ में ‘अज’ (वकरा अथवा वाज) शब्द को लेकर तर्क चल रहा था। ब्रह्मर्षियों का कहना था कि वैदिक रीति है बोजों द्वारा यज्ञ करना और बोजों का ही नाम है अज, पर देवता पशु-बलि के पक्ष में थे और उन्होंने ‘अज’ का अर्थ वकरा बताया। तब उपरिचर का आगमन होता है, उनका निर्णय काभार दिया गया। उन्होंने देवताओं का पक्ष लेकर ‘अज’ का अर्थ वकरा बता दिया। ऋषियों ने शाप दिया कि तुमने यदि वेद-शास्त्र विरुद्ध कथन किया होता तो हमारा शाप लागू हो और तुम स्वर्ग से नीचे गिर जाओ। वही हुआ भी और उपरिचर का पतन हो गया।^४ पुनः उनके उद्धार की कथा भी आती है।

उपरिचर के उक्त आख्यान से हम अपने विषय का तारतम्य यों आगे बढ़ा पाते हैं—महाभारत-युग तक आते-आते पहले से चले आने वाले भागवत सम्प्रदाय को कहीं-कहीं राज्याश्रय प्राप्त होने लगा था। अशोक-विरोधी राज्यों में—विशेषतया कलिंग तथा अन्य दक्षिणात्य राज्यों में मौर्य-सत्ता क्षीण होते ही भागवत सम्प्रदाय को राज्याश्रय मिलने लगा था। हिंसापरक यज्ञों को जनरुचि नहीं स्वीकार कर रही थी और भागवत सम्प्रदाय वाले यह देख रहे थे कि वैदिक आडम्बरों से ही ऊब कर वैदिक धर्मावलम्बी इतर धर्मों का शरण में द्रुतिगति से चले जा रहे थे, अतः महाभारत-युग में, भागवत धर्म में यह एक महत्वपूर्ण संबंधन किया गया था। तीसरा निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि चेदि राज्य भागवतों का बहुत बड़ा केन्द्र था जहाँ पांचरात्र-शास्त्र के ज्ञाता (प्रणेता भी) चित्रशिखण्डी रहते थे। एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि यज्ञ की उपेक्षा इस युग से नहीं की जाती थी, हाँ उसका रूप

१. सात्वत विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुख निःसृतम्। शा० प० ३३५।१९

२. पांचरात्रविदो मुह्यार्तस्य गेहे महात्मनः—शा० प० ३३५।२५

३. भगवान ने नारद को सूचित किया है कि ‘मेरे अनन्य भक्त के सिवा कोई मनुष्य मेरा दर्शन नहीं पा सकता है’ महा० ३३८।१३-१४

४. देखिये महाभारत, शा० प० ३३७।३-१५

अवश्य बदल गया था। जिन चित्रशिखण्डियों से उपरिचर वसु ने सात्वत धर्म सोखा था उन्होंने तप द्वारा ही श्वेतद्वीप में प्रवेश प्राप्त किया था, यह हमें ज्ञात है। अतः हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि महाभारत-युग में यज्ञ और तप की उपेक्षा नहीं की गई थी। हाँ, उनकी प्राचीन परम्परा को बनाये रखते हुए भक्ति को उनसे श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य की जा रही थी।

उपरिचर के पदवात् चित्रशिखण्डियों की ओर ध्यान देना होगा। 'महाभारत' में इनसे तथा इनके शास्त्र से सम्बन्धित निम्न संदर्भ उपलब्ध है—

'मरावि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा महातेजस्वी वसिष्ठ, ये सात प्रसिद्ध चित्रशिखण्डियों ने महागिरि मेरु पर एकमत होकर जिस उत्तम शास्त्र का प्रवचन एवं निर्माण किया, वह चारों वेदों के समान आदरणीय एवं प्रमाणभूत है। उसमें सात मुखों से प्रकट हुए उत्तम लोक-धर्म का व्याख्या हुई है। उपर्युक्त सात ऋषि तथा आठवाँ ब्रह्मा द्वारा इस शास्त्र का प्राकट्य हुआ है।.....इन ऋषियों ने जगत-कल्याण ईश्वर-प्राप्ति तथा संसार का हित-साधन इन तीन तथ्यों को लक्ष्य करके इस शास्त्र की रचना की। इसमें पहले धर्म, अर्थ और काम का फिर मोक्ष का भी वर्णन है। स्वर्ग एवं मृत्युलोक में प्रचलित विभिन्न मर्यादाओं का भी प्रतिपादन किया गया है।.....इस शास्त्र के आरम्भ में ही ऊँकार स्वर का प्रयोग किया गया है।.....। भगवान् ने सुन कर कहा—मुनिवरों! तुम लोगों ने एक लाख श्लोकों का यह उत्तम शास्त्र बनाया है। इससे सम्पूर्ण लोकतन्त्र का धर्म प्रचलित होगा।.....। प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में यह ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के मंत्रों से अनुमोदित ग्रन्थ के समान प्रमाणभूत होगा।.....तुम लोगों का बनाया हुआ यह उत्तम शास्त्र प्रामाणिक माना जायेगा, यह मेरी आज्ञा है।..... स्वाम्भुव मनु स्वयं इसी ग्रन्थ के अनुसार धर्मों का उपदेश करेंगे। शुक्राचार्य और बृहस्पति जब प्रकट होंगे तब वे भी तुम्हारी बुद्धि से निकले हुए इस शास्त्र का प्रवचन करेंगे। मनु के धर्म-शास्त्र, शुक्राचार्य के शास्त्र तथा बृहस्पति के मत का जब लोक में प्रचार हो जायेगा तब प्रजापालक वसु (उपरिचर) बृहस्पति से तुम्हारे बनाये हुए इस शास्त्र का अध्ययन करेगा।..... उस राजा (उपरिचर) के दिवंगत होने के पश्चात् वह सनातन शास्त्र सर्वसाधारण की दृष्टि से लुप्त हो जायेगा। तत्पश्चात् समस्त लोकों का हित-चिन्तन करने वाले लोकपिता प्रजापति धर्म के मूलभूत उस सनातन शास्त्र का जगत् में प्रचार करेंगे।'

उक्त विवरण को पूर्ण करने के लिए हमें एक अन्य संदर्भ की ओर भी ध्यान देना होगा। हमें ज्ञात है कि उपरिचर के यज्ञ में नारायण ने केवल उपरिचर को ही दर्शन दिया था, जिससे बृहस्पति क्रोधित हो उठे थे और उन्होंने कहा कि भगवान् को मेरी आँखों के सामने प्रकट होना पड़ेगा (शा० प० ३३६।१५)। इस पर इन्हीं चित्रशिखण्डियों ने बृहस्पति को समझाने के उद्देश्य से जो आप बोली सुनाई वह द्रष्टव्य है—

'हम लोगों ने एक बार उत्तर दिशा की यात्रा की थी। वहाँ मेरु के उत्तर तथा क्षीर सागर के किनारे एक पवित्र स्थान है, जहाँ हम लोगों ने एक हजार वर्षों तक तपस्या का।' (शा० प० ३३६।२०-२३)।

तब एक भविष्यवाणी हुई कि यदि भगवान का दर्शन चाहते हो तो श्वेतद्वीप^१ जाइए। शिखण्डियां ने श्वेतद्वीप जाकर पुनः सी वर्षों तक तपस्या का किर भा वे भगवान का नहीं देख सके। चित्रशिखण्डा तपस्या से थककर दुर्बल हो गये थे। तभी भविष्यवाणी हुई 'जैसे आये हो वैसे लौट जाओ। भगवान में अनन्य भक्ति हुई बिना किमी का उनका साक्षात् दर्शन नहीं होता। हां, बहुत समय तक भक्ति करने से जब पूरा अनन्यता आ जायेगी तब भगवान का दर्शन सम्भव होगा। चित्रशिखण्डियां ने कहा, बृहस्पते ! जब हम लोग इतना तपस्या, हव्य-काश्यों के द्वारा भगवान का पूजन करके भी उनका दर्शन नहीं पा सके तब भला तुम कैसे पा जाओगे।^२

चित्रशिखण्डियां की कथा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसृ पर्वत पर एकत्रित होकर इन्होंने एक ऐसे शास्त्र का प्रगथन किया था जो वारा वेदों के समान आदरणीय एवं प्रमाणभूत है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का वर्णन है, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के विषय में यह 'ऋक', 'यजुः', 'साम' और 'अथर्व' वेद के मंत्रों से अनुमादित ग्रन्थ के समान प्रासाधिक होगा। निश्चय ही चित्रशिखण्डियां का यह शास्त्र भागवत धर्म-सम्बन्धी शास्त्र ही है, या दूसरे शब्दों में पाँचरात्र शास्त्र है। 'पाँचरात्र' शास्त्र के चतुर्वर्ग सिद्धान्त से हम परिचित हैं। 'महाभारत' शान्ति पर्व में चित्र शास्त्र है। शिखण्डियां की उत्पत्ति का जो विवरण दिया गया है उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चित्रशिखण्डियां का शास्त्र 'पाँचरात्र' शास्त्र ही था। मृष्टिका परम्परा का उल्लेख करते हुए 'महाभारत' में कहा गया है कि—

अव्यक्त महापुरुष (परमात्मा से) व्यक्त अनिरुद्ध की उत्पत्ति,
अनिरुद्ध से ब्रह्म अथवा अहंकार की उत्पत्ति,
अहंकार से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति और
उन पंचमहाभूतों से मूर्तिमान प्राणी उत्पन्न हुए।

मराचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, वसिष्ठ तथा स्वायम्भुव मनु, इन आठों की प्रकृति समझे जिसमें समस्त लोक प्रतिष्ठित हो रहा है। इन्हीं आठ प्रकृतियों से समस्त जगत् उत्पन्न हुआ।^३ इसी प्रकरण में आगे बताया गया है कि ग्यारह रूप, आठ प्रकृति (चित्रशिखण्डा), समस्त देवविगण ब्रह्मा जी की सेवा में उपस्थित हुए। फिर उन्होंने नारायण के पास जाकर पूछा कि हम किस मार्ग का अनुसरण करें। नारायण ने प्रवृत्ति मार्ग अपनाते को कहा।^४ मरोचि अंगिरस आदि चित्रशिखण्डा प्रवृत्तिमार्गी हैं।^५

पाँचरात्र की परम्परा का एक दूसरा उदाहरण 'महाभारत' में मिलता है जिससे यह ज्ञात होता है कि 'पाँचरात्र' आगम का गान सर्वप्रथम साक्षात् नारायण के मुख से हुआ है और

१. श्वेतद्वीप सम्बन्धी विवरण आगे दिया गया है।

२. इस विवरण के लिए देखिये शा० प० ३३६।१५-१९

३. महाभारत, शा० प० ३४०।२९-३६

४. वही ५०

५. वही ७०

तत्पश्चात् श्वेतद्वीप में नारदजी ने जैसा देखा और सुना था वैसा ही ब्रह्मा के भवन में सुनाया था जिसे वहाँ के निवासी सिद्धों ने सुना। सिद्धों से भगवान सूर्य ने सुना। उन्होंने अपने अनुगामी ६० हजार भवितात्माओं को सुनाया तब उन भवितात्माओं ने मेरु पर्वत पर आये हुए देवताओं को सुनाया। जो भगवान वासुदेव का भक्त न हो उसे किसी प्रकार भी यह उपदेश नहीं दिया जाता है।^१ सम्भवतः मेरु पर्वत वाले देवता ये चित्रशिखण्डी हो हैं जिन्होंने मेरु पर्वत पर इस शास्त्र का प्रणयन किया था।

चित्रशिखण्डियों द्वारा प्रणीत शास्त्र किस प्रकार वसु उपरिचर तक पहुँचा इसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं। हमें इन विवरणों से यह मानने का कारण प्राप्त होता है कि प्राचीन भागवत सम्प्रदाय किसी प्रकार कुछ दिनों के लिए लुप्त हो गया था जिसका पुनरुद्धार दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० पू० में किया गया था। जिस प्रकार उपरिचर की कथा के माध्यम से अहिंसा को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार चित्रशिखण्डियों द्वारा अनन्य भक्ति पर बल दिया गया जिसके बिना उन्हें श्वेतद्वीप में भगवान के दर्शन नहीं हुए थे। भगवान नारायण ने स्वयं नारद से इसका उल्लेख किया है कि एकत्, द्वित् और त्रित् चित्रशिखण्डा श्वेतद्वीप में आये थे पर उन्हें उनका दर्शन नहीं हो सका क्योंकि बिना अनन्यता दर्शन असम्भव है।^२ किन्तु यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चित्रशिखण्डियों ने 'पांचरात्र' शास्त्र का सृजन नहीं किया था क्योंकि इनके पूर्व से यह शास्त्र चला आ रहा था और नारद ने श्वेतद्वीप में भगवान नारायण की अर्चना जिन नामों से की है उनमें 'पांचरात्रिक' 'बैखानस' 'भक्त-वत्सल' आदि नाम भी आते हैं। अतः हम चित्रशिखण्डियों को इस पांचरात्र मत का प्रचारक भरहो कह सकते हैं। यहाँ एकांतिक, पांचरात्रिक व सात्वत शब्दों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। चित्रशिखण्डियों का वह एक लाख श्लोकों वाला शास्त्र उपलब्ध नहीं है पर नारायणों पूर्व ३३४-३५१ में इसे 'पांचरात्र' उपनिषद् को संज्ञा दी गई है और इसे एकान्त धर्म भी घोषित किया गया है। अतः 'एकांतिक' तथा 'पांचरात्रिक' निश्चित रूप से पर्यायवाची शब्द हैं, कम से कम महाभारत-युग तक आते-आते तो इनका समीकरण हो चुका था। 'सात्वत' शब्द के समीकरण के लिए उपरिचर का विवरण पर्याप्त है जिसमें उसे सात्वत धर्मावलम्बी कहा गया है। पांचरात्रिक या एकांतिक चित्रशिखण्डियों द्वारा उपरिचर का ही सात्वत धर्म का शिक्षा पाना इसका पुष्ट प्रमाण है कि एकांतिक, तथा पांचरात्रिक का दूसरा नाम सात्वत भी था। पर इस 'सात्वत' का सीधा सम्बन्ध देवकी पुत्र कृष्ण से है। अतः यहाँ यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारत-युग तक आते-आते 'एकांतिक' 'पांचरात्रिक' तथा 'सात्वत' शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होने लगा था। उक्त परिणाम पर पहुँच कर हम डा० भण्डारकर के निष्कर्ष को मान्य स्वीकार करते हैं जिन्होंने वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक नाम एकान्तिक धर्म बताते हुए कहा है कि बाद से 'भारत गीता' के युग तक आते-आते इसने एक सम्प्रदाय

१. देखिए महाभारत, शा० प० ३३८।१०२-१२६

२. देखिए महाभारत, शा० प० ३३८।१३

का रूप धारण कर लिया। जिसे भागवत कहा जाता था। आगे हम इस विषय पर कुछ विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

भक्ति-शास्त्र-प्रणेता चित्रशिखण्डियों तथा मात्स्वत धर्म के प्रथयदाता राजा उपरिचर के पश्चात् भक्तों के निवास-स्थान श्वेतद्वीप का संश्लेष में परिचय दे कर देना आवश्यक है। 'महाभारत' में श्वेतद्वीप का जो विवरण दिया गया है तथा उनके निवासियों का जो चित्रण किया गया है उसे कुछ विदेशी लेखकों ने ईसाई संतों के पक्ष में लिया है। पर इस निराधार मत की विवेचना तथा उसकी छानबीन अनावश्यक है क्योंकि बहुत पहले ही अनेक विद्वानों ने इस पर खोजपूर्ण ग्रन्थ या ग्रन्थ लिख कर विदेशी लेखकों की श्वेतद्वीप सम्बन्धी भूल धारणाओं का निराकरण कर दिया है।^१ श्वेतद्वीप वाला कथा हमें यह सूचना देती है कि कठोर तप और योग द्वारा श्वेतद्वीप तक प्रवेश सम्भव था, जैसा कि चित्र-शिखण्डियों को मिला था, पर अनन्य भक्ति के बिना भगवान का दर्शन वहाँ जाकर भी नहीं हो सकता था। दूसरी बात यह है कि न तो दैहिक आँखों से और न ज्ञान-चक्षु से ही भगवान का व्यक्त रूप दिखाई पड़ता था, प्रत्युत इसके लिए दैवी चक्षु की आवश्यकता थी। श्वेतद्वीप के 'अनिन्द्रियाः' तथा 'निराहाराः' निवासियों की अनाधारण विशेषताओं एवं विलक्षणताओं ने आलोचकों को आश्चर्यचकित अवश्य किया है और साथ ही निराधार कल्पनाओं के लिए अवसर भी प्रदान किये हैं पर क्लार्क तथा रोन्सों आदि विद्वानों ने उनके इन लक्षणों का मुक्त प्राणियों के स्वाभाविक शास्त्रोक्त लक्षण बताये हैं। स्वयं युधिष्ठिर ने भी शा० पं० ३३५।१४-१५ में इसी प्रकार का संदेह प्रकट किया है। वास्तव में यह एक प्रकार का स्वर्ग है। यह बौद्धों को सुखावलो तथा ब्राह्मणों को अमरावती से समता रखता है।^२ अब श्वेतद्वीपवासियों का पूजा-विधि पर विचार किया जायेंगा। तदर्थ हम स्वयं भगवान द्वारा श्वेतद्वीप में नारद को दिये गये उपदेश पर आते हैं।

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है—

वेबर—इ० ए० १८७३, खण्ड ७४-३-४

हापकिंस—इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू

प्रियर्सन—जू० आ० रा० ए० सी० १९०७

इ० ए० १९०८ आदि।

केनेडी —जू० आ० रा० ए० सी० १९०७

क्लार्क —जू० आ० रा० ओ० सी० १९१९

रोसो —बी० एस० ओ० एस० १९२९

अन्तिम दो विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि श्वेतद्वीप पूर्णतया भारतीय है और भक्ति पर ईसाई मत का प्रभाव नहीं है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी, हापकिंस तथा गार्व के ग्रन्थ भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

२. विष्णु स्मृति में भी ब्रह्मा की पूजा का फल बताते हुए पूजा-अवधि के आधार पर विभिन्न स्थानों श्वेतद्वीप, स्वर्ण, विष्णु लोक, आदि की प्राप्ति की जो बात की गई है उससे भी श्वेतद्वीप एक प्रकार का स्वर्ग ही ज्ञात होता है जहाँ मुक्त जन स्वयं भगवान के साथ निवास करते हैं जिनका व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूप है।

भगवान ने नारद से कहा—

‘धर्म के घर में जो अवतीर्ण हुए हैं वे नर, नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं।। सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन गुणों को क्षेत्रज्ञ स्वयं भोगता है, किन्तु इनके द्वारा वह क्षेत्रज्ञ भोगा नहीं जाता क्योंकि वह निर्गुण, गुणों का भोक्ता, गुणों का स्रष्टा तथा गुणों से उत्कृष्ट है। पृथ्वी जल में विलीन होती है, जल तेज में और तेज वायु में विलीन होता है। वायु आकाश में और आकाश मन में विलीन होता है। मन उत्कृष्ट भूत है जो अव्यक्त प्रकृति में लीन होता है। अव्यक्त का निष्क्रिय पुरुषों में लय होता है। उससे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है। संसार से उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेव को छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं। वासुदेव सब भूतों के आत्मा हैं। वे सब महाभूत एक साथ मिल कर ही शरीर धारण करते हैं। उस समय अदृश्य भाव से जो शीघ्रगामी चेतन उसमें प्रवेश करता है वही जीवात्मा है। वह जीव ही शेष या संकर्षण कहा गया है। जो उसी संकर्षण अथवा जीव से उत्पन्न होकर अपने कर्म (ध्यान, पूजनादि) द्वारा ‘सत्कुमारत्व (जीवन्मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, जिसमें समस्त प्राणी लय एवं क्षय को प्राप्त होते हैं, वह सम्पूर्ण भूतों का मन ही प्रद्युम्न कहलाता है। उस प्रद्युम्न से जिसकी उत्पत्ति हुई है वह (अहंकार) ही कर्त्ता, कारण एवं कर्म है। उसी से समस्त जगत की उत्पत्ति होती है, वही अनिरुद्ध एवं ईशान कहलाता है। वह सम्पूर्ण कर्मों से व्यक्त होता है। जो वासुदेव क्षेत्रज्ञ स्वरूप एवं निर्गुण रूप से जानने योग्य बताये गये हैं वे ही प्रभावशाली संकर्षण रूप जीवात्मा हैं। संकर्षण से प्रद्युम्न का प्रादुर्भाव हुआ है जो मनोभूत कहलाते हैं। प्रद्युम्न से जो अनिरुद्ध प्रकट हुए हैं वे ही अहंकार और ईश्वर हैं। तुम (नारद) ऐसा न समझ लो कि ये रूपवान हैं इसलिए दिखाई पड़ रहे हैं क्योंकि मैं इच्छा करते ही एक ही क्षण में अदृश्य हो सकता हूँ।। मुझमें ही जीव की स्थिति है और मैं ही जीव नाम से प्रसिद्ध हूँ।। मैं ही इस सृष्टि का संहार करूँगा फिर अपनी विद्या-शक्ति से पुनः सृष्टि करूँगा। मेरी जो चार मूर्तियाँ हैं उनमें से चौथी वासुदेव मूर्ति है।^१ उसने अविनाशी शेष को उत्पन्न किया है। वह विशेष ही संकर्षण है। संकर्षण ने प्रद्युम्न को उत्पन्न किया है। प्रद्युम्न से ही अनिरुद्ध का आविर्भाव हुआ है। वह सब में ही है। मेरी अनिरुद्ध मूर्ति से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं।^२ ब्रह्मा से समस्त चराचर भूत उत्पन्न हुआ है।’

१. धर्म के घर में चार पुत्रों—नर, नारायण, हरि, कृष्ण का उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ चतुर्थ मूर्ति का आशय कृष्ण से है। इस प्रकार कृष्ण से वासुदेव का समीकरण होना सिद्ध हो रहा है।

२. चित्रशिक्षण्डियों द्वारा प्रणीत शास्त्र में आठवाँ ब्रह्मा का भी हाथ था, यह हम पहले ही देख चुके हैं और यहाँ ब्रह्मा को चतुर्थ्यह सिद्धान्तानुसार अनिरुद्ध मूर्ति से उत्पन्न कहा गया है जिससे पाँचरात्र शास्त्र का सम्बन्ध चित्रशिक्षण्डियों से स्थापित हो जाता है।

‘महाभारत’ में इस अंश के आगे दाक्षिणात्य प्रति म, जिसे डा० भण्डारकर प्रक्षिप्तांश मानते हैं, दशावतारों की कथा आती है। अपने भिन्न-भिन्न अवतारों का विवरण देने के पश्चात् भगवान ने नारद से कहा है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदं समन्वितं

सांख्य योगकृतं तेन पांचरात्रानुशब्दितम् ॥

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि चित्रशिखण्डियों के पूर्व स्वयं भगवान ने पांचरात्र दर्शन का ज्ञान नारद को दिया था। पांचरात्र आगम के नाम से प्रसिद्ध होने वाले इस शास्त्र में सांख्य और योग का सिद्धान्त कूट-कूट कर भरा है, यह उक्त उद्धरण से ज्ञात होता है।

भीष्म, जो युधिष्ठिर को यह कथा सुना रहे थे, सूचित करते हैं कि ‘नारद से सिद्धों ने यह सिद्धान्त सुना, सिद्धों से सूर्य ने, सूर्य से ६० हजार भवितात्माओं ने, उनसे मेरु-पर्वत पर आये हुए देवताओं ने, उन देवताओं से असित ने असित से पितरों ने सुना और तब परम्परानुसार शान्तनु को यह शास्त्र प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् पिता शान्तनु से मुझे (भीष्म को) मिला।’

उपर्युक्त विवरण से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि सर्वप्रथम नारद को भगवान ने स्वयं अपने चारों रूप का परिचय दिया, तब पांचरात्र सिद्धान्तों की शिक्षा दी। परम्परानुसार चित्रशिखण्डियों को यह ज्ञान प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि मेरुपर्वत पर सात चित्रशिखण्डियों द्वारा निर्मित शास्त्र को आठवें ब्रह्मा द्वारा, जो अनिरुद्ध मूर्ति से उत्पन्न हुए हैं, अनुमोदित किया गया। ब्रह्मा द्वारा प्राचीन काल में अनेक बार इस धर्म का प्रचार हो चुका था। शन्ति पर्व ३४९ में, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, एकान्त धर्म के उद्भव और प्रचार का विस्तृत विवरण दिया गया है। वैशम्पायन जन्मेजय से कहते हैं कि १. सत्ययुग में नारायण ने इस सामवेदसम्मत निष्काम धर्म को उत्पन्न किया। उन्होंने ब्रह्मा को इस धर्म की शिक्षा दी। ब्रह्मा से फेनप, फेनप से वैखानस ने सीखा और तब उन्होंने चन्द्रमा को दिया। तत्पश्चात् इस धर्म का लोप हो गया। २. दूसरी बार ब्रह्मा ने नारायण के नेत्र से जन्म लेकर चन्द्रमा से इस धर्म को सीखा। ब्रह्मा ने फिर रुद्रदेव को सिखाया जिनसे बालखिल्य ने प्राप्त किया और तदुपरान्त इसका पुनः लोप हो गया। ३. तीसरी बार नारायण ने फिर से इस धर्म को रचा और महर्षि सुपर्ण ने नारायण से इसकी शिक्षा ली। (यहाँ यह भी घोषित किया गया है कि यह धर्म ‘ऋग्वेद’ में बताया गया है शा० प० ३४९।२१), सुपर्ण से वायु ने सीखा और अन्त में यह धर्म समुद्र में लुप्त हो गया। ४. चौथी बार यह धर्म पुनः नारायण से ब्रह्मा को मिलता है जिन्होंने स्वरोचिष मनु को सिखाया, मनु ने अपने पुत्र शंखपद को इसका उपदेश दिया और शंखपद ने अपने पुत्र दिक्पाल सुवर्णीय को इसकी शिक्षा दी। त्रेता तक आते-आते पुनः इस धर्म का लोप हो जाता है। ५. पाँचवीं बार पुनः नारायण ने ब्रह्मा को सिखाया, ब्रह्मा से सनत्कुमार और उनसे प्रजापति वीरण ने तथा प्रजापति से उनके पुत्र रैम्य ने और फिर रैम्य से उनके पुत्र दिक्पति ने सीखा। तदुपरान्त पुनः इस धर्म का लोप हो गया। ६. छठी बार ब्रह्मा को पुनः

यह धर्म नारायण से मिला जो क्रमशः बर्हिषद महर्षियों, ज्येष्ठ तथा अविकम्पन तक आते-आते लुप्त हो गया और (७) सातवीं बार ब्रह्मा से दक्ष तथा दक्ष से उनके नाती आदित्य, आदित्य से विवस्वान, फिर उनसे मनु और मनु से उनके पुत्र इक्ष्वाकु ने सीखा। अन्त में यह कहा गया है कि देवर्षि नारद ने नारायण से यह धर्म प्राप्त किया।

जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है इस सूची में चित्रशिखण्डियों का तो नाम नहीं हो है साथ ही नारद का भी नाम परम्परागत हस्तांतरण में नहीं आता है। इससे यहाँ परिलक्षित होता है कि एकान्त धर्म कई बार लुप्त हुआ था और कई बार इसका उद्धार हुआ है। नारद तथा चित्रशिखण्डियों द्वारा भी इसका उद्धार हुआ है जो अर्वाचीन घटना है। महाभारतकार ने इसीलिए एकान्त धर्म के प्राचीन इतिहास में चित्रशिखण्डियों का नाम नहीं दिया है और नारद का नाम अन्त में दिया है जो महाभारत-काल के लिए ठीक पूर्व की घटना हो सकती है। नारद से भीष्म तक इस धर्म का ज्ञान कैसे पहुँचा इसका उल्लेख किया जा चुका है। हमें यह भी ज्ञात है कि केवल भगवान के भक्तों को ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः उपर्युक्त सूची को हम प्राचीन भक्तों की सूची के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

अब हम 'महाभारत' के उन चरित्रों के समीकरण की समस्या पर विचार करेंगे जिनसे भागवत् या वैष्णव धर्म का सूत्रपात होता है। 'महाभारत' ही वह आदि ग्रन्थ है जिसमें विष्णु, नारायण, वासुदेव व कृष्ण आदि नामों का समीकरण किया गया है और साथ ही एकांतिक, नारायणीय, पांचरात्रिक, सात्वत, भागवत आदि नामों को पर्याय बना दिया जाता है। पूर्ववर्ती धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करते समय भी इन समीकरणों पर विचार करने की गुंजाइश थी पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका सर्वोत्तम एवं समुचित स्थान 'महाभारत' ही है। अतः यहाँ ही हम उक्त समीकरणों पर विचार करेंगे और समीकरण-सम्बन्धी जो संकेत पीछे संदर्भवश दिये गये हैं, उन पर कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे।

(इस समीकरण की सामग्री को तुलनात्मक ढंग से देखने की चेष्टा की गई है और विषय के दो सुप्रसिद्ध विद्वान डा० भण्डारकार तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी की सामग्रियों को समीक्षा भी की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों, संहिताओं, उपनिषदों आदि की तत्सम्बन्धी सामग्री को ही मुख्यतः प्रमाण माना गया है।)

नारायण तथा वासुदेव का समीकरण—आरण्यक तथा ब्राह्मणों पर विचार करते समय हमने देखा था कि 'नारायण' शब्द सर्वप्रथम 'शतपथ' ब्राह्मण में ही आया है। इसके पूर्व नारायण का कहीं उल्लेख नहीं है। उक्त ब्राह्मण में प्रजापति ने पुरुष नारायण को 'पांचरात्र सत्र' (पाँच दिनों तक चलने वाले यज्ञ) के लिए प्रेरित किया है। पुरुष नारायण ने यह यज्ञ सर्वोपरि उठने के लिए किया था। यद्यपि 'मैत्रायणी' संहिता में नारायण को विष्णु तथा केशव कहा गया है पर यहीं अन्य परवर्ती देवताओं का भी उल्लेख है जिससे निश्चित रूप से यह प्रक्षिप्तांश है। 'महाभारत' ने

नारायण का 'पूर्व देव' या पुरातन देवता कह कर उनको प्राचीनता का समर्थन किया है और उनको पुरुष नारायण का परम्परा का भा पावन किया है क्योंकि नारद ने नारायण को 'पुरुष' 'महापुरुष' 'पुरुषोत्तम' आदि कहा है। नारायण का प्राचीनता का दूसरा सबल प्रमाण 'महाभारत' ने शा० प० ३४९ में दिया है जब सात बार नारायण के विभिन्न अंगों से ब्रह्मा का जन्म दिखाया गया है और इस प्रकार एकान्त धर्म का उत्पत्ति एवं विलयन का इतिहास दिया गया है। 'महाभारत' १२।३३५।६; १२।३४३।३४; ३।४७।१०; ६।६५।११ तथा ८।८७।७४ आदि से हम उक्त निष्कर्ष पर हा पहुँचते हैं। सम्भवतः इसी लम्बे तिथि-क्रम ने भण्डारकर महोदय को 'ह्रस्वदे' (पुरुष सूक्त) के नारायण से लेकर 'महाभारत' तक के नारायण को एक प्राचीन देवता स्वीकार करते हुए यह विचार व्यक्त करने का प्रेरणा दी है कि नारायण वासुदेव से प्राचीन हैं। ब्राह्मण युग में वे परमात्मा का स्थिति पर पहुँच जाते हैं तथा आगे चलकर जब वासुदेव-पूजा आरम्भ हुई तो नारायण से उनका समाकरण कर दिया गया।^१ 'महाभारत' में नर तथा नारायण का प्रयोग अनेक स्थानों पर साथ-साथ हुआ है और एक स्थान पर तो अर्जुन व वासुदेव को नर-नारायण तक कहा गया है।^२ नारायण शब्द को जो व्युत्पत्ति 'महाभारत' में दी गई है वह यहाँ अमहत्वपूर्ण है। हाँ धर्म के चार पुत्रों—नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण का उल्लेख बहुत हा महत्वपूर्ण है और इसका सम्बन्ध हम 'तैत्तिरीय' आरण्यक (१०।११-१) के नारायण से स्थापित कर सकते हैं जिसमें नारायण एक प्रमुख देवता के रूप में आते हैं और हरि नाम ग्रहण करते हैं। 'महाभारत' (वैष्णव धर्म पर्व) में 'नमोस्तु वासुदेवाय' तथा 'ॐ नमो नारायणाय' आदि कह कर नारायण व वासुदेव का समीकरण कर दिया गया है पर यह समीकरण आंशिक हा है और नारायण को वासुदेव के ऊपर श्रेष्ठता एवं प्रधानता देने का भाव अप्रत्यक्ष रूप से 'महाभारत' में बना रहता है। नारायण ने स्वयं नारद को सूचित किया है कि 'मेरो जो चार मूर्तियाँ हैं उनमें से चौथो वासुदेव मूर्ति है' पर इसी स्थल पर ७३वें श्लोक में यह भी कह दिया गया है कि यह सब (वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध) में हो हैं।^३ आशय यह है कि महाभारत-युग तक आते-आते प्राचीन नारायण को प्राचीनता तो दो हा गई साथ ही वासुदेव से उनका समीकरण भी कर दिया गया। चतुर्व्यूह का परम्परा में अन्तिम अनिरुद्ध से ब्रह्मा को उत्पत्ति बताना भी महत्वपूर्ण है क्योंकि नारायण और ब्रह्मा का सम्पर्क एकान्त धर्म के उद्भव, प्रचार एवं विलयन के सम्बन्ध में बड़ा हो घनिष्ठ है जिस पर हम विचार कर चुके हैं।

वासुदेव तथा विष्णु का समीकरण—'महाभारत' में विष्णु को जो सर्वोच्च पद दिया गया है उसका कारण हमें ज्ञात है। ब्राह्मणों के युग से ही उनका महत्व बढ़ने

1. "Narayan being thus evolved as the supreme. Being in the later Brahmanic period, was, of course prior to Vasudeva and in the epic times when the worship of the latter arose, Vasudeva was identified with Narayan".—V.S., p. 45. See also pp. 30-31

लगा था और 'शतय' ब्राह्मण ने तो उनकी महानता को अत्यधिक ऊँचा उठा दिया था। उनको जो रूपा उतर वैदिक साहित्य से दिया गया था वह अधिकांशतः महाभारत-युग की परिस्थितियों के अनुरूप था। वे लोकमत के काफी निकट थे और अपने पराक्रम तथा साथ ही उदारता के कारण लोक को प्रभावित करने में भी सक्षम थे। फलतः महाभारत-युग में विष्णु को सर्वोच्च पद दिया गया। पर यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि 'महाभारत' के विष्णु पूर्णतया अपने ऋग्वैदिक रूप को ही लेकर 'महाभारत' में नहीं आते हैं। यद्यपि अब भी उनका सम्बन्ध सौर से है और साथ ही वे यज्ञों से भी सम्बन्धित हैं तथापि इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि हम ग्रियर्सन के इस विचार से सहमत हों कि वैष्णव धर्म सूर्य-पूजा है। 'महाभारत' के विष्णु में ऋग्वैदिक तत्व केवल यही है कि उन्हें यहाँ भी इन्द्र का सहायक कहा गया है। वे आदित्यों में सबसे छोटे ('उपेन्द्र') ही बताये गये हैं पर शास्त्र ही 'अतोन्द्र' हो जाते हैं और तब इन्द्र के सभी गुण इनमें आ जाते हैं। दैत्यों के संहारक रूप में इनका भयंकर रूप भी कभी-कभी देखने को मिलता है पर आनन्द तथा प्रिय रूप ही अधिक आकर्षक दिखाया गया है। किन्तु कुछ इतने नये और इतने अधिक कथानक इनके साथ जोड़ दिये जाते हैं कि वैदिक विष्णु से इनका कोई साम्य नहीं रह जाता है। पांचरात्रिकों के चतुर्व्यूह सिद्धान्त को भाँति विष्णु की चतुर्भुजा, 'चतुर्मुख' आदि की कल्पनाएँ भी की गईं। अस्तु 'महाभारत' में ही विष्णु से वासुदेव का समीकरण किया जाता है। इस समीकरण के पीछे पुष्ट कारण है। महाभारत-युग तक आते-आते परम्परित रूप से विष्णु को सर्वोच्च स्थान मिल चुका रहता है और इधर वासुदेवोपासकों द्वारा वासुदेव को श्रेष्ठ पद प्रदान किया जा रहा था। फलतः वासुदेव जिन्हें नारायण का ही रूप माना गया था, सोधे विष्णु से सम्बन्धित हो जाते हैं। पर ऋग्वैदिक विष्णु से इनका रूप भिन्न है और अधिक से अधिक हम इन्हें ब्राह्मण कालीन विष्णु के समकक्ष रख सकते हैं। हाँ, 'महाभारत' में विष्णु ही सर्वशक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च ब्रह्म हैं। इनके अव्यक्त रूप का भी दर्शन 'महाभारत' में होता है और उधर नारायण ने अपने चारों रूपों-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध में से प्रत्येक स्थान पर वासुदेव को ही सर्वश्रेष्ठ दिखाया है। भण्डारकर महोदय ने विष्णु, नारायण तथा वासुदेव इन तीनों के नाम से तीन पृथक् धर्मसाधनाओं का उल्लेख किया है जिनका सम्मिलन पौराणिक युग में हुआ और जिसके फलस्वरूप वैष्णव धर्म को रूप प्रदान हुआ। इस तथ्य का स्पष्टीकरण आगे के विवरण से हो जायेगा।

वासुदेव तथा कृष्ण का समीकरण—इस अध्ययन के लिए हम पूर्णतया डा० भण्डारकर तथा उनके परवर्ती इतिहासकार डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों में व्यक्त मतों पर निर्भर करेंगे और उनकी सामग्रियों का ही तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। साथ ही धार्मिक साहित्य को प्रमाण स्वरूप स्वीकार करके उक्त दोनों विद्वानों के मतों की समीक्षा भी की जायेगी।

भण्डारकर ने 'वासुदेव तथा कृष्ण' को मूलतः दो भिन्न व्यक्ति माना है। भण्डारकर के मतानुसार "वासुदेव कृष्णायन गोत्र के थे ... अतः इस गोत्र से सम्बन्धित होने

के कारण उन्हें कृष्ण भा पुकारा जा सकता था।^१ इस विद्वान ने 'गाथा' को अपने मत के समर्थन में रखा है। वामुदेव को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हुए (न कि गोत्र सूचक शब्द) भण्डारकर महोदय ने भक्ति-आन्दोलन का पूरा श्रेय वामुदेव को दिया है। वामुदेव की प्राचीनता के सम्बन्ध में हम पहले ही संदर्भ के रूप में कुछ संकेत पा चुके हैं। उक्त विद्वान ने पतंजलि के 'महाभाष्य' के उस अंग का और हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है जिसमें उसने पाणिनी को 'अष्टाध्यायी' के सूत्र 'वामुदेवार्जुनाभ्यां' (४, ३, ६८) की व्याख्या की है। पाणिनी के उक्त कथन तथा पतंजलि के 'महाभाष्य' से एक ओर तो वामुदेव एक सामान्य यादव कुलोत्पन्न क्षत्रिय नहीं रह जाते हैं प्रत्युत (वामुदेवः भक्तिरस्य वामुदेवक) आराध्य देव सिद्ध हो जाते हैं और दूसरी ओर वामुदेव या भागवत सम्प्रदाय का एक सुनिश्चित तिथि भी मिल जाती है।^२ भण्डारकर महोदय ने घांमुण्डा अभिलेख (राजपूताना, तिथि लगभग २०० ई० पू०), बेसनगर अभिलेख (२०० ई० पू०) तथा नानाघाट अभिलेख (१०० ई० पू०) के आधार पर यह दिखाने का चेष्टा की है कि वामुदेव-पूजा का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है पर साथ ही उन्होंने उपर्युक्त साक्ष्यों द्वारा यह भी सुझाया है कि कृष्णायन गोत्र वाले वामुदेव को ही आगे चलकर जब कृष्ण कहा जाने लगा तब उस प्राचीन वैदिक एवं 'छान्दोग्य' औपनिषदिक कृष्ण, कृष्ण ऋषि, (सामवेदीय), घोर अंगिरस के शिष्य व देवकी पुत्र कृष्ण आदि की कथा वामुदेव से जुट गई। वामुदेव कृष्ण वंशोद्योग, यह निश्चित करने के लिए उन्होंने पालि ग्रन्थ 'निद्देम' का उपयोग किया है जिसमें वामुदेव बलदेव का साथ-साथ उल्लेख आता है और तब यह निश्चित किया है कि अभिलेखों के वामुदेव-संक्षेपण और 'महाभारत' के वामुदेव एक ही हैं अतः (वामुदेव निद्देम, अभिलेख पाणिनी आदि के वामुदेव) कृष्ण वंशोद्योग वामुदेव ही हैं।^३ भण्डारकर महोदय ने कृष्ण वंश का समी-

१. डा० भण्डारकर, अ० वें०, पृष्ठ १६

२. यहाँ पाणिनी की तिथि विचारणीय नहीं है। हम डा० हेमचन्द्र रायचौधरी से सहमत होते हुए मंकडोनेल व कोथ की ४०० ई० पू० तथा डा० भण्डारकर की ७०० ई० पू० वाली तिथि न स्वीकार करके यह तिथि ५५० ई० पू० स्वीकार करके चलते हैं।

विशेष विवरण के लिए डा० हेमचन्द्र राय चौधरी की पुस्तक 'अ० वें०', पृष्ठ १७ द्रष्टव्य है जिसमें पाणिनी के अन्तर्साक्ष्यों द्वारा ही ५५० ई० पू० तिथि निश्चित की गई है।

३. अब्राह्मण ग्रन्थों के बलदेव-वामुदेव की स्थिति का स्पष्टीकरण यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता पर इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि अब्राह्मण ग्रन्थों में अवतारी बुद्ध की वास्तविकता को ठीक-ठीक ध्यान में रखते हुए ही हमें अब्राह्मण ग्रन्थों में अब्राह्मण देवताओं के उल्लेख को स्वीकार करना चाहिए। सम्भावना इसकी भी है कि इन्होंने सर्वथा नये देवताओं की कल्पना कर ली हो। जैन धर्म में चौबिस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्तिन, नौ वामुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रतिवामुदेव आदि ६३ महापुरुषों की कल्पना की गई है। अब्राह्मणों के बलदेव और वामुदेव भद्रबाहु के 'कल्पसूत्र' के बलदेव-वामुदेव ही हैं, ऐसा सरलतापूर्वक नहीं मान सकते। अरहत, चक्रवर्तिन, वामुदेव आदि भूत, वर्तमान या भविष्य

करण सात्वत से किया है। इस प्रकार वासुदेव उपासक वासुदेवक, भागवत या सात्वत वहाँ पर्यायवाची शब्द हैं और आगे चल कर वासुदेव और कृष्ण, जिनमें कि प्रारम्भ से समता नहीं है, पर्यायवाची शब्द हो जाते हैं। पर कृष्ण की बाल-लीलायें ईस्वी सन् के पूर्व अज्ञात थीं और को उनके अनुसार बालगोपाल कृष्ण ईस्वी सन् के आरम्भ के पश्चात् के हैं।

अब हम डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के विचारों पर आते हैं। वासुदेव के सम्बन्ध में डा० चौधरी का स्पष्ट मत है कि पाँचवीं शती के कुछ ही पूर्व (पाणिनी काल) की अवधि को वासुदेवोपासना का समय मानना उचित है। 'तैत्तिरीय' आरण्यक में जहाँ वासुदेव एवं विष्णु का समीकरण है, खिल् रूप-स्वीकार करते हुए उक्त विद्वान ने लिखा है कि संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में कहीं भी विष्णु के लिए वासुदेव का उपयोग नहीं किया गया है। 'महाभारत' तथा गीता में ही सर्वप्रथम इसका प्रचार उपलब्ध है। यहाँ वासुदेव को 'वृष्णि नाम वासुदेवोऽस्मि' कहा गया है। वासुदेव वृष्णि वंशीय थे इसका प्रमाण पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' (४,१-११४) 'अर्थ शास्त्र' 'तैत्तिरीय' 'संहिता' 'तैत्तिरीय' 'ब्राह्मण' 'जैमिनीय' उपनिषद ब्राह्मण आदि में दिखाते हुए उक्त विद्वान ने 'घटजातक' द्वारा भी वासुदेव का वृष्णि वंशीय होना ही सिद्ध किया है। उन्होंने 'गीता' तथा जातक की मामग्रियों का समर्थन 'जैन उत्तराध्यायन सूत्र' से भी हो जाना सिद्ध किया है।^१ चौधरी में कभी भी हेय कुल निर्धन कुल में, पतितकुल में, या ब्राह्मण कुल में न हुए हैं न होंगे... अरहत, चक्रवर्तिन, बलदेव तथा वासुदेव आदि का जन्म उच्च कुल, राजकुल में हुआ है और होगा और उनका सम्बन्ध इक्ष्वाकु या हरिवंश से है, वासुदेव की माता सात महान् स्वप्न देख कर जगीबलदेव की माता चार महान् स्वप्न देख कर जगी भद्रबाहु के उपर्युक्त कथन को पाणिनीय वासुदेव की ओर खींचना निश्चय ही कठिन ज्ञात होता है, हाँ 'भगवती सूत्र' (लग-भग ४०० ई० पू०) में महावीर और मकल्लि गोसाल की जो कथा दी गई है और बलदेव तथा वासुदेव के मन्दिरों में उनके वास का जो उल्लेख किया गया है वे बलदेव वासुदेव अवश्य ही भागवतों या वासुदेवकों के हैं। इसे डा० ए० एल० बशम ने जिनदास द्वारा पुरानी अनुश्रुतियों का पालन मात्र माना है और कारण दिया है कि महावीर के युग में (६०० ई० पू० में) भारत में मन्दिर पूजा न थी पर ४०० ई० पू० में तो यह तथ्य अपनी जगह पर ठीक ही है और डा० बशम को यह मान्य होना चाहिए

१. 'जैन उत्तराध्यायन सूत्र' में अरिष्टनेमि की कथा दी गई है जिसमें सौर्यपुर में वासुदेव नामक एक शक्तिशाली राजा की दो रानियाँ रोहिणी व देवकी तथा दो पुत्र राम व केशव का उल्लेख किया गया है और केशव को वृष्णिवंशीय कहा गया है।

'जैन सूत्र' के अनुवाद की भूमिका में लिखा है—

“कृष्ण की उपासना जैन धर्म के उदय की प्रथम शताब्दी में प्रचलित हो चुकी थी क्योंकि प्रसिद्ध यादव वाइसवं तीर्थंकर अरिष्टनेमि का जीवन-चित्रण करते समय जैनियों ने कृष्ण के जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण कथाओं का परिवर्तन के साथ उपयोग किया है।”—सै० बु०,

खण्ड २२, भूमिका ३१ इस कथन से भी हम पाणिनि के वासुदेव की समता कृष्ण से कर सकते हैं क्योंकि दोनों की तिथियाँ समान हैं।

महोदय ने डा० भण्डारकर के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'यह स्वीकार करना असम्भव है कि कृष्ण, जिसका समीकरण महाकाव्य में वासुदेव से किया गया है, मूलतः दो भिन्न व्यक्ति थे। इसके विपरीत हिन्दू, बौद्ध तथा यूनानी आदि सभी उपलब्ध साक्ष्य कृष्ण और वासुदेव के समीकरण की सत्यता को लक्षित करते हैं। हम कांथ के इस कथन से सहमत हैं कि वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न व्यक्तियों के रूप में चित्रित करना उचित नहीं ठहराया जा सकता।'^१ उक्त विद्वान ने कृष्ण के जीवन का चित्रण करने वाले लेखकों की सामान्य भूलों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि वास्तव में अधिकांश लेखकों ने यह चित्रण गलत सिरे से और परवर्ती साक्ष्यों—महाकाव्य तथा पौराणिक कथाओं से शुरू किया है न कि परवर्ती ब्राह्मणों तथा उपनिषदों से आरम्भ किया है, जैसा कि उचित था। डा० चौधरी का यह विचार अश्रयः सत्य है। अधिकांश इतिहासकारों तथा उनसे भी पूर्व धर्मशास्त्रकारों ने कृष्ण को पौराणिक दृष्टि से ही देखा है और उसी दृष्टि से उनकी खोज और उनका चित्रण किया है, किन्तु डा० चौधरी ने यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है कि 'छान्दोग्य' उपनिषद् के कृष्ण और 'गीता' के कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि 'छान्दोग्य' उपनिषद् (३, १७.४) में जो उपदेश स्वयं कृष्ण सीखते हैं वही वे 'गीता' (१६.१.२) में अर्जुन को सिखाते हैं। मेगस्थनीज के हेरिक्लीज (कृष्ण) का सम्बन्ध सोरस-नाई (सातवती) से था और पतंजलि ने कंस-वध के संदर्भ में वासुदेव तथा कृष्ण दोनों नामों का उपयोग किया है। अतः ये सारे साक्ष्य ऐसी अवस्था में यहाँ सिद्ध करते हैं कि वासुदेव और 'गीता' के कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं। डा० चौधरी ने यहाँ सिद्ध करने की सफल चेष्टा आद्योपान्त की है। उन्होंने गोविन्दाचार्य स्वामी का यह मत कि वसुदेव के पुत्र वासुदेव कृष्ण द्वारा भागवत शास्त्र का प्रणयन नहीं हुआ (ज० आ० रा० ए० सी० १९११, पृ० ९३६) को अस्वीकृत करते हुए यह तर्क रखा है कि सातवत धर्म नाम स्वतः यह प्रमाणित करता है कि सातवत राजकुमार द्वारा इस धर्म का प्रणयन हुआ। अपने समर्थन में इन्होंने दोनों अभिलेखों की ओर भी संकेत किया है जिनमें वासुदेव संकर्षण का उल्लेख है। चौधरी महोदय के इस विवरण से यह निस्सन्देह प्रमाणित हो जाता है कि डा० भण्डारकर का पार्थक्य वाला मत मान्य नहीं है और 'उपनिषद्', 'अष्टाध्यायी', 'महाभारत', 'गीता' 'इण्डिका', 'भगवती सूत्र', 'महाभाष्य' आदि के वासुदेव और कृष्ण तथा आभिलेखिक वासुदेव एक ही व्यक्ति हैं। डा० चौधरी ने तर्क पूर्वक मैक्समूलर तथा मैकनेडाल-कीथ के इस मत का कि उपनिषद् के देवकीपुत्र कृष्ण तथा महाकाव्य और पुराणों के कृष्ण को सरलतापूर्वक समान नहीं माना जा सकता है और यह नाम-साम्य एक संयोग ही है, जोरदार खण्डन करने के लिए कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है

जिससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आदि काल से कृष्ण का जो रूप चला आ रहा था वही परवर्ती कृष्ण तक विद्यमान रहा है और वह रूप है मानवी।

कृष्ण और वासुदेव के समीकरण की समस्या की भाँति कृष्ण के स्वरूप का प्रश्न भी जटिल है। साथ ही इसका वासुदेव के समीकरण के साथ सीधा सम्बन्ध भी है। अतः कृष्ण के स्वरूप की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। बार्थ ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि रिलिजन्स आफ इण्डिया' पृष्ठ १६६ पर लिखा है—

“महाकाव्य 'महाभारत' में विष्णु को यह उच्च सम्मानित पद पूर्णतया प्राप्त है। किन्तु उसी समय एक नायक मानवी देवता कृष्ण का अविर्भाव होता है जिसे विष्णु का अवतार घोषित किया गया और यह व्यक्ति, जिसकी वेदों में कोई चर्चा तक नहीं है, निस्सन्देह एक लोक प्रचलित देवता है। यहीं से हम सोचते हैं कि हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि विष्णु को प्रभुत्व-प्राप्ति और कृष्ण के साथ उनके समीकरण इन दोनों में सम्बन्ध है। अब यहीं यह प्रश्न उठता है कि क्या कृष्ण को विष्णु मान लिया गया था क्योंकि विष्णु को प्रथम कोटि में बिठाया जा चुका था, अथवा ब्राह्मण देवता (विष्णु) की प्रधानता का कारण था लोक प्रचलित देवता (कृष्ण) के साथ उसका एकीकरण। हमें इन दोनों में से दूसरा मत अत्यधिक प्राणवान लगता है।”

इस प्रकार बार्थ महोदय ने कृष्ण को लोक प्रचलित देवता स्वीकार किया है। उन्होंने कृष्ण को सौरदेवता की श्रेणी में रक्खा है और दिखाया है कि वैदिक सौरदेवता मार्तण्ड तथा कृष्ण की जन्म-कथा में पर्याप्त साम्य है।

चौधरी महोदय ने आगे हांपकिन्स के मत का खण्डन किया है जो कृष्ण को एक साम्प्रदायिक देवता स्वीकार करते हैं और जिसे कालान्तर में विष्णु का रूप दे दिया गया।^१ इसी प्रकार डा० चौधरी ने कीथ के भी मत का खण्डन किया है जिन्होंने कृष्ण के सम्बन्ध में एक बिल्कुल विचित्र कल्पना यह की है कि 'महाभाष्य' के 'कालमुखाः..... रक्तमुखाः' को कंश और वासुदेव के समर्थकों के प्रतीक क्रमशः हेमन्त और ग्रीष्म को मान कर ग्रीष्म द्वारा हेमन्त का अन्त दिखाया है। कीथ ने 'महाभाष्य' के उक्त सूत्र की जो व्याख्या की है वह किसी को मान्य नहीं है और कृष्ण को कीथ ने जो वनस्पति देवता सिद्ध करना चाहा है उसमें भी कोई तथ्य नहीं है। उक्त विद्वान ने 'छान्दोग्य' उपनिषद् के कृष्ण और 'महाभारत' के कृष्ण में बहुत अन्तर देखा है। उन्होंने यह सुझाने की चेष्टा की है कि उक्त उपनिषद् के कृष्ण में जो विशेषतायें हैं वह 'महाभारत' के कृष्ण में नहीं हैं। इसके विरुद्ध 'महाभारत' के कृष्ण का चरित्र घोर अंगिरस के कृष्ण के चरित्र से बहुत भिन्न प्रकार का है। किन्तु डा० भण्डाकर ने, जिनके आधार पर डा० चौधरी ने कीथ के इस

1. "The Vishnu worship which grew about Krishna was probably at first an attempt to foist upon Vedic believer a sectarian god, by identifying the latter with a Vedic divinity". Hopkins, *Religion of India*, p. 338.

मत का खण्डन किया है, यह सुझाया था, और यह ठीक भी है कि 'महाभारत' के ऐसे प्रसंग निश्चित रूप से परवर्ती हैं—प्रक्षिप्तांश हैं। गोपालक कृष्ण को भी कीय ने 'छान्दोग्य' औपनिषदिक कृष्ण के प्रतिकूल माना है और इसे एक आश्चर्य-सा ही स्वीकार किया है कि एक ही व्यक्ति गोपालक और योद्धा-शिक्षक साथ-साथ कैसे हो सकता है। पर डा० चौधरी ने इस समस्या का बहुत ही सुन्दर समाधान ढूँढ़ निकाला है जो तर्कसम्मत है—मूसा और मोहम्मद साहब का उदाहरण वास्तव में एक पुष्ट प्रमाण है। जब कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जा रहा था तभी 'विष्णु गोपा' की भावना उनके साथ जुड़ गई थी। चौधरी महोदय ने एक और भी ज्वलन्त ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'अशोकावदान' तथा सि-उ-की के अशोक एवं पाँचवें तथा तेरहवें शिलालेखों के अशोक की आश्चर्यजनक चारित्रिक विषमता देखकर ही क्या हम यह स्वीकार कर लेंगे कि ये दो भिन्न अशोक हैं। कृष्ण को आदि से ही एक वास्तविक मनुष्य सिद्ध करने के अभिप्राय से उक्त विद्वान ने हिन्दू, बौद्ध तथा जैन सभी साक्ष्यों का प्रमाण प्रस्तुत करके अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि "जिन विद्वानों ने कृष्ण देवकी पुत्र को मूलतः एक देवता के रूप में स्वीकार किया है, उनका मत ठीक नहीं।..... प्राचीनतम उपनिषद् के कृष्ण देवकीपुत्र से उनके समीकरण में कोई तर्कसम्मत आपत्ति भी नहीं है।..... बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों ने स्पष्टतया वासुदेव का उल्लेख मानवी महापुरुष के रूप में किया है। 'महाभारत' में भी कृष्ण के मूल मानवी चरित्र सुरक्षित हैं। अतः निर्विवाद रूपेण कृष्ण एक वास्तविक मनुष्य थे"।

कृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में हमने जो कुछ विवेचन अब तक किया है उससे हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि कृष्ण आदि देवता नहीं थे और इन्हें देवत्व प्रदान करने की घटना इनके जीवन-काल के बाद की हो सकती है, ठीक उसी प्राकार जैसे गौतम बुद्ध की बाद में भगवान गौतम या विष्णु का अवतार स्वीकार कर लिया गया। प्रायः सभी भारतीय और विदेशी विद्वान इसे स्वीकार करते हैं कि कृष्ण एक उपदेशक या धर्मसुधारक थे। डा० मैक्नीकाल का मत है कि "अधिक सम्भावना इस बात की है कि कृष्ण सात्वत राजकुमार थे तथा मृत्यु के पश्चात् उन्हें देवत्व प्रदान कर दिया गया।" पर एक दूसरा शंका भी उठती है। 'छान्दोग्य' उपनिषद् में कृष्ण घोर अंगिरस के शिष्य हैं, 'घटजातक' भी उन्हें एक योद्धा और राजकुमार के रूप में चित्रित करता है न कि उपदेशक के रूप में, 'गीता' के प्रणेता कृष्ण अवश्य कहे जाते हैं पर उसमें 'ब्रह्म सूत्रों' का उल्लेख है (ब्रह्मसूत्र-द्वैतैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै—गीता १३।४) जिससे यह बात की रचना सिद्ध हो जाता है और कृष्ण इसके बहुत पहले एक प्राचीनतम उपनिषद् में आ चुके हैं। उपदेशक होने का दूसरा प्रमाण 'अनुगीता' है जो 'गीता' के भी बाद की रचना है। साथ ही युद्धक्षेत्र से कृष्ण का सम्बन्ध 'महाभारत' तथा 'गीता' दोनों में दिखाया गया है। अतः चोन कृष्ण में उपदेशक का रूप नहीं मिलता, ऐसी शंका की जा सकती है

पर इसमें कोई विशेष तथ्य नहीं दिखलाई पड़ता। कारण यह है कि 'छान्दोग्य' उपनिषद् में कृष्ण का पूरा जीवन नहीं चित्रित किया गया है और 'जातक' से क्या आशा की जा सकती है। 'गीता' से इतना तो प्रमाणित हो जाता है कि उनको स्थानीय देवता के साथ-साथ उपदेशक भी माना जाने लगा था। और यदि हम कृष्ण को केवल एक वीर पुरुष, योद्धा या महापुरुष ही स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि भागवत धर्म का उपदेश कृष्ण ने ही दिया था तो यह भी स्वाकार करना पड़ेगा कि भागवतों को अपने आदि या मूल धर्म-संस्थापक का नाम भूल चुका था। 'गीता' और 'छान्दोग्य' उपनिषद् के उपदेशों की समानता हमें कृष्ण को उपदेशक मानने के लिए प्रेरित करती है। और डा० भण्डारकर, डा० सोल, बुलर, ग्रियर्सन, तथा गावे आदि विद्वानों ने उन्हें उपदेशक स्वीकार भी किया है। कृष्ण का समय डा० चौधरी ने बुद्ध पूर्व सिद्ध किया है। कृष्ण के साथ जोड़ी जाने वाली कथाओं का मूल अत्यन्त प्राचीन साहित्य से लेकर 'महाभारत' तक के सभी धार्मिक ग्रन्थों में छिटपुट पाया जाता है जिसे पुराणकारों ने विस्तार के साथ चित्रित किया था। हाँ, हापकिन्स का यह मत मान्य है कि कृष्ण का रसिक रूप बहुत बाद का है। परवर्ती साहित्य को ही इसका अधिकांश श्रेय दिया जा सकता है। हमारे भक्त कवियों को आचार्यों के माध्यम से (और साथ ही लोक-साहित्य के माध्यम से भी) कृष्ण का यही रूप मिला था। भागवत धर्म-संस्थापक कृष्ण के यादव वंश, मथुरा, निवास-स्थान, वृष्णि या सात्वत गोत्र आदि सब कुछ को अर्वाचीन वैष्णव धर्मानुयायियों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया और ये तथ्य इतिहास की कसीटी पर अक्षरशः सत्य हैं।

सात्वत, वृष्णि वंश तथा पांचरात्रिक—अब तक हमने विभिन्न समीकरणों द्वारा अपना अध्ययन यहाँ तक पहुँचाया है कि वैदिक विष्णु, परवर्ती नारायण तथा वासुदेव आदि का सम्बन्ध कृष्ण देवकोपुत्र से क्रमशः जोड़ दिया गया था। किन्तु इन समीकरणों से ही भागवत धर्म के उद्भव पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। अतः हम यहाँ यह देखने की चेष्टा करेंगे कि भागवत धर्म का उद्भव कब और कहाँ हुआ। इस अध्ययन का अर्थ है कृष्ण के वंश, उनकी प्राचीनता तथा उनके निवास-क्षेत्र पर विचार करना। इसके पहले कि हम अपना अध्ययन आगे बढ़ायें यह कह देना आवश्यक है कि पौराणिक वैष्णव धर्म का आदि नाम वासुदेव धर्म और भागवतधर्म था। हम देख चुके हैं कि 'तैत्तिरीय' आरण्यक, दशम प्रपाठक को छोड़कर, जिसे खिल रूप स्वीकार किया गया है, संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में कहीं भी विष्णु को वासुदेव नहीं कहा गया है और सर्वप्रथम 'महाभारत' तथा 'गीता' में ही 'वृष्णि नाम वासुदेवोस्मि' कह कर वासुदेव एवं वासुदेव उपासकों (वासुदेवकों) को वृष्णि वंश से सम्बन्धित किया गया। इसी समय भागवत व वासुदेवक नाम वासुदेव-कृष्ण के उपासकों को दिया गया था। सात्वत राजकुमार होने के नाते कृष्ण द्वारा प्रचारित भागवत धर्म को सात्वत धर्म उसी समय से कहा जाने लगा था। अतः भागवत, वासुदेवक व सात्वत धर्म एक ही धर्म के द्योतक हैं ('महाभारत' के चित्र= शिखण्डियों द्वारा प्रचारित पांचरात्र धर्म और पांचरात्र शास्त्र का अध्ययन हम आगेमें के साथ करेंगे।)

अब हम कृष्ण के वंश की ऐतिहासिकता पर विचार करेंगे। 'तैत्तिरीय' संहिता (२,११,१,३) में गोबल वार्षण नामक किसी उपदेशक का उल्लेख किया गया है, जैसा कि डा० राय चौधरी ने लिखा है और 'जैमिनीय' उपनिषद् (१,६,१,) से वार्ष्णेय शब्द एक गोत्र के नाम के अर्थ से आता है। उक्त विद्वान ने इसका समर्थन 'शतपथ' ब्राह्मण (३, १,१,४) से भी होना दिखाया है। 'शतपथ' (१३,५,४,२१) तथा 'ऐतरेय' (८,१४,३) ब्राह्मणों में भी सात्वतों का उल्लेख है। इन समस्त साक्ष्यों से सात्वतों तथा वृष्णियों को एक माना जा सकता है। परवर्ती साक्ष्यों से भी इस मत का समर्थन हो जाता है। इसी सात्वत या वृष्णि वंश में कृष्ण का जन्म हुआ था। कृष्ण का जन्मस्थान मथुरा प्रायः सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन साक्ष्यों से सिद्ध होता है।

यहाँ इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि कृष्ण तथा सूर्य का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ बताया गया है। इसी आधार पर ग्रियर्सन महोदय ने भागवत धर्म की सूर्योपासना का ही विकसित रूप स्वीकार किया है, किन्तु यह मत मान्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि वैदिक युग से लेकर ब्राह्मण युग तक आर्यों के धर्म एवं जीवन में यज्ञों का बहुत बड़ा महत्व था। जिस देवता को ऊपर उठाया गया है, हमारा संकेत विष्णु की ओर है, उसे यज्ञ से सम्बन्धित करना आवश्यक था। यज्ञ और सूर्य का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः केवल इसी आधार पर हम भागवत या सात्वत धर्मों को किसी प्रकार भी सूर्योपासना से सम्बन्धित नहीं मान सकते हैं। कुछ विद्वानों ने कृष्ण के गुरु घोरअंगिरस को भी सूर्य से संबंधित कहा है। यहाँ हम अंगिरस की परम्परा का संक्षेप में उल्लेख कर देना चाहेंगे जिससे वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण में कुछ सहायता मिल सके।

'ऋग्वेद' प्रथम मण्डल, पंचम अध्याय, सूक्त ६२ में कहा गया है—'इन्द्र की सहायता से हमारे पूर्व पुरुष अंगिरा लोगों के पदचिह्न देखते-देखते अर्चनापूर्वक पणि नामक असुर द्वारा अपहृत गौ का उद्धार किया।' इसके ऋषि हैं गौतम के पुत्र नोधा।

'ऋग्वेद' प्रथम मण्डल, प्रथम अष्टक, अध्याय पाँच, सूत्र ७१ में कहा है—

'हमारे अंगिरा नाम के पितरों ने मंत्र द्वारा अग्नि की स्तुति करते हुए.....पणि को नष्ट किया।' इसके ऋषि हैं शक्ति के पुत्र पराशर।

'अथर्ववेद' ५।१०।१० में बृहस्पति को अंगिरस का उत्तराधिकारी बताया गया है।

'शतपथ' ब्राह्मण १।२।१।१३ में (अग्नि) 'भृगु तथा अंगिरस द्वारा प्रज्वलित हो' ऐसा उल्लिखित है और इसी ब्राह्मण में १।४।१।२५ पर अग्नि को ही अंगिरस कहा गया है। वैदिक एवं ब्राह्मणीय परम्परा के बाद हम औपनिषदिक परम्परा पर आते हैं। यह सूचित कर देना आवश्यक है कि पूरा 'मुण्डक' उपनिषद् अंगिरा की शिक्षाओं का संग्रह है जिसमें सकाम कर्म की अवहेलना करते हुए, ब्रह्म की सर्वव्यापकता एवं साथ ही साथ उसके निराकार स्वरूप की स्थापना की गई है। 'मुण्डक' उपनिषद् १।१।१ में ब्रह्मविद्या के परम्परित हस्तान्तरण का व्याख्या देते हुए सूचित किया गया है कि ब्रह्मा जो देवों में प्रथम देव एवं सृष्टिकर्ता हैं, उन्होंने अपने

ज्येष्ठ पुत्र अथर्वन को यह विद्या सिखाई। अथर्वन से अंगिर ने सीखी और तब अंगिरसेन सत्यवाह भारद्वाज को यह विद्या प्राप्त हुई। भारद्वाज से परम्परानुसार अंगिरस को यह ज्ञान प्राप्त हुआ। अंगिरस से यह ज्ञान शोणक को प्राप्त होता है। उपर्युक्त विवरणों से अंगिरस का सम्बन्ध अग्नि से तो प्रमाणित होता है (गोओं से भा सिद्ध होता है) पर सूर्य से नहीं।

यदि अंगिरस कोई कुलोय या गोत्रीय नाम हो, जैसा कि डा० भण्डारकर ने सम्भावना की है, तो हम अंगिरों को गो तथा अग्नि दोनों से सम्बन्धित मान सकते हैं, किन्तु सूर्य से इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं प्रमाणित होता। परवर्ती प्रतीक गरुड़ ध्वज आदि भी इस दृष्टि से महत्वहीन हैं। पर डा० राय चौधरी ने ग्रियर्सन के इस मत को स्वीकार किया है और यह दिखाया है कि भागवतधर्म की उत्पत्ति से सम्बन्धित सभी कथाओं का सम्बन्ध सूर्य से ही है। इस विद्वान ने 'महाभारत' को ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जहाँ सूर्य के मुख से इसका उद्भव कहा गया है।^१ जहाँ तक 'महाभारत' की बात है, इसका विवरण हम विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से नहीं ले सकते। 'महाभारत' में ही शा० प० ३४९ में एकान्तिक धर्म के लिए उदय और लोप के विवरण से कोई इतिहासकार किस निर्णय पर पहुँच सकता है। यहाँ एकान्त धर्म को सात बार उदित होना और फिर लय होना बताया गया है। कभी इसका लय समुद्र में होता है, कभी चन्द्रमा द्वारा सोखा जाता है और कभी वायु द्वारा भी ग्रहण किया जाता है। ये ऐसे विवरण हैं जिन्हें लाक्षणिक अर्थों में ही लेना चाहिए न कि विशुद्ध ऐतिहासिक अर्थ में। बार्थ तथा हाप-किस आदि विद्वानों का मत हम प्रारम्भ में ही दे चुके हैं। वास्तविकता जो भी हो, कृष्ण ने जिस धर्म का प्रचार किया उस पर सूर्योपासना को कोई छाप नहीं रही।^२ सर्व प्रथम सात्वत कुल वालों ने ही कृष्ण के उपदेशों को अपनाया था और यदि हम मेगस्थनीज के विवरण को महत्व देते हैं तो निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि कृष्ण के घोर पक्षपाती चौथी शती ई०पू० में मथुरा में ही थे।

उत्तर भारत के शूरसेन मण्डल को सात्वतों का निवासस्थान सभी इतिहासकार मानते हैं। यादववंशीय क्षत्रिय सात्वतों ने न केवल बुद्ध-युग से भागवत धर्म का प्रचार उत्तर भारत में किया प्रत्युत जिस द्रविड़ देश को हम परवर्ती भक्ति का उद्गम-स्थान मानते हैं उसका भी श्रेय इन्हीं सात्वतों को दिया जाता है। डा० एस० के० ऐयंगर^३ का यह मत सर्वमान्य सा ही है कि जब जरासन्ध के नेतृत्व में प्राच्य नरेशों ने सात्वतों पर आक्रमण किया तो उन्हें शूरसेन प्रदेश छोड़कर भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर जाकर अपने उपनिवेश स्थापित करने पड़े। यहीं से इन्होंने विदर्भ, मँसूर तथा सुदूर द्रविड़ प्रदेशों की ओर बढ़ना आरम्भ किया

१. सात्वत विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुख निःसृतम्

महा०, शा० प० ३३५।१९

२. सूर्योपासकों का स्वतंत्र अस्तित्व भारतीय धर्म-साधना में बहुत दिनों तक बना रहा और पुराणों के युग तक आते-आते तो अनेक सूर्य मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। इनके उपासक आगे चल कर वंणवों की पूजा विधि को अपना लेते हैं और दोनों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं रह जाता है।

३. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है—'प्रोसीडिंग ऑफ द ओरियन्टल कानफरस, कलकत्ता १९२३

जहाँ की राजनीतिक परिस्थिति इनके अनुकूल सिद्ध हुई। इनका राजनीतिक प्रभाव उन क्षेत्रों में अच्छा रहा। इतना ही नहीं इनके धर्म-सात्वत या भागवत धर्म-का भी समाज एवं राजपरिवार पर अच्छा प्रभाव पड़ा। ऐयंगर महोदय ने सूचित किया है कि कतिपय द्रविड़ नरेश अपने को कृष्ण अथवा कृष्ण वंश से सम्बन्धित बताते रहे। इसी स्थानान्तरण के बाद से ही इन्हें दक्षिण-निवासो कहा जाने लगा। अवान्तर होते हुए भी यहाँ हमें एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान देना होगा। हमें ज्ञात है भक्ति को लेकर चलने वाले भागवतों की दो प्रकार की संहिताएँ हैं। १. 'पांचरात्र' संहिता तथा २. 'वैखानस' संहिता। 'पांचरात्र' संहिताओं में से अधिकांश उत्तर भारत से रचा गई थीं। डा० श्रेडर का यह मत, जिस पर हम आगे विचार करेंगे, सर्वमान्य है। दूसरा ओर हमें यह भी ज्ञात है कि दक्षिण भारत में प्राचीन काल से ही वैखानस विधि द्वारा मन्दिरों का पूजाविधि नियोजित का जाती थी। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि 'पांचरात्र' तथा 'वैखानस' संहिताओं का अनुष्ठान-विधि में तो बहुत बड़ा अन्तर, है किन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में कोई उल्लेखनीय भेद नहीं है। ऐसी अवस्था से हम यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाल सकते हैं कि भागवतधर्म के प्रवर्तक एवं प्रचारक सात्वतों को जब राजनीतिक स्तर पर उत्तर भारत से निष्कासित करने का अभियान चल रहा था तो उत्तर भारत में कुछ ऐसे भी भागवत रह गये थे जिन्होंने अपना कट्टरता को छोड़कर युग की परिस्थितियों के साथ समझौता कर लिया। पर अपना पूर्ण वैदिकता को लेकर दूसरा वर्ग दक्षिण की ओर चला गया। इसी वर्ग का सम्भवतः वैखानस आगमों से सम्बन्ध हो। अप्पय दीक्षित जैसे उद्भट वेदान्ती ने 'पांचरात्र' आगमों को अवैदिक तथा 'वैखानस' आगमों को जो पूर्णतया वैदिक घोषित किया है उसमें काफी तथ्य है। एक बात और, पुराणों के युग में भी पांचरात्रों को अवैदिक घोषित किया जाना हमें कुछ इसी प्रकार से सोचने के लिए उत्साहित करता है कि सात्वतों का स्थानान्तरण ही यह महत्वपूर्ण घटना है जिसने भागवतों (सात्वतों) एवं पांचरात्रिकों में भेद उत्पन्न कर दिया।

यद्यपि हम सात्वत धर्म के उदय की कोई निश्चित तिथि नहीं दे सकते तथापि इसे आठवीं, नवीं शती ई० पू० के बहुत पहले का भी नहीं मान सकते और महाभारत-युद्ध की तिथि को सात्वत धर्म की तिथि मान लेना (१५०० ई० पू० मान लेना, जैसा कि पं० बलदेव जी उपाध्याय ने 'भागवत सम्प्रदाय' पृष्ठ १०५ पर लिखा है) तर्कसंगत नहीं है क्योंकि सात्वत वंश और सात्वत धर्म का उद्भव साथ-साथ होना न तो स्वाभाविक है और न इतिहास सिद्ध हो।

अब हम पांचरात्रिकों को वैदिकता पर विचार करेंगे। यहाँ हम अपना अध्ययन 'महाभारत' के आधार पर ही करेंगे क्योंकि परवर्ती साक्ष्यों को यहाँ तक घसीटना उचित नहीं है, दूसरे परवर्ती साक्ष्य प्रतिक्रियाओं से पूर्ण हैं। शंकर एवं शंकर के अनुयायी जिन परवर्ती प्रमाणों के आधार पर पांचरात्रिकों को वेदवाह्य कहते हैं, वैष्णवधर्मानुयायी उन्हीं प्रमाणों को पांचरात्रिकों

१. शंकराचार्य—अपने भाष्य में पांचरात्र साहित्य में से कहीं से एक अनुश्रुति उद्धृत की है जिसमें चारों वेदों में परम श्रेय न पाकर शाण्डिल्य द्वारा नारायण से यह शास्त्र प्राप्त करने का उल्लेख है और इस प्रकार शंकर इसे वेदों की पांचरात्रिकों द्वारा स्पष्ट निन्दा स्वीकार करते हैं, द्रष्टव्य यह है कि शंकर यहाँ चतुर्व्यूह सिद्धान्त को काट रहे थे और उसी संदर्भ में उक्त उल्लेख आया है।

की श्रुतिसम्मतता के पक्ष में लेते हैं। अतः हम यहाँ 'महाभारत' की सामग्री का ही सहारा लेंगे।

'महाभारत' में नारद ने स्वेतद्वीप में भगवान को जिन दो सौ नामों से सम्बोधित किया है उनमें पांचरात्रिक नाम भी सम्मिलित है। तत्पश्चात् चित्रशिखण्डियों ने जो एक लाख श्लोकों वाला ग्रन्थ रचा था उस पर स्वयं भगवान नारायण ने ही यह मत प्रकट किया था कि 'उनका यह शास्त्र 'महोपनिषद्' 'ऋक्' 'यजुः', 'साम' तथा 'अथर्ववेद' के मन्त्रों से अनुमोदित ग्रन्थ के समान प्रमाणभूत होगा। स्वायम्भुवमनु स्वयं इसी ग्रन्थ के अनुसार धर्मों का उपदेश करेगा, शुक्राचार्य था वृहस्पति जब प्रकट होंगे तब वे भी इस शास्त्र का प्रवचन करेंगे' आदि निश्चित रूप से हमें यह सोचने की प्रेरणा देते हैं कि पांचरात्रिक सर्वथा वैदिक थे। उनके धर्म में कोई ऐसी बात न थी जिसे अवैदिक कहा जाय। किन्तु इसी ग्रन्थ में कुछ ऐसे स्थल हैं जिससे यह संकेत मिलता है कि यह वेद मत से कुछ भिन्न था, कम से कम इतना भिन्न तो था ही कि इसका अपना स्तत्र अस्तित्व था। जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा है कि सांख्य, योग, पांचरात्र तथा वेदारण्यक आदि का लोकों में प्रचार है तो इन सबका लक्ष्य एक है या पृथक् पृथक्—

सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदारण्यकमेव च ।

ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥

जिसके उत्तर में वैशम्पायन ने कहा—

सांख्य योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।

ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः सउच्यते ।

हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातन ॥

उक्त विवरण से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि महाभारत-युग में सांख्य, योग, पाशुपत तथा पांचरात्रिक सम्प्रदाय या मत प्रचलित थे और साथ ही वेद-मत भी चल रहा था। आशय यह है कि वेद-मत तथा पांचरात्र मत दो पृथक् मत थे। किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं लिया जा सकता कि पांचरात्र मत वेदविरोधी था, या वेद-निन्दक था, जैसा कि शंकर ने घोषित किया था। महाभारत-युग में जिन वैखानसों का उल्लेख किया गया है वे इस अपवाद से बच जाते हैं क्योंकि अनेक आधुनिक विद्वानों ने वैखानसों को तो वैदिक कहा है पर पांचरात्रिकों को अवैदिक स्वीकार किया है।^१ डा० दीक्षित का उल्लेख किया जा चुका है। डा० आर० सी०

१. पांचरात्रिकों तथा वैखानसों का नाम 'महाभारत' में दो पृथक् मतानुयायियों के रूप में आता है। 'वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पांचरात्रिकाः' से दोनों भिन्न मत ही ज्ञात होते हैं। आगे चलकर पांचरात्रिक व वैखानसों की पृथक् संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनकी अनुष्ठान-विधि में पर्याप्त अन्तर होता है। दक्षिण भारत में वैखानस संहिताओं को ही पूजा-अर्चना में मान्यता, रामानुज के पूर्व तक थी। अप्रत्यक्ष दीक्षित जैसे विद्वान ने वैखानसों को तो वैदिक पर पांचरात्रिकों को अवैदिक घोषित किया है, जैसा कि हम देख चुके हैं।

हाजरा ने भी डा० भण्डारकर के इस मत का समर्थन करते हुए कि मूलतः पांचरात्रिक वेद विरोधी थे पर कालान्तर में इन्होंने ब्राह्मण युग में ही वैदिक यज्ञों को स्वीकार कर लिया और तब बाद में नारायण की समता वासुदेव से करके इन्होंने पुनः कृष्ण वासुदेव का समीकरण कर दिया, पांचरात्रिकों को अवैदिक स्वीकार किया है और उन्हें आगे चलकर ब्राह्मण विरोधी भी घोषित किया है। पांचरात्रिकों की उत्तरकालीन गतिविधियों पर हम यथास्थान विचार करेंगे जिससे हमें इनका वेद एवं स्मृति-विरोधी होना ज्ञात होगा किन्तु जहाँ तक महाकाव्य-युग का प्रश्न है, हम यह निश्चितपूर्वक कह सकते हैं कि पांचरात्र मत (चाहे किसी भी प्रभाव वश) न तो अवैदिक ही था और न उसकी सामाजिक मान्यताएँ ही श्रुतिअसम्मत थीं। इसके प्रतिकूल 'सात्वत विधिमास्थाय' तथा 'पांचरात्रविदो मूल्यातस्य गेहे महात्मनः' आदि वसुपरिचर के संदर्भ में आये हुए महाभारतीय कथनों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पांचरात्र मत पूर्णतया वेदानुकूल था, अन्तर यदि कुछ था तो वैदिक तथा उत्तर वैदिक ब्राह्मण मान्यताओं के थोड़े से प्रश्नों पर; उदाहरणार्थ आराध्य देव वैदिक विष्णु ही हैं पर यहाँ उनका पद ही सर्वोच्च है, वैदिक यज्ञ भी हैं पर उनमें हिंसा का अभाव है, तप भी हैं पर वह भगवद् प्राप्ति का प्रथम सोपान है और उसे अनन्य भक्ति को अपेक्षा है, अन्यान्य वैदिक कर्मकाण्ड भी हैं पर उन सबका आदि एवं अन्त भगवान् विष्णु के समर्पण में ही है, वर्णाश्रमधर्म का भी पालन है और उत्तर वैदिक कालीन समाज-व्यवस्था के प्रति पूरी आस्था भी है पर भक्ति-तत्त्व ऊपर उठ आता है और तब इसमें व्यतिक्रम सम्भव हो जाता है जिससे शूद्र भक्त भी ब्राह्मण की भाँति वैष्णव पद प्राप्त कर लेता है। अतः इस युग तक तो हम पांचरात्रिकों को अवैदिक नहीं ही कह सकते हैं, हाँ परवर्ती युग में स्थिति में परिवर्तन हुआ है।

भक्ति, भक्त व भगवान का सामान्य रूप— वैष्णव अंश युक्त 'महाभारत' में अब तक हमने जिन भागवत तत्वों का अध्ययन किया है, उस आधार पर हम महाभारतीय भक्ति, भक्त तथा भगवान के स्वरूप पर यहाँ संक्षेप से विचार करेंगे।

आदि पर्व, वैष्णवधर्म पर्व, में प्रारम्भ में ही यह घोषित कर दिया गया है कि भक्ति-मार्ग अन्य धर्म-साधना-पद्धतियों से श्रेष्ठ है। तप तो इसके आगे गौण है क्योंकि हजारों वर्ष की तपस्या के बाद अन्तःकरण की शुद्धि होती है और तब भक्ति का उदय होता है। यहीं भक्तिमार्गी व्यक्ति को देवता से भी बढ़कर बताया गया है और कहा गया है कि भगवान का 'परमगुह्य कूटस्थ' रूप भक्तों को जैसा अनुभव होता है, वैसा देवों को भी नहीं। भगवान केवल उसी प्राणी पर कृपा भी करते हैं जो उन्हें जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का कारण समझ कर उनकी शरण लेता है—

'स्थित्युत्पत्त्यव्ययकरं यो माँ ज्ञात्वा प्रपद्यते'

परमात्मा ही देवों का आदि, ब्रह्मादि का सर्जनहार तथा अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर सारे संसार का स्रष्टा है—

अहमादिहिं देवानां स्रष्टा ब्रह्मादयो मया।

प्रकृति स्वामवष्टम्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम्॥

वही रजो गुण, सत्वगुण तथा तमोगुण में भी है और ब्रह्मा से लेकर कीट पतंग तक

में भी वही सर्वव्यापी है। युधिष्ठिर के धर्मविषयक प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने अपना जोरूप बताया है वही वास्तव में किसी भक्त को अपेक्षित है। वह रूप है सर्वव्यापी, विराट, अद्वितीय—

‘द्युलोक मेरा मस्तक, सूर्य-चन्द्र आँख, गो-अग्नि ब्राह्मण मुख, वायु मेरी साँस, आठ दिशाएँ बाहें, नक्षत्र आभूषण, अन्तरिक्ष वक्षस्थल तथा भूमण्डल मेरे दोनों पैरों के स्थान हैं। आकाश में मैं एक गुणवाला, वायु में दो गुणवाला, अग्नि में तीन गुणवाला, जल में चार गुणवाला तथा पृथ्वी में पाँच गुणवाला हूँ। मेरे हजारों मस्तक, हजार मुख हैं.....प्राणियों में मैं आत्मा रूप हूँ।’

आगे उन्होंने अपने निर्गुण रूप का भी परिचय दिया है और अन्त में—

किंचात्र बहुनोक्तेन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।

यद् भूतं यद् भविष्यद् सर्वमहमेव तु।

किन्तु ऐसे परमात्मा को भी जो कण-कण में व्याप्त है हम इसलिए नहीं देख पाते कि उसकी माया ने व्यवधान उपस्थित कर दिया है।

भक्त को जैसा भगवान चाहिए उसकी ठीक वैसी एवं महानतम कल्पना यदि किसी प्राचीनतम ग्रन्थ में हुई है तो वह परवर्ती उपनिषदों के बाद ‘महाभारत’ में ही। इसी ग्रन्थ में भक्तों को भी महान बनाने के लिए उन्हें सर्वप्रथम वैदिक वर्णाश्रम धर्मों में बाँधा गया है और यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि हर व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए।^१ वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ स्थापना के लिए उस युग में ब्राह्मणों को महत्व देना आवश्यक था पर साथ ही अब्राह्मण धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुसंख्यक शूद्रों को भी बचाना था। यही कारण है कि स्वयं भगवान कृष्ण से कहलाया गया है कि ‘जो ब्राह्मणों को फटकारते हैं, अपशब्द कहते हैं, वे मुझे ही फटकारते हैं, मुझे ही अपशब्द कहते हैं, इसमें संशय नहीं,’ किन्तु ब्राह्मणों को भी ब्राह्मणत्व केवल जन्म से नहीं, प्रत्युत गुण से प्राप्त हो सकता है—

न जात्यापूजितो राजन् गुणः कल्याण कारणः

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है महाभारतकार को एक ओर तो शूद्रों को हेय दिखलाना था तथा दूसरी ओर युग की माँग एवं उदीयमान भागवत धर्म का अधिकाधिक प्रचार भी करना था, अतः उसने प्रारम्भ में शूद्रों की खूब भर्त्सना की और यहाँ तक कह दिया कि चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र तथा पुराण इन चतुर्दश विद्याओं को शूद्र न छुयें क्योंकि ये अशुद्ध हो जायेंगी किन्तु इन चौदहों विद्याओं से भी ऊपर भक्ति-भावना को उठाते हुए आगे महाभारतकार ने यहीं कह दिया कि ‘जो मनुष्य मेरे भक्तों को शूद्र जाति में जन्म होने के कारण अपमान करते हैं, वे नराधम करोड़ों वर्षों तक नरकों में वास करते हैं—

१. हम पुराणों तथा उपपुराणों का अध्ययन करते समय देखेंगे कि ‘महाभारत’ के इस मत का कितना महत्व था। अवैदिक एवं वेदविरोधी धर्मों के प्रभाव से जब स्वयं भक्तों के भी एक वर्ग में वर्णाश्रम की उपेक्षा की जाने लगी तो पुराणकारों को न केवल नवीन पुराणों (उपपुराणों) में इसकी स्थापना की सबल चेष्टा करनी पड़ी प्रत्युत प्राचीन पुराणों में तदर्थ संबर्धन भी करना पड़ा। हम इसका अध्ययन अन्यत्र करेंगे।

मद्भक्ताञ्छूद्र सामान्यादवमन्यति ये नराः।

नरकेष्वेव तिष्ठन्ति वर्षं कोटिं नराधमाः॥

कुत्ता, शूद्र तथा चण्डाल को अपवित्र घोषित करने के बाद भी महाभारतकार ने 'चण्डालमपि मद्भक्त नावमन्येत बुद्धिमान्' कह कर तथा पुनः

पत्रं वाप्यथवा पुष्पं फलं वाप्यप एव वा।

ददाति मम शूद्रो यच्छिरसां धारयामि तत्॥

इस प्रकार का कथन करके भक्ति को इतना आकर्षक एवं शक्ति सम्पन्न बना दिया गया कि वेदविरोधी धर्मों का वह जातीय सहिष्णुता वाला आकर्षण भी हेय सिद्ध होने लगा। साथ ही वैदिक धर्मों के भी अन्यान्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अब भक्ति-मार्ग का क्षेत्र बहुत ही व्यापक हो गया। इतना ही नहीं, यह मार्ग अत्यन्त सरलतम भी बनाया गया था। बौद्धधर्म की सफलताओं के कारणों में एक बहुत बड़ा कारण उसके उपदेशों—मोक्ष-प्राप्ति के साधनों की सरलता एवं व्यावहारिकता ही थी। 'महाभारत' में भी भक्ति को एक सरल साधना-पद्धति के रूप में ही चित्रित किया गया है। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, केवल हरि-कथा सुनने से ही पाप-नाश होना बताया गया है। गुण और लीला का पाठ करने से जन्म जन्मान्तर के पापों का विनाश हो जाना घोषित किया गया और पंच महायज्ञों (ऋभु, ब्रह्म, भूत, मनुष्य तथा पितृ) का अनुष्ठान करते हुए हर गृहस्थ को भगवद्प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया गया। हाँ गुरु को इस पद्धति में महत्व देना पड़ेगा क्योंकि 'गुरोः परतं किञ्चिन्न भूतं न भविष्यति'। गुरु रूपी तीर्थ में ही परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है और परमात्मज्ञान इतना महत्वपूर्ण है कि—

आचारनैर्मल्यमुपागतेन

सत्यक्षमानिस्तुलशीतलेन।

ज्ञानाम्बुना स्नाति हि नित्यमेवं किं तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम्॥

इस प्रकार ज्ञान सलिल में नहाने के बाद अन्य तीर्थों की कोई आवश्यकता नहीं। यहीं पूर्वकथित हजार वर्षों की तपस्याद्वारा अन्तःकरण की शुद्धि से भक्ति के उद्भव की ओर भी ध्यान देना होगा और तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि महाभारत कालीन भक्ति का स्वरूप समन्वयात्मक था। भक्तों के आराध्य देव विष्णु के अवतार भगवान् वासुदेव कृष्ण थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

वासुदेव कृष्ण तथा गोपाल कृष्ण का समीकरण—यद्यपि इन दोनों के समीकरण की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि निश्चित रूप से बाल गोपाल ईसा के प्रथम या द्वितीय शती के हैं, इसके पूर्व के नहीं, तथापि वासुदेव कृष्ण के मूल चरित्र से सम्बन्धित होने के कारण हम यह अध्ययन यहीं कर लेना सुविधाजनक समझते हैं।

डा० भण्डारकर ने बहुत पहले ही इस विषय पर अपना जो विद्वतापूर्ण मत दिया था वह आज भी न केवल मान्य है प्रत्युत लगभग सभी इतिहासकारों ने आवश्यकता पड़ने पर उनके मत को ही उद्धृत किया है। भण्डारकर महोदय ने कृष्ण का गोकुलवाला रूप बहुत ही बाद का स्वीकार किया है; क्योंकि कृष्ण के चरित्र पर कुछ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों—'छन्दोग्य' उपनिषद्, पतंजलि का 'महाभाष्य', मेगस्थनीज की 'इण्डिका', 'महाभारत'

आदि में कहीं भी बालगीपाल का स्वरूप नहीं उपलब्ध है। 'महाभारत' के नारायणी पर्व में भी कंस-वध के लिए ही कृष्णावतार हुआ है न कि अन्य राक्षसों एवं दैत्यों के वध के लिए, जिनका अन्त बालगोपाल ने गोकुल में किया है।^१ ऐसे बधों का चित्रण 'हरिवंश' पुराण, 'वायु' पुराण तथा 'भागवत' में भी किया गया है। डा० भण्डारकर ने इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि उपर्युक्त ग्रन्थों की रचना के समय तक गोपाल कृष्ण की कथाएँ निश्चित रूप से लोक में प्रचलित हो गई थीं और तब तक वासुदेव कृष्ण से गोपाल कृष्ण का समीकरण भी किया जा चुका था। उक्त विद्वान ने 'महाभारत' के 'गोविन्द' को परम्परित नाम बताया है और इसका कोई भी सम्बन्ध गोपालक से नहीं स्वीकार किया है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'महाभारत' में बालगोपाल की कथाएँ अवश्य रहतीं। इसके विपरीत 'गो' या 'गोविन्द' का सम्बन्ध धरती से स्थापित किया गया है और धरती धारण करने के कारण ही वासुदेव को गोविन्द कहा गया है।^२ डा० भण्डारकर ने 'गोविन्द' शब्द को ऋग्वैदिक 'गोविद्' का परवर्ती रूप बताया है जो इन्द्र का एक विरुद् इस अर्थ में था कि वे गायों को जानने वाले या पता लगाने वाले थे। 'गोविद्' तथा इन्द्र का अन्य विरुद् 'केसिनीसुदन' आदि कालान्तर में, जब वासुदेव कृष्ण एक प्रमुख देवता का स्थान प्राप्त कर लेते हैं तो उनके साथ जोड़ दिये जाते हैं। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। अन्य विदेशी विद्वानों ने भी, जैसा कि प्रारम्भ में ही उल्लेख किया जा चुका है, प्रथम शती ई० के लगभग ही बालगोपाल की पूजा को स्वीकार किया है, इसके पूर्व नहीं। डा० राय चौधरी ने हार्पकिंस के इस मत का समर्थन किया है कि 'आधुनिक लेखक भूल जाते हैं कि कृष्ण का निम्न पक्ष पौराणिक है।.....कृष्ण के चरित्र में जो वासनात्मक अंश आया है, वह बाद का है।' आगे राय चौधरी महोदय ने कृष्ण को गोपालक का रूप देने में वैदिक कथाओं का कुछ हाथ स्वीकार किया है (जैसा कि डा० भण्डारकर ने सुझाया था।) 'ऋग्वेद' में विष्णु के 'गोप' विरुद्, विष्णु द्वारा शम्बर पराजय आदि कथाओं की ओर, उक्त विद्वान ने अपने मत के समर्थन में, संकेत किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने 'बौद्धायन' धर्मसूत्र (२-५-२४) की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है जिसमें यद्यपि कृष्ण का उल्लेख नहीं है तथापि विष्णु को गोविन्द और दामोदर कहा गया है। प्रारम्भ में ही हमने इस बात का उल्लेख किया था कि कृष्ण को यह रूप प्रदान करने में आभीरों का बहुत बड़ा हाथ था। डा० भण्डारकर तथा डा० रायचौधरी, दोनों विद्वानों ने इस मत को स्वीकार किया है। 'महाभारत' में इन्हें पंचनद निवासी कहा गया है। 'विष्णु' पुराण इनका निवास-स्थान कोंकण और सौराष्ट्र बताता है। इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आभीरों की घुमक्कड़ जाति पहले पश्चिमोत्तर में बसी और फिर वहीं से स्थानान्तरण करके देश के विभिन्न भागों में गई। आगे डा० भण्डारकर ने ऐसा अनुमान किया है

१. किन्तु दाक्षिणात्य प्रति में नारायण ने नारद से कृष्ण के उन सब बधों का संकेत किया है। इन बधों में गोकुल के भी बधों का उल्लेख है, पर विद्वानों ने इसे प्रक्षिप्तांश स्वीकार किया है।

२. देखिए डा० भण्डारकर द्वारा इंगित आदि प०, अ० २१, १२ तथा शा० प०, अ० ३४२।

कि चूँकि तीसरी शती ई० तक आभीरों की राजनीतिक सत्ता कहीं-कहीं स्थापित हो चुकी थी अतः इन्होंने पहली शती ई० तक यहाँ निश्चय ही स्थानान्तरण कर लिया होगा। इन्हीं आभीरों ने बालगोपाल को कल्पनाएँ की थीं। आभीरही बालगोपाल-सम्बन्धी अनेक कथाएँ अपने साथ लाते हैं जिनमें आगे चलकर विकास हुआ। उक्त विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है—

“यह भी सम्भव है कि ये अपने साथ क्राइस्ट नाम भी लेते आये और लगता है कि इसी क्राइस्ट नाम ने वासुदेव कृष्ण के साथ बाल-भगवान के समीकरण को प्रोत्साहन दिया। गोवा तथा बंगाल निवासी कृष्ण का उच्चारण बहुधा कष्टो या कृष्टो करते हैं।” डा० भण्डारकर के अनुसार मधुरभाव की कल्पना इसके भा वाद को है। पर यहाँ हम डा० भण्डारकर से सरलतापूर्वक सहमत नहीं हो सकते। बालगोपाल की कल्पना और मधुर कल्पना के समावेश के सम्बन्ध में डा० भण्डारकर ने आभीरों के सौन्दर्य अथवा उनकी संदिग्ध नैतिकता की जो बात कहा है उसके लिए कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्य है। ई० पूर्व से ही विदेशियों ने भागवत धर्म स्वीकार करना आरम्भ कर दिया था जिसका अभिलेखिक प्रमाण है बेसनगर अभिलेख तथा साहित्यिक प्रमाण है ‘भागवत’ पुराण। इस पुराण में भागवत धर्म में सम्मिलित होनेवाले विदेशियों में केवल आभीरों का ही नाम नहीं आता प्रत्युत किरात, हूण पुलिन्द, यवन आदि नाम भी साथ-साथ आते हैं।^१ इस उल्लेख से हमें यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि जिस ‘भागवत’ ने बालगोपाल की लोलाओं का इतना विस्तृत चित्रण किया है वही भला उन आभीरों को, जिन्होंने डा० भण्डारकर या डा० रायचौधरी के मतानुसार बालगोपाल के सृजन में बहुत बड़ा योग दिया था, यवनों, हूणों आदिकी श्रेणों में क्यों विठाता। स्वयं ‘महाभारत’ में भी वन पर्व १८८।३५-३६ में आभीरों का उल्लेख छलद्वारा, पापद्वारा, असत्य द्वारा शासन करने वाले आँध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाल्हीक आदि के साथ किया गया है। अतः न तो ईसा पूर्व की तीन-चार शताब्दियों में और न ईसवी सन की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही आभीरों को वैष्णव ग्रन्थों द्वारा आदर दिया गया है। आभीरों की घोर निन्दा वाल्मीकि ‘रामायण’ में भी समुद्र द्वारा कराई गई है और समुद्र भगवान राम से बिनती करता है कि वे अपना खींचा हुआ तोर आभीर नामक पापी दस्यु पर छोड़ें क्योंकि ‘आभीर प्रमुखाः पापाः पिवन्ति सलिलं मम।’^२ अतः आभीरों ने ही बालगोपाल की पूजा का श्रीगणेश किया, यह हमें बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। प्रथम, द्वितीय शताब्दी ई० पू० के लगभग जिन विदेशियों अथवा पर्यटक जातियों का भारत में प्रवेश हुआ है उनमें केवल आभीर ही इतने शक्तिशाली और धर्म-क्षेत्र में समुन्नत न थे। आभीरों या अहीरों अथवा ग्वालों से कृष्ण का जो परवर्ती सम्बन्ध दिखाया गया है, केवल उसी के प्रभाव में आकर हम आभीरों को यह श्रेय नहीं दे सकते। अतः बालगोपाल ठीक उसी प्रकार विशुद्ध ब्राह्मणीय उपज है जैसे वाल्मीकि के राम और रामावतार वाले राम अथवा वैदिक विष्णु और ‘महाभारत’ के बिष्णु। इसी प्रकार वासनात्मक कल्पना भी एक स्वाभाविक मानव हृदय की प्रक्रिया है। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है और जब हृदय-पक्ष बहुत अधिक ऊँचा हो जायगा तो भावात्मक

१. भागवत पुराण २।४।१८

२. रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग २२, ३३

सम्बन्धों को मधुर से मधुरतर कल्पना स्वभावतः साधक के मन में जागेगी। इसके लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। दूसरे, भागवत धर्म चेष्टा कर रहा था कि उसे बौद्ध एवं जैन धर्म तथा अन्य विरोधी सम्प्रदायों के ऊपर प्रधानता मिले और यह प्रधानता बहुमत पर निर्भर थी। अतः स्वभावतः लोकिकता का पल्ला पकड़ना पड़ा। बहुत सम्भव है कि अनेक विदेशी अथवा अनायें देशीय जातियों के लिए भी इसे कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करना पड़ा हो। विशुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में हम इससे अधिक यहाँ कुछ नहीं कह सकते।

महाकाव्य युग तक अवतारवाद—अब हम 'सम्भवामि युगे-युगे'^१ की ओर आते हैं। 'महाभारत' का परम्परा का अक्षुण्ण रूप में बनाये रखने वाले सर्वप्रिय धर्म-ग्रन्थ 'गीता' में अवतारों का जो उद्देश्य बताया गया है उसका मूल आज तक इतिहासकारों के लिए जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। 'महाभारत' के पूर्व किसी भी ग्रन्थ में अवतारों का कोई विवरण नहीं है, हाँ जिन्हें कालान्तर में अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है, वे व्यक्ति और सम्बन्धित घटनाएँ अवश्य हैं।^२ अवतारों के मूल की भाँति इनकी संख्या में भी पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। आश्चर्य तो यह है कि एक ही ग्रन्थ में दो प्रकार की संख्यायें गिनाई गई हैं जिससे न केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि दूसरा वक्तव्य प्रक्षिप्तांश है प्रत्युत हमें यह भी सोचने की प्रेरणा मिलती है कि प्रक्षेपक को इसमें किसी प्रकार की असुविधा का अनुभव नहीं हो रहा था कि एक ही ग्रन्थ में दो प्रकार के वक्तव्य जाँय। निश्चय ही भगवान के अवतारों की संख्या के विषय में महाकाव्य-युग से ही ढिलाई आरम्भ हो गई होगी और इसी का परिणाम था कि पुराणकारों ने भगवान के असंख्य अवतारों की बात कही है। 'महाभारत' में ही नारायणीयोपाख्यान में ६ अवतारों की चर्चा पाई जाती है^३ जिनके नाम हैं—वराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम अर्थात् परशुराम, दाशरथि राम तथा वासुदेव कृष्ण। किन्तु आगे ही यह संख्या दस तक पहुँच जाती है—मतस्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि।^४

श्वेतद्वीप में रहते हुए नारद को भगवान ने अपने प्रादुर्भावों की जो कथा सुनाई है, वही सम्भवतः वह प्रथम प्रयास है जिसमें प्राचीन लोकप्रचलित महान् दैवी कार्यों तथा महत्व-

१. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मं संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ गीता ४।७-८।

२. वामन अवतार का सूत्र 'द्वेद के तृविक्रम (१।१५।२), कूर्म तथा वाराह अवतारों के कार्यों का मूल श० ब्रा० ७।५।१।५, तै० स० ६।२।४२, तै० आ० १।१३ तथा श० ब्रा० १।५।१।२ आदि देखें।

३. 'हरिविंश में भी ६ अवतारों के नाम मिलते हैं पर बाद में सभी पुराणों ने इसे दस मान लिया।

४. मतस्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः । रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्को च ते दशा ॥ महाभारत, शा० प० ३३।१७५

पूर्ण लोकहितकारी कार्यों का कर्ता भगवान के अवतारों को स्वीकार किया गया है। अवतारों का उद्देश्य 'महाभारत' ने ही स्पष्ट कर दिया है। 'सर्वभूत हिताय', (शा० प० ३३९।७६) लोक-कार्यार्थि", (वही १००) तथा भारावतरणम् पृथिव्याः' (वही १०१) आदि अवतार के उद्देश्य हैं। 'गीता' के 'परित्राणय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतम्' का मूल भी 'महाभारत' का निम्नकथन है—

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण न
इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी—शा० प० ३४९. ३३

आगे इसी स्थल पर घोषणा की गई है कि भगवान का 'वाराहं नरासहं च वामनं मनुष्यं तथा' के रूप में, उपयुक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रादुर्भाव होगा। महत्वपूर्ण शब्द है 'प्रादुर्भाव' (यहाँ अवतार नहीं कहा गया है।) भगवान ने अपने हजार प्रादुर्भावों की बात नारद से कही है। हमारे विषय से सम्बन्धित दो अवतारों—दाशरथी राम तथा कृष्णावतार के सम्बन्ध में 'महाभारत' शा० प० ३३९ में कहा गया है—

'त्रेता-द्वापर के संधि-युग में एकत एवं द्वित प्रजापतियों के पुत्र ऋषि विरूप बानर रूप को प्राप्त होंगे। तब मैं 'रावण का बध करूँगा।' कृष्णावतार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसमें केवल अनेक बधों का ही उल्लेख है, कहीं भी रासलोला या गोपियों का उल्लेख नहीं किया गया है। हाँ अर्जुन को सखा बताया गया है।

अन्त में 'इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसम्प्रितं' (शा० प० ३३९-१११) कह कर और 'सांख्य योगकृतं तेन पांचरात्रानुशाब्दितम्' बता कर 'महाभारत' हमें यह सोचने की प्रेरणा देता है कि पाँचरात्र सम्प्रदाय वालों ने ही सर्वप्रथम अवतारों की अपनाया था। अवतारों का जो उद्देश्य ऊपर दिखाया गया है वह शास्त्रोक्त है, लोकमत की दृष्टि से इसकी दूसरी ही व्याख्या की गयी है जो तर्कसम्मत भी है। महाभारत-युग तक आते-आते अनेक प्राचीन देवताओं में से विष्णु को ही महत्व प्रदान करने और उन्हें सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा परमब्रह्म स्वीकार करने का कारण विष्णु के उदार एवं दयालु तथा पालक रूप का उल्लेख किया जा चुका है। साधक की जो भावना भगवान के प्रति भक्ति का विकास करती है वही साथ ही साथ भगवान के व्यक्त या सगुण रूप की भी कल्पना करने की प्रेरणा देती है। अतः अवतारों की कल्पना को हम चाहे जितना भी प्राचीन मानें और तदर्थ पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण भी एकत्रित कर लें पर अवतारों की कल्पना का मूल निश्चित रूप से भक्ति-भावना के साथ जुटा है, भक्त को ही इसकी आवश्यकता है और भक्ति के सूत्रगत के साथ ही हम इसका भी प्रादुर्भाव स्वीकार कर सकते हैं। फिर भी कुछ विद्वानों ने इसका मूल 'ऋग्वेद' तक में ढूँढने की चेष्टा की है।^१

ऋग्वेद १।३१।११ में—

१. मुनियर विलियम्स ने अपनी पुस्तक इण्डियन विजडम्' में अवतारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही आर्यों ने देवताओं के व्यक्त रूप की कल्पना की थी और उन्होंने प्रकृति के बाह्य रूपों का व्यक्तिकरण किया था। उक्त विद्वान ने 'ऋग्वेद' से ही इस प्रवृत्ति का श्रीगणेश होना बताया है जहाँ विष्णु को सौर देवता का रूप कहा गया है। विष्णु के तीन उगों को भी इन्होंने सूर्य की तीन गतियों का प्रतीक माना है। तत्पश्चात् ब्राह्मणों में विष्णु को यज्ञ कहा गया। आगे मुनियर महोदय ने गुणातीत ब्रह्म के राजस, सत्त्व तथा

त्वमान्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृष्वन् नहुषस्य विशपतिम् ।

इलाम कृष्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यंते पुत्रो ममकस्य जायसे ॥

अर्थात् हे अग्नि ! देवों ने पहले पुष्टरवा के मानवरूपधारी पौत्र नहुष का तुम्हें मनुष्य शरीरवान सेनापति बनाया। साथ ही उन्होंने इला को मनु की धर्मोपदेशिका भी बनाया था, जिस समय मेरे पिता अंगिरा ऋषि के पुत्र-रूप में तुमने जन्म ग्रहण किया था।

किन्तु देवताओं के मानवी रूप में जन्म-ग्रहण और अवतार में बहुत बड़ा अन्तर है। पहले रूप में, जैसा कि स्वयं उपर्युक्त ऋचा से स्पष्ट है, जन्म ग्रहण किए हुए देवता किसी लौकिक या अलौकिक वंश-परम्परा वाले व्यक्ति के सहायक या उपदेशक हैं जबकि अवतारों का उद्देश्य तथा उनका कर्तव्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है और वे सारी पृथ्वी का भार उतारने के लिए होते हैं, जैसा कि अवतारवादी सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थ एक स्वर से स्वीकार करते हैं। यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि परवर्ती ग्रन्थकारों को अवतार का भी एक बहुत व्यापक जाल बिछाना था जिससे प्राचीन मतमतान्तरों, कथाओं, घटनाओं आदि को अपने पक्ष में समेटा जा सके। अतः उन्होंने अवतारों के कई प्रकार-भेदों की भी कल्पना की थी, जिस पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे।

वस्तुतः अवतारों की कल्पना का सीधा सम्बन्ध भक्त एवं भक्ति से है, इसका संकेत हमें परवर्ती ग्रन्थ 'लघुभागवतामृत' में 'ब्रह्माण्डपुराण' के उद्धरण से भी मिलता है। जिसमें अवतारों का मुख्य कारण भक्तों के लिए लीला का विस्तार है।^१ अतः हम हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि 'दो देवताओं' के अभेद के रूप में ही जो लोग इसका (अवतार का) बीज खोजते हैं उनका मत बहुमान्य नहीं कहा जा सकता है,^२ पर साथ ही इस विश्वास में किसी आर्येतर संस्कृति का कितना हाथ है, यह कह सकना बहुत सरल है क्योंकि ऊपर जो तर्क अवतारों के उद्देश्य के सम्बन्ध में दिया गया है और जिस प्रकार अवतारों का सीधा सम्बन्ध भक्ति से स्थापित किया गया है, वैसी दशा में अवतारों पर विदेशी प्रभाव का अर्थ हुआ भक्ति पर विदेशी प्रभाव स्वीकार करना जिसकी निस्सारता पर हम प्रकाश डाल चुके हैं।

हमने मुनियर महोदय का अवतारों की प्राचीनता वाला मत पीछे दिया था, यहाँ उनके एक दूसरे मत की भी परीक्षा आवश्यक है क्योंकि यह न केवल निराधार है प्रत्युत भ्रामक भी है। उक्त विद्वान ने राम व कृष्णावतार की कल्पना के मूल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि

तमोगुणों के धारण का उल्लेख करते हुए महाभारत के ब्रह्मा (खण्डा), विष्णु तथा शिव की तृमूर्ति का बीज ऋग्वेद में देखा है और इस प्रकार अवतारों के विकास का मूल अति प्राचीन सिद्ध किया है एवं 'महाभारत, पुराणों को यहीं से अवतारों की कल्पना मिलना बताया है।

१. स्वलीला कीर्तिविस्ताराद् भवतेष्वनुधृष्या ।

अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुस्तमः ॥

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ ११३.

यह ब्राह्मणों की इच्छा नहीं, आवश्यकता थी कि उन्होंने युद्धप्रिय जाति क्षत्रियों को सम्मान दिया क्योंकि बौद्धों का मुँह तोड़ उत्तर इसी रूप में दिया जा सकता था। राम, कृष्ण आदि मानवी चरित्रों को देवत्व प्रदान करने के मूल में उन्होंने ब्राह्मणों की उस चेष्टा की ओर संकेत किया है जिससे वे बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित होने वाली सामान्य जनता को मानवी चरित्रों द्वारा हिन्दू धर्म की ओर खींचना चाहते थे।^१ किन्तु मुनियर महोदय ने यहाँ इस ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा की है कि मानवी कृष्ण व मानवी राम निश्चित रूप से गौतम बुद्ध से प्राचीन हैं, महावीर स्वामी से भी प्राचीन। महाभारत-युद्ध के समय कृष्ण की उपस्थिति को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता और इस युद्ध की तिथि, यदि पजिटर का मत ही मानें तो, ९५० ई० पू० ठहरती है, यद्यपि अनेक विद्वानों ने इसे १४०० ई० पू० तक स्वीकार किया है। अतः भागवत या सात्वत धर्म के प्रचारक मानवी कृष्ण को आगामी चार शताब्दियों तक भी देवत्व नहीं प्रदान हो पाया था और इसके लिए बौद्ध प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा थी, यह कहना कहाँ तक तर्कसंगत लगता है, वह भी ऐसी अवस्था में जबकि कृष्ण द्वारा प्रचारित धर्म इतनी द्रुतगति से बढ़ रहा था कि आगे का पूरा ब्राह्मण साहित्य किसी न किसी रूप में इस धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह जाता है। राम के सम्बन्ध में भले ही वाल्मीकि के विचारों को उद्धृत करके अथवा 'रामायण' के राम को अवतार के रूप में देखने वाले अंशों को प्रक्षिप्तांश सिद्ध करके यह निष्फल कह दिया जाय कि उन्हें बाद में अवतार माना गया है पर कृष्ण के साथ ऐसी कोई बात नहीं है। दूसरे, हम यह क्यों भूल जाते हैं कि 'रामायण' कोई धर्म-ग्रन्थ नहीं है, वह एक विशुद्ध काव्य है। अतः उसमें राम का दैवी रूप देने न देने का कोई विशेष धार्मिक महत्व नहीं है और न उसकी कृष्ण-सम्बन्धी उपेक्षा को ही महत्वपूर्ण समझा जा सकता है। अवतारों के सन्दर्भ में राम को 'महाभारत' की दृष्टि से देखना होगा न कि 'रामायण' की दृष्टि से; फिर हम अवतारधारी कृष्ण को देवकी-पुत्र कृष्ण या बालगोपाल कृष्ण के रूप में ही क्यों देखते हैं। स्वयं जातक गाथाओं के टीकाकारों का मत ही हमें यह सोचने की प्रेरणा देता है कि कृष्णायन गोत्र के होने के नाते वासुदेव को कृष्ण कहा गया और तब ऐसी अवस्था में हम वासुदेव को ही, जो आगे चलकर कृष्ण नाम धारण करते हैं, अवतार क्यों नहीं मानते और फिर यह वासुदेव देवता के रूप में ही पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में विद्यमान हैं। निश्चित ही इस देवता को पुनः अवतार मानकर उस पर देवत्व की दुहरी मुहर लगाने की कोई आवश्यकता महाभारतकार को न थी; क्योंकि अपने समस्त

1- The deification of the great men probably began with the desire of the Brahmins to incorporate the most eminent Khatriya heroes into their system. It proceeded, however, from necessity rather than from any wish to do honour to the warrior caste. The Buddhist movement in India had broken down the Brahmanical monopoly and introduced a rival principle. Some counter acting and equally popular expression of religious creed seemed essential to the very existence of Brahmanism and it became absolutely necessary to present the people with deities of their own as a counter attraction to Buddhism. Hence the previously human heroes Ram and Krishna were exalted by the Brahmins to divine ranks.....".

प्रक्षिप्तांशों सहित भी 'महाभारत' तीसरी शती ई० पू० के बाद की रचना नहीं कही जा सकती और पाणिनि का काल ६ठीं शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। इन तीन सौ वर्षों में ही वासुदेव की दैवी एवं अवतारों कल्पना लोगों को भूल नहीं गई थी कि 'महाभारत' ने उसका स्मरण कराया। वस्तुतः 'महाभारत' शताब्दियों आगे से चली आने वाली धार्मिक मान्यताओं, आस्थाओं आदि को ग्रन्थित करता है। अतः यह ब्राह्मणों को कोई आवश्यकता न थी और न किसी परिस्थिति विशेष का प्रभाव होता था कि राम व कृष्ण जैसे महापुरुषों को देवत्व प्रदान किया गया। यह भी द्रष्टव्य है कि 'महाभारत' में कृष्ण का मानवी रूप भी पूर्णतया सुरक्षित है, जैसा कि हमने पहले ही डा० राय चौधरी के विचारों पर प्रकाश डालते हुए कहा था। सच तो यह है कि अवतार जितना ही मानवी होगा उतना ही भक्त के लिए श्रेष्ठ एवं श्रेयष्कर होगा। भक्ति-भावना ज्ञान तथा कर्म से ऊपर उठ कर केवल मात्र भक्ति या परानुरक्ति की ओर जितना ही झुकेगा उतना ही मानवी रूप को अपनायेगी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अवतारों कृष्ण का बालगोपाल रूप है जहाँ गोपियाँ यहाँ तक भूल जाती हैं कि कृष्ण भी कोई देवता हैं—प्रत्युत वे उन्हें केवल 'नन्द का लाल' ही समझती हैं। तीसरे, यदि केवल यही दो अवतार या बाद का जोड़ा हुआ बुद्ध अवतार ही अवतारों की कुल परिधि होता तो हम मुनियर महोदय के मत में कुछ सत्यता पाते, पर आश्चर्य तो यह है कि स्वयं उन्होंने ही आगे यह निर्देश किया है कि दसों अवतारों में से तीन पशु, चतुर्थ आधा पशु एवं आधा मनुष्य तथा अन्त में पूर्ण मानव रूप (उसमें भी वामन रूप मानव का अवतार) विष्णु ग्रहण करते हैं। शेष आठ क्षत्रिय क्यों नहीं हैं? क्या केवल दो ही व्यक्तित्वों—राम व कृष्ण को ही क्षत्रिय वर्ग से चुनने से काम चल जा रहा था। तब फिर दो क्षत्रिय चुनकर परशुराम ब्राह्मण कुल से क्यों चुना गया? इतना ही नहीं, भार्गव राम (परशुराम) को क्षत्रियों का विनाशक तक क्यों चित्रित किया गया? पशुओं के रूप में भी अवतार ग्रहण करना तो और भी महत्वपूर्ण है। अतः हम सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न तो ऐतिहासिक और न पौराणिक प्रमाणों से ही मुनियर महोदय का उक्त मत तर्कसंगत ज्ञात होता है। अन्त में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अवतारों की कल्पना पर देशी (अब्राह्मण) या विदेशी किसी प्रकार का कोई बाह्य प्रभाव नहीं है। यह पूर्णतया ब्राह्मण धमान्तर्गत भागवत सम्प्रदाय का ही देन है और कालान्तर में सभी महत्वपूर्ण देवी-देवताओं अथवा मान्य अवतारों के सहायकों, अनन्य भक्तों, भक्ति के आचार्यों आदि तक को अवतारों की श्रेणी में बैठा दिया गया। यह दूसरी बात है कि परवर्ती शास्त्रप्रणेतारों को, अवतारों को भी, वर्ग एवं श्रेणियों में विभाजित करना पड़ा, पर इसका मूल भी 'महाभारत' में उपलब्ध है और इसी मूल भावना में उत्तरोत्तर विकास होता गया है।

रामावतार एवं बाल्मीकि रामायण—प्राचीन भक्ति का अध्ययन करते समय जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है उनमें से राम व विष्णु के समीकरण की समस्या और विशेषतया दोनों के समीकरण की अवधि की समस्या काफी जटिल है। जैकोबी तथा उनके समर्थकों ने तो सरलतापूर्वक बाल्मीकि के 'रामायण' को, जो राम के चरित्र का प्रथम और भारतीय वाङ्मय का आदि महाकाव्य है, प्रक्षिप्तांशों से पूर्ण बताकर एवं उन स्थलों को जिनसे

राम के अवतारत्व की थोड़ी भी भावना इंगित होती है, बाद का जोड़ा हुआ कहकर समस्या और भी जटिल बना दी है। इस विषय के प्रमुख विद्वान डा० भण्डारकर, जिनका बार-बार नामोल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है, लगभग इसी मत के समर्थक हैं कि 'रामायण' के राम अवतारी रूप में नहीं चित्रित किये गये हैं और उनको विष्णु का अवतार घोषित करने वाला 'उत्तरकाण्ड' बाद का जोड़ा हुआ है। उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि राम को धार्मिक नेता के रूप में महत्व देने वाले ग्रन्थ अर्वाचीन हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है, 'विद्वानों का अनुमान है कि मूल काव्य में राम विष्णु के अवतार नहीं हैं, बाद में चलकर मूल ग्रन्थ में इस प्रकार की बातें प्रक्षेप की गई होंगी। बालकाण्ड और उत्तर काण्ड निश्चित रूप से परवर्ती रचनाएँ हैं। इन्हीं दोनों में राम को विष्णु का अवतार बताया गया है। कभी-कभी बालकाण्ड की घटनाओं के विरुद्ध कही हुई बातें भी अन्य काण्डों में मिल जाती हैं। उदाहरणार्थ, बालकाण्ड में राम के साथ ही अन्यान्य भाइयों की भी शादी हो गई है, पर आगे चलकर सूर्यपंखा के प्रसंग में राम ने बताया है कि लक्ष्मण की शादी नहीं हुई है। दूसरे से छठें काण्ड तक में जो परम्परित कहानियाँ आती हैं, वे काफी पुरानी हैं।' उक्त मत मैकडोनेल महोदय द्वारा प्रचारित किया गया था जिसने 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रीलीजन्स एण्ड ईथिक्स' भाग १०, पृष्ठ ५७५ पर 'रामायण' के आदि भाग को प्रक्षिप्त बताते हुए लिखा है कि मूल रामायण (आशय दूसरे से छठें काण्ड तक से है) को अपेक्षा प्रथम एवं अन्तिम काण्ड भाषा-शैली की दृष्टि से न केवल हेय एव निम्नकोटि के हैं प्रत्युत: ये स्वतः आन्तरिक विरोधों एव शेष काण्डों के प्रतिकूल विवरणों से परिपूर्ण हैं। इसी विद्वान ने अपने मत के समर्थन में लक्ष्मण के व्याह वाली पूर्वलिखित बात कही थी जिसे द्विवेदी जी ने व्यक्त किया है।

जहाँ तक घटनाओं के विरुद्ध वक्तव्यों का प्रश्न है, इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो प्रक्षिप्त होने के प्रमाण स्वरूप लाई जा सके। उदाहरणार्थ, सूर्यपंखा के प्रसंग में राम का यह कथन कि 'लक्ष्मण अविवाहित है' ही ले लें। यदि मैकडोनेल महोदय के अनुसार इसी आधार पर हम 'बालकाण्ड' को प्रक्षिप्त या बाद का जोड़ा हुआ मान लेते हैं तो फिर तुलसीदास के 'बालकाण्ड' को भी प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा, जहाँ महाकवि ने जानकी, माण्डवी, श्रुतिकीर्ति तथा उर्मिला का व्याह एक ही मण्डप में राम, लक्ष्मण आदि चारों भाइयों के साथ कराकर भी सूर्यपंखा के प्रसंग में (अरण्यकाण्ड में) मर्यादा पुरुषोत्तम राम से ही 'अहइ कुआँर मोर लघु भ्राता' कहलाया है। जिस प्रकार इस कथन से राम को न तो मिथ्याभाषी माना जा सकता है और न तुलसी के 'बालकाण्ड' को प्रक्षिप्त ही, उसी प्रकार केवल इसी आधार पर हम बाल्मीकि के 'बालकाण्ड' को बाद का जोड़ा हुआ नहीं मान सकते। रही परम्परित कथानकों की प्राचीनता की बात सो कोई भी कथा तिथिक्रमानुसार नहीं रखी जा सकती है। पुराणों के 'वंशानुचरित' भाग को ही लिया जा सकता है। सभी पुराण अनेक अवसरों पर वंश वृक्ष-सम्बन्धी विरोधी तथ्य सूचित करते हैं। इसी प्रकार औपनिषदिक या महाभारतीय

१. द्विवेदी जी का 'अनुमान' शब्द यहाँ महत्वपूर्ण है क्योंकि वास्तव में मैकडोनेल आदि विद्वानों का यह अनुमान ही है इसे हम विश्वसनीय नहीं मान सकते।

कहानियाँ भी कभी-कभी प्रचार के अभाव में आगे चल कर ऐसी दब गई हैं अथवा उनका रूप ऐसा बदल गया है कि वे सर्वथा नवीन अथवा अर्वाचीन लगती हैं। दूसरे, यह भी आवश्यक नहीं है कि समस्त लोकप्रचलित कथानकों का ही बाल्मीकि जैसा नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न कवि प्रयोग करता और मौलिक या कम प्रचलित कथाओं को छोड़ देता। अतः प्रथम या अन्तिम काण्ड की कथाओं का परम्परित सूत्र न मिलने के कारण उक्त दोनों काण्डों को प्रक्षिप्त या बाद का जोड़ा हुआ मानना सरल नहीं है। इसी प्रकार अनेक विद्वानों ने जैकोबी के इस मत को स्वीकार किया है कि बीच के काण्डों में जो राम का अलौकिक एवं अवतारी रूप आया है वह भी प्रक्षिप्त है। आशय यह कि पूरा 'रामायण' यत्र-तत्र दैवी राम-सम्बन्धी प्रसंगों के प्रक्षेपकों से पूर्ण है। प्रक्षिप्तांश हर लोकप्रिय धर्म ग्रन्थ में है, वह चाहे 'रामायण' हो या 'महाभारत', पुराण हो या उपपुराण। वर्तमान 'महाभारत' तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्तांशों की देन है किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि बाल्मीकि ने राम को अन्तःकरण से केवल एक मानव और दशरथ-पुत्र के रूप में ही देखा है तथा उनमें देवत्व या विष्णुत्व की कोई झलक नहीं पाई है और यह बाद के कुशल वैष्णव कवियों के मस्तिष्क की उपज है। महाकवि द्वारा राम को ही अपनी रचना का विषय बनाना स्वतः यह सिद्ध करता है कि राम द्वारा अधर्म का अन्त तथा धर्म की स्थापना, राक्षसों का विनाश एवं देवताओं-ऋषि-मुनियों का कल्याण आदि तत्वों ने, जो किसी भी अवतार के सर्वमान्य लक्षण थे, राम की कथा के चयन के लिए प्रोत्साहित किया था। पर रामायणकार एवं महाभारतकार को हम एक ही दृष्टि से नहीं देख सकते। प्रथम एक विशुद्ध कवि है जबकि द्वितीय एक धर्मनिष्ठ इतिहासकार। अतः काव्योचित विशेषताओं एवं महाकाव्य के कथानक के उतार-चढ़ाव, कौतूहल आदि को जिस प्रकार भी बनाये रखा जा सकता था वैसा महाकवि ने 'रामायण' में किया है। वे राम द्वारा सभी आश्चर्यपूर्ण एवं अलौकिक कार्य करा देते हैं, पर उनके पाठकों को थोड़ा भी आश्चर्य नहीं होता। इसी प्रकार वे राम में सामान्य मानवी दुर्बलताएँ भी दिखा देते हैं पर पाठकों को कहीं कोई सन्देह या शंका नहीं होती है जब कि प्रत्येक ऐसे अवसर पर महात्मा तुलसी को सफाई देनी पड़ी है कि भगवान यह सब लीला कर रहे हैं। महाभारतकार ने कृष्ण का जो अलौकिक चरित्र चित्रित किया है वह उपर्युक्त दृष्टि-कोण-वैभिन्य के कारण ही है। अतः 'रामायण' में राम का जो भी रूप चित्रित है उस आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि बाल्मीकि के युग में राम को अवतार नहीं माना गया था। बामन, कूर्म, मत्स्य, नृसिंह आदि अवतारों को भी कृष्णावतार की भाँति बढ़ावा देने वाला कोई महाकाव्य-कालीन (रामायण-महाभारत कालीन) साहित्य नहीं उपलब्ध है; तो क्या इसी आधार पर हम मान लेंगे कि ये अवतार कृष्णावतार के बाद के हैं। वास्तविकता तो यह है कि बाल्मीकि ने ही सच्चे अर्थों में अवतार की भावना का निर्वहण किया है। पूर्ण मानवी तथा पूर्ण दैवी गुणों अथवा दूसरे शब्दों में पूर्ण लौकिक एवं पूर्ण अलौकिक गुणों का किसी शरीर-धारी में एक साथ ही विद्यमान रहना विशुद्ध अर्थ में अवतार है। बाल्मीकि ने राम का पूर्ण मानवी रूप चित्रित करने के लिए उनके मानव-क्रिया कलापों, मानवी पवृत्तियों, संवेगों आदि का इतना सफल चित्रण किया है कि सचमुच राम एक पूर्ण मानव प्रतीत होते हैं। पर उनका

दैवी रूप चित्रित करने में भी महाकवि ने कहीं कोई चूक नहीं की है और निश्चित ही यह चित्रण किसी प्रकार भी प्रक्षिप्त नहीं है क्योंकि न तो यह ऊपर से थोड़ा हुआ लगता है और न भीतर से पैबन्द लगाया हुआ ही देखता है। यदि हम तथाकथित दो प्रक्षिप्त काण्डों को छोड़ भी दें तो शेष काण्डों में भी हमें राम के दैवी या अवतारी रूप की स्पष्ट झलक मिलती है। उदाहरणार्थ 'अरण्यकाण्ड' के कुछ प्रसंग द्रष्टव्य हैं। चतुर्थ सर्ग में निरोध का उक्ति को ही लें। उसने मरते समय सूचित किया है कि शाप से हो वह राक्षस हुआ था पर प्रार्थना करने पर कुबेर ने उसे आश्वासन दिया था कि जब दशरथ-तनय रामचन्द्र संग्राम में तुम्हारा वध करेंगे तब तुम अपनी स्वाभाविक स्थिति में पहुँच कर पुनः स्वर्ग चले जाओगे।^१

दण्डकारण्य में राक्षसों का वध करने वाले राम के प्रति देवताओं ने कहा है—

अहो वत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः

अहो वीर्यं महोदाक्ष्यं विष्णोरिव दिदृश्यते।^२

राम का बल और उनकी दृढ़ता विष्णु जैसा दिखाई पड़ रही है। 'अरण्यकाण्ड' सर्ग ३७ तथा ३८ में मारीच ने राम के बल-पौरुष का जो चित्रण किया है वह निश्चित रूप से राम के अवतार होने का एक जोरदार संकेत है। मारीच कहता है—

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यं गुणोन्नतम्

अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्र वरुणोपमम्। ३७।३

रामेन विग्रहं बान धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः। ३७।१३

मारीच ने १२ वर्षीय राम के दण्डकारण्य में जिस पौरुष एवं पराक्रम का विवरण दिया है वह किसी प्रकार भी लौकिक नहीं है। विश्व-इतिहास में इतने छोटे बालक द्वारा ऐसे कार्य किये जाने के उदाहरण अप्राप्य हैं। यह महाकवि की काव्योचित अतिशयोक्ति भी नहीं है (और यदि है भी तो यह शीघ्र ही पौराणिकता का रूप धारण कर लेती है।)

'आरण्यकाण्ड' में ही शबरी का विवरण आता है। पूरा का पूरा चित्रण अलौकिकता की ओर ही उन्मुख है, पर साथ ही लौकिकता का भी पूरा-पूरा निर्वहण है, जो, जैसा कि हम आरम्भ में ही कह चुके हैं, महाकवि को सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। शबरी राम को देखकर कहती है, 'आज मेरा जीवन सफल हो गया, गुरु-सेवा भी सफल हुई। हे पुरुष श्रेष्ठ! आज आपका पूजन करके मैं स्वर्ग प्राप्त करूँगी।' ^३

१. रामायण, अरण्य, चतुर्थ सर्ग, १७-१८

२. रामायण, अरण्य, तीसवाँ सर्ग, ३६

३. अद्यप्राप्ता तपः सिद्धिस्तव संदर्शनात्मया

[अद्य मे सफलं तप्तं गुरुवश्व सुपूजिताः॥

[अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति॥

स्वयि देव वरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥

अरण्य, सर्ग ७४, ११-१२

यहीं आगे कहा गया है कि देवताओं ने शबरी को सूचित किया था कि राम-लक्ष्मण के दर्शन से शबरी को अविनाशो लोक प्राप्त होगा—

तं च द्रष्टुं वरांल्लोकान्नयास्त्वं गमिष्यसि।^१ और इसी सर्ग के अन्त में वाल्मीकि ने दिखाया है कि राम के दर्शन के बाद शबरी स्वर्ग चली जाती है।

राम के स्वरूप को पहचानने में प्रहस्त, रावण, महोदर आदि ने जो भूल की है और राम को वे जो केवल एक साधारण राजकुमार मान बैठे हैं, इस ओर भी विभीषण ने संकेत किया है। विभीषण ने स्पष्ट कह दिया है कि राम के कोप से सूर्य व महत देवता भी नहीं बच सकते (युद्धकाण्ड, सर्ग १४, ६) तथा आगे विभीषण ने कहा है—

प्रहस्त राजा च महोदरश्च

त्वं कुम्भकरणश्च यदर्थजातम्।

ब्रवीथ रामं प्रतिपन्न शक्यं

यथा गतिं स्वर्गधर्मं बुद्धेः॥

युद्ध, सर्ग १४, १०

वाल्मीकि के विभीषण का जो भाव राम के प्रति है वह स्पष्टतया सूचित करता है कि राम में देवत्व की भावना वाल्मीकि ने स्वीकार कर ली थी, उसका प्रकाशन उन्होंने खुलकर यत्र-तत्र भले ही न किया हो, इसकी आवश्यकता भी उन्हें नहीं थी। विभीषण मेघनाथ के इस कथन पर कि जब मैंने इन्द्र को पराजित कर दिया तो एक राजकुमार में क्या रक्खा है इतना अधिक कदापि नहीं स्पष्ट हो जाता, यदि वह राम को एक साधारण राजकुमार मानता। विभीषण उत्तर भारत के किसी आर्य राजकुमार के प्रति क्यों इतना आदर या सम्मान का भाव रखता, यह विचारणीय प्रश्न है। वह मेघनाथ को बहुत कुछ बुरा-भला कहता है और उसे मार डालने योग्य बताता है। आखिर क्यों? यह पंद्रहवाँ सर्ग स्वतः इस बात का प्रमाण है कि राम के सम्बन्ध में कुछ राक्षसों को सन्देह था, पर विभीषण तथा कुछ अन्य राक्षसों को भी, जो राम के सम्पर्क में आ चुके थे, उनके वास्तविक स्वरूप का बोध था।

समुद्र पर राम के कोप की विश्वव्यापिनी प्रतिक्रिया भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है और यह राम की अलौकिकता की ओर ही संकेत करती है।

‘युद्धकाण्ड’ में, राम-लक्ष्मण के राक्षसों की माया के कारण धराशायी हो जाने पर गरुड़ का आगमन और उन दोनों की पुनः शक्तिसम्पन्न बनाकर यह सूचित करना कि गरुण और रामचन्द्र में पुराना मैत्रीभाव है जिसे राम अन्त में समझ पायेंगे, वास्तव में उत्तरकाण्ड की उस घटना की प्रामाणिकता एवं मौलिकता का सबल प्रमाण है जिसमें अन्त में राम को यमराज द्वारा ब्रह्मा का संदेश सुनाया जाता है कि राम विष्णु हैं और अब उन्हें विष्णुधाम चलना चाहिए, अर्थात् राम को अन्त में अपने वास्तविक स्वरूप का

बोध कराया जाता है और जिस अंश को विद्वानों ने वाद का जोड़ा हुआ बताया है।^१

युद्धकाण्ड में राम ने अंगद द्वारा रावण को जो संवाद भेजा है उसमें उन्होंने कहलाया है कि उनके द्वारा मारे जाने पर रावण उस गति को प्राप्त करेगा जिसे देवता व महर्षिगण प्राप्त करते हैं।^२ यह न राम की गर्वोक्ति है और न प्रक्षिप्तांश प्रत्युत यह स्वाभाविक कथन है जो किसी भी अवतारी पुरुष के लिए शास्त्रों में सम्भव कहा गया है। इसी काण्ड के दसवें सर्ग में विभीषण ने रावण को जिन अपराधों का उल्लेख किया है वे किसी प्रकार भी लौकिक प्रभावों के प्रतिफल नहीं हो सकते।

राम के अवतारी पुरुष होने का इससे सुन्दर प्रमाण क्या हो सकता है कि 'अरण्यकाण्ड' में अकम्पन राम की प्रशंसा में कहता है कि उनमें सृष्टि के संहार और निर्माण की क्षमता है—^३

सहृदय वा पुनर्लोकान विक्रमेण महायशः ।

शक्तः स पुरुष व्याधः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥

अब हम अन्तिम तथ्य का ओर संकेत करना चाहेंगे। अवतारों का सीधा सम्बन्ध भक्ति से है। बाल्मीकि भक्ति-तत्त्व से भली-भाँति परिचित थे और वे भक्ति के अनेक प्रकारों को भी जानते थे जिनमें दास्य भाव को वे महत्व देते दिखाई पड़ते हैं। समस्त बानरी सेना, विभीषण तथा अनेक ऋषियों तक में राम के प्रति दास्य भाव की झलक 'रामायण' में मिलती है। सुमन्त्र ने तो राम से यहाँ तक कहा है कि वह कुछ कहना चाहता है पर वह चाटुकारिता या औपचारिकता न हो कर भक्ति तथा स्नेहपूर्वक कही हुई बात होगी।^४

उपर्युक्त विवरणों से हम सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'रामायण' में प्रक्षिप्तांशों के होने न होने का कोई सीधा सम्बन्ध बाल्मीकि के राम के अवतारी होने या न होने से नहीं है और बाल्मीकि ने राम का जो चित्रण किया है वह एक कवि के रूप में किया है जिसमें मानवोचित गुणों को प्रधान रखना आवश्यक था पर बाल्मीकि

१. युद्ध, चतुर्थ सर्ग—

न च कौतूहलं कार्यं सखित्वं प्रति राघव ।

कृतकर्मा रणे वीरः सखित्वमनुवेत्स्यसि ॥५७॥

तथा

ततस्त्वमपि दुर्घर्षात्तस्माद्भवात् सनातनात् ।

रक्षार्थं सर्व भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान ॥ उत्तर, सर्ग १०४, ९ (आगे के श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।)

२. पदवीं देवतानां च महर्षीणां च राक्षस ।

राजर्षीणां च सर्वेषां गमिष्यसि मया हतः ॥ युद्ध, सर्ग ४१, ६६

३. अरण्य, सर्ग ३२, २६

४. यद्वं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहाद्विक्लवम् ।

भक्ति मानिति तत्तावद्वाक्यं त्व क्षन्तुमर्हसि ॥ अयोध्या, सर्ग ५२०, ३८

अवतारी राम से अपरिचित थे यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता। वास्तविकता यह है कि असाधारण एवं आश्चर्योत्पादक घटनाओं एवं क्रिया-कलापों को अधिकाधिक महत्वपूर्ण एवं रोचक बनाने के अभिप्राय से महाकवि राम को यत्र-तत्र सर्वत्र अवतारी घोषित करते हुए नहीं चलते हैं; मानवी आधार-शिला पर दैवी गुणों का चित्रण ही बाल्मीकि की रचना को अनेक सफलताओं में से एक गौरवपूर्ण सफलता है। महाकवि ने राम को विष्णु का अवतार माना है,^१ यह मान लेने पर अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत-युग तक आते-आते राम का मानवी-रूप, जिसका चित्रण महाकवि ने अधिक गहराई से किया था और जो निश्चय ही प्रकाश्य और स्पष्ट है, ऊपर उठ आता है और अवतारी रूप, जिसकी बाल्मीकि ने झलक मात्र दो है और जो रहस्य एवं गुह्य है, कुछ पोछे छूट जाता है। यही कारण है कि 'महाभारत' में वासुदेव कृष्ण को अधिकाधिक महत्व मिला है (विषय को दृष्टि से मिलना भी स्वाभाविक था) और 'रामोपाख्यान' एक अवान्तर प्रसंग के रूप में हो है। इसी संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है। 'महाभारत' का 'रामोपाख्यान' पूर्णतया 'रामायण' के ढंग पर ढाला हुआ है। द्रोपदा-हरण को भी सभी विद्वानों ने सोता-हरण पर रची गई कथा स्वीकार किया है। पर प्रश्न यह है कि राम-कथा-सम्बन्धी ये अंश, जो 'सभापर्व' तथा 'वनपर्व' में प्रचुरता से उपलब्ध हैं, किस शताब्दी की रचना हो सकते हैं। क्या इन्हें हम दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० पू० के बाद ला सकते हैं? यद्यपि मूल 'रामायण' तथा मूल 'महाभारत' या और अधिक उचित शब्दों में 'जय' 'भारत' तथा 'महाभारत' को रचना-तिथि पर विचार करना हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है तथापि इतना कह देना आवश्यक है कि यह तिथि किसी प्रकार भी ईसा की दूसरी शती पूर्व के बाद नहीं लाई जा सकती। श्री सी० वी० वैद्य, डा० भण्डारकर, डा० राय-चौधरी आदि लगभग यही तिथि स्वीकार करते हैं और साथ ही यह भी निश्चित है कि 'रामायण' की रचना 'महाभारत' के पूर्व हुई। अतः अपने प्रक्षिप्त रूप में भी, ये दोनों ग्रन्थ ई० पू० के द्वितीय, तृतीय शताब्दी में, अस्तित्व में आ चुके थे और इस प्रकार राम को अवतार रूप में स्वीकार करने की तिथि भी यही है। कृष्णावतार के बाद रामावतार की कल्पना की गई, इसके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, कृष्णवंशी सात्वतों ने कृष्ण-पूजा का अधिकाधिक प्रचार करने में सफलता प्राप्त की जब कि राम का कोई सम्प्रदाय ठीक उनके परवर्ती युग में नहीं चल सका जैसा कि मत्स्य, कूर्म, बाराह आदि अवतारों का भी अत्यन्त प्राचीन काल में कोई सम्प्रदाय नहीं चला था। इस तथ्य के ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्य हैं कि गुप्त-युग के कुछ ही पूर्व से बाराह-अवतार को महत्व मिलना आरम्भ हुआ था। छठीं शताब्दी का एक लेख तगरे नामक स्थान में प्राप्त हुआ है जिससे विदित होता है कि कदम्ब लोग बाराह-उपासक थे। दक्षिण भारत में छठीं शताब्दी में ही बारहोपासकों का बाहुल्य था, इसके पूर्व यह उपासना अधिक प्रचलित नहीं थी। सागर

१. डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने 'राम विष्णु के अवतार एवं अध्यात्म बल के प्रतीक थे,' लिखकर अनेक प्राचीन पण्डितों के बाल एवं उत्तरकाण्ड सम्बन्धी धारणाओं को निराधार मानने की प्रेरणा दी है--देखिये, हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १४१.

जिले में भी इसी युग में एरण नामक स्थान में भगवान वाराह की एक प्रतिमा पाई गई है जिस पर एक शिला-लेख उत्कीर्ण है जो वाराह की स्तुति से आरम्भ होता है। किन्तु क्या इससे हम यह निष्कर्ष निकालेंगे कि वाराह अवतार ईस्वी सन् के बाद की कल्पना है। अतः हमें 'महाभारत' के उस स्थान पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता जहाँ महाभारतकार ने त्रेता-द्वापर को सन्धि के युग में दाशरथी राम तथा द्वापर व कलि की संधि के युग में कृष्ण के अवतार का उल्लेख किया है, अर्थात् राम के बाद कृष्ण का अवतार बताया है।^१ किन्तु बार्थ महोदय ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिलिजन्स आफ इण्डिया' में यह मत व्यक्त किया है कि अवतार के रूप में राम कृष्ण के परवर्ती हैं, वैसे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में वे कृष्ण के पूर्व के हैं। यहाँ बार्थ महोदय ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि कृष्णावतार को कल्पना के बाद रामावतार की कल्पना की गई क्योंकि, जैसा कि उन्होंने लिखा है 'पद्मपुराण' को छोड़ कर अन्य पुराणों में भी राम को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया है और साथ ही इनके भक्त भी अपेक्षाकृत कम हैं। यदि बार्थ महोदय के उक्त मत के अनुसार तथा उनकी दी गई कसौटी—पूजा या सम्प्रदाय की उपस्थिति-अनुपस्थिति पर अवतारों की कल्पना का अनुक्रम निर्धारित किया जाय तो अवतारों की कल्पना की अवतारणा ही कृष्णावतार से मानी जायेगी जिसके लिए कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है प्रत्युत घोर कृष्णवादी धर्म-ग्रन्थों में भी कहीं भी किसी रूप में कृष्ण को आदि अवतार नहीं माना गया है। वैसे उन्हें भले ही स्वयं परब्रह्म परमेश्वर कह दिया गया हो या सच्चिदानन्द घोषित किया गया हो पर ज्यों ही अवतारों की बात आई कि सच्चिदानन्द, परब्रह्म परमेश्वर भगवान कृष्ण अपने प्राचीन मान्य अवतारानुक्रम में बिठा दिये जाते हैं जहाँ राम निश्चित रूप से इनके पूर्ववर्ती हैं। अतः न केवल वैयक्तिक अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्युत अवतारी अस्तित्व की दृष्टि से भी राम कृष्ण के पूर्ववर्ती हैं और यदि उन्हें कोई वेदव्यास, वैशम्पायन या सीता ठोक उनके युग में ही नहीं मिल सका, जैसा कि अन्य मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, बलराम आदि को प्राचीन काल में और कुछ को तो आज तक नहीं मिल सके, तो इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि रामावतार की कल्पना कृष्णावतार के बाद की है। आश्चर्य तो यह है कि इस विद्वान ने सीता की प्राचीनता प्राचीन वेद ऋग्वेद तक खींची है।

अन्त में, मैकडोनेल महोदय ने भाषा-शैली सम्बन्धी हेयता या वैभिन्य की जो बात कही है वह किसी भी महाकाव्य की स्वरूपगत विशिष्टता की आलोचनात्मक अवहेलना है विभिन्न सरस एवं शुष्क, घटना सूचक एवं भाव-सूचक, विवरणात्मक या वर्णनात्मक आदि प्रकार-भेद-युक्त स्थलों का निरूपण महाकाव्य में किसी कवि को करना पड़ता है और ऐसी विरोधी परिस्थितियाँ या कम से कम भिन्न-भिन्न अवसरों पर शैली की भिन्नता स्वाभाविक है। भाषा के सम्बन्ध में कोई ऐसा प्रयोग-सम्बन्धी उदारहण नहीं प्राप्य है जिस आधार पर प्रथम तथा अन्तिम काण्ड को किसी प्रक्षेप की सजग चेष्टा का प्रतिफल कहा जाय। हाँ, स्वाभाविक प्रक्षेप, जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है 'महाभारत' की भाँति 'रामायण' में भी हुआ, पर बहुत न्यून।

राम और सीता की प्राचीनता

कुछ विद्वानों ने राम और सीता की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए अनेक कल्पनाएँ की हैं। 'ऋण यजुर्वेद' में एक कथा आती है जिसमें सावित्री की पुत्री सीता का प्यारसोम से हो जाता है। यही सोम आगे चलकर चन्द्रमा का रूप हो जाता है और चूँकि राम के नाम में भी चन्द्र शब्द लगा हुआ है इसलिए यह सिद्ध होता है कि 'ऋण यजुर्वेद' में भी राम-सीता की कथा पाई जाती है। किन्तु यह निश्चित रूप से दुर्बल तर्क है और ऐतिहासिक राम को इस प्रकार अनैतिहासिक रूप प्रदान करना उचित नहीं है। ठीक इसी प्रकार सीता की प्राचीनता पर भी विचार किया गया है और बार्थ महोदय ने 'ऋग्वेद' में सीता को इन्द्र का पत्नी के रूप में उल्लिखित दिखाया है। इसमें सन्देह नहीं कि सीता 'शब्द' 'ऋग्वेद', 'शतपथ' ब्राह्मण तथा 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण में आता है। पर सब में सीता का सम्बन्ध कृषि, बीज अथवा हल के फल से स्थापित किया गया है और इस सीता का सम्बन्ध किसी प्रकार भी हम राम की सीता से नहीं स्थापित कर सकते। जनक-सुता की उत्पत्ति की कथा का कुछ सम्बन्ध वैदिक सीता से अवश्य लक्षित होता है किन्तु जैसा कि हमने पहले ही प्राचीन वैदिक ग्रन्थों पर विचार करते समय कहा था, अधिकांश परवर्ती कथाओं को प्राचीन वैदिक कथाओं के आधार पर ढालने की सजग चेष्टा की गई थी। सीता की उत्पत्ति की कल्पना भी उपर्युक्त वैदिक कथाओं से प्रभावित है, ऐसी सम्भावना सरलतापूर्वक की जा सकती है।

वैष्णवधर्म में सीता को श्री का अवतार माना गया है और यह महाकाव्य-युग के पहले की कल्पना किसी प्रकार भी नहीं हो सकती।

गीता की भक्ति

'महाभारत' तथा 'भगवद्गीता' के समय में सांस्कृतिक परिस्थितियों की दृष्टि से

१. ऋग्वेद ४।५।७।६-७--

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।

यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥

शतपथ ब्राह्मण ७।२।२ ५--

बीजाय वा एषा योनिष्क्रियते यत्सीता यथादृवाऽ

अयोनीरेतःसिचेदेवंतद्यदकृष्टे वपति ।

शतपथ ब्राह्मण ७।२।३।३,--

प्राणा वै सीताः

तैत्तिरीय ब्राह्मण २।३।१०।१

सा ह पितरं प्रजापतिमुपससार । त ऊँ हो वाच । नमस्ते अस्तु भगवः ।

यहाँ सीता का अर्थ हल का फल है न कि मानवी सीता ।

१० : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ता है। रचनाकाल की दृष्टि से भले ही इनके वर्तमान प्राप्य रूपों की अवधियों में कुछ शताब्दियों का अन्तर हो पर जिस समाज तथा जिन विभिन्न सांस्कृतिक अवस्थाओं का संकेत इन ग्रन्थों में मिलता है, वे लगभग समान हैं। हाँ, हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से उक्त दोनों ग्रन्थों को दो पृथक् वर्गों में रखकर उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन करना इसलिए आवश्यक है कि तत्व-निरूपण एवं आचार निर्धारण के उद्देश्य से लिखा गया यह द्वितीय ग्रन्थ ('गीता') ही परवर्ती भक्तिमार्गियों के लिए (कुछ अन्य साधकों के लिए भी) श्रुतिवाक्य बनता है। यही वह ग्रन्थ है जिसमें भागवतों या वैष्णवों के परम आराध्य भगवान् कृष्ण को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसकी शैली भी पूर्णतया भक्तिपरक है। यहीं हमें 'वासुदेव अर्जुनाभ्यां' का वास्तविक सानिध्य एवं बन्धुत्व देखने को मिलता है और साथ ही दास्य भक्ति एवं शरणागति या प्रपत्ति का उदात्त रूप भी उपलब्ध होता है। यही वह ग्रन्थ है जो उपनिषदों के कुछ वेद-विरोधी तत्वों को भी अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति द्वारा सबको यथोचित सम्मान देते हुए, सभी प्रचलित वैदिक धर्म-साधनाओं की महत्ता स्वीकार करते हुए अन्त में भक्ति को सर्वोपरि सिद्ध करके पराभक्ति की सुदृढ़ स्थापना करता है। केवल इसकी इसी विशेषता के कारण हम 'महाभारत' की भक्ति के साथ इसका अध्ययन न करके युग-सीमा-रेखा के रूप में इसे स्वीकार करते हुए, यहाँ स्वतंत्र रूप से 'गीता की भक्ति' का विवेचन कर रहे हैं।^१ यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि 'गीता' ने न केवल परवर्ती दर्शन-ग्रन्थों को प्रभावित किया था प्रत्युत अनेक साहित्यिक एवं पौराणिक ग्रन्थों पर भी इसकी अमिट छाप पड़ी है। एक पण्डित ने तो 'गीता' तथा 'अध्यात्म रामायण' के अनेक स्थलों को उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि बीसों स्थलों पर 'अध्यात्म रामायण' में गीता के पद कुछ-कुछ परिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। 'गीता' के १३वें अध्याय में वर्णित ज्ञान के बीसों साधन तो उसी क्रम से 'अध्यात्म रामायण' अरण्य काण्ड के चौथे सर्ग से उद्धृत हैं। (श्री गोवर्धन दास जी अग्रवाल, कल्याण, 'गीता अंक', पृष्ठ ३४४ व ४५)

अब एक अन्य तथ्य को ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है। 'गीता' के दर्शन एवं उपदेश को भक्ति, ज्ञान व कर्म तीनों धर्म-साधनाओं के पक्ष में खींचा गया है और जिसे जो पक्ष अपेक्षित था उसने वही अर्थ लिया है। बलभाचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' १।२।६ में 'स्मृतेष्व' की व्याख्या करते हुए 'अणु भाष्य' में लिखा है कि कृष्ण ने अर्जुन को जो अन्त में गूढ़ रहस्य बताया है वह भक्ति और प्रपत्ति का ही उपदेश है। अतः इसके पूर्व उन्होंने जो ज्ञान, कर्म तथा योग का उपदेश दिया है वह भक्ति और प्रपत्ति के ही अंग स्वरूप का

१. 'गीता' की अवधि डा० भण्डारकर ने ४०० ई० पू० के लगभग माना है किन्तु श्री सी० वी० वैद्य ने सभी भारतीय तथा विदेशी विद्वानों से असहमत होते हुए लिखा है, कि हम 'गीता' का काल ईसा से लगभग १२०० अथवा कम से कम १००० वर्ष पूर्व मान सकते हैं—कल्याण का 'भक्ति अंक', पृष्ठ ३१५।

किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है और डा० भण्डारकर द्वारा दी हुई तिथि ही आधुनिक विद्वानों को प्राह्य है।

निर्णय है क्योंकि 'मैं' आपकी आज्ञानुसार कार्य करूँगा, यह भक्ति और प्रपत्ति को ही सूचित करता है।

वल्लभाचार्य के इस मत में काफी बल है, यह हम आगे के विवेचन से देखेंगे।
गीता में अवतार—अब तक हमने अवतारों का उद्देश्य धर्म की स्थापना और अधर्म का अन्त माना था जैसा कि स्वयं 'महाभारत' में ही दिखाया गया है और 'गीता' में भी 'यदा यदा हि धर्मस्य ' कह कर इसी तथ्य को प्रमाणित किया गया है। किन्तु अवतार का एक दूसरा उद्देश्य भी इसके पहले तृतीय अध्याय में संकेतित है। भगवान भी स्वयं मानव रूप धर कर कर्म क्यों कर रहे हैं, इसका कारण कृष्ण ने 'गीता' में स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, दूसरे साधारण मनुष्य भी उसका अनुसरण करते हैं। वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण मानता है दूसरे लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं। हे पार्थ मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है और न मुझे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है, तो भी कर्म करता हूँ^२।' स्पष्ट है कि अवतार का दूसरा उद्देश्य मानव समाज में निश्चित रूप से कर्मों का निर्धारण अथवा दूसरे शब्दों में आदर्श उपस्थित करना भी है। किसी नये अवतार की कल्पना 'गीता' में नहीं की गई है पर कृष्ण ने अर्जुन से इतना अवश्य कहा है कि 'मेरे और तरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। उन सब को मैं जानता हूँ किन्तु तू नहीं जानता है। मैं आत्मा जन्माजन्म से रहित, निर्विकार और सब भूत प्राणियों का ईश्वर होकर भी अपनी प्रकृति में अविच्छिन्न होकर, अपनी माया से प्रकट होता हूँ'। 'हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म बढ़ जाता है तब-तब मैं धर्म के अभ्युत्थान तथा अधर्म के विनाश, साधु लोगों के परित्राण तथा असाधुओं के विनाश के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ।' (गीता ४।५-७)

गीता में भक्ति का महत्व^३—'गीता' में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों धर्म साधन-नाओं का समुचित विवेचन होते हुए भी अन्त में, जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, भक्ति को ही सर्वोपरि ठहराया गया है। तदर्थ दो उल्लेखों की ओर संकेत करना पर्याप्त होगा। पहला उल्लेख है अध्याय ग्यारह का जिसमें अपना विश्व रूप दिखाने के बाद भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि 'मेरे जिस रूप को तुमने देखा है उसका दर्शन अत्यन्त कठिन है। देवता लोग भी इस रूप को देखने की सदा इच्छा किया करते हैं। न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ जैसा कि मुझे तुमने देखा है। हे अर्जुन, हे परन्तप ! केवल अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्त्वतः जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ।' ^४

दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है 'गीता' के अन्तिम अध्याय में। यह अन्तिम अध्याय 'गीता' का उपसंहार है। इसमें गुह्य से गुह्य ज्ञानयुक्त सत्रहवें अध्याय का सार सूक्त रूप में कहते हुए अन्त में कृष्ण ने गुह्यतम भेद अर्जुन को बताया है क्योंकि अर्जुन

१. गीता ४।७-८.

२. गीता ३।२१-२२

३. गीता के बारहवें अध्ययन में भक्ति-योग का पूर्ण निरूपण द्रष्टव्य है।

४. गीता ११।५१-५४,

उन्हें प्रिय हैं और ६४वें श्लोक ने 'सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' कह कर आगे कृष्ण अर्जुन को 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' का उपदेश देते हैं जो इस बात का सबल प्रमाण है कि कृष्ण ने जिन-जिन साधना-पद्धतियों का विवेचन 'गीता' में किया है उन सब के ऊपर भक्ति है, और वह भक्ति, शरणागति भाव की भक्ति है। ऐसा भाव आने पर भगवान् विश्वास दिलाते हैं कि 'मेरे तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।' अन्त में अर्जुन ने जो यह स्वीकार किया है कि 'मैं आपका कहना करूँगा' अर्थात् ठीक उसी प्रकार कार्य करूँगा जैसा आप कहेंगे, वही है शरणागति की चरमसीमा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा शरणागति भाव की स्थापना के लिए हाँ दाँ है। अतः भक्ति को सर्वाधिक महत्व देनेवाला प्रामाणिक ग्रन्थ हम 'गीता' को ही स्वीकार कर सकते हैं जिसमें सौभाग्यवश किसी पंडित को प्रक्षिप्तांशों की आशंका नहीं हुई है।

निर्गुण तथा सगुण भक्ति—'गीता' के बारहवें अध्याय में इन दोनों प्रकार की भक्ति का सुन्दरतम समन्वय करते हुए कृष्ण ने सगुण भक्ति को इसलिए महत्व दिया है कि यह सर्वसाधारण द्वारा साध्य है जब कि निर्गुण भक्ति केवल ज्ञानी पुरुषों के लिए ही है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भक्ति में ज्ञान की आवश्यकता नहीं प्रत्युत व्यक्त और अव्यक्त रूप को ग्रहण करने के अर्थ में ही ज्ञान का उल्लेख किया गया है। दूसरी बात यह है कि यहाँ कृष्ण ने धर्म-साधना का सरलतम रूप प्रस्तुत करना चाहा है क्योंकि आगे ही वे अर्जुन से कहते हैं कि 'यदि यह भी न हो सके' और यदि वह भी न हो सके' आदि-आदि।^१

भक्त के प्रकार—उपर्युक्त निर्गुण एवं सगुण भक्ति के आधार पर भक्तों के दो स्थूल भेद सगुण एवं निर्गुण किये जा सकते हैं किन्तु यह विभाजन आराध्य देव के रूप के आधार पर हुआ। अब हम भक्तों के स्वरूप के आधार पर 'गीता' द्वारा चित्रित भक्तों के प्रकार पर आते हैं। 'गीता' के चार प्रकार के भक्त—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी प्रसिद्ध हैं जिनमें कृष्ण ने ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ माना है।^२ किन्तु यहाँ ज्ञानी भक्त का अर्थ ज्ञानमार्गियों से नहीं लिया जा सकता क्योंकि आगे सत्रहवें श्लोक में कृष्ण ने स्पष्ट कर दिया है कि 'ज्ञाना मेरो निष्काम भक्ति में लगा रहता है'। उपर्युक्त तीन भक्तों में से आर्त दुःख से प्रपण्डित होकर भगवान् को भजता है अर्थात् भक्ति का उद्देश्य पीड़ा से मुक्ति है, दूसरा जिज्ञासु ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से भजन करता है तथा तीसरा अर्थ (परमार्थ के निमित्त अर्थ) के उद्देश्य से भगवान् का भजन करता है। अर्थात् इन तीनों की भक्ति सकाम रहती है किन्तु चतुर्थ प्रकार का भक्त किसी प्रकार की कामना नहीं रखता और वह निष्काम

१. द्रष्टव्य 'गीता' द्वादश अध्याय प्रथम श्लोक जिसमें अर्जुन पूछते हैं कि वे जो व्यक्त भाव की उपासना करते हैं तथा वे जो अव्यक्त भाव की उपासना करते हैं उनमें समस्त योग के श्रेष्ठ ज्ञाता कौन हैं। तत्पश्चात् आगे के २, ३, ४ तथा विशेषतया पंचम श्लोक द्रष्टव्य जिसमें कहा गया है कि 'अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' कह कर स्वभावतः सगुणोपासना की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी गई है।

भाव से भक्ति करता है। ज्ञानी को सर्वोत्तम भक्त कृष्ण ने इसलिए नहीं कहा है कि उसे आत्मा, परमात्मा का तत्त्वतः बोध है प्रत्युत इसके मूल में ज्ञाना भक्त का शरणागति भाव है जैसा कि अगले श्लोक में कृष्ण ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'ये चारों प्रकार के भक्त उदार हैं किन्तु ज्ञानी को तो मैं अपनी आत्मा ही मानता हूँ क्योंकि वह अपने अन्तःकरण को मुझ परमात्मा में ही लगाकर सब की एकता के सर्वोत्तम भाव में स्थित रहता है।' आशय यह है कि चौथे प्रकार के ज्ञानी भक्तों को इसी बात का ज्ञान रहता है कि जो कुछ है सब परमात्मा ही है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं और इस निश्चय से वे सबके साथ प्रेम करते हुए भगवान की ही भक्ति करते हैं। अब यह स्वतः स्पष्ट है कि कृष्ण ने यहाँ अद्वैत तथा द्वैतभाव की ओर लक्ष्य किया है और अद्वैत भाव रखने वाले ज्ञानी भक्तों को सर्वश्रेष्ठ कहा है। अधिक स्पष्टीकरण के लिए नवें अध्याय में कृष्ण ने ज्ञानी भक्तों का स्वभाव बताते हुए कहा है कि 'ज्ञानी लोग यह मान कर कि मैं सब को उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे सब की प्रवृत्ति होती है प्रेम-भाव से मेरी उपासना करते हैं। मुझमें मन लगा कर, प्राणों को मुझमें जोड़ कर..... एवं मेरे विषय में चर्चा करते हुए सदा उसी में तृप्त रहते हैं और उसी में रमण करते हैं।..... उनके अनुग्रह के लिए ही मैं उनके (ज्ञानी भक्तों के) अन्तःकरण में स्थित हुआ देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानजन्य अंधकार का नाश करता हूँ।'।

भक्त के लक्षण—'गीता' में भक्त के लक्षणों का पूर्ण विवेचन करते हुए, अध्याय बारह में ही, श्लोक १३ से २० तक जो उल्लेख किया गया है उसमें निम्नलिखित लक्षण महत्वपूर्ण है—

१. सभी जीव-जन्तुओं से निष्काम प्रेम करने वाला सर्वबन्धु,
२. सांसारिक माया-मोह से मुक्त या कामना रहित,
३. हानि-लाभ, सुख-दुख, मान-अपमान को समान समझने वाला,
४. मन एवं इन्द्रियों को वशी-भूत करने वाला,
५. क्षमाशील, शान्त, करुणायुक्त, निरहंकारी-अद्वेषी,
६. कर्मों एवं कर्म-फलों को भगवान कृष्ण को अर्पित कर देने वाला कर्म-परायण, आकांक्षाहीन तथा
७. श्रद्धायुक्त।

वास्तव में यहाँ भक्तों के जो लक्षण बताये गये हैं वे शम, दम, शौच, क्षमा आदि शील प्रधान लक्षण ही हैं। भक्तितत्त्वपरक लक्षण शरणागति भाव सम्बन्धी हैं।

इसी प्रकार का एक दूसरा विवरण अठारहवें अध्याय में प्राप्त होता है जिससे भक्त के लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—

'शुद्ध अर्थात् आत्मनिष्ठ सात्त्विक बुद्धि से सब की एकता के साम्य भाव में जुड़कर, सात्त्विक धृति से अन्तःकरण को संयत करके, शब्दादिक विषयों की आसक्ति छोड़ कर,

राग-द्वेष को दूर करके, मिथ्याहारी, वाणी शरीर एवं मन को संयम में रखने वाला, वैराग्य, अहंकार, दुराग्रह, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग देने वाला, सांसारिक माया-मोह से रहित, शान्त पुरुष ब्रह्म स्वरूप होने के योग्य होता है। ब्रह्म-भाव को प्राप्त हुआ, प्रसन्न अन्तःकरण वाला मनुष्य न शोक करता है, न आकांक्षा रखता है और सब भूतों में सम होकर सब की आत्मा-परमात्मा स्वरूप मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है।^१ यहाँ उपर्युक्त लक्षणों को ही कुछ दूसरे रूप में कहा गया है और ज्ञानीभक्त को विशेष रूपेण लक्ष्य में रखा गया है।

गीता की भक्ति-साधना — अब हम संक्षेप में 'गीता' की भक्ति-साधना पर विचार करेंगे। प्रारम्भ में ही उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यद्यपि सख्यभाव पर 'गीता' में कुछ विस्तार पूर्वक नहीं कहा गया है तथापि अर्जुन तथा कृष्ण के सम्बन्धों को देखते हुए और बार-बार कृष्ण द्वारा अर्जुन को अपना प्रिय घोषित करते देख हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सख्य भक्ति का संकेत 'गीता' में यत्र-तत्र प्राप्त होता है। कृष्ण ने अर्जुन को समत्व-योग का रहस्य केवल इसीलिए बता दिया कि अर्जुन 'भक्तोऽसि मे च सखा च.....' (गीता ४-३)। दूसरे, जब कृष्ण ने सब में समत्व भाव पर ही बल दिया है तो सख्य भाव स्वतः सिद्ध है।^२ सर्वाधिक महत्व शरणागति को दिया गया है। वास्तव में शरणागति से ही 'गीता' का आरम्भ और इससे ही उसका पर्यावसान हुआ है। जैसा कि कहा जा चुका है, इस भाव के बिना तो तत्त्वज्ञानियों तक से ज्ञान नहीं प्राप्त होता है और कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह अर्जुन की शरणागति के कारण ही। कृष्ण ने अर्जुन के इस भाव को प्रारम्भ में ही पढ़ लिया था और ग्यारहवें अध्याय तक आते-आते तो अर्जुन पूर्णतया आत्मासमर्पण कर देते हैं। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज,' शरणागति भाव की चरम-सीमा है क्योंकि यहाँ सभी धर्मों का परित्याग करने को कह कर केवल भगवान कृष्ण की शरण में जाने का उपदेश दिया गया है। और शरणागत को कृष्ण ने आश्वासन भी दिया है कि 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षाषिष्यामि मा शुचः'^३

१. गीता १८।५१-५४

२. भगवान कृष्ण का विराट रूप देखकर अर्जुन ने जो भाव व्यक्त किये हैं और कृष्ण ने जो आश्वासन दिया है वे तदर्थं द्रष्टव्य हैं—

'आपकी इस महिमा को न जानते हुए आपको मित्र मान कर स्नेह अथवा प्रमाद-वश मैंने हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! आदि जो बराबरी के सम्बोधनों का प्रयोग आपके लिए किया है.....उसके लिए हे अच्युत! हे प्रमेय! मैं क्षमा चाहता हूँ।

गीता ११।४१-४२

किन्तु उत्तर में कृष्ण ने स्पष्ट कह दिया कि वे अर्जुन के इस सख्य भाव से रुष्ट नहीं हुए क्योंकि 'मया प्रसन्नेन तवार्जनेन रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्'—गीता ११।४७ पूर्वार्ध।

अतः ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि सख्य भाव की भक्ति का मूल स्रोत 'गीता' ही है।

३. गीता १८।६६

भक्ति-मार्ग को सरलतम बनाते हुए और साथ ही सगुण भक्ति पर बल देते हुए अध्याय १२ में जो व्यवस्था की गई है वह द्रष्टव्य है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

‘अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों (निर्गुणोपासकों) को बहुत क्लेश होता है क्योंकि देहाभिमानीयों के लिए अव्यक्त में गति होना दुःखसाध्य है परन्तु जो सब कर्मों का मुझमें सन्यास करके मेरे परायण होकर अनन्य भाव में मन लगा कर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ ! मुझमें पूर्णतया चित्त लगा देने वाले उन व्यक्तियों को मैं मृत्यु-रूप संसार समुद्र से शीघ्र ही पार करता हूँ (अतः) मुझमें मन लगा, मुझमें ही बुद्धि स्थिर कर क्योंकि ऐसा करने से उन्नत होकर निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा। और यदि तू मुझसे भली-भाँति चित्त स्थिर न कर सकता हो तो अभ्यास-योग से मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर। यदि अभ्यास करने में भी असमर्थ है तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर रह, मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा। (यहाँ मेरे लिए कर्म का आशय नवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक के अनुसार सर्वव्यापक परमात्मा के लिए कार्य अर्थात् लोक-सेवा कार्य से है), और यदि तू उपर्युक्त कर्म करने में भी असमर्थ है तो प्रयत्न पूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर। अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, ध्यान से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है (क्योंकि) त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है।’^१ अभ्यास, ज्ञान एवं ध्यान आदि को आगे सर्वभूतात्मक भाव से सांसारिक व्यवहार करने का साधन कहा गया है। कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान-विज्ञान एवं विभिन्न मत-मतान्तरों, आचार व्यवहारों तथा साधना-पद्धतियाँ आदि का पूर्व अध्यायों में उपदेश देने के बाद अन्त में यही कहा है कि ‘हे भारत ! तू सब प्रकार से उसी (परमेश्वर) की शरण में जा। उसके प्रसाद से तू परम शान्ति के शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।’^२

अभ्यास-योग से यहाँ अभिप्राय स्मरण एवं चिन्तन के अभ्यास से ही है जैसा कि गीता ८।८ से स्पष्ट है।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त यत्र-तत्र स्मरण, कीर्तन, बन्दन आदि को भी भगवद् प्राप्ति का साधन बताया गया है जिसमें स्मरण को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। स्मरण को इतना क्यों महत्व दिया गया है इसका स्पष्टीकरण ‘गीता’ में ही यह कह कर दिया गया है कि जित-जित भावों या पदार्थों का स्मरण किया जायेगा उन्हीं के अनुसार गति होगी।^३ इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन से अध्याय ८ श्लोक ५ में कहा है—

१. गीता १२।५-१२

अवान्तर होते हुए भी यह कह देना आवश्यक है कि महात्मा तुलसी दास के राम भी ‘ज्ञान अगमप्रत्यह अनेका, साधन कठिन न मन कह टेका’, करत कष्ट बहु पावइ कोऊ, कहा था। ‘देखिये’ “मानस” उत्तरकाण्ड, रामद्वारा भक्ति का निरूपण, आगे भक्तों के लक्षण भी गीता १२।१३-२० के अनुसार बताया गया है।

२. गीता १८-६२

३. गीत ८।६. गीता ९।२५ में भी कबीर के ‘भुतवा के पुजले भुतवा होई’, का बीज उपलब्ध है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

यहाँ तक कि वहीं अगले श्लोक में 'मामानुस्मर युद्ध च' कह कर युद्ध करते हुए भी स्मरण करने का उपदेश दिया गया है। भगवान् चाहे और किसी को सुलभ हों या न हों, किन्तु 'जो निरन्तर अनन्य भाव से नित्य प्रति मेरा (भगवान् का) स्मरण करता रहता है, उस योगी को मैं सहज ही सुलभ हूँ।' १

तेरहवें अध्याय में श्रवण द्वारा आत्मदर्शन को कोई बहुत ही उच्चकोटि का साधन नहीं बताया गया है; क्योंकि जो ध्यानयोग, सांख्ययोग तथा कर्मयोग से आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते वे अं रों से सुन कर उपासना करते हैं, इस प्रकार का उल्लेख किया गया है।^२ किन्तु ये श्रुतिपरायण लोग भी मृत्यु को जीत लेते हैं। तेषां चातितरन्त्येव मृत्यु श्रुतिपरायणः—वहां ५२ का उत्तरार्ध। भगवद् कथा सुनने तथा सुनाने का सर्वाधिक महत्व गीता-उपदेश के अन्त में दिया गया है जहाँ अर्जुन को 'मामेकं शरणं ब्रज' अर्थात् शरणागति भक्ति का गूढ़तम रहस्य बताने के पश्चात् कृष्ण यह सूचित करते हैं कि 'तप करने वाले, भक्ति न रखने वाले' सुनने की इच्छा न रखने वाले तथा मेरी निन्दा करने वाले को यह (गूढ़ रहस्य) तुझे कभी नहीं बताना चाहिए'^३ और फिर आगे कृष्ण ने यह कहा है कि 'जो इस परम रहस्य को मेरे भक्तों को समझा कर कहेगा वह मेरी परामक्ति करके निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। मनुष्य में उससे (इस परम रहस्य का भक्तों को समझा कर कहने वाले से) बढ़ कर दूसरा कोई मेरा अतिशय प्रिय करने वाला नहीं है और न इस पृथ्वी पर मुझे उससे अधिक कोई प्रिय होगा। जो कोई हम दोनों के इस धर्म-रूप संवाद का अध्ययन करेगा उसे मैं ऐसा मानूँगा कि उसने ज्ञान-यज्ञ से मेरी उपासना की है और जो मनुष्य श्रद्धा भाव से, दोष-दृष्टि से रहित होकर इसे सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।' ४ इस विवरण से हमें यह भी सोचने की प्रेरणा मिलती है कि 'गीता' ने भक्ति-मार्ग के प्रचार को भी प्रोत्साहित किया है क्योंकि भक्ति-प्रचारक से बढ़कर पृथ्वी पर कोई दूसरा कृष्ण का प्रिय नहीं है।

कीर्तन का भी उल्लेख 'गीता' में किया गया है और एक स्थल पर यह बताया गया है कि (कुछ लोग) 'दृढवत् होकर यत्न करते हुए निरन्तर मेरा (कृष्ण भगवान् का) कीर्तन करते हैं और भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं'।^५

मानसिक और बाह्य दोनों प्रकार के अर्चनों का प्रमाण 'गीता' में उपलब्ध है। मानसिक अर्चन का संकेत पूर्वलिखित दास्यभावपरक श्लोकों से प्राप्त होता है और बाह्य अर्चन का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

१. गीता ८।१४

२. गीता, १३।२४-२५

३. गीता, १८।६७

४. गीता, १८।६८-७१

५. गीता ९।१४

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥^१

यह भी भक्ति-मार्ग का सरलीकरण है तथा इस प्रकार वेद-विरोधी अन्नाह्मण धर्मों के खर्चीले यज्ञ-सम्बन्धी आरोपों से प्रभावित जन-समुदाय को सर्व सुलभ पदार्थों द्वारा भी भगवद्-प्राप्ति के सरलतम मार्ग का निर्देशन किया गया है। इतना ही नहीं, आगे यह भी कह दिया गया है कि 'जो तू करता है जो खाता अथवा भोगता है, जो हवन करता है, जो देता है, जो तप करता है वह सब मुझे ही अर्पित कर।' ^२ अस्तु सभी कर्मों को भगवान् को अर्पित कर देने का उपदेश देकर समर्पण की भावना को बल दिया गया है जो भक्ति की चरम सीमा है।

वन्दन का सर्वोत्तम उदाहरण हमें 'गीता' के ग्यारहवें अध्याय में प्राप्त होता है जहाँ अर्जुन द्वारा सत्रह श्लोकों में भगवान् की महिमा का गुण-गान कराया गया है। यहाँ ऋषियों, मुनियों, देवताओं (इन्द्र, आदित्य, वसु, विश्वदेव, दोनों अश्विनीकुमारों) तथा सिद्धों द्वारा भगवान् की वन्दना कराई गई है अन्त में इस लम्बी वन्दना के पश्चात् अर्जुन 'नमो स्तु ते देववर प्रसीद कह कर जिज्ञातु भक्त की भाँति यह जानना चाहते हैं कि 'ऐसा उग्र रूप धारण करने वाले कृष्ण वास्तव में हैं कौन' ^३ किन्तु इसके पूर्व भी अर्जुन द्वारा भगवान् कृष्ण की वन्दना दसवें अध्याय में कराई जा चुकी है जहाँ अर्जुन ने उन्हें 'परम ब्रह्मा, परम धाम, परम पवित्र' आदि कह कर भगवान् से अनुग्रह करके अपनी दिव्य विभूतियों के वर्णन की प्रार्थना की है और यह भी कहा है कि उन्हें यह कथानक सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है। ^४

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति की सभी विधियाँ परवर्ती ग्रन्थकारों—विशेषतया पुराणकारों को 'गीता' से ही उपलब्ध हुई है और इन्हीं विधियों में उन्होंने कुछ सम्बर्द्धन करके भक्ति-मार्ग का निरूपण किया है। सख्य-भाव में मधुर-उपासना का न तो 'गीता' में कोई प्रत्यक्ष उल्लेख है, न अप्रत्यक्ष संकेत ही। यह पूर्णतया पुराण-कारों के मस्तिष्क की उपज है जिसे उन्होंने लोक-धर्म से ग्रहण किया होगा।

गीता के आराध्य देव—सर्व शक्ति सम्पन्न स्वरूप भगवान्, परमात्मा या ईश्वर का जो रूप 'गीता' में चित्रित किया गया है वह अन्य धर्म-साधना-पद्धतियों के अनुगामियों के लिए तो उत्प्रेरक है ही, भक्तिमार्गीयों के लिए तो जैसे इससे सुन्दर कल्पना कभी की ही नहीं गई थी। यत्र-तत्र अपने स्वरूप का दर्शन अर्जुन को कराते हुए कृष्ण ने एक स्थान पर इस प्रकार कहा है—

“ऋतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, वनस्पति मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, आज्य (होम्य पदार्थ) मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, हवन मैं हूँ। इस जगत् का माता, पिता, भ्राता, और पितामह मैं हूँ। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि मैं हूँ, ओंकार मैं हूँ, गीता मैं हूँ, सब का भरण-पोषण

१. गीता, ९।२६

२. गीता, ९।२७

३. गीता ११।१५-३१

४. गीता १०।१२-१८

करने वाला मैं हूँ, प्रभु मैं हूँ, साक्षी मैं हूँ, सब का निवास मैं हूँ, सब का रक्षक, सुहृद, प्रभव एवं प्रलय मैं हूँ, स्थान मैं हूँ, निधान मैं हूँ अन्त्य वीज (अर्थात् सब का अविनाशी एवं अविकारी कारण) मैं हूँ अमृत एवं मृत मैं हूँ, सत एवं असत मैं हूँ^१

भक्त को जिस सर्व शक्तिमान आराध्य देव की अपेक्षा थी वह 'महाभारत' के बाद 'गीता' में ही प्राप्त होता है। 'गीता' ने ही एक ऐसे परमपरमेश्वर को प्रस्तुत किया है जिसे सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में भक्त स्वीकार कर सकता है। (सगुण-निर्गुण रूप पर प्रारम्भ में ही विचार किया जा चुका है अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं।)

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्धों पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। 'गीता' के १३वें अध्याय में, प्रारम्भ में ही, कृष्ण ने अर्जुन को इस विषय पर समझाते हुए कहा है कि यह शरीर क्षेत्र कहलाता है (इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते) इसका अनुभव करनेवाला तत्त्ववेत्ताओं द्वारा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। किन्तु आगे कह दिया गया है कि 'सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है।^२ आशय यह कि आत्मा और परमात्मा एक है।

परा तथा अपरा प्रकृति—दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख दो प्रकार की प्रकृतियों का है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ भेदों वाली परब्रह्म की प्रकृति अपरा प्रकृति है और इससे भिन्न जीव भाववाली प्रकृति उसकी पराप्रकृति है। इसी पराप्रकृति से ही जगत् धारण किया जाता है। इन्हीं दोनों प्रकृतियों से सब भूत प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परमात्मा ही अखिल विश्व का आदि और अन्त है।^३

उपर्युक्त विवरण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ एक ओर परमात्मा और आत्मा का ऐक्य स्थापित किया गया है वहीं परमात्मा को इन सबसे ऊपर निराकार, निर्विकार सिद्ध करके तथा उसे सबका आदि एवं अन्त घोषित करके स्वभावतः भक्त को भगवान की महानता, विशालता, आदि का दर्शन कराकर उसके प्रति शराणगत भाव को सबल किया गया है।

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था—महाभारतकार ने वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ स्थापना के लिए जो प्रयत्न किये थे उसे 'गीता' ने भी आगे बढ़ाया है और युग की आवश्यकतानुसार ब्राह्मण धर्म की रक्षा के लिए इसकी अपेक्षा भी थी। 'गीता' ने अपने आराधकों को स्ववर्णानुसार कर्म करने को प्रोत्साहन देते हुए इतना तक कह दिया है कि यह भी मुक्ति का एक बहुत बड़ा साधन है। बात यह है कि एक ओर तो 'गीता' में शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म के औचित्य की स्थापना करनी थी जिसकी खिल्ली विरोधी धर्मों द्वारा उड़ाई जा रही थी और दूसरी ओर भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल देना था। अतः इन दोनों की व्यवस्था करते हुए कहा गया कि 'अखिल विश्व त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज तथा तमगुण युक्त) है। इन तीन गुणों से रहित कुछ भी नहीं

१ गीता ९।१६-१९

२ गीता १३।१-२

३ गीता ७।४-६

है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अपने-अपने कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार ही बँटे हैं।^१

परम्परित वर्णाश्रम धर्म का उल्लेख करते हुए अर्थात् यह बताते हुए कि ब्राह्मण को शम, दम तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान (अध्यात्म ज्ञान), विज्ञान (लौकिक ज्ञान), आस्तिकता, ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं; शूरवीरता, तेजस्विता, वैर्य, कार्य-कुशलता अथवा नीति-निपुणता, युद्ध में पीछे न हटना, दान, ईश्वर-भाव (अर्थात् प्रजा-पालन एवं रक्षात्मक भाव से शासन करना) क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं; 'खेती गोपालन एवं व्यवसाय वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है'।^२ भगवान् कृष्ण ने अन्त में यह विश्वास दिलाया है कि अपने-अपने कर्मों में भली-भाँति लगा हुआ प्राणी सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। आगे यह भी कह दिया है कि दूसरों के धर्म का आचरण उत्तम हो और अपना अपेक्षाकृत निकृष्ट हो तो भी अपना धर्म ही श्रेष्ठ है स्वाभाविक कर्म यदि दोषयुक्त हो तो भी अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।^३ आशय यह कि यहाँ कृष्ण ने उन समस्त विरोधियों का उत्तर दे दिया है जो ब्राह्मण धर्म के वर्णभेद को दोष रूप स्वीकार करते हुए तथाकथित शूद्र जाति को भड़का रहे थे। कृष्ण ने इन सभी वर्णों को निष्काम भाव से अपने-अपने कर्म करते हुए, उन कर्मों को स्वयं उन्हें ही समर्पित करके सिद्धि प्राप्त करने का जो सुगम मार्ग दिखाया वह बहुत ही आकर्षक सिद्ध हुआ और स्वभावतः भागवत सम्प्रदाय को उन्नतशील होने का अवसर प्राप्त हुआ। 'महाभारत' भी शूद्र भक्तों को श्रेष्ठ घोषित कर चुका था शूद्रों के साथ-साथ नारियों के लिए भी यह मार्ग खोल दिया गया था। इस प्रकार 'गीता' में आराधकों में ऊँच-नीच, नारी-पुरुष आदि का कोई भेद-भाव न रख कर, साथ ही ज्ञानी ब्राह्मणों को एवं गुरुओं को महत्व प्रदान करके प्राचीन काल से चले आने वाले भागवत धर्म को सक्रिय एवं उन्नतशील बनाने की सफल चेष्टा की गई। भागवत धर्म के इतर (भगवान् कृष्ण की पूजा के इतर) अन्य देवताओं की पूजा को तो 'गीता' में बड़े ही सुन्दर ढंग से हेय घोषित करते हुए उसे पतन का कारण बताया गया है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धान्विताः ॥

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥^४

जिस पूर्व विधि का यहाँ संकेत किया गया है वह इसी अध्याय के श्लोक १३-१४ में वर्णित विधि है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। (इस विधि में भगवान् को ही सर्व-शक्तिसम्पन्न

१. गीता १८।४०-११

२. गीता १८।४२-४४

३. गीता १८।४७-४८

४. गीता ९।२३-२४

मानने एवं समत्व भाव को धारण करने तथा उसी एक परब्रह्मा के कीर्तन एवं मनन आदि का उल्लेख है)

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का जो उल्लेख किया जा चुका है इसका महत्व हमें आगे देखने को मिलेगा; जब पुराणकारों को तीसरी से छठीं शताब्दी ईसवी के बीच न केवल अर्वाचीन पुराणों में प्रत्युत प्राचीन पुराणों में भी स्मृति-परक अंश जोड़कर वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के लिए भगीरथ प्रयत्न करने पड़े और इसके पूर्व 'महाभारत' तथा 'रामायण' में भी तदर्थ परिवर्द्धन करने पड़े थे। नहीं कहा जा सकता कि यदि उन्हें 'गीता' का उक्त आश्रय (वर्णाश्रम धर्म-स्थापना सम्बन्धी प्रकरण) नहीं प्राप्त हुआ होता तो परवर्ती पुराणकारों या परिवर्द्धकों को कहाँ तक सफलता मिली होती। केवल स्मृति का सहारा लेकर वे इतना साहसपूर्वक 'महाभारत' या प्राचीन पुराणों में वर्णाश्रम धर्मपरक तत्वों का समावेश सम्भवतः नहीं कर सके होते।

६: पौराणिक तथा पांचरात्रिक युग

महाकाव्यों के युग के अध्ययन के पश्चात् हम भक्ति-आंदोलन के उस युग का अध्ययन करेंगे जो विभिन्न प्रकार की बाह्य एवं आन्तरिक विरोधी शक्तियों से लोहा लेने तथा पहले से चले आने वाले आंदोलन को प्रबलतम रूप देने की दृष्टि से आंदोलन का वह संवर्धनयुग है जिसमें सम्पूर्ण देश के भागवतों या पांचरात्रिकों ने संगठित होकर आन्दोलन की सफलता का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास किया था। यही वह युग है जिसने वेदमत और लोकमत के समन्वय के लिए पहली बार सफल चेष्टा की थी, जिसने वेदविरोधियों तथा कट्टर वेदानुयायियों के बीच एक ऐसे पुल का निर्माण किया था जिस पर वैदिकी हिंसा तथा 'अहिंसा परमो धर्मः' साथ-साथ चल सकते थे और इसी युग ने भक्ति के आंतरिक एवं बाह्य अंगों का वह पूर्ण विकास किया था जो परवर्ती भागवतों के भक्ति तत्व एवं आचार का आधार तत्व बना। यह भी ठीक ही है कि किसी भी आन्दोलन की विकासावस्था में जो परस्पर वैमिष्य एवं मतमतान्तर आदि आ जाते हैं, वैसे वैमिष्य एवं मतमतान्तर स्वयं भागवत सम्प्रदाय में भी आये थे। पर इसी युग की अन्तिम अवधि तक आते आते सारे विरोध तथा वैमिष्य का निराकरण करते हुए, विरोधी तत्वों को भी कुछ हेर-फेर के साथ अपने ढाँचे में ढालते हुए एक सर्वस्वीकृत मार्ग का निर्माण कर दिया गया था। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस युग में भागवत ग्रन्थकारों, शिवशेषतया वैष्णव पुराणकारों के सम्मुख जहाँ एक ओर जैनियों-बौद्धों से निपटने की समस्या थी वहीं दूसरी ओर महाभारतीय पाँचरात्रिकों की कुछ संहिताओं में प्रतिपादित वेद-विरोधी तत्वों का भी इस प्रकार निरोध करना था, जिससे ये तांत्रिक प्रभावों से मुक्त होकर विशुद्ध स्मार्त-ब्राह्मणों का श्रुतिसम्मत भागवत धर्म-ग्रन्थ बन सकें। इसी युग में पाँचरात्रिकों ने अपने व्यूहवाद को दार्शनिक आधार देने का सफल प्रयत्न किया था और साधन-पक्ष को अधिकाधिक विकास देने के लिए अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था।

ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से तो यह युग पूरे भागवत धर्म के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखता। सैकड़ों की संख्या तक जानेवाला पुराण का विपुल साहित्य तो है ही, पाँचरात्रिकों की संहिताओं की संख्या भी दो सौ से ऊपर तक चली जाती है। यद्यपि हम वैष्णव उपनिषदों तथा भक्ति-सूत्रों का अध्ययन इस युग में नहीं करेंगे क्योंकि इस 'सोपान' के प्रतिपाद्य ग्रन्थ पुराण तथा पाँचरात्र-संहिताओं की प्राचीनतम तिथि उत्तरकालीन उपनिषदों तथा भक्ति-सूत्रों से बहुत पहले पड़ती है तथापि जिस रूप में आज उक्त दो ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं वह तो निश्चय ही उत्तरकालीन वैष्णव उपनिषदों तथा भक्ति-सूत्रों के समकालीन हैं। और इस दृष्टि से भी हम कह सकते हैं कि पौराणिक युग भक्ति-साहित्य के सृजन का पहला महत्वपूर्ण युग है। मौलिकता की दृष्टि से भी इस साहित्य के सृजन का अपना महत्व है और जहाँ तक परवर्ती भक्ति-साहित्य पर प्रभाव डालने की बात है, यह साहित्य और भी अधिक महत्वपूर्ण है।

रचना-तिथि की बात ऊपर की गई थी। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर इतिहासकारों

में पर्याप्त मतभेद है। यहाँ हम पार्जिटर द्वारा प्रतिपादित तथा अनेक भारतीय विद्वानों द्वारा मान्य मत को ही स्वीकार करके चलेंगे। डा० राधामुकुन्द मुखर्जी ने पुराणों की तिथि के सम्बन्ध में लिखा है—

“पुराण की प्राचीनता उपनिषद् काल तक जाती है, जहाँ इतिहास-पुराणों को अध्ययन का मान्य विषय स्वीकृत किया गया है और यहाँ तक कि उसे पंचम वेद कहा गया है....

विद्यमान पुराण-ग्रन्थ-सम्बन्धी प्राचीनतम उल्लेख ‘आपस्तम्ब धर्मसूत्र’ में आता है (२।१।२४।६), जिसमें द्वितीय शती ई० पू० के लगभग ‘भविष्य’ पुराण का उल्लेख किया गया है, जिससे उक्त पुराण का और भी प्राचीन समय पाँचवीं शती ई० पू० के लगभग ज्ञात होता है।”^१

अतः जिस प्राचीनतम तिथि का ऊपर संकेत किया गया था उसे हम निश्चित रूप से ‘गीता’ के आस-पास की या उसके कुछ ही वाद का समय स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु पुराणों में परिवर्तन-परिवर्द्धन बहुत वाद तक होते रहे और इस प्रकार विद्वानों ने पुराणों के वर्तमान रूप का समय तेरहवीं शताब्दी ई० तक स्वीकार किया है।^२ पाँचरात्र संहिताओं की तिथि के सम्बन्ध में भी कम मत-वैभिन्य नहीं है। फर्कुहर महोदय ने यह तिथि छसी से आठ सौ ईसवी स्वीकार की है, किन्तु इस विषय के पण्डित थ्रेडर ने ईसवी सन् के पूर्व भी अनेक संहिताओं का अस्तित्व माना है। हम इन विरोधी मतों से इतना निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लम्बी सूची वाले संहिता-साहित्य की अवधि भी लम्बी है और स्वयं पुराणों की गवाही पर ही हम इनकी अनिश्चित प्राचीनतम तिथि की उपेक्षा करते हुए भी इन्हें अनेक पुराणों का समकालीन स्वीकार कर सकते हैं। वैष्णव-तत्व-युक्त पुराणों तथा प्राचीन पाँचरात्र संहिताओं की तिथि तो हम निश्चित रूप से एक स्वीकार कर सकते हैं। अनेक पुराणों ने पाँचरात्र आगमों तथा संहिताओं के अध्ययन की सिफारिश की है अथवा कुछ पुराणों ने तांत्रिक प्रभाव एवं अवैदिक तत्व-मिश्रित पाँचरात्र संहिताओं को ध्यान में रखते हुए पाँचरात्रिकों को अवैदिक कहा है। अतः पुराणों में पाँचरात्र आगमों का उल्लेख उन्हें समकालीन ही सिद्ध करता है।

भक्ति-आन्दोलन में पुराणों की देन

हमने भक्ति-आन्दोलन में पुराणों की देन-सम्बन्धी जिन तथ्यों की ओर ऊपर संकेत किया था उनका यहाँ कुछ विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जायेगा। पर इसके पूर्व हमें पुराण की साहित्यिक निधि का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। १८ पुराण सर्व विदित हैं और यह भी प्रकट है कि कुछ ही हेर-फेर के साथ प्रायः सभी पुराणों में निम्न-लिखित १८ पुराणों के नाम उपलब्ध होते हैं—

१. ब्राह्म, २. पाद्म, ३. वैष्णव, ४. शैव, ५. भागवत, ६. नारदीय, ७.

मार्कण्डेय, ८. आग्नेय, ९. भविष्य, १०. ब्रह्मवैवर्त, ११. लैंग, १२. बाराह,

१. डा० राधामुकुन्द मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १४६-४७

२. पुराणों तथा उपपुराणों की तिथियों (उनके प्रक्षिप्तांशों की भी तिथियों) का पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन डा० आर० सी० हाजरा ने ‘स्टडीज इन द पुरानिक रिकर्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स’ तथा ‘स्टडीज इन द उपपुरान’ में किया है।

१३. स्कन्द, १४. वामन, १५. कौर्म, १६. मात्स्य, १७. गारुड तथा १८. ब्रह्माण्ड। कहने के लिए उप पुराण भी १८ हैं पर वास्तव में उनकी संख्या इससे कहीं अधिक है क्योंकि 'शास्त्र' नामधारी कुछ ग्रन्थों को भी उप-पुराणों में गिन लिया जाता है।

पुराणों के रचयिता के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। (पर-वोपदेव वाले मत को तो निश्चित रूप से भ्रम कह सकते हैं।) इसके रचयिता वेद-व्यास जी थे जिन्होंने सूत लोमहर्षण को आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि युक्त पुराण संहिता प्रदान की और लोमहर्षण के शिष्यों में से अन्तिम तीन शिष्यों छः अकृत ब्रण, शाखायन तथा सावर्णि ने इसके आधार पर अपनी तीन संहिताएँ रचीं, इस प्रकार प्रथम मूल संहिता तथा अन्य आधारित तीन संहिताओं—इन चार संहिताओं से ही सभी पुराणों की रचना हुई है। पुराणों में कौन प्राचीनतम है, यह भी एक पृथक समस्या है। ब्राह्म-पुराण की ही अब तक यह पद प्राप्त है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक पुराणों की रचना चलती रही और 'बाराह' पुराण में तो रामानुजाचार्य तक का उल्लेख है। अस्तु।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोऽमन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितश्चैनं पुराणम् पञ्च लक्षणम् ॥

उक्त श्लोक पुराणों के विषयों की सीमा-निर्धारण करता है। सर्ग (आदि सृष्टि), २. प्रतिसर्ग (प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि), ३. वंश (देवताओं तथा ऋषियों की वंश तालिका), ४. मन्वन्तर (कल्पों के महायुग जिनमें मानव का श्रष्टा मनु माना गया है) तथा ५. वंशानुचरित (प्राचीन राजकुलों का इतिहास) ये ही पुराणों के पाँच लक्षण कहे गये हैं। पुराणों की साम्प्रदायिक सामग्री के आधार पर उन्हें वैष्णव शैव या शाक्त पुराण की भी संज्ञा दी जा सकती है। 'मत्स्य', 'कूर्म', 'बाराह', 'वामन', 'नारद', 'ब्रह्मवैवर्त', 'विष्णु', तथा 'भागवत' वैष्णव पुराण हैं। डा० आर० सी० हाजरा ने चतुर्व्यूह द्वारा अवतारों के नाम पर ही 'मत्स्य' 'कूर्म' आदि पुराणों की रचना स्वीकार की है जिसमें पर्याप्त तथ्य है। 'भागवत' पुराण का तो स्वयं सम्प्रदाय के नाम पर ही नामकरण किया गया है।

पुराणों की देन—इस अध्ययन को निम्नलिखित शीर्षकों में, सुविधा के लिए, विभाजित किया गया है—

१. श्रुतियों की प्रामाणिकता तथा वर्णाश्रम धर्म की स्थापना,
२. साध्य पक्ष तथा
३. साधन पक्ष।

श्रुतियों की प्रामाणिकता एवं वर्णाश्रम धर्म की स्थापना—पहले हम वर्णाश्रम धर्म का प्रश्न लेते हैं क्योंकि इसका भक्त समाज से सीधा सम्बन्ध है। महाभारत युग की परिस्थितियों का अध्ययन करते समय हमें यह ज्ञात हुआ था कि पाँचरात्रिकों की कुछ मान्यताएँ पूर्ववर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों से भिन्न थीं; कम से कम वर्णाश्रम धर्म के पालन के सम्बन्ध में एवं जातीय कठोरता को लेकर इन दोनों में कुछ भिन्नता थी। आगे की शताब्दियों में यह भिन्नता और भी बढ़ती गई। एक ओर भागवत या पाँचरात्रिक धर्म अत्यधिक उदार होता गया और दूसरी ओर प्राचीन ब्राह्मण धर्म उत्तना ही रूढ़िग्रस्त होता गया। भागवतों की इसी उदारता का परिणाम था कि विदेशियों ने भी ईसा के पूर्व युग से इसे स्वीकार करना आरम्भ कर दिया था, जैसा कि हमें बेस-

नगर (२०० ई० पू०) के अभिलेख से ज्ञात होता है। इन्हें अब्राह्मण धर्मों में बौद्ध तथा ब्राह्मण-धर्मों में भागवत धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्प्रदाय बहुत अधिक आकृष्ट नहीं कर सकता था। शुंगों तथा सातवाहनों के युग में तो बहुत अधिक संख्या में विदेशियों ने ब्राह्मण धर्म स्वीकार किया था और उन्होंने, 'सिहध्वज', 'चित्र' एवं 'चन्द्र' आदि हिन्दू नाम भी ग्रहण किये थे। बहुत अधिक संख्या में भागवत धर्मान्तर्गत सम्मिलित विदेशियों का भागवत सम्प्रदाय के सामाजिक पहलू पर क्या प्रभाव पड़ा होगा यह एक महत्वपूर्ण विषय है पर इससे भी महत्वपूर्ण एक अन्य तथ्य है। महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन-काल से लेकर शुंग-सातवाहन-युग के कुछ ही पूर्व तक बौद्ध धर्म की सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव भारतीय समाज पर अक्षुण्ण रूप से पड़ता जा रहा था। अशोक की बौद्ध परक धार्मिक नीति ने धार्मिक एवं सामाजिक सहिष्णुता का जो आश्रय लिया था वह भी ब्राह्मण सम्प्रदायों पर कुछ इस प्रकार छा गई कि सबको सामाजिक समन्वय की ओर मुड़ना पड़ा। अतः मौर्यों के बाद ब्राह्मण साम्राज्य भी केवल वैदिक कर्मकाण्डों (धार्मिक कर्मकाण्डों) के ही पुनरुत्थान का युग बन कर रह जाता है। वह समाज की भीतरी नस में किसी प्रकार भी पुरानी गति नहीं ला सका और सम्भवतः उसने न तो ऐसा कोई प्रयत्न ही किया था। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त जैन तथा आजीवक मत भी कम प्रबल न थे जिन्होंने पुराणों को न केवल धार्मिक दृष्टि से प्रत्युत सामाजिक दृष्टि से भी नये उपाख्यानो एवं नई नई सामाजिक मान्यताओं के सृजन के लिए बाध्य किया। इस प्रकार एक ओर तो मूलतः पाँचरात्र मत कुछ दृष्टियों से ब्राह्मण धर्म की कट्टर सामाजिक एवं विशेषतया वर्णाश्रम सम्बन्धी निष्ठाओं के पालन में ढिलाई बरतता चला जा रहा था और दूसरी ओर जब उस पर प्रतिद्वन्द्वी अब्राह्मण धर्मों का प्रभाव पड़ा तो वह कुछ और लचीला हो चला विदेशियों के सम्मिश्रण ने इस लचीलेपन में योग दिया और जैसा कि हम देखेंगे, पाँचरात्र-संहिताओं के युग तक आते आते पाँचरात्रिकों या भागवतों में भी वर्णाश्रम धर्म को लेकर स्पष्टतया दो मत हो गये। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, स्मार्त पाँचरात्रिक तो पूर्णतया दसों अवतारों (या प्रमुख अवतारों) को मानते थे पर इनके इतर केवल चतुर्व्यूह को मानने वाले वर्णाश्रम धर्म से भी बाहर जा रहे थे।

१. भगवती सूत्र (४०० ई० पू०) में महावीर तथा आजीवक मक्खलि गोसाल की यात्रा का जो विवरण मिलता है उसमें अनेक स्थानों पर वासुदेव व बलदेव के मन्दिरों का उल्लेख है तथा गोसाल की चार घटनाएँ वैष्णव मन्दिरों में ही घटित बताई गई हैं। बराह-मिहिर ने आजीवकों का जो उल्लेख किया है और उसके टीकाकार उत्पल ने उसकी जो यह व्याख्या की है—'अत्रबुद्धलावक ग्रहणम् साहेश्वरआश्रितानाम्' इसके आधार पर कर्न महोदय ने आजीवकों को कट्टर वैष्णव कहा था और बूहलर ने इस मत का समर्थन किया था। किन्तु डा० डी० आर० भण्डारकर ने इस मत का जोरदार खण्डन किया है और डा० बरुआ ने तदर्थ उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है 'डा० भण्डारकर ने उत्पल भाष्य की उस व्याख्या की भयंकर भूल के सुधार द्वारा बहुत बड़ी सेवा की है जिसने प्रोफेसर कर्न तथा बूहलर और उदभट संस्कृत पण्डितों को यह सोचने की प्रेरणा दी कि आजीवक नारायण के उपासक अर्थात् भागवत थे।'।

—डा० ए० एल० बशाम, हिस्ट्री आफ आजीवक, पृष्ठ ७३ से उद्धृत।

‘कर्मपुराण को इसीलिए पाँचरात्र आगमों को भी, कापाल, लकुल, त्राम, भैरव आदि के साथ अवैदिक कहना पड़ा था।

कापालं लाकुलं त्रामं भैरवं पूर्व-पश्चिमम् ।

पाँचरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ॥ (११२)

(किन्तु पाँचरात्रों के सभी ग्रन्थ अवैदिक नहीं हो गये थे। चाहे हम इसे पुराणकारों पर पाँचरात्रिक या आगम-प्रभाव कहें या फिर पौराणिक प्रभाव द्वारा पाँचरात्रिकों का अपने कुछ ग्रन्थों में वैदिक तत्व का सम्मिश्रण कहें, जो सत्य के काफी समीप लगता है, जहाँ सातवीं आठवीं शताब्दी ई० के पुराणों के प्रक्षिप्तांशों में आगम तथा तांत्रिक प्रभाव का अभाव है वहीं परवर्ती पुराणों एवं प्रक्षिप्तांश आगमतत्व का समावेश उपलब्ध होने लगता है और कुछ पुराण इन आगमों को प्रमाणस्वरूप स्वीकार करने लगते हैं। जहाँ कूर्म पुराण ने पाँचरात्रिकों को अवैदिक कहा था वहाँ अब ‘देवी भागवत’ ने पाँचरात्र तथा अन्य आगमों के कुछ अंशों को वैदिक स्वीकार किया और ‘वराह’ पुराण ६६।१०-११ ने तो स्वयं नारायण द्वारा पाँचरात्र शास्त्र के अध्ययन की सिफारिश की है और नारायण द्वारा यह घोषणा कराई है कि ‘मैं उन लोगों द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता हूँ जो वेद का गान करने में असमर्थ होने के कारण पाँचरात्र विधि द्वारा मेरी पूजा करते हैं।’ ‘स्कन्द’ पुराण ने भी आगमों को महत्व दिया है।) स्वयं ‘जयाख्य’ संहिता ने पाँचरात्रिकों के कुल १४ भेद बताये हैं जिनका उल्लेख पाँचरात्र साहित्य का अध्ययन करते समय किया जायेगा। निश्चय ही वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना का अर्थ था ब्राह्मणों के प्रभुत्व की अवहेलना। शूद्रों के हाथ में राजसत्ता आ जाने के पश्चात् स्थिति और भी दयनीय हो गई थी। इन्हीं विपरीत परिस्थितियों ने पुराणकारों को एक ओर तो उक्त युग को ‘कलियुग’ की संज्ञा देते हुए उसके बीमत्स एवं धिनौने रूप का चित्रण करने को बाध्य किया और दूसरी ओर उन्हें वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के लिए न केवल प्राचीन पुराणों में परिवर्द्धन करना पड़ा प्रत्युत नये पुराणों को पूर्णतया इसी आधार-भित्ति पर रचना पड़ा। ‘मत्स्य,’ ‘भागवत’ ‘विष्णु’ ‘कूर्म’ आदि पुराणों के कलि-चित्रण इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि सभी ब्राह्मण-अब्राह्मण धर्मों में अनैतिकता तथा आचार फैल चुका था। अब पुराणों में स्मृतितत्व जोड़ना नितान्त आवश्यक हो गया था जिससे वर्णाश्रम धर्म का ठीक पालन हो सके, नैतिकता का बन्धन पड़ सके। बहुत सम्भव है कि ‘महाभारत’ में भी ये तत्व इसी युग में जोड़े गये होंगे। ‘महाभारत’ ‘वैष्णव धर्म पर्व’ में ‘तर्जयन्ति च ये विप्रान् कोशन्ति च भारत’ आदि कथन हमें कुछ इसी प्रकार से सोचने की प्रेरणा देते हैं।^१ वस्तुस्थिति जो भी हो वैष्णव पुराणों के समक्ष तो निश्चय ही वर्णाश्रम धर्म की समस्या एक जटिल रूप धारण करके आती है और तदर्थ उन्होंने जो चेष्टायें कीं वह निःसन्देह प्राचीन भागवत धर्म को एक नया रूप प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुई। ‘देवी भागवत’ ने यहाँ तक घोषणा की कि नारी शूद्र आदि वेद नहीं पढ़ सकते अतः उन्हीं के

१. डा० आर० सी० हजारा ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ‘स्टडीज इन द पुरानिक रिकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स पृष्ठ २१३ पर दिखाया है कि ‘भागवत पुराण ने महाभारत में स्मृति तत्व जोड़े जाने का यही उद्देश्य बताया है।

लिए पुराण लिखे गये।^१ वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए पुराणों ने जो भगीरथ प्रयत्न किये उससे भागवत सम्प्रदाय में तो एक नई लहर आई ही, साथ ही नैतिक दृष्टि से समाज को पतनोन्मुख कराने वाले सम्प्रदायों तथा आर्थिक दृष्टि से उदासीनता का पाठ पढ़ा कर उसे खोखला बनाने वाले मतों को भी मुंह तोड़ उत्तर दे दिया गया जिससे भागवत सम्प्रदाय वास्तव में एक आन्दोलन के रूप में अग्रसर हुआ। इसके पूर्व यह आन्दोलन अपने प्रतिस्पर्धियों के विरोधों की उतनी चिन्ता न करते हुए भगवान् विष्णु के एकान्त प्रेम या उनकी अनन्य भक्ति में ही लीन था। किन्तु पुराणों के युग तक आते-आते इसने धार्मिक आन्दोलन की समस्त प्रवृत्तियों एवं उपादानों को एकत्रित करके एक नये जोश से पुरानी कमियों की पूर्ति करता हुआ भावी पन्थ को सँवारना आरम्भ किया। सच तो यह है कि मध्यकालीन दक्षिणी भक्ति-आन्दोलन की अपेक्षा पुराण-युगीन भक्ति-आन्दोलन कहीं अधिक प्रभावशाली तथा मौलिक था। यह जनता के कितना निकट तक पहुँचना चाहता था इसका प्रमाण स्वयं 'देवी भागवत' है जिसने, जैसा कि हम देख चुके हैं, पुराणों की रचना का उद्देश्य ही यह बताया है कि शूद्र तथा नारियाँ भी इसे पढ़ सकें। वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ स्थापना एवं स्मृतियों का पूरा-पूरा पालन करते हुए भी समाज के एक बहुत बड़े भाग को, जिसे अब्राह्मण धर्म बहुत अधिक संख्या में आत्मसात् करते जा रहे थे, भागवत धर्म में सिमेट लेने का जो प्रयत्न दूसरी शती ईसवी तक पुराणों ने बहुत पैमाने पर किया था वह एक देशीय या कुछ विशेष जन-समुदाय के सीमित भागवत सम्प्रदाय को व्यापकत्व एवं उन्नतशील बनाने के लिए वह प्रथम सजग प्रयास था जो सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। पर इसके लिए उन्हें कम प्रयत्न नहीं करने पड़े थे। भगवान् की कृपा द्वारा तारे गये भक्तों की सूची में अनेक शूद्रों का नाम जोड़ना पड़ा और उनके लिए ऐसी कथाएँ रचनी पड़ीं जिनमें स्ववर्णानुसार कर्म करने से ही भगवद् प्राप्ति का विवरण दिया गया। यह भी ठीक है कि इसके लिए उन्हें 'गीता' का सहारा प्राप्त था जिसमें भगवान् कृष्ण ने यह कहा है। कि अपने अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाला सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है; किन्तु समस्या का यहीं समाधान नहीं हो जाता। आगामी शताब्दियों में उक्त चेष्टाओं के बाद भी कुछ नवीन समस्याएँ आ खड़ी हुईं जिनसे न केवल ब्राह्मणों को विशेष क्षति उठानी पड़ी प्रत्युत सम्पूर्ण भागवत धर्म ही अपनी सरलता, पावनता तथा श्रुतिस्मृतता को खोने जा रहा था। हम अन्यत्र देखेंगे कि पाँचरात्रिकों की परवर्ती संहिताओं पर तांत्रिक प्रभाव तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी से ही पड़ना आरम्भ हो गया था।^२ इसी तांत्रिक प्रभाव ने पाँचरात्र संहिताओं में कहीं कहीं स्मृति विरोधी तत्वों का प्रवेश करा दिया है। यदि 'मंत्र' 'न्यास', 'मुद्रा', 'मूत सिद्धि',

१. देवी भागवत १।३।२१

२. तांत्रिक साहित्य का सृजन तो विद्वानों ने बहुत बाद की तिथि से आरम्भ होना बताया है, कम से कम छठी-सातवीं शताब्दी के बाद से पर प्रभाव बहुत पहले से ही पड़ने लगा था। तांत्रिकों ने साहित्य-सृजन में जो इतनी देर की उसका कारण हम यही मान सकते हैं कि उनके गुह्य एवं गुह्यतम रहस्य, उनकी अद्भुत क्रियाएँ, प्रारम्भ में गुरु तक ही सीमित मानी जाती थीं। आगे चलकर अन्य मतों के बढ़ते हुए साहित्य ने इन्हें भी प्रोत्साहित किया होगा।

‘मेखल-पूजन’ तथा ‘स्नान-विधि’ आदि तांत्रिक विधि को पाँचरात्र साहित्य में अपने विधि से ढाल दिया गया होता तो पुराणकारों को इतना अधिक विरोध सम्भवतः नहीं करना पड़ता; किन्तु स्मृतिकारों के विरोध और विशेषतया ब्राह्मणों की उपेक्षा ने पुराणकारों को सावधान किया। तांत्रिकों ने शूद्रों एवं नारियों को भी पुरोहिती एवं गुरुत्व-प्राप्ति की घोषणा कर दी थी जिससे भागवत धर्मानुयायी पाँचरात्रिक प्रभावित होते जा रहे थे यदि वैष्णव पुराणकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया होता तो तीसरी से छठी-सातवीं शताब्दी के भीतर प्राचीन भागवत धर्म अपनी मूलभूत विशेषताएँ खो बैठता और युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार स्वयं भी तंत्र-मंत्र-टोना-टोटका, तथा मांस-मदिरा-मैथुन की लपेट में फँस जाता। हमें जो भी अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध है उससे भी उक्त तथ्य का समर्थन हो जाता है कि किस प्रकार चारों ओर ‘खाओ पिओ मौज करो’ का सिद्धान्त प्रचारित हो चुका था। हमने ‘गीता’ की भक्ति का अध्ययन करते समय यह संकेत किया था कि समसामयिक धर्म-साधनाओं की कठिनाइयों एवं असाध्यों के सरलीकरण के लिए कृष्ण ने भागवत सम्प्रदाय में अनेक सरलतम नियमों का उपदेश दिया था और वह सरलता इस सीमा तक पहुँचा दी गई थी कि स्ववर्णानुसार कार्य करने से भी सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु ‘मज्जं पिवामो महिलं मामो मोक्खं च जामो कुलमग्ग लग्गा’ के आगे तो सर्व साधारण के लिए कोई भी अधिक सरल मार्ग नहीं हो सकता, वह भी उस अवस्था में जब शूद्रों तक को ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की घोषणा तांत्रिकों द्वारा की जा चुकी थी। सच तो यह है कि ई० पू० की प्रथम दो शताब्दियों से लेकर ईस्वी सन् की छठी शताब्दी तक का युग भागवत धर्म का वह संघर्षमय युग है जब एक ओर तो स्वयं अपने सम्प्रदाय में ही मतवैभिन्य का सामना करना पड़ा और दूसरी ओर उन प्रतिद्वन्दी धर्म-सम्प्रदायों से भी लोहा लेना पड़ा जो सर्वथा अवाञ्छित अवैदिक एवं स्मृतिविरोधी तत्वों का इनके धर्म में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव डाल कर समावेश करते जा रहे थे और इस प्रकार भागवतों को, जैसा कि ‘जयाख्य संहिता’ से ज्ञात है, अनेक भागों में विभाजित करते जा रहे थे। पुराणकारों ने वर्णाश्रम धर्म-स्थापन तथा स्मृति-विरोधी अवैदिक तत्वों के बहिष्कार के निमित्त जो चेष्टाएँ कीं उनके फलस्वरूप आंशिक रूप से ‘महाभारत’ और पूर्ण रूप से प्राचीन पुराण-साहित्य व्यामिश्र रूप धारण करता गया और उनको यह रूप, जो वास्तव में वैष्णव धर्म (वैदिक भी) की रक्षा करने के निमित्त ही किया गया था, परवर्ती आलोचकों की वक्र दृष्टि का शिकार हुआ। उनके इसी व्यामिश्र रूप को देखकर कुछ आधुनिक विद्वान, पुराणों की निन्दा करते हैं।

यहाँ हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का तत्सम्बन्धी विवरण उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है जिससे पुराणों के उक्त व्यामिश्र रूप के साथ-साथ उनकी वास्तविक स्थिति का बोध हो जायेगा—‘एक समय ऐसा गया है जब इन ग्रन्थों को अप्रामाणिक कह कर उड़ाने की चेष्टा की गई थी, परन्तु अब इतिहास अनुरागी उन्हें बहुत बहुमूल्य निधि मानने लगे हैं। उनमें की बेहूदी बातें उत्तर-कालीन पण्डितों की कृति समझी जाती हैं। असल में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले से लेकर आज तक पुराण बहुत अविकसित बुद्धि के लोगों के हाथ में रहे हैं और फलतः उनमें बेहूदी बातें इतनी आ घुसीं कि पुराणों का मूल रूप खोज निकालना बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है।’—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १९४। पर उत्तरकालीन पण्डितों की ‘बेहूदी बातों’ के लिए और

उसके वास्तविक महत्व के लिए हम डा० हाजरा के विवरण पर भरोसा कर सकते हैं जिन्होंने सुझाया है कि स्मार्त ब्राह्मणों ने विरोधी मतों से सुरक्षा तथा साथ ही वर्णाश्रम धर्म एवं श्रुति-स्मृति के नियमों को बनाये रखने के उद्देश्य से ही अनेक बार पुराणों में ये परिच्छेद जोड़े हैं^१ वैष्णवपुराणों ने ये नये परिच्छेद जोड़कर भागवत धर्म को पथभ्रष्ट होने से बचा लिया था और बहके हुए पाँचरात्रिकों को पुनः मूल आचार निष्ठा की ओर लौटकर अपनी मौलिक शुद्धता, सरलता एवं श्रुतिसम्मतता बनाये रखने की प्रेरणा दी थी। भक्ति-आन्दोलन को वैष्णव पुराणों की यह बहुत बड़ी देन है। विष्णु पुराण ३।७।२० ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया कि वैष्णव (भागवत) की पहचान यह है कि वह वर्णाश्रम धर्म का पालन करता हो। अवैदिक तत्वों के परिहार एवं वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए ही पुराणों के स्मृति-खण्ड में अधिकाधिक अमि-वर्द्धन किये गये थे। तदर्थ भक्षामक्ष्य का निर्धारण, आचार, अशौच एवं श्रद्धा आदि पर विशेष बल दिया गया। इसी प्रकार नरक, कर्म-विपाक तथा काल-स्वरूप के चित्रण पर भी अधिक पृष्ठ खर्च किये गये। किन्तु परवर्ती पुराणों में, साम्प्रदायिक तत्व ही जिनका प्रमुख प्रतिपाद्य है, अपने आराध्य देवता पर ही सारा लक्ष्य केन्द्रित कर दिया गया है।

‘देवी भागवत’ चारों आश्रमों के महत्व को स्थापित करने वाली कथाओं की रचना में बहुत आगे बढ़ा हुआ है। जनक ने मुनक को जो उपदेश दिया है वह इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि उक्त कथा में यह दिखाया गया है कि जब तक मनुष्य चारों आश्रमों से होकर जीवन-यापन नहीं करता तब तक केवल सन्यास लेने से ही मुक्ति नहीं मिलती। ऐसे भी उल्लेख आये हैं जिनमें वर्णाश्रम धर्म को छोड़कर अन्य पन्थ का अनुसरण करने वाले का इन्द्र द्वारा बध किया जाता है।

अब हम वेदों-स्मृतियों की प्रामाणिकता की स्थापना पर आते हैं। विभिन्न साम्प्रदायिक प्रभावों ने भागवतधर्मानुयायियों में जो अवैदिक तत्व सम्मिलित कराना आरम्भ कर दिया था और अब्राह्मण धर्मों द्वारा जो श्रुतियों एवं स्मृतियों की निन्दा की जा रही थी उसके प्रत्युत्तर में पुराणकारों ने वैदिक धर्म की स्थापना की आवश्यकता समझी। अतः उन्होंने श्रुति तथा स्मृति को ही प्रमाण घोषित किया। पुराणों ने ज्ञान-योग को कर्म-योग से हेय बताकर वेदों की महत्ता को बढ़ाने में बहुत बड़ा योग दिया। इसी कर्म योग ने पंचमहायज्ञों को भी बढ़ावा दिया वैदिक यज्ञों की प्रशंसा सम्बन्धी अनेक कथाओं का निर्माण श्रुतियों की महत्ता को बढ़ाने के उद्देश्य से ही किया गया। इतना ही नहीं ब्राह्मण विरोधी धर्मों के विरुद्ध भी अनेक कथाएँ रची गईं और उन्हें हर प्रकार से हेय सिद्ध किया गया। वैष्णवों ने ही अकेले यह कार्य नहीं किया प्रत्युत शैवमतावलम्बी पुराणकारों ने भी वेद की अलौकिक सत्ता एवं महत्ता का उद्घोष किया। आगे चलकर तो स्वयं ब्राह्मण धर्मान्तर्गत अनेक सम्प्रदायों ने जब एक दूसरे को अवैदिक कह कर उसे हेय ठहराना प्रारम्भ किया तो उपपुराणों को श्रुति-सम्मतता का और भी अधिक सहारा लेना पड़ा। ‘भागवत’ के ग्यारहवें स्कन्ध, तृतीय अध्याय में यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि ‘कर्म अकर्म तथा विकर्म ये सब विषय वेद से ही आने जा सकते हैं। उसमें बड़े बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं।’ ‘विष्णु’ पुराण (१।२।१८१-८८)

में वेद तथा विष्णु का एकीकरण करते हुए वेद, उपवेद, वेदान्त, धर्म-शास्त्र, पुराण आदि को षगवान विष्णु का ही स्वरूप माना गया है। ब्रह्मा, विष्णु महेश को तीन वेद कहा गया है। इसी प्रकार 'वराह' पुराण (२।६३) में 'ऋग्वेद' को नारायण, 'यजुर्वेद' को ब्रह्मा तथा 'साम-वेद' को रुद्र कहा गया है। सबसे महत्वपूर्ण उल्लेख तो नारद वाला है। नारद श्वेत द्वीप में जाते हैं। वहाँ वे वेदों की माता सावित्री को देखते हैं जिसमें उन्होंने तीन व्यक्तियों का दर्शन किया। सावित्री ने नारद को सूचित किया कि मैं ही वेदों की माता हूँ और ये तीनों मेरे पुत्र तीन वेद हैं। भागवतों के नारद और श्वेत द्वीप, पाँचरात्र महोपनिषद के चित्रशिखण्डी और श्वेतद्वीप तथा उक्त पुराण के नारद और श्वेतद्वीप इन तीनों उल्लेखों का संकेत स्पष्ट है। हर प्रकार से हमें यहाँ यही सोचने की प्रेरणा मिलती है कि पौराणिक भागवतों ने श्रुति-सम्म-तता के लिए सभी प्राचीन कथाओं को कुछ नया ढंग या रूप देकर अथवा प्राचीन नामों एवं स्थानों पर ही कुछ नये कथानक जोड़कर अवैदिक धर्मों के विरुद्ध वेदों की महानता स्थापित करना चाहा था। और इनमें भी वैष्णव सम्प्रदाय वाले अपने नारायण को प्राचीनतम वेद 'ऋग्वेद' से सम्बन्धित करके अन्य सम्प्रदायों के ऊपर अपनी प्राचीनता स्थापित की। वैदिक धर्म की रक्षा के लिए तो विष्णु व शिव के अवतरित होने की चर्चा वैष्णव एवं शैव दोनों सम्प्र-दाय वालों ने यत्र-तत्र की है। प्रायः दोनों सम्प्रदायों ने अपनी अनेक पूजा-पद्धतियों को वैदिक रूप प्रदान किया है किन्तु जैसा कि डा० हाजरा ने सुझाया है, केवल ९वीं शताब्दी ईसवी तक ही पूजा-उपासनाओं का वैदिककरण चलता रहा, तत्पश्चात् पुराणकारों ने लौकि-कता की ओर ही अधिक ध्यान दिया और वे लोक-रक्षण के साथ-साथ लोक-रंजन की ओर भी गतिमान हुए। (पुराणों की श्रृंगारिकता-सम्बन्धी बातों पर हम अन्यत्र विचार करेंगे।)

हमें ज्ञात है कि घोर अहिंसावादी जैन तथा बौद्ध धर्म वालों ने हिंसा को लेकर वैदिक धर्म को लोकदृष्टि में नीचा गिराने की चेष्टा की थी और प्राचीन भारत के मध्य युग से लेकर अन्तिम चरण तक इन्होंने बहुत अधिक संख्या में ब्राह्मणधर्मावलम्बियों को अपने धर्म से मिला लिया था। पुराणकारों के समक्ष निश्चय ही यह एक जटिल समस्या थी कि वैदिक धर्म (हिंसापरक यज्ञों) की मान्यता के साथ-साथ युग की माँग के अनुसार हिंसा को किस प्रकार अनु-चित ठहराया जाय। समस्या यों भी जटिल हो गई थी कि स्वयं 'महामारत' में ही हिंसा-परक यज्ञों का बाहुल्य दिखाया गया था। 'अश्वमेध पर्व' ८९ में अगणित पशुओं के बध का उल्लेख किया गया है। किन्तु (यदि इन अंशों को प्रक्षिप्त न मानें तो) ^१ 'अनुशासन पर्व' १४४ में मन,

१. महाकाव्यों के युग से हिंसा की गवाही केवल 'महाभारत' से ही नहीं प्रत्युत 'रामायण' से भी प्राप्त होती है जब गंगा पार करते समय सीता मनौती मानती हैं 'सुराघट सह-स्त्रेण मांस भूतौदनेन च' आदि और इसी प्रकार अहिंसा परमोधर्म का संकेत, आरण्यक ९।९ में प्राप्त होता है, जहाँ स्वयं सीता ही राम को समझाते हुए कहती हैं, तृतीयं यदिदं रौद्रं पर प्राणानि हिंसनम् आदि। आशय यह कि ऐसे विरोधी कथनों को सर्वथा प्रक्षिप्तांश ही नहीं स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उस प्राचीन युग में भी, महावीर व बुद्ध के पूर्व भी अहिंसा के समर्थक कम न थे।

वचन, कर्म तथा भक्षण सभी प्रकार की हिंसा वर्जित बताई गई है और इसीलिए युधिष्ठिर को शंका हुई थी कि एक ओर तो हिंसा को पाप कहा जा रहा है और दूसरी ओर श्राद्ध में पितरों को मांस देने का विधान किया गया है—अखिर कौन सा मार्ग अनुकरणीय है? पर वहीं स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया कि आयु-वृद्धि और स्मृति की इच्छा रखने वाले को मांस-भक्षण नहीं करना चाहिए। साधारण जगत के लिए ऋषियों ने नियम कर दिया है कि यज्ञ में मारे हुए पशुओं का मांस खाया जा सकता है। किन्तु 'महाभारत' में ही वसुजपरिचर की कथा आती है और 'अज' के अर्थ पर जो वाद-विवाद हुआ था उससे हम परिचित हैं। 'शान्तिपर्व' ३४०।८२ में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'हिंसापरक यज्ञों की रोकथाम होनी चाहिए क्योंकि अहिंसा धर्म के विरुद्ध सत्य युग में कुछ नहीं होता।'

अस्तु, पुराणकारों ने तुरत 'गीता' का सहारा लिया और वर्णाश्रम धर्म के पालन में बधिकों, बहेलियों, मछुओं, मांस-विक्रेताओं तथा इसी प्रकार के अनेक हिंसात्मक व्यवसायों एवं कार्य-व्यापारों में लगे लोगों के लिए यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि स्वधर्म भले ही हिंसापरक हो उसे नहीं छोड़ना चाहिये अब ब्राह्मण कालीन शूद्रों को भी जो बहुधा हिंसापरक व्यवसायों में लगे थे यह अवसर मिला कि वे भी सच्चे अर्थों में स्वयं को धर्मरत कह सकें। साथ ही अब जैनियों तथा बौद्धों का जादू भी नहीं चल सकता था जो ब्राह्मण धर्म की हिंसा के आधार पर ही उसे अमानुषिक सिद्ध करके ब्राह्मण धर्म साम्राज्य में ही अपने धार्मिक उपनिदेश का प्रसार करते जा रहे थे।

डा० हाजरा ने पुराणकारों द्वारा वैदिक यज्ञों एवं अन्यान्य वैदिक कर्मकाण्डों को बढ़ावा देने का एक कारण बताया है ब्राह्मणों की गिरी हुई अवस्था। उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि पुराण-युग तक आते-आते जैनियों, बौद्धों, शूद्र तथा विदेशी शासकों ने ब्राह्मणों की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था अत्यन्त दयनीय कर दी थी। अब ब्राह्मणों को बाध्य होकर वेद एवं वैदिक यज्ञों को प्रधानता देनी पड़ी क्योंकि "ब्राह्मण यह भलीप्रकार जानते थे कि वर्णाश्रम धर्म की स्थापना तथा वेदों की प्रमाणस्वरूप मान्यता का सीधा सम्बन्ध उनकी अपनी प्रभुत्व-स्थापना से है और यदि वे प्रथम कार्य (वर्णाश्रमधर्म एवं वेद की मान्यता की स्थापना) में सफल हो जाते हैं तो द्वितीय कार्य तो परिणामस्वरूप स्वतः सिद्ध है। बहुत सम्भव है कि ब्राह्मणों की इसी चेतना ने उन्हें पुराणों की नस-नस में वर्णाश्रमधर्म तथा श्रुतियों की प्रामाणिकता की स्थापना के लिए एक मोड़ दिया।"^१ डा० हाजरा ने पुराणों में दानों की विस्तृत सूची, दानों की महती महिमा आदि को देखकर तथा दान न देने वाले की घोर भर्त्सना आदि पौराणिक प्रसंगों के आधार पर जो उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला है वह सत्य के पर्याप्त निकट है, किन्तु इसका हमारे विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः हम इसके और विस्तार में नहीं जाना चाहेंगे। हमें ज्ञात है कि 'महाभारत' में भी (इसके पूर्व के अन्य अभागवत ब्राह्मण ग्रन्थों में भी) ब्राह्मणों की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा की गई थी और उन्हें सफलता भी मिली थी, पर परवर्ती

परिस्थितियों ने पुराणकारों को पुनः भुजा उठाकर यह घोषणा करने के लिए बाध्य किया कि ब्राह्मण के रूप में ये चल-देवता पुरुषोत्तम परमात्मा ही हैं।^१

ब्राह्मणों के महत्व-स्थापन का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि स्वयं यादव कुल का नाश भी ब्राह्मणों के शाप से ही हुआ था 'भागवत' पुराण अठारहवें स्कन्ध के प्रथम अध्याय में पिण्डारक क्षेत्र में निवास करने वाले विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, ऋजु, अंगिरा, वाम-देव, अत्रि, वशिष्ठ तथा नारद आदि ब्राह्मण मुनियों द्वारा दुष्ट यादव कुमारों को अभिशाप देने की कथा आती है और ब्राह्मणों के इसी अभिशाप को चरितार्थ करने के उद्देश्य से ही कृष्ण ने यदुवंशियों का नाश किया था, यह भी उक्त स्थल पर ही दिखाया गया है। आशय यह कि महाभारत-काल से ही भागवत-धर्म-ग्रन्थ ब्राह्मणों के महत्व को बढ़ाते हुए दिखाई पड़ते हैं। पुराणों ने इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी दृष्टि से पुराण-युग तक के भागवत धर्म को यदि हम केवल ब्राह्मण धर्म कहें तो अनुचित न होगा। पुराणों के साधन पक्ष पर विचार करते समय हम यह देखेंगे कि किस प्रकार समस्त प्राचीन साधना-पद्धतियों एवं मान्यताओं को पुराणकारों ने विशेषतया भागवतकार) भक्ति-साधना की ओर उन्मुख कर दिया है और इस प्रकार भागवत सम्प्रदाय को बाह्य प्रभावों से बचाते हुए भक्ति-आन्दोलन को जनान्दोलन बनाने की चेष्टा की है जिसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है।

वैष्णव पुराणों की दार्शनिकता

अब हम संक्षेप में पुराणों की दार्शनिकता पर विचार करेंगे यहाँ यह प्रारम्भ में ही कह देना आवश्यक है कि लगभग सभी वैष्णव पुराणों पर 'गीता' का स्पष्ट प्रभाव है और जहाँ तक साधन-पक्ष का सम्बन्ध है यह अधिकांशतः गीतानुकूल ही है। हाँ, कुछ पुराणों पर पाँचरात्र संहिताओं का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। विशेषतया व्यूहों की मान्यता तो पाँचरात्रिक प्रभाव ही है। यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में पुराण पुनः पूर्ववर्ती स्थिति को लौटते हुए से दिखाई पड़ते हैं। वे सगुण से किसी प्रकार भी कम महत्व निर्गुण ब्रह्म को नहीं देते हैं कहीं कहीं तो वैष्णव पुराण निर्गुणब्रह्म को ही अधिक महत्व देते हुए से दिखाई पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि भागवत सम्प्रदाय में इस समय तक सगुण-निर्गुण की समस्या इतनी जटिल नहीं हो पाई थी। सम्भवतः मध्यकाल से ही इसने जटिल रूप धारण करना आरम्भ किया था; क्योंकि उस समय तक साधन-पक्ष को लेकर अनेक मतमतान्तरों की स्थापनाएँ हो चुकी थीं; जिनका सीधा संबंध ब्रह्म के स्वरूप से है।

अठारह पुराणों में से आधे से अधिक वैष्णव पुराण हैं। इन पुराणों के साध्य तत्व का पृथक् पृथक् अध्ययन प्रस्तुत विषय की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि प्रथमतः इन सबकी चिन्तन-धारा का एक ही स्रोत है और दूसरे इनमें पर्याप्त साम्य भी है। जो थोड़ा बहुत अन्तर देखने को मिलता है वह औपचारिक या शाब्दिक ही है। 'विष्णु' 'ब्रह्मवैवर्त' 'पद्म', 'भागवत' आदि पुराणों का ही वैष्णव धर्म या भक्ति-आन्दोलन के इतिहास की सामग्री प्रदान करने में बहुत अधिक महत्व है। 'विष्णु' पुराण को जिस प्रकार श्री सम्प्रदाय में सर्वाधिक

आदर दिया गया था, 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण को उसी प्रकार गौणीय, बल्लभ तथा राधा-बल्लभ मत में प्रमुख स्थान दिया गया है पर विष्णु तथा भागवत, पुराणों ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया था वह परवर्ती वैष्णवों के लिए सर्वाधिक मान्य हुआ। इस पुराणों ने भगवान के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है। किन्तु समस्त पुराणों के समक्ष अपनी एक पृथक् सत्ता स्थापित करने वाला तथा पूरे भागवत सम्प्रदाय पर अपना सर्वव्यापी प्रभाव छोड़ने वाला ग्रन्थ है 'भागवत' जिसे कुछ लोग पुराण तथा कुछ उपपुराण भी मानते हैं। अधिकांश विद्वान इस अन्तिम महापुराण स्वीकार करते हैं। वातविकता जो भी हो, यही वह पुराण है जिसने टीकाकारों को बहुत अधिक आकृष्ट किया था। लगभग सभी वैष्णव सम्प्रदाय वालों ने प्रस्थानत्रयी की भाँति 'भागवत' पर भी टीकायें लिखी हैं। यद्यपि इन टीकाओं में से अधिकांश को दशम स्कन्ध की 'रासलीला' ने ही आकृष्ट किया है और यदि सच पूछा जाय तो 'भागवत' के इसी माधुर्य एवं काव्य-लालित्य ने उसे इतना गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करके उसके चतुर्दिक प्रचार को आगे बढ़ाया है। फर्कुहर महोदय ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ रिलिजस लिटरेचर' पृष्ठ २२९ पर लिखा है—

“भागवत सचमुच एक महान रचना है। सभी पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा उसे विशिष्टता प्रदान करने का कारण इसकी भक्ति-सम्बन्धी नई उद्भावना है और इसी में इसकी महानता निहित है।”

हम आगे देखेंगे कि भागवत ने रुढ़िगत भक्ति-भावना में उद्दाम प्रेम एवं रोमांचकारी तत्वों का समावेश करा कर भक्ति को पूर्णतया हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के अनुसार कर दिया और यह उसकी अपनी मौलिकता है। मध्यकालीन आचार्यों ने इसी पुराण को अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। यही वह पुराण है जिस पर न केवल अनेक प्राचीन विद्वानों ने प्रत्युत अनेक आचार्यों या उनके अनुयायियों ने भी भाष्य या टीकाएँ लिखी थी।^१ इन भाषाओं एवं टीकाओं का बाहुल्य भी 'भागवत' के महत्व को बढ़ाता हुआ दिखाई पड़ता है। चारों वैष्णव सम्प्रदायों ने भागवत की मान्यताओं को स्वीकार किया। अतः विषय की दृष्टि से हम यहाँ 'भागवत' पुराण के ही साध्य एवं साधनपक्ष पर विचार करेंगे। इसी 'भागवत' पुराण के ग्यारहवें स्कन्ध में हम कृष्ण तथा परम भक्त उद्धव का वार्तालाप पाते हैं जिसकी शैली बहुत कुछ 'गीता' से मिलती-जुलती है। यही कारण है कि इसे 'उद्धव-गीता' भी कहते हैं। इस स्कन्ध में ब्रह्मा, जगत, जीव, माया आदि पर तो सारगर्भित प्रवचन है ही साथ ही भागवत धर्म के मर्म और उसके पौराणिक इतिहास का भी कुछ आभास दिया गया है।

१. भागवत की कुछ टीकायें तथा टीकाकार हैं :—

श्रीधर स्वामी भावार्थदीपिका, सुदर्शन सूरि शुक्र पक्षीया ; वीरराघव ('भागवत चंद्रिका'), विजयध्वज, 'पदरत्नावली', बल्लभाचार्य, सुबोधिनी, शुक्रदेवाचार्य, 'सिद्धान्त प्रदीप', सनातनगोस्वामी, 'बृहद वैष्णव तोषिणी' जीव गोस्वामी 'क्रम संदर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती, 'सारांश दर्शिनी' इनमें से सुदर्शन तथा वीर राघव विशिष्टाद्वैतवादी, विजयध्वज द्वैतवादी, शुक्रदेवाचार्य निम्बार्क, मत्तावलम्बी तथा अन्तिम तीन टीकाकार चैतन्य मत्तावलम्बी थे।

हम अपना अध्ययन साध्य पक्ष से आरम्भ करेंगे। भगवान की माया का सम्बन्ध जगत् तथा जीव दोनों से है। इस माया की उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। भागवतकार ने माया को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करने वाली भगवान की त्रिगुण-मयी शक्ति में से एक स्वीकार किया है। (११।३।१६) माया-मोह इतना प्रबल है कि 'सर्वभूतात्मा आदि देव नारायण ने अपने ही स्वरूपभूत जीवों के भोग व मोक्ष के लिए अपने रचे हुए पंच-भूतों से ही नाना प्रकार की उत्कृष्ट-निकृष्ट भूतों की सृष्टि की है' (११।३।३) तथा पंचमहाभूतों से रचे हुए प्राणियों में स्वयं नारायण ही जीवरूप में प्रविष्ट होकर स्वयं को दस मार्गों (पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच ज्ञानेन्द्रियों) में विभक्त करके विषयों का उपभोग करते हैं (११।३।४)। आशय यह कि स्वयं ब्रह्म ही जीव-स्वरूप एवं इन्द्रिय-स्वरूप होकर प्राणियों में अवस्थित है पर माया का भेद इतना गहन है कि 'जीव आत्मा द्वारा प्रकाशित इन्द्रियों से अनेक विषयों को भोगता हुआ तथा इस उत्पादित शरीरादि को ही आत्मा मानता हुआ उसमें आसक्त हो जाता है और फिर यह कर्मेन्द्रियों से वासना युक्त कर्म करता हुआ और तदजनित सुख-दुःख को भोगता हुआ संसार में भटकता है। इस प्रकार बाध्य होकर नाना प्रकार की दुःखप्रद कर्मफलरूप गतियों को प्राप्त होता रहता है।' (११।३।५-७)।

भगवान की त्रिगुणमयी शक्ति (स्वरूप-शक्ति, माया-शक्ति तथा जीव-शक्ति) में जीव को भी सम्मिलित कर लिया गया है। यह भी भगवान की तटस्थ शक्ति का विलास है। यद्यपि यह सत्त्व, रज तथा तम गुणों से नितान्त पृथक् है, पर पूर्वोक्त माया शक्ति उसे मोहित कर देती है और जीव अपने को त्रिगुणात्मक मान लेता है। तब स्वभावतः वह इससे उत्पन्न होने वाले अनर्थ को प्राप्त करता है। जीव तथा ईश्वर का यही भेद है कि जीव माया द्वारा नियम्य है पर ईश्वर माया का नियामक है।

पंचभूतों से रचे प्राणियों का अन्त भी पंचभूतों के प्रलय के साथ होता है 'भागवत' में प्रलय का दृश्य खींचते हुए कहा गया है—

'पंच भूतों का समय उपस्थित होने पर आदि और अनन्त काल इस द्रव्य गुणात्मक-स्थूल-सूक्ष्म-रूप व्यक्त, सृष्टि को अव्यक्त की ओर खींच ले जाता है।'

'वायु के द्वारा गंध खींच लिये जाने पर पृथ्वी जल रूप हो जाती है। उस वायु से रस खींच लिये जाने पर जल अग्नि रूप हो जाता है। फिर अंधकार के द्वारा रूपहीन हुआ अग्नि वायु में और आकाश के द्वारा स्पर्शहीन वायु आकाश में लीन हो जाता है।.....तदनन्तर काल के द्वारा गुण शब्द से रहित आकाश तामस अहंकार में, इन्द्रियाँ राजस अहंकार में और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के साथ मन एवं बुद्धि सात्विक अहंकार में तथा अहंकार अपने गुणों सहित महत्त्व में, फिर महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है।'^१

भागवतकार ने लोक तथा परलोक दोनों को कर्मजन्य एवं नाशमान स्वीकार किया है।

ब्रह्म का स्वरूप 'भागवत' में इस प्रकार चित्रित किया गया है—

‘सृष्टि के आदि में एक ब्रह्म ही था। वही सत्त्व, रज तथा तम रूप से त्रिवृत्त प्रधान कहालाया। ज्ञानमय होने से उसे महत्त्व, क्रियामय होने से सूत्र तथा जीव की उपाधि होने से उसे अहंकार कहते हैं। फिर वही महान् शक्तिवाला ब्रह्मज्ञान इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता—क्रिया-इन्द्रिय और अर्थ-इन्द्रिय-विषयों के रूप में भासित होता है। इस प्रकार सत्, असत् तथा इसके परे जो कुछ है वह ब्रह्म का ही भास है। उस परमात्मा ने कभी जन्म नहीं लिया है और न वह कभी मरेगा, वह न बढ़ता है, न घटता है क्योंकि वह सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत और ज्ञान स्वरूप है तथा समस्त परिवर्तनशील विचारों—बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं के शरीरों का साक्षी है। जिस प्रकार एक ही प्राण इन्द्रिय-भेद से नाना विकल्पों को प्राप्त हो रहा है उसी प्रकार एक ब्रह्म विविध रूप में प्रतीत होता है। (११।३।३७-३८)

इस ब्रह्म को नारायण बताते हुए कहा गया है—

‘जो इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारण तथा स्वयं कारण रहित हैं, जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत हैं और साथ ही साक्षी रूप से इन अवस्थाओं के बाहर भी हैं तथा जिनके द्वारा संजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण एवं हृदय अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं.....वही परम तत्त्व नारायण हैं’ (११।३।३५)

‘अपने रचे हुए पंचभूतों के द्वारा ब्रह्माण्ड रूप पुर की रचना करके जब भगवान् आदिदेव नारायण ने अपने अंशभूत जीव-रूप से उसमें प्रवेश किया तो उनका ‘पुरुष’ नाम पड़ा। जिनके विराट् शरीर में इस समस्त त्रिभुवन का समावेश है, जिनकी इन्द्रियों से देहधारियों की इन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ, स्वरूप से स्वतः सिद्ध ज्ञान (आत्मा), श्वास-प्रश्वास से बल (देह-शक्ति), ओज (इन्द्रिय-शक्ति) तथा क्रिया-शक्ति एवं सत्त्वादि गुणों से स्थिति, उद्भव और लय होते हैं, वे ही आदि कर्ता नारायण हैं। जगत् की उत्पत्ति के लिए उनके रजोगुण के अंश से पहले ब्रह्म हुए। फिर वे आदि पुरुष ही संसार की स्थिति के लिए धर्म और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए अपने सत्त्वांश से यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुण के अंश से सर्व सृष्टि-संहारक रुद्र हुए।’^१

ब्रह्म के स्वरूप—निर्गुण या सगुण के सम्बन्ध में ‘भागवत’ पूर्णतया उपनिषदों से भाव-साम्य रखता है। ब्रह्म को स्वरूपतः निर्गुण ही कहा गया है पर माया-योग से वही सगुण हो जाता है। अविद्या के कारण वही ब्रह्म प्रतिबिम्ब रूप में जीव है और विवर्तरूप में वही जगत् है। आशय यह कि निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म का स्वरूप है चैतन्य पर जब वह सत्त्व गुण रूपी उपाधि द्वारा अवचिन्न नहीं होता है तब वह अव्यक्त एवं निराकार भाव में वर्तमान रहता है। वही निर्गुण ब्रह्म जब सत्त्वगुण से अवचिन्न होता है तो वह सगुण साकार रूप में व्यक्त होता है। किन्तु इस व्यक्त एवं अव्यक्त भाव में कोई भेद नहीं रहता, वास्तव में दोनों एक ही हैं। जगत्कारणत्व के लिए भागवतकार ने सगुण ब्रह्म को चुना है।

यह सगुण ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है, किन्तु निराकार दृष्टि से ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण। सगुण ब्रह्म के चार रूप 'भागवत' में उपलब्ध होते हैं, जिनका पहले ही संकेत किया जा चुका है। ये चार रूप हैं—

१. पुरुष, २. विष्णु, ३. ब्रह्मा तथा ४. रुद्र।

'परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि कार्य करता है, जो स्वरूपतः एक होते हुए भी नाना प्रकार से निखिल प्राणियों का विस्तार करता है, जो माया के सम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से युक्त-सा प्रतीत होता है उसी को पुरुष कहते हैं। इस पुरुष से विभिन्न अवतारों की अभिव्यक्ति होती है। ये केवल संकल्प मात्र से सब कार्यों का सम्पादन करते हैं। इसलिए प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों में प्रविष्ट होते हुए भी अचित्य शक्ति के द्वारा उनसे तनिक भी स्पर्श नहीं होता; सदा विशुद्ध रहते हैं।^१ जगत् की स्थिति के लिए शुद्ध सत्वात्मक विष्णु-रूप ब्रह्म का विस्तारपूर्वक वर्णन 'भागवत' के दशम स्कन्ध में किया गया है। यहाँ विष्णु का जो रूप चित्रित किया गया है वह पूर्णतया भक्तवत्सल एवं प्रायः भक्तों के निमित्त ही ज्ञात होता है। भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के लिए ही विष्णु के पुरुषावतार, गुणावतार के अतिरिक्त कल्पावतार, मन्वन्तर अवतार, युगावतार तथा स्वल्पावतार आदि चार अन्य अवतारों की कल्पना भागवतकार ने की है। जिस प्रकार सत्वगुणमिश्र विष्णु हैं उसी प्रकार रजोगुणमिश्र ब्रह्मा। 'भागवत' का ध्यान विष्णु पर ही अधिक रहा है अतः तत्त्व-निरूपण में वह विष्णु को ही अधिक विस्तार दे सका है, ब्रह्मा तथा रुद्र को अपेक्षाकृत कम विस्तार ही मिला है; पर प्राचीन तृमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र की मान्यताओं का पूरा-पूरा पालन भागवतकार ने किया है।

अवतारवाद—अवतारवाद को बहुत अधिक बढ़ाने वाले पुराणों ने अवतारों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि कर दी है। प्राचीन अवतारों को तो सभी पुराणों में मान्यताएँ दी गई हैं, किन्तु कुछ नये अवतारों की भी मौलिक कल्पना की गई है। इस कल्पना में कृष्ण के रूप को भी ध्यान में रखा गया है।

'भागवत'^२ में अवतारों का प्रारम्भ किया गया है पुरुषावतार से। यह पुरुषावतार ही नारायण कहा जाता है और नारायण ही सभी अवतारों के अक्षय कोष हैं। इनसे ही सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार—इन चार ब्राह्मण-रूपों में भगवान का अवतार हुआ। दूसरी बार भगवान सूकर रूप में अवतरित होते हैं। फिर तीसरा अवतार नर के रूप में, चौथा नर-नारायण के रूप में हुआ और पाँचवें अवतार में भगवान सिद्धों के स्वामी कपिल के रूप में प्रकट हुए। छठा अवतार दत्तात्रेय और सातवाँ यज्ञावतार हुआ। आठवाँ ऋषभ देव तथा नवाँ अवतार राजा पृथु के रूप में हुआ। दसवाँ अवतार मत्स्य रूप में हुआ। ग्यारहवाँ कच्छ, बारहवाँ धन्वन्तरि, तेरहवाँ मोहिनी, चौदहवाँ नरसिंह, पन्द्रहवाँ वामन, सोलहवाँ परशुराम, सत्रहवाँ व्यास, अठारहवाँ दशरथी राम, उन्नीसवाँ बलराम, बीसवाँ कृष्ण और इक्कीसवाँ (भविष्य में) बुद्धावतार है। अन्तिम (इस अध्याय का अन्तिम) अवतार है कल्कि^३।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि भागवतकार प्रारम्भ में ही अवतारों की संख्या २२ तक पहुँचा देता है जिनमें कुछ सर्वथा नवीन नाम हैं, पर इतने से भी उसे सन्तोष नहीं हुआ और उसने यहाँ तक घोषित कर दिया कि 'भगवान के असंख्य अवतार हुआ करते हैं।' १ इन अवतारों को भागवत में अंशावतार कहा गया है पर कृष्ण को स्वयं भगवान या अवतारी बताया गया है।

'भागवत' में भगवान के लीलावतारों की कथा को भी काफी विस्तार दिया गया है, पर इन सब कथाओं के ऊपर उठ जाती है कृष्ण-कथा। द्वितीय स्कन्ध में २३ और फिर २४ अवतारों का उल्लेख है। इसी प्रकार भागवतकार ने एकादश अध्याय में पुनः अवतारों की सूची दी है। यहाँ प्रथम पुरुषावतार का ही उल्लेख है। तत्पश्चात् धर्म के घर में नर-नारायण आदि के अवतार की बात कही गई है। संख्या सोलह तक पहुँचती है। वास्तविकता यह है कि पुराणों के युग तक पुरुषावतार, लीलावतार या कलावतार एवं अर्चावतार की कल्पना इतनी प्रचलित हो चुकी थी कि पुराणकार चाहे जितनी भी नई-नई उद्भावनायें करते, सब मान्य थीं, संख्या कुछ भी बता सकते थे केवल प्राचीन दस अवतारों का नाम गिनाना आवश्यक था। पर 'हरिवंश' पुराण केवल ६ अवतारों का ही उल्लेख करता है जो सम्भवतः 'महामारत' की एक परम्परा का निर्वहण ही है। पांचरात्रिकों की परम्परा का भी भागवतकार ने पालन किया है।

हमने अब तक जो अध्ययन किया है उससे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि भागवतकार ने दर्शन के क्षेत्र में कोई विशेष मौलिकता नहीं दिखाई, फिर भी भगवान की शक्ति का जो भव्य एवं अद्वितीय विवरण प्रस्तुत किया गया है वह पूर्व मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने में पूर्णतया सफल सिद्ध हुआ था और मध्यकालीन आन्दोलन के लिए तो 'ब्रह्म' सूत्रों के साथ-साथ इसी ग्रन्थ को प्रधानता दी गई थी। तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में 'भागवत' की जो देन है, उसका अपना महत्त्व तो है ही, पर इससे भी कहीं अधिक महत्त्व है इसकी आचार-मीमांसा का। वास्तविकता तो यह है कि यदि भागवत के दशम स्कन्ध में 'रास पंचाध्यायी' की रचना नहीं हुई होती तो वैष्णवधर्म का रूप ही कुछ और हुआ होता और सम्भवतः अनेक वैष्णव सम्प्रदायों का उद्भव भी होता या नहीं, इसमें भी सन्देह रहता।

प्रारम्भ में ही हमने यह ज्ञात किया था कि पुराणकारों ने प्रायः एक स्वर से वेदों की प्रामाणिकता की सुदृढ़ स्थापना करने की चेष्टा की थी। ऐसी अवस्था में वैदिक कर्मकाण्डों की वे पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते थे। पर साथ ही युग की बदलती हुई परिस्थितियों का भी ध्यान रखना था। फलतः प्राचीन प्रथाओं की नई व्याख्या करनी पड़ी और परम्परा-पालन का एक मध्यवर्ती मार्ग निकालना पड़ा। प्राचीन वैदिक या औपनिषदिक साधना-पद्धतियों को भक्ति की ओर उन्मुख करने में वैष्णव पुराणकारों ने जो प्रशंसनीय कार्य किये हैं उनका वह प्रयास भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। भागवतकार का तो यह भी कहना है कि लोग वैदिक अर्थवाद (मुख्यार्थ छोड़कर अवान्तर अर्थ) में फँस

जाते हैं और उससे मोहित हो जाते हैं।^१ आगे और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'कर्म का रहस्य न समझने वाले तथा उद्धत एवं मूर्ख होकर भी स्वयं को पण्डित माननेवाले वे लोग इस फल-श्रुति की मधुर वाणी से मोहित होकर बड़ी प्रसन्नता से बहुत ही मीठी-मीठी बातें किया करते हैं।'^२ यज्ञों की हिंसा एवं मदिरा-पान को भागवतकार ने किस प्रकार मोड़ दिया है, यह द्रष्टव्य है—

‘सोत्रामणि यज्ञ में मद्य का केवल सूँघ लेना ही विहित है, पान करना नहीं। यज्ञादि में पशु के केवल स्पर्श का विधान है, बध करने का नहीं।’^३ इस प्रकार वैदिक कर्मों की नई व्याख्या करके भागवतकार ने भक्ति-वर्द्धक कार्यों के लिए पृष्ठभूमि निर्मित कर दी और अनन्य भक्तों के लिए ग्राह्य कर्मों का इस प्रकार विधान किया—सर्वप्रथम मन को सब ओर से संयत बनाना; फिर साधुजनों की सेवा करना; सब प्राणियों के प्रति यथोचित दया, मैत्री एवं विनय का भाव रखना; शौच, तप, तितिक्षा (कष्ट-सहिष्णुता) मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में समानता, आत्मस्वरूप हरि को सर्वत्र देखना, एकान्त सेवन, अनिकेतता, पवित्र वस्त्र-धारण, जो कुछ प्राप्य हो उससे ही सन्तुष्ट रहना, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रों में श्रद्धा-भाव रखना, अन्य शास्त्रों की निन्दा न करना, मन-वाणी-कर्म का संयमन, सत्य-भाषण, शमदमादि, विचित्र लीलाविहारी भगवान के जन्म, कर्म एवं गुणों का श्रवण, कीर्तन व ध्यान, उन्हीं के निमित्त समस्त चेष्टायें करना, यज्ञ, दान, जप, तप, आचार अथवा जो कुछ भी अपना प्रिय हो तथा स्त्री, पुत्र, गृह तथा प्राण सब कुछ उसी परमात्मा को अर्पित कर देना। इसी प्रकार कृष्ण ही जिनके आत्मा तथा स्वामी हैं उन पुरुषों से प्रेम करना स्थावर-जंगम दोनों प्रकार के जगत् तथा महात्मा एवं साधुओं की सेवा करना, भगवान के परम पावन गुणों का परस्पर कथोपकथन करना, जिससे पारस्परिक प्रेम, सम्मान व शान्ति का विस्तार हो, ऐसे ही कर्म करें।^४

पुराणकारों को ज्ञान-मार्ग से भी इसी प्रकार का व्यवहार करना था। यद्यपि कुछ वैष्णव पुराणों ने ज्ञान-मार्ग की खिल्ली उड़ायी है, किन्तु सभी वैष्णव पुराणों की ऐसी प्रवृत्ति नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैष्णव पुराणों में जो ज्ञान-मार्ग के प्रति व्यंग्यात्मक या उपहासात्मक उल्लेख है वह मूल अंश है या प्रक्षिप्त।^५ जो भी हो, वैष्णव पुराणों में ज्ञान को

१. भागवत, ११।५।५

२. भागवत ११।५।६

३. वही ११।५।१३

४. वही ११।५।२३-३०

५. ‘भागवत’ पुराण से एक स्थान पर यहाँ तक कहा गया है—

श्रेयःक्षुति भक्तिमुदस्य ते विभो

ल्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धये

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,

नान्यद् यथा स्थूलतुषावधातिनाम॥ १०।१४।१४

श्री बलदेव जी उपाध्याय द्वारा, पृष्ठ १७६ पर उद्धृत।

११८ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयास यत्र-तत्र किया गया है और ज्ञान को पुराणकारों ने 'गीता' के ज्ञान के अर्थ में ही लिया है। ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव ने भगवान के समक्ष, जो उन्हें योग-मार्ग का उपदेश दे रहे थे, यह कहा है, 'अच्युत ! जो अपना मन वश में नहीं कर सका है उसके लिए आपकी बताई हुई यह योग-साधना तो बहुत ही कठिन है। अतः अब आप कोई ऐसा सरल तथा सुगम मार्ग बतायें जिससे मनुष्य अनायास ही परमपद प्राप्त कर सके।' (११।२९।१) यहीं आगे योग तथा कर्म-मार्गियों को अहंकार का शिकार होते हुए भी दिखाया गया है जबकि भक्तिमार्गियों में इस प्रकार के किसी दुर्गुण के समावेश की आशंका नहीं है। भक्ति को पुराणों में इतना अधिक महत्व दिया गया है कि इसे मुक्ति से भी महान ठहराया गया और इस भक्ति के लिए भक्त सब कुछ त्याग देता है। 'भागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध, १४ वें अध्याय में भक्ति का महत्व स्थापित करने वाले अनेक श्लोक कहे गये हैं। यहाँ भक्ति-योग के सुप्रसिद्ध प्रचारक नारद को भगवान यह सूचित करते हैं कि, 'जिसने अपने चित्त को मुझमें लगा दिया वह मुझे छोड़कर न ब्रह्मपद, न इन्द्रपद, न सार्वभौम राज्य, न समस्त भूमण्डल का आधिपत्य, न योग की सिद्धियाँ और न मोक्ष की ही कामना करता है।' (११।१४।१४)। ऐसे भक्त को भगवान कितना महत्व देते हैं, यह आगे के कथन से सिद्ध हो जाता है—

‘जो निरपेक्ष शान्त, निर्वैर तथा समदर्शी मुनि है, उसके पीछे-पीछे तो मैं इस विचार से कि इसकी चरण-धूलि से मैं पवित्र हो जाऊँगा सदा फिरा करता हूँ।’ (वही १६)।

भागवतकार ने भागवत धर्म को सर्वोपरि सिद्ध करने के अभिप्राय से और भी कहा है—

‘अभिज्ञ पुरुषों को भी तुरंत आत्मलाम कराने के लिए जो उपाय भगवान ने बताये हैं उन्हीं को भागवत धर्म समझना चाहिए। भागवत धर्म का आश्रय लेने पर मनुष्य कभी प्रमाद में नहीं फँसता। उस पर कभी विघ्न का आक्रमण नहीं होता। वह इस संसार में आँख मूँद कर दौड़ने पर भी न तो कहीं फिसलता है, न गिरता ही है।’

‘जिस प्रकार बड़ा हुआ अग्नि-पुंज ईंधन को जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार हे उद्धव ! मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पाप-राशि को पूर्णतया ध्वस्त कर देती है।’ (वही १९) अन्त में यहाँ तक घोषित किया जाता है कि, ‘मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है उस प्रकार न तो योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है।’ (वही २०) भक्ति का द्वार यहाँ चाण्डाल तक के लिए खोल दिया जाता है और वे भी अपने जातीय दोषों से मुक्त होकर भक्ति द्वारा पवित्र हो जाते हैं। (वही २१) किन्तु ‘भक्ति विहिन पुरुषों को सत्य एवं दया से युक्त धर्म अथवा तप से युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।’ (वही २२)

पौराणिक युग तक पूर्ववर्ती साधनाओं को किस प्रकार भक्ति की ओर उन्मुख किया गया है, इसका एक और महत्वपूर्ण उल्लेख करके हम पुराणों के साधन-पक्ष पर आयेँगे। पाँचरात्र-युग के पहले से ही भागवतों पर तांत्रिक प्रभाव पड़ने लगे थे। पुराणों ने (विशेषतया कुछ वैष्णव पुराणों ने) इसीलिए पाँचरात्र आगमों की उपेक्षा की थी। किन्तु केवल इनकी उपेक्षा से ही

सार्वभौमिक उपेक्षा नहीं सम्भव थी। अतः अनेक पुराणकारों ने, जिन्हें धर्म-प्रचार-पद्धति की नसों का पूर्ण बोध था, मनोवैज्ञानिक शब्दावली में 'रेचन-पद्धति' का अनुसरण किया— अर्थात् उन्हीं भावनाओं को दमित न करके इच्छित दिशा की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। इन प्रयासों में कुछ का उल्लेख प्रारम्भ में ही किया जा चुका है। किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य था औपनिषदिक ज्ञानवाद एवं तपोविद्या के समन्वय के फलस्वरूप उत्पन्न योगमार्ग को भक्ति मूलक बनाना या अधिक उपयुक्त शब्दों में यों कह लें कि प्राचीन तपवाद के नवोदित समर्थकों एवं प्रचारकों से लोगों को बचाना। पुराण-युग के पहले ही विभिन्न शारीरिक प्रक्रियाओं एवं नाना प्रकार के 'ध्यानों' का इतना विस्तृत एवं मोहक जाल बिछाया जा चुका था कि सर्वसाधारण का इस ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था। योग-दर्शन सम्भवतः समस्या को इतना जटिल न बना सका होता और इसके अष्टांग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान तथा समाधि) को सरलतापूर्वक भक्ति-पक्ष में ले लिया गया होता किन्तु इसमें तंत्र के सम्मिश्रण ने नेती, धोती, बस्ती आदि षड्कर्म, तथा नाड़ी-शोधन आदि का जो कर्म-जाल फैलाया उससे स्थिति पूर्णतया अभक्तिपरक होती जा रही थी। सर्व-साधारण पर तो इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ ही रहा था अधिकांश भागवत साहित्य भी इससे प्रभावित होता जा रहा था, अतः केवल उपेक्षा ही पर्याप्त न थी। अस्तु, भागवतकार ने योग की शारीरिक प्रक्रियाओं एवं 'ध्यान' को भी एक नया मोड़ दे दिया। यहाँ इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया कि व्याख्यात्मक शब्दावली तो लगभग वही हो, विधि का प्राण पूर्णतया भक्तिपरक हो, साथ ही यौगिक जटिलता को पूर्णतया सरलता की ओर मोड़ दिया जाय। भागवतकार ने किस प्रकार इस योग को भक्ति की ओर उन्मुख किया है, इसका विवरण हमें निम्न उद्धरणों से प्राप्त हो जायेगा। भगवान् उद्धव से कहते हैं—

‘सुखपूर्वक सम आसन में शरीर को सीधा रखकर बैठे, हाथों को गोद में रखे तथा दृष्टि को अग्रभाग में स्थिर करे। फिर, क्रम से पूरक, कुम्भक तथा रेचक अथवा विलोम क्रम से (रेचक, कुम्भक तथा पूरक) द्वारा नाड़ी को शुद्ध करे और जितेन्द्रिय होकर शनैः शनैः प्राणायाम का अभ्यास करे।.....हृदय में निहित कमलनाल-तुल्य ओंकार को प्राण के द्वारा ऊपर की ओर ले जाकर उसमें घण्टानाद सदृश स्वर स्थिर करे। इस प्रकार नित्य तीन समय दस-दस बार ओंकार सहित ही प्राणायाम का अभ्यास करे।.....फिर अन्तःकरण में स्थित ऊपर की ओर नाल और नीचे की ओर मुखवाले हृदय-कमल को ऊपर की ओर मुखवाला, खिला हुआ तथा आठ पंखुड़ियों तथा बीच की कली के सहित चिन्तन कर उसी कली में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, तथा अग्नि की भावना करे और अग्नि के मध्य में जिसका ध्यान अत्यन्त मंगलमय है ऐसे मेरे इस रूप का ध्यान करे। जो अनुरूप अंगों से सुशोभित अतिशान्त, सुन्दर है, अति मनोहर मुस्कान वाला है, जिसके समान श्रवण-पुट में मकराकार कुण्डल चमचमा रहे हैं, जो मेघ के समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी और श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का निवास-स्थान है, जो शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा वनमाला से विभूषित है, जिसके चरण-कमल नूपुरों से सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणि की आभा से सम्पन्न है तथा जो सब ओर से कान्तिमय किरीट, कटक, करधनी और भुजबन्द आदि आभूषणों से युक्त हैं, सर्वाङ्गसुन्दर और हृदयः

हारी है एवं जिसके मुख तथा नेत्र प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं, उस मेरे सुकुमार शरीर का उसके सब अंगों में चित्त लगाते हुए ध्यान करे।'^१

भगवान की मनोहर झांकी के ध्यान का विवरण 'भागवत' तृतीय स्कन्ध २८वें अध्याय में भी दिया गया है। ऐसे समस्त विवरण भगवान की सगुण कल्पना को बल प्रदान करते हैं और यद्यपि भावहीन मूर्ति-पूजा को भागवतकार ने ३।२९।२१ में स्वाँग कहा है तथापि सगुण ब्रह्म के निरूपण में जितना अप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष प्रयास यहाँ किया गया है उससे मूर्ति-पूजा को प्रश्रय मिला था। प्राचीन युग के अन्तिम चरण में मन्दिरों एवं मूर्तियों का जो बाहुल्य देखने को मिलता है उसका एक कारण पुराणों की सगुण भक्ति का प्रचार भी है।

भागवतकार ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि पूर्वोक्त 'तीव्र ध्यान-योग के द्वारा चित्त को संयत करने वाले योगी के चित्त का द्रव्य, ज्ञान तथा कर्म-सम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।'

पंद्रहवें अध्याय में पुनः सिद्धियों के प्रकरण में इसी प्रकार का प्रयोग किया गया है और वहाँ अन्त में भागवतकार के भगवान ही स्वयं कहते हैं कि 'समस्त सिद्धियों तथा ब्रह्म-वेत्ताओं के योग, सांख्य तथा धर्म आदि साधनों का एकमात्र हेतु, स्वामी तथा प्रभु मैं ही हूँ। २ इसके पूर्व इसी स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में भगवान ने उद्धव को यह सूचित करने के बाद कि किस प्रकार उन्होंने सनकादि को योग का उपदेश दिया था, अन्त में प्रसंगतः यह कहा है 'मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति तथा दम सबकी परम गति हूँ।' (११।१३-२९), इतना ही नहीं, सभी युगों में हर सम्प्रदाय या सिद्धान्त वाले भगवान नारायण, वासुदेव अथवा कृष्ण की ही उपासना विविध नाम-रूपों एवं पद्धतियों से करते रहे, इस मत का प्रचार भी भागवतकार ने दृढ़तापूर्वक करते हुए सूचित किया है कि 'सत्य युग में समदर्शी लोग भगवान नारायण की शम, दम तथा तपस्या से उपासना करते हैं और उस समय उनका हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त तथा परमात्मा आदि नामों से संकीर्तन किया जाता है। त्रेतायुग में भगवान रक्तवर्ण, चतुर्भुज.....वेदमयी रूप.....यज्ञपात्रों से सुशोभित होते हैं। उस समय धर्मिष्ठ तथा ब्रह्मचारी पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान हरि का वेदमयी रूप कर्मकाण्ड विधि से पूजन करते हैं और तब वे विष्णु, यज्ञ.....आदि नामों से पुकारे जाते हैं। द्वापर में भगवान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, अपने चक्रादि आयुधों से युक्त तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिन्हों व कौस्तुभ आदि बाह्य चिन्हों से सुशोभित होते हैं.....उस परमपुरुष का जिज्ञासु लोग वैदिक-तान्त्रिक विधि से अर्चन करते हैं तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं षडैश्वर्य युक्त आपको प्रणाम है, ऋषि श्रेष्ठ नारायण, महापुरुषवर, विश्वेश्वर, विश्वरूप एवं सर्वभूतात्मा आपको बार-बार प्रणाम है,' इस प्रकार.....उनकी स्तुति करते हैं। अब कलियुग की सुनिये। उस समय कृष्ण वर्ण, कृष्णकान्तिमय, सांगोपांग तथा आयुध एवं पार्श्वों से युक्त भगवान कृष्ण की बुद्धिमान लोग संकीर्तन प्रधान यज्ञों द्वारा पूजा करते हैं।' (११।५।२१-३२) (यहाँ 'संकीर्तन प्रधान यज्ञ' विशेष रूप से द्रष्टव्य है)

अस्तु, उपर्युक्त विवरण से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि 'भागवत' में लगभग सभी प्रचलित धर्म-साधनाओं को, जिनसे सर्वसाधारण प्रभावित होता जा रहा था, भक्ति की ओर मोड़ने की सजग चेष्टा की गई है। विष्णु पुराणों में भी 'भागवत' पुराण की भक्ति पूर्व प्रचलित भक्ति से बहुत कुछ भिन्न है। यह भिन्नता हम बिना श्रम के ही 'भागवत' पुराण में पा सकते हैं और वह है धर्म के साथ रसात्मकता का समावेश जिस पर मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों की भावभूमि निर्मित होती है।

प्रायः सभी साधना-पद्धतियों में गुरु की आवश्यकता दिखाई गई है। भक्ति-मार्ग में भी जिज्ञासु को गुरु की शरण में जाने का आदेश दिया गया है। (भागवत ११।३।२१) गुरु से ही भागवत धर्म की शिक्षा प्राप्त होगी। तत्पश्चात् भगवान् के परम पावन गुणों के परस्पर कथोपकथन का विधान किया गया है। (११।३।२९-३०) 'इस प्रकार पाप-पुंजहारी भगवान् हरि का स्वयं स्मरण करते हुए तथा औरों से कराते हुए महात्मा भक्त जन वैधी भक्ति से प्रेमाभक्ति के उदय होने पर पुलकित हो जाते हैं। ऐसा होने पर वे अलौकिक पुरुष भगवान् अच्युत का ध्यान करके कभी रोते, कभी हँसते, कभी आनन्दित होते, कभी बड़बड़ाने लगते और कभी अजन्मा प्रभु की लीलाओं का चिन्तन करते हैं एवं परम-उपरित को प्राप्त होकर मौन हो जाते हैं' (भक्त) 'अपने परम प्रिय प्रभु के नाम-संकीर्तन से अनुराग उत्पन्न हो जाने पर द्रवित चित्त होकर संसार की चिन्ता न करते हुए कभी खिलखिला कर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है और कभी उन्मत्त के समान नाच उठता है'। (११।२।४०)

इस असाधारण शारीरिक एवं मानसिक अवस्था का उल्लेख भागवतकार ने पुनः किया है और यह दिखाया है कि 'जिसकी वाणी गद्गद् और जिसका चित्त द्रवित हो जाता है, जो कभी बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी निःसंकोच भाव से उच्चस्वर में गाने लगता है, कभी नाच उठता है, ऐसा मेरा भक्त त्रिलोक को पवित्र कर देता है।' (११।१४।२४) इसके ठीक पूर्व ही इसी स्थल पर यह भी सूचित किया गया है कि 'बिना रोमांच हुए, बिना चित्त के द्रवीभूत हुए, बिना आनन्दाश्रुओं का उद्रेक हुए तथा 'बिना भक्ति के अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है।' अन्तःकरण शुद्धि के अब तक जितने मार्ग शास्त्रों में बताये गये थे उनमें इस भावात्मकता या हार्दिकता को कहीं भी इस प्रकार का महत्व नहीं दिया गया था। उपर्युक्त विधि से अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् ही साधक भगवान् कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। 'भागवत' में बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार की शुद्धियों की व्यवस्था की गई है—

'गुरु की कृपा का पात्र होकर उनके द्वारा बताई हुई विधि के अनुसार अपनी अभिमत मूर्ति द्वारा महापुरुष नारायण की पूजा करे। प्रथम शरीर तथा अन्तःकरण को शुद्ध करके प्रतिमा के सम्मुख बैठकर प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शुद्धि करे। तत्पश्चात् अंगन्यास से भलीभाँति देह-रक्षा कर भगवान् का पूजन करे। बाह्य प्रतिमा अथवा हृदय में, जहाँ भी पूजन करना हो और तदर्थ जो कुछ पूजन-सामग्री उपलब्ध हो सके, पूजा स्थान तथा शरीरादि को पहले शुद्ध कर ले, फिर आसन पर जल छिड़ककर अर्घ्य, पाद आदि के पात्रों को यथास्थान रखे। तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर अंगन्यास के

१२२ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

उपरान्त मूल मंत्र के द्वारा प्रतिमा का पूजन करे। अपने-अपने उपास्य देव की अंगोपांग एवं पार्षद सहित मूर्ति की उसके मूल मंत्र द्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, नाना वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला अक्षत, पुष्पहार धूप, दीप नैवेद्य आदि से विधिवत् पूजा करे। तत्पश्चात् स्तोत्रों द्वारा स्तुति करके भगवान् हरि को नमस्कार करे।^१

नामोच्चारण का महत्व प्रदर्शित करते हुए भागवतकार ने अजामिल की कथा का प्रचार किया है। इस कथा से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि भूले-भटके भी यदि भगवान् हरि का नाम जिह्वा पर आ गया तो मुक्ति निश्चित है। भगवान् के पार्षदों ने यमदूतों से कहा है—

‘यमदूतो ! इसने (अजामिल ने) कोटि-कोटि जन्मों की पाप-राशि का पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कर लिया है क्योंकि इसने विवश होकर ही सही, भगवान् के परम कल्याणमय नाम का उच्चारण तो किया है। जिस समय इसने ‘नारायण’ इन चार अक्षरों का उच्चारण किया उसी समय केवल उतने से ही इस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित्त हो गया।’ (६।२।७-८) यहीं आगे गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या तक का प्रायश्चित्त नामोच्चारण को ही ठहराया गया है। भागवतकार ने भक्ति-मार्ग को आकर्षक बनाने का यह जो सरल विधान किया है वह भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे सरल कोई दूसरी साधना क्या हो सकती थी।

भक्ति के समस्त साधनों में सत्संग को लगभग सभी वैष्णव पुराणों ने कम या अधिक महत्व दिया है। भागवतकार का तो यह दृढ़ मत है कि सत्संग ही साधना का प्राण है। भगवान् ने उद्धव से कहा है—

‘हे उद्धव ! सर्वसंनिवारक सत्संग के द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम, नियम आदि किसी से नहीं होता। सत्संग के द्वारा ही भिन्न-भिन्न युगों में दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध-चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्यों में वैश्य, शूद्र, स्त्री तथा अन्त्यज आदि राजस-तामस प्रकृति के जीव एवं वृत्तासुर, प्रह्लाद, वृषपर्व, बलि, वाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गज, गृध्र, तुलाधार, व्याध, कुब्जा, ब्रज की गोपियाँ, यक्ष-पत्नियाँ और ऐसे ही अन्यान्य जन मेरे परम पद को प्राप्त हुए हैं। देखो, गोपिकायें, गौयें, यमलार्जुन, ब्रज के अन्यान्य मृग आदि तथा अन्यान्य मन्द बुद्धि नाग एवं सिद्धगण, जिन्होंने न तो वेदों को पढ़ा था न महापुरुषों की उपासना की थी और न कोई व्रत या तप ही किया था, केवल सत्संग-जनित मेरे भक्ति-भाव से ही सफलतापूर्वक मुझको प्राप्त हो गये, जिसको बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न प्रयत्नशील भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुति-वचन या मनन तथा सन्यास आदि किसी भी साधन से नहीं पा सकते।’^२

यह तो स्वयं भगवान् के सान्निध्य या सत्संग का उल्लेख है, साधु-जनों का संग भी इतना ही महत्वपूर्ण है। भक्त के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए भागवतकार ने, सत्संग का

१. भागवत पुराण ११।३।४८-५३

२. वही ११।१२।१-९

महत्त्व बढ़ाने के उद्देश्य से ही, भगवद् भक्तों की आराधना और उनसे मित्रता न करनेवालों को साधारण कोटि का भक्त कहा है। सत्संग को बढ़ावा देने का उद्देश्य स्पष्ट है। भागवत धर्म को अधिकाधिक प्रसार देने के लिए यह एक बहुत ही उत्तम साधन था। इससे भक्तिमय वातावरण की सृष्टि होती थी और यत्र-तत्र भक्त-मण्डलियों के संगठन से भागवत धर्म का प्रचार बढ़ जाना स्वाभाविक था। अतः भागवतकार ने श्रवण, कीर्तन आदि प्रचार-उत्प्रेरक साधनों के साथ साथ सत्संग की भी व्यवस्था की थी। अब मन्द बुद्धि तथा हर प्रकार से साधन-हीन एवं हेय मनुष्यों को भी विश्वास हो गया कि यदि और कुछ न हो सके तो केवल सत्संग करके इस सरलतम मार्ग से ही भक्ति-लाभ किया जाय। सत्संग के साथ समर्पण की भावना भी जुड़ी है। समर्पण-सम्बन्धी भागवतीय विवरण उल्लेखनीय है—

‘मेरे स्वरूप को न जानने वाली तथा रमण एवं जारबुद्धि से ही मेरी कामना करने-वाली सैकड़ों हजारों अबलाओं ने निरंतर मेरे संग रहने के कारण मुझे परब्रह्मरूप से ही पा लिया, अतः हे उद्धव ! अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य, तथा श्रुत-इन सबका परित्याग करके अनन्य भाव से समस्त देहधारियों के आत्मस्वरूप एक मेरी ही शरण में आ जाओ और मेरे आश्रित होकर सर्वथा निर्भय हो जाओ।’^१ समर्पण की यह भावना पूर्णतया गीतानुसार ही है। इस समर्पण में ही वैष्णव पुराणों ने सारी भक्ति-भावना को निहित करना चाहा है। समर्पण करने वाले भक्तों की महानता सिद्ध करते हुए कहा गया है—

‘.....जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म, उनके फल तथा अपने शरीर को भी मुझे ही अर्पण करके भेद-भाव छोड़कर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार मुझे ही चित्त और कर्म-समर्पण करने वाले अकर्ता और समदर्शी पुरुष से बढ़ कर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता।’^२

समर्पण के साथ फिर निष्काम भाव आवद्ध होना चाहिए। भक्ति का इस भाव से गहरा सम्बन्ध है। निष्काम भक्ति को भागवतकार ने सर्वोच्च ही नहीं कहा प्रत्युत इसे ही वास्तविक भक्ति तक माना है, जैसा कि निम्न विवरण से परिलक्षित होता है—

‘सर्वश्रेष्ठ धर्म मनुष्यों के लिए वही है जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण में भक्ति हो और वह भक्ति ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य हो। ऐसी भक्ति से ही भक्त आनन्द स्वरूप भगवान् को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है।’ (भागवत १।२।६) तृतीय स्कन्ध में पुनः इसी तथ्य पर बल देते हुए कहा गया है—

‘उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में लग जाय।’ (३।२५।३२।३३)

उपर्युक्त दोनों विवरण भक्ति की व्याख्या करते हुए उसे निष्काम होना बताते हैं। पूर्व मध्यकाल से ही पुराणों के ये उद्गार ब्रह्मवाक्य के रूप में स्वीकृत होने लगे थे और आगे भक्ति के साथ ‘अहैतुकी’ शब्द स्वतः जोड़ दिया जाने लगा।

भक्तों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें भी निष्काम भाव से भक्ति करने वालों को ही सर्वोत्तम स्थान दिया गया है।

भागवतकार ने भगवत भक्तों का वर्गीकरण करते हुए कहा है—

‘जो समस्त प्राणियों में वर्तमान आत्मा के भगवद्भाव को देखता है—यह जानता है कि मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ तथा सभी पदार्थों में व्यापक हूँ और जो अपने भगवत्स्वरूप में ही समस्त प्राणियों को अध्यस्त देखता है, वही भगवद् भक्तों में श्रेष्ठ है। जो भगवान् से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, अज्ञानियों पर कृपा तथा भगवान् से द्वेष करने वालों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है। जो भगवान् के अर्चाविग्रह प्रतिमा आदि की पूजा में ही श्रद्धा से प्रवृत्त होता है, उनके भक्तों की अथवा अन्य किसी की पूजा में प्रवृत्त नहीं होता है वह साधारण भक्त कहा जाता है।’^१

श्रेष्ठ या उत्तम कोटि के भक्तों पर भागवतकार ने यहीं कुछ विस्तारपूर्वक लिखा है जिसका यह आशय है कि सुख-दुख में समत्वभावधारी, सांसारिक माया-मोह से निरहंकारी, समदर्शी, भगवान् का निरन्तर चिन्तक भगवान् का सर्वश्रेष्ठ भक्त है।

भक्तों के वर्गीकरण का एक दूसरा विवरण भी उल्लेखनीय है। ‘भागवत’ के तृतीय स्कन्ध में कहा गया है—

‘साधकों के भाव के अनुसार भक्ति-योग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है क्योंकि स्वभाव तथा गुणों के भेद से मनुष्यों के भाव में भी विभिन्नता आ जाती है। जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य का भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है। जो पुरुष विषय, यश तथा ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में मेरा भेद-भाव से पूजन करता है, वह राजस भक्त है। जो व्यक्ति पापों का क्षय करने के लिए, परमात्मा को अर्पण करने के लिए तथा पूजन को कर्तव्य समझ कर मेरा भेदभाव से पूजन करता है वह सात्विक भक्त है।’^२

उक्त तीन के अतिरिक्त चौथी निर्गुण भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

‘जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति का तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से मुझ अन्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम एवं अनन्य प्रेम होना निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है।’ भक्ति का उपर्युक्त वर्गीकरण साधक की वृत्तियों के आधार पर किया गया है। साधना-पक्ष को ध्यान में रखते हुए बहु प्रचलित ‘नवधा-भक्ति’ की योजना ‘भागवत’ में की गई है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

इति पुंसापिंता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।

क्रियते भगवत्पद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ (७।५।२३-२४)

अनेक स्थलों पर उक्त नवधा भक्ति की ओर ‘भागवत’ में संकेत किया गया है।

१. भागवत पुराण ११।२।४५-४७

२. वही ३।२९।७-१०

‘भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध, १९वें अध्याय में तत्सम्बन्धी एक अत्यन्त सुन्दर विवरण दिया गया है—

“जो साधक मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता है वह मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण, मेरी लीला तथा मेरे नामों का संकीर्तन करे; मेरी पूजा में अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रों के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा-पूजा में प्रेम-भाव रखे और सामने (मूर्ति के सामने) साष्टांग प्रणाम करे, मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से बढ़कर करे और समस्त प्राणियों में मुझे ही देखे। अपने प्रत्येक अंग की चेष्टा मेरे लिए ही करे, वाणी से मेरे ही गुणों का गान करे तथा अपना मन मुझे ही अर्पित कर दे। मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त अन्य सारी कामनाओं का त्याग कर दे, मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे। जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत तथा तप किया जाय वह मेरे लिए ही करे। जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं और मेरे ही प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं उनके हृदय में मेरी प्रेममय भक्ति का उदय होता है।’ (११।१९।२०-२४)

भागवतकार ने नवधा भक्ति की व्यवस्था बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से की है। इनमें से प्रथम तीन—श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण श्रद्धा और विश्वास-वृत्ति के सहायक हैं। श्रद्धा एवं विश्वास की स्थापना के पश्चात् दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन भावों की योजना स्वतः सम्भव हो जाती है। भगवान के रूप से भी साधक प्रभावित होता है, अतः इसकी व्यवस्था भी भागवतकार ने पादसेवन, अर्चन तथा वन्दन भक्ति द्वारा कर दी जिससे भक्त भगवान के विग्रह की आराधना कर सके। गौणी तथा पराभक्ति अथवा वैधी या रागानुगा भक्ति की योजना भी भागवतकार ने की थी। ‘भागवत’ के इसी वर्गीकरण से प्रभावित होकर अनेक परवर्ती शास्त्रकारों ने भक्ति का वर्गीकरण एवं उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है।^१

‘भागवत’ में भगवान का स्वरूप अत्यन्त चित्ताकर्षक दिखाया गया है। फलतः उस मोहिनी तथा सर्वशक्तिमान रूप के प्रति अनेक प्रकार की आसक्तियों का उदय सम्भव है।

१. ‘सा परानुरक्तिरीश्वरे’, (शाण्डिल्य भ० स०-२), ‘सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा (नारद भ० सू०-२). भक्तिरस्य भजनं एतादिहामुत्रोपाधिनैराशयेनामुष्मिन् मनः कल्पतम्” (गोपाल पूर्वतापनी उपनिषद-२-१), ‘मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिलुप्ता। अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी (‘नारद पांचरात्र)’

भागवतकार ने साधन तथा साध्यपक्ष के आधार पर भक्ति का जो वर्गीकरण किया था, उसी पर गौणी तथा परा भक्ति को विस्तार दिया गया। गौणी भक्ति के दो उपभेद किये गये—वैधी तथा रागानुगा। पुनः रागानुगा के भी कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा दो उपभेद किये गये। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन तथा वन्दन का सम्बन्ध वैधी भक्ति से है और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन रागानुगा भक्ति से सम्बन्धित हैं। भागवतकार की पूर्वकथित निर्गुण या निष्काम भक्ति ही परवर्ती आचार्यों की सर्वोच्च पराभक्ति होती है। गौणी भक्ति को साधन-भक्ति या मर्यादा भक्ति तथा पराभक्ति को साध्य भक्ति वा स्वरूपा-भक्ति भी कहा गया है।

भगवान् कृष्ण पर यशोदा-नन्द, ग्वाल-बाल, गोपिकायें, पशु-पक्षी-लता-कुंज, स्वर्गलोक की देवियाँ सभी आकर्षित हैं और किसी न किसी भाव से उन्हें पूजती हैं। भागवतकार ने इस व्यापक आसक्ति का इतना सफल और सुन्दर विवरण दसवें स्कन्ध में दिया है कि परवर्ती आचार्यों को इस आधार पर अनेक प्रकार की आसक्तियों की कल्पना करनी पड़ी। 'नारद भक्ति सूत्र' में ग्यारह आसक्तियों का विधान किया गया—

१. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणामक्ति, ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कांतासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति तथा ११. परमविरहासक्ति।—(नारद भक्तिसूत्र, ८२)

भागवतकार की गोपियों में हमें उपर्युक्त सभी आसक्तियाँ प्राप्त होती हैं। ब्रज की प्रौढ़ायें कृष्ण को वात्सल्य भाव से पूजती हैं तो कुमारियाँ तथा अन्य विवाहित युवतियाँ उन्हें कांताभाव से आराधती हैं। किन्तु इन सारी आसक्तियों का पर्यावसान अन्त में आत्मनिवेदन या समर्पण में ही होता है। हमने प्रारम्भ में ही संकेत किया था कि पौराणिक भक्ति का अन्तिम लक्ष्य भगवान् कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण ही है। इसी समर्पण का सर्वोच्च उदाहरण है गोपियों का सब कुछ कृष्ण को न्योछावर कर देना। उनका यह समर्पण ही मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन में एक नई स्फूर्ति लाने का कारण तब बनता है जब राधा-कृष्ण को लेकर रस-मय भावना का न केवल अधिकाधिक प्रचार किया गया प्रत्युत इस सिद्धान्त पर अनेक सम्प्रदाय खड़े किये गये। इतना ही नहीं, रामावत सम्प्रदाय को भी इस रस-भावना ने प्रभावित किया जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

किन्तु इस नई योजना ने कृष्ण के चरित्र में भी परिवर्तन ला दिया। 'छान्दोग्य' उपनिषद् के कृष्ण, 'महाभारत' व 'गीता' के कृष्ण के चरित्र से हम परिचित हो चुके हैं, यहाँ हम पुराणों के कृष्ण-चरित्र पर दृष्टिपात करेंगे।

कृष्ण-चरित्र—वैसे समस्त वैष्णव पुराणों में कृष्ण-सम्बन्धी कथाओं पर प्रकाश डाला गया है और सब में चतुर्व्यूहात्मक भगवान् विष्णु को प्रधानता देते हुए कृष्णोपासना को श्रेष्ठ सिद्ध करने के अभिप्राय से कृष्ण के लोकहितकारी एवं लोकरंजक रूप को प्रचलित कथाओं के माध्यम से प्रकाशित किया गया है, किन्तु कुछ पुराण बालगोपाल के चित्रण में ही अधिक रुचि लेते हैं, जो सम्भवतः युगानुसार था और कुछ कृष्ण के प्राचीन रूप को ही प्रचारित करते हैं। रास-वर्णन में भी कुछ वैष्णव पुराणों में अनेक पृष्ठ व्यय किये गये हैं। पर सब में समान सरसता या विस्तार नहीं है।

'ब्रह्मपुराण' १८९ में भगवान् कृष्ण गोपिकाओं के साथ रास क्रीड़ा करते हुए दिखाये गये हैं। कृष्ण को न पाने पर गोपिकाएँ यमुना-तट पर उनके गुणों का वर्णन करने वाले गीत गाती हैं। मथुराशमन के अवसर पर, १९२ में, गोपियों के विलाप का भी चित्रण किया गया है।

‘विष्णु’ पुराण ने भी ५।१३ में रासलीला की योजना की है और यहीं एक विशिष्ट गोपी की ओर संकेत किया गया है जिसे कालान्तर में भाष्यकारों तथा टीकाकारों ने राधा नाम दे दिया है। रासलीला के अन्य चित्रण ‘ब्रह्म’ पुराण के समान ही हैं।

पर रास-लीला को महत्वपूर्ण स्थान देने की दृष्टि से ‘ब्रह्मवैवर्त’ पुराण का स्थान ‘भागवत’ की भाँति ही प्रधान है। इस रास-लीला में राधा तथा उनकी सहस्रों स्त्रियाँ सम्मिलित हैं। यहाँ गोपियों का प्रेम चरम-सीमा पर पहुँच जाता है और पुराणकार का विवरण श्रृंगारिकता के अन्तिम छोर को छूने लगता है।

‘पद्म’ पुराण में भी, पाताल० ६९-८३ में, रासलीला का विस्तृत वर्णन किया गया है, किन्तु इसकी भाव-भूमि अन्य पुराणों की अपेक्षा आध्यात्मिक स्तर पर कुछ अधिक ऊँची उठी दिखाई पड़ती है।

‘हरिवंश’ पुराण (२।२०) में, रासलीला की योजना केवल परम्परा निर्वहण के लिए ही की गई प्रतीत होती है। यहाँ शारदी ज्योत्सना को देखकर कृष्ण गोपिकाओं के साथ नाना क्रीड़ाएँ करते हुए दिखाये गये हैं। ‘हरिवंश’ की रास-लीला (हल्लीसक क्रीड़न) की संक्षिप्तता तथा साथ ही गम्भीरता हमें यह सोचने की प्रेरणा देती है कि पौराणिक युग तक कृष्ण के चरित्र में उन तत्वों का समावेश किया जा चुका था जिन पर आगे चल कर मधुरोपासकों का केवल इसी आधार पर राधा प्रेम को लेकर चलने वाले सम्प्रदायों की स्थापना करने का अवसर प्राप्त हो सके। रासलीला में बहुत खूब न लेने वाले ‘हरिवंश’ में भी परम्परा-पालन के लिए इसकी योजना की गई है। इसी प्रकार लगभग सभी पुराण रासलीला की योजना करके यह सिद्ध करते हैं कि उस समय तक भगवान् कृष्ण के श्रृंगारी रूप की केवल कल्पना ही नहीं की जा चुकी थी प्रत्युत उसका समाज में बहुत अधिक प्रचार भी था।

हमें यहाँ इस समस्या पर विचार नहीं करना है कि राधा का उद्भव कब हुआ, प्रत्युत जहाँ तक कृष्ण-चरित्र में श्रृंगारिकता का प्रश्न है, वह राधा-नाम-विहीन रास-लीला से भी प्रकाशित हो जाती है। गौड़ीय वैष्णवों के गोस्वामियों ने राधा की प्रामाणिकता के लिए श्रुतियों, स्मृतियों, तंत्रों, पुराणों, उपपुराणों आदि की जो छान-बीन की है वह सम्प्रदाय के सुदृढ़ीकरण के लिए अवश्य महत्वपूर्ण है पर कृष्ण की श्रृंगारिता केवल राधा तक ही सीमित नहीं है। पुराण-पूर्व भागवत-साहित्य में हमें कृष्ण का जो गम्भीर चरित्र उपलब्ध हुआ था उसके समक्ष पुराणों की रासलीला वाला रूप राधा के अभाव में भी चारित्रिक विपर्यय दिखाने में पर्याप्त है। ‘भागवत’ की रासलीला को किसी राधा की अपेक्षा नहीं है और वह अपने में ही इतना पूर्ण है कि कृष्ण के उद्दाम रसिक रूप की पूर्ति के लिए आने वाली पीढ़ी स्वयं ही राधा को ढूँढ़ लेती। पौराणिक युग में राधा के बिना भी कृष्ण पूर्ण हैं। वे ‘राधा बिना आधा’ बाद में लगने लगते हैं। यहाँ हम ‘भागवत’ की रासलीला की कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान देंगे जिसने परवर्ती आचार्यों एवं कवियों को प्रभावित किया था।

‘भागवत’ के दशम स्कन्ध में कृष्ण के श्रृंगारिक रूप के चित्रण की अत्यन्त काव्यात्मक योजना की गई है। वेणुवादन, चौरहरण, रास या महारास आरम्भ करने के पूर्व

भागवतकार एक सफल कवि की भाँति वर्षा एवं शरद ऋतुओं का वर्णन करता है और इससे एक ऐसी लौकिकता एवं अलौकिकतामिश्रित वातावरण की सृष्टि करता है जिसमें भावी श्रृंगारिकता को आध्यात्मिक स्तर पर लाया जा सके। यहाँ उम्मेदशा अलंकारों की योजना करके ही उक्त लक्ष्य की प्राप्ति की गई है। इसी पृष्ठभूमि में भागवतकार ने आगे का श्रृंगारिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इक्कीसवें अध्याय में प्रकृति के अत्यधिक उद्दीपक रूप को चित्रित करते हुए वेणुगीत की योजना की गई है जिसे सुन कर गोपियाँ 'एकान्त में अपनी सखियों से उनके (कृष्ण के) रूप, गुण और वंशी-ध्वनि के प्रभाव का वर्णन करते लगीं' पर स्मरण करते ही गोपियों का मन हाथ से निकल जाता है और ने मन ही मन कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं। यहाँ भागवतकार ने गोपियों के परस्पर आलाप द्वारा कृष्ण तथा बलराम का मोहन चित्र खींचते हुए उन्हें चतुर नट तक की उपमा दी है, पर कृष्ण के वेणु-वादन का लोकोत्तर प्रभाव दिखाने में भी कोई चूक नहीं हुई है। भागवत-कार कहीं भी आध्यात्मिकता से दूर नहीं होता है। कृष्ण की वंशी से पशु-पक्षी, स्वर्ग की देवियाँ आदि सभी मूर्च्छित हो जाती हैं, फिर बेचारी गोपियों की क्या विसात। सारी नारी जाति कृष्ण के रूप पर मोहित है। वृन्दावन की भीलनियों की तो यह अवस्था है कि 'गोपियाँ अपने वक्षस्थलों पर जो केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दर के चरणों में लगी रहती है और वे जब वृन्दावन के घास-गात पर चलते हैं तो उनमें भी वह केसर लग जाती है। ये सौभाग्यवती भीलनियाँ वह केसर तिनकों से छुड़ाकर अपने स्तनों तथा मुखों पर मल लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदय की प्रेम-पीड़ा शान्त करती हैं।' ^१

(कृष्ण-प्रेम के लोकोत्तर प्रभाव की जो सुन्दरतम कल्पना 'भागवत' पुराण में की गई है और फिर गोपियों की विरहावस्था का जो सार्वभौमिक प्रभाव दिखाया गया है इससे सूफी-प्रेम-साधना के हिन्दी कवियों को अवश्य प्रेरणा मिली होगी जिन्होंने अपने लौकिक प्रेम को अलौकिकता की ओर उन्मुख करने में रूप-चित्रण तथा विरह-चित्रण में इनके सार्व-भौमिक प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है।)

बाइसवें अध्याय में चौरहरण का प्रसंग कृष्ण-चरित्र में एक आश्चर्यजनक नवीनता ला देता है। इस प्रसंग को लेकर भी अनेक आचार्यों एवं पण्डितों को आध्यात्मिक व्याख्या के लिए, अनेक उद्भावनाएँ करनी पड़ी हैं। जल में नग्न स्नान करने वाली गोपियाँ कृष्ण के कहने पर अपने दोनों हाथों से सलज्ज अंगों को छिपाकर यमुना से बाहर निकलीं और तब उनके ही आदेश पर नग्न-स्नान द्वारा भगवान् वरुण तथा यमुना के प्रति अपराध करने के प्रायश्चित्त में गोपियों ने सलज्ज अंगों से भी हाथ हटा कर दोनों हाथों से कृष्ण को नमस्कार किया। ^२

इस प्रकार भागवतकार ने गोपियों का कृष्ण के समक्ष नग्न रूप में उपस्थित होना चित्रित करके श्रृंगारिकता की सामान्य मर्यादा का भी उल्लंघन कर दिया है। कृष्ण का यह रूप इसके पूर्व किसी साहित्य में नहीं मिला था। यहीं कृष्ण गोपियों के इस समर्पण

से प्रसन्न होकर उन्हें आने वाली शरद ऋतु की रात्रियों में अपने साथ विहार करने का वरदान देते हैं और वह विहार रासलीला के रूप में (२९वें अध्याय में) चरितार्थ किया गया। वंशीवादन से कृष्ण ने गोपियों की सारी लोक-लज्जा, भय, संकोच आदि का अपहरण कर लिया और उधर शरद की रात स्वयं उत्तेजना दे रही थी। ऐसी ही अवस्था में भागवतकार रास की योजना करता है—‘..... भगवान् श्री कृष्ण ने गोपियों के साथ यमुना के पावन पुलिन पर..... पदार्पण किया।..... उस आनन्दप्रद पुलिन पर भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीड़ा की। हाथ फैलाना, आलिंगन करना, गोपियों के हाथ दबाना, उनकी चोटी, जांघ, नीवि तथा स्तन आदि का स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवन से देखना और मुस्काना—इन क्रियाओं द्वारा गोपियों के दिव्य कामरस को, परम उज्ज्वल प्रेम-भाव को, उत्तेजित करते हुए श्री कृष्ण उन्हें क्रीड़ा द्वारा आनन्दित करने लगे’।^१

इस संभोग-शृंगार के पश्चात् मान के कारण वियोग-शृंगार की भी योजना की गई है, जिसका सफल काव्योचित चित्रण अगले अध्याय में किया गया है। कामान्ध गोपियाँ पागल होकर कभी वृक्षों-लताओं से कृष्ण का पता पूछती हैं तो कभी स्वयं कृष्ण का अभिनय करती हैं। यहीं उस ‘आराधिका’ का उल्लेख आता है जिसे अनेक भाष्यकारों ने राधा कहा है। पर जिस उन्मत्तावस्था में गोपियाँ इस आराधिका की कल्पना करती हैं वह कोरी कल्पना भी हो सकती है। विरह एवं मान में असाधारण तीव्रता ला देने के उद्देश्य से भी भागवतकार ने किसी एक गोपी पर कृष्ण की सर्वाधिक कृपा का उल्लेख किया होगा क्योंकि जब गोपियों के मन में यह भाव जगेगा कि कृष्ण किसी एक गोपी को अधिक प्यार करते हैं तो वे भी उसी विशेष गोपी की भाँति कृष्ण का अन्यतम प्यार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगी। प्यार के प्रसंग में इस प्रकार की विशेषता स्वाभाविक ही है। अतः यदि भागवतकार ने राधा का नाम नहीं भी लिया तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं। हम राधा की उत्पत्ति का अध्ययन करते समय देखेंगे कि किस प्रकार टीकाकारों तथा भाष्यकारों ने गोपियों की इसी कल्पना को सत्य मान लिया है। और इस प्रकार ‘भागवत’ की विशेष गोपी राधा का रूप धारण कर लेती है।

भागवतकार ने भ्रमर-गीत तथा उद्धव-संदेश की भी योजना कर दी थी, जिसे लेकर आनेवाली पीढ़ी नाना प्रकार की उक्तियाँ गढ़ सकी। सैतालिसवें अध्याय का यह विवरण पुनः रासलीला की स्मृति दिला देता है। किन्तु कृष्ण-चरित्र की इस विविधता की इतिश्री केवल परकीया तक ही सीमित नहीं है। भागवतकार ने कृष्ण के असंख्य व्याहों का भी, जिनमें हरण के उदाहरण कम नहीं हैं, उल्लेख किया है।^२ स्वकीया प्रेम का चित्रण करने में भी भागवतकार ने उसी शृंगारिकता का परिचय दिया है।^३ पर भागवतकार इस नई योजना के साथ ही इस दिशा में सतर्क है कि ‘गीता’

१. भागवत १७-२९।४५-४६

२. द्रष्टव्य भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ५८

३. भागवत १०।७०।१ तथा १०।९०।१-२४

के कृष्ण का स्वरूप कहीं दबने न पाये ; अथवा यह भी सम्भव है कि वह अपने कृष्ण में 'गीता' के कृष्ण के चरित्र का समावेश कराकर यह आशा कर सकता था कि उसके कृष्ण को मान्यता प्रदान हो पायेगी और उसका व्यापक प्रचार हो पायेगा। हमने प्रारम्भ में भी संकेत किया था कि कृष्ण का उक्त रूप लोक-प्रचलित अवश्य रहा होगा, भले ही वह किसी समुदाय विशेष तक ही—सम्भवतः आभीरों, पांचरात्रिकों या सात्वतों-आभीरों तक ही, सीमित रहा हो पर इसे व्यापकत्व देने के लिए योगी कृष्ण का रूप एवं उस कृष्ण का जिसमें वे एक ब्रह्मवेत्ता की भाँति चित्रित किये गये थे, भागवतकार के लिए एक आवश्यकता थी। 'भागवत' में कृष्ण का यह रूप यत्र-तत्र मिलता है और यहाँ तक कि कृष्ण गोपिकाओं को भी पुनर्मिलन के अवसर पर ब्रह्मविद्या का पाठ पढ़ाते हैं।^१ कृष्ण का उपदेशक रूप भागवतकार ने सुरक्षित रक्खा है। एकादश स्कन्ध के बीसवें अध्याय में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का जो उपदेश दिया है वह द्रष्टव्य है। यह उपदेश हमें 'गीता' की स्मृति दिलाता है। यह तथा ऐसे ही अनेक उपदेश हमें भागवतकार की उस प्रवृत्ति का संकेत देते हैं जिसमें वह भागवत धर्म को लोकोन्मुख करते हुए उसे शास्मानुकूल सिद्ध करना चाहता था। उसकी इसी विशेषता का यह प्रतिफल है कि मध्यकालीन आचार्यों तथा कवियों ने एक स्वर से इसकी प्रशंसा की है और कवियों ने तो अपने शब्दों में ही 'भागवत' के भावों को मधुर पदों में दुहराया है।

पांचरात्रिक व भक्ति-आन्दोलन में उनकी देन

यहाँ हम 'महाभारत' के 'पांचरात्र' नामकरण, उनके साहित्य, कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त तथा भक्ति-आन्दोलन में उनकी देनों पर विचार करेंगे।

पांचरात्र नामकरण—'पंच' तथा 'रात्र' शब्द के आधार पर पांचरात्र नामकरण की अनेक कल्पनाएँ की गई हैं जो बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होतीं और वे केवल वास्तविक अर्थ में कल्पनाएँ ही हैं। उदाहरणार्थ 'महाभारत'^२ ने 'इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितम्' तथा 'सांख्य योगकृतं तेन पंचरात्रानुशब्दितम्' कह कर चारों वेद तथा पंचम सांख्य-योग के समावेश के कारण इसे पांचरात्र कहा है। 'महाभारत' का तथाकथित एक लाख श्लोकों वाला पांचरात्र शास्त्र (महोपनिषद्) तो हमें अप्राप्य है अतः हम कुछ निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते, किन्तु परवर्ती पांचरात्र संहिताओं में 'चतुर्वेद-समन्वितम्' की क्या स्थिति है, इससे हम भली-भाँति परिचित हैं। 'महाभारत' में जब वैष्णव तत्व जोड़े जा रहे थे तब भागवतों ने निश्चय ही श्रुति-सम्मतता का सहारा लेने के लिए 'चतुर्वेद समन्वितम्' की बात कही होगी, यदि हम ऐसा सोचें तो कुछ अनुचित न होगा क्योंकि, जैसा कि हमें ज्ञात है, दूसरी शताब्दी ई० पू० में ही स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि वेदों को चुनौती देने वाले और साथ ही ब्राह्मण धर्म के सभी उपस्थित एवं सम्भावित सम्प्रदायों की कटु आलोचना कर देने वाले पाली ग्रन्थकार जब सक्रिय हो गये थे तो हर ब्राह्मण सम्प्रदाय को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सर्वप्रथम तो वेदों का सहारा लेना पड़ा और तब वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की चेष्टा करनी पड़ी। वेदों का यह सहारा लेना प्राचीनता की

१. भागवत १०।८२।४६-४७

२. महाभारत 'शा० प०, ३३९।११-१२

सिद्धि के लिए ही था। अतः 'चतुर्वेद समन्वितम्' एक उक्ति मात्र ही है क्योंकि चारों वेद तथा पाँचवें संह्य-योग को लेकर जितना पांचरात्र चलते हैं उतना दूसरे ब्राह्मण धर्म मत भी चलते हैं, और नामकरण के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यदि स्वयं पांचरात्रों की संहिताएँ भी इस नामकरण को एक स्वर से स्वीकार करतीं तो कुछ सोचा भी जा सकता था। इसके विपरीत ये संहिताएँ परस्पर भिन्न मत का प्रतिपादन करती हैं। 'नारद पांचरात्र' ने 'रात्र' शब्द को अपनी कल्पना का आधार बनाया और इसका अर्थ 'ज्ञान' लेते हुए १—परमतत्त्व, २—मुक्ति, ३—मुक्ति, ४—योग तथा ५—विषय (संसार) का निरूपण करने के कारण इसका नाम पांचरात्र पड़ना बताया है। 'ईश्वर संहिता' 'पंच' का सम्बन्ध भगवान के पाँचों आयुधों के अंशरूप ऋषियों—शाण्डिल्य, औपगयन, मौज्यायन, कौशिक तथा भारद्वाज से स्थापित कर तथा 'रात्र' को 'रात्रि' अर्थ में लेकर पांचरात्रियों में भगवान वासुदेव द्वारा उक्त पाँच ऋषियों को 'एकायन वेद' का रहस्य समझाये जाने के कारण ही इस शास्त्र का नाम पांचरात्र पड़ना बताया है। 'परम संहिता' तथा 'विष्णु संहिता' तो पंच महाभूतों को ही 'पंचरात्र' की संज्ञा देते हुए इस शास्त्र का नामकरण सिद्ध किया है पांचरात्र। पहली संहिता के अनुसार जिस शास्त्र के अध्ययन द्वारा परम तेज प्राप्त करके ये पंच महाभूत (पंचरात्र) नष्ट हों उसी पांचरात्र शास्त्र कहते हैं और द्वितीय के अनुसार पंच-महाभूत, तन्मात्रा, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त (प्रकृति) ये पुरुष के रात्र अर्थात् दान हैं। इनके योग या वियोग से इस शास्त्र का नाम 'पांचरात्र' पड़ा है। और 'पाद्मरात्र' ने तो सबसे आगे बढ़ कर यह घोषित कर दिया कि जिस शास्त्र के सामने अन्य पांच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ जाते हैं वही पांचरात्र शास्त्र है। निश्चय ही ये सारे मत कोरी कल्पना हैं। न तो 'ईश्वर संहिता' का कथन 'महा-भारत' के चित्रशिखण्डियों वाले कथानक से मिलता है न 'विष्णु संहिता' तथा 'परम संहिता' का पंचभूतों वाला मत कोई दार्शनिक या ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त कर सकता है और न 'पाद्मरात्र' की गर्वोक्ति ही पांचरात्र की दार्शनिक विजय का कोई 'विजय-स्तम्भ' प्रस्तुत कर सकती है। हाँ, स्वयं अपने शास्त्र के नामकरण के विषय में ही इतना मत-वैमन्य रखने वाले ग्रन्थ-प्रणेता हमें यह सोचने का अवसर अवश्य देते हैं कि उनके युग तक अभी यह भी निश्चय नहीं हो पाया था कि यह नाम उनके शास्त्र को क्यों प्राप्त हुआ था। हम यह भी सोच सकते हैं कि पाँचवीं-छठवीं शताब्दी ई० पू० के आस-पास की पांचरात्रिक परम्परा को चौथी-पाँचवीं शताब्दी वाले पांचरात्रिक भूल गये थे और जिस प्रकार अवतारों की संख्या छ, दस, सोलह, बाईस, तेइस, चौबिस आदि कुछ भी कह देना किसी युग में असंगत नहीं था, उसी प्रकार इस शास्त्र के नामकरण का कुछ भी कारण बता देना उस समय असम्भव न था, ध्यान था केवल 'पंच' और 'रात्र' शब्द पर।

संहिताएँ—'महाभारत' ने चित्रशिखण्डियों के एक लाख श्लोकों वाले शास्त्र के निर्माण का जो उल्लेख किया है वह ग्रन्थ मले ही आज अप्राप्य हो पर पांचरात्रों के शास्त्र-निर्माण

१. नारद पांचरात्र १।४५।५३

अहि० सं० ने नारद पांचरात्र का उक्त मत स्वीकार किया है। द्रष्टव्य १।१६४ (प० बलदेव जी उपाध्याय द्वारा भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ १०६ पर उल्लिखित)

की परम्परा निरन्तर चलती रही। पांचरात्र संहिता या तंत्र नाम से जिन सैकड़ों ग्रन्थों का उल्लेख उपलब्ध पांचरात्र साहित्य में प्राप्त होता है वह पांचरात्रिकों के शास्त्र-निर्माण की उसी परम्परा की पुष्टि करता है। यद्यपि आज भी इनके उद्धार की कोई चेष्टा नहीं की गई है और अगणित पांचरात्र संहिताओं में से केवल कुछ को ही प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।^१ तथापि उपलब्ध संहिताओं से भी हम पांचरात्रिकों या भागवतों की साहित्यिक गतिविधियों, उनके धार्मिक कर्मकाण्डों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रगतियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर श्रेडर ने अधिकांश संहिताओं का निर्माण-क्षेत्र उत्तर भारत प्रमाणित किया है पर दक्षिण भारत में भी संहिताओं की रचना होती रही जिनमें से 'ईश्वर संहिता' को उक्त विद्वान् ने प्राचीनतम स्वीकार किया है जिसे दक्षिणी आचार्य यामुनाचार्य ने अपने 'आगमप्रामाण्य' में उद्धृत किया है। इसी प्रकार अन्य दक्षिणी आचार्यों द्वारा भी ये संहिताएँ उद्धृत की गई हैं। उत्तर भारत में उत्पल्ल वैष्णव (परवर्ती शैव) द्वारा, जो यामुनाचार्य के एक पीढ़ी पूर्व हो चुका था, 'स्पन्द प्रदीपिका' में अनेक संहिताओं के उद्धृत करने का उल्लेख श्रेडर महोदय ने किया है।

'अहिर्बुध्न्य', 'ईश्वर', 'कपिञ्जल', 'जयाख्य', 'परम', 'पराशर', 'पाद्यतंत्र', 'बृहद्ब्रह्म', 'भारद्वाज', 'लक्ष्मीतंत्र', 'विष्णु तिलक', 'विष्णु', 'शाण्डिल्य', 'श्री प्रश्न', 'सात्वत' तथा 'नारद' आदि प्रकाशित संहिताओं से जो सामग्री उपलब्ध है उस आधार पर हम पांचरात्र सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इन संहिताओं में तत्त्व एवं आचार-मीमांसा में से अधिकांश संहिताओं में आचार-पक्ष पर ही विशेष बल दिया गया है। डा० श्रेडर ने इनके प्रतिपाद्य विषय-ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या का विवरण सभी उपलब्ध संहिताओं में असमान रूप से पाया है और उन्होंने यह दिखाया है कि अधिकांश संहिताएँ 'चर्या' के वर्णन में ही आधा से अधिक भाग व्यय करती हैं। 'योग' के लिए तो ये बहुत कम पृष्ठ खर्च करती हैं और लगभग वही अवस्था 'ज्ञान' की भी है। हाँ 'क्रिया' को अवश्य महत्व दिया गया है। वास्तविकता यह है कि भागवतों को अब किसी दर्शन की आवश्यकता न थी, उनका चतुर्व्यूह सिद्धान्त तथा 'गीता' का भक्ति-तत्त्व ही पर्याप्त था। आवश्यकता थी संहिताकारों को भागवतों के लिए उपासना-पद्धति एवं तत्सम्बन्धी उपकरणों की योजना करने की और इसी लक्ष्य से उन्होंने संहिताओं का सृजन किया। फलतः 'ज्ञान' एवं 'योग' केवल फर्ज-अदायगी भर के लिए आये, विस्तार प्राप्त हुआ 'क्रिया' एवं 'चर्या' को जिसके अन्तर्गत

१. श्रेडर महोदय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टु द पांचरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता' में विभिन्न संहिताओं में उल्लिखित नामों के आधार पर, कठिन परिश्रम द्वारा २१५ संहिताओं के नाम गिनाए हैं और अन्त में यह भी कह दिया है कि किसी दिन एक पूर्ण सूची कुछ अन्य संहिताओं का भी बोध करायेगी। श्रेडर महोदय की इस सूची को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। (द्रष्टव्य उक्त ग्रन्थ का पृष्ठ १२।)

पांचरात्र संहिताओं की सामग्री का अध्ययन यहाँ डाक्टर श्रेडर की सामग्री के आधार पर किया जा रहा है अतः सर्व प्रथम तो हम डा० श्रेडर का आभार प्रदर्शन करते हैं और साथ ही यह भी सूचित करना चाहेंगे कि यहाँ उन सामग्रियों के अनावश्यक विस्तार द्वारा पुनरावृत्ति भी नहीं की गई है।

क्रमशः मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, मूर्ति-स्थापना आदि तथा पूजा-विधि-विधानों का सांगो-पांग वर्णन किया गया है।

इस तथ्य की ओर प्रारम्भ में ही संकेत कर देना आवश्यक है कि संहिताकारों का दर्शन मौलिक नहीं है। इस पर सांख्य का पूरा-पूरा प्रभाव है। चतुर्व्यूह सिद्धान्त में भी कुछ संहिताकारों ने उनके क्रम में उलट-फेर किया है और सृष्टि के निर्माण एवं उसके रक्षण-पोषण आदि कार्यों के भार का श्रेय कुछ संहिता एक को तो कुछ दूसरे व्यूह को देती हैं। 'महाभारत' में पांचरात्रिकों का जो दर्शन दिया गया है उसपर एक विहंगम दृष्टि डालने से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

सिद्धान्तः—'महाभारत' का अध्ययन करते समय हमने पांचरात्र मत के सम्बन्ध में इतना ज्ञात किया था कि नारद ने श्वेत-द्वीप में स्वयं नारायण द्वारा, जिनका उस समय पांचरात्रिक विरुद्ध भी था, पांचरात्र शास्त्र प्राप्त किया था। तत्पश्चात् चित्रशिखण्डियों ने एक लाख श्लोकों वाला, 'यजुः', 'साम' तथा 'अथर्ववेद' के मंत्रों से अनुमोदित ग्रन्थों के समान प्रमाणभूत उस ग्रन्थ की रचना की थी जिससे समस्त लोकतंत्र का धर्म प्रचलित होगा। वहीं हमें यह भी ज्ञात हुआ था कि राजा वसुउपरिचर इस धर्म का प्रश्रयदाता था। हमें 'महाभारत' में पांचरात्रिकों की जिन मान्यताओं का ज्ञान प्राप्त हुआ था (और जिसका अध्ययन हम यथास्थान कर चुके हैं) उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे—

१—सत्व, रज तथा तम तीन गुण हैं जिसे क्षेत्रज्ञ स्वयं भोगता है।

२—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश पाँच महाभूत हैं और इन पाँचों के सम्मिलन से शरीर का रूप-धारण सम्भव है।

३—शरीर-धारण के अवसर पर जो शीघ्रगामी चेतन उसमें प्रवेश करता है वही जीवात्मा है, वह जीव ही शेष या संकर्षण है और जो वासुदेव क्षेत्रज्ञ स्वरूप या निर्गुण रूप बताये गये हैं वे ही संकर्षण स्वरूप जीवात्मा हैं। वासुदेव से ही संकर्षण उत्पन्न हुए हैं।

४—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच महाभूतों का क्रमिक लय होते हुए आकाश अन्त में मन में विलीन होता है जो उत्कृष्ट भूत है और जो अव्यक्त प्रकृति में लीन होता है। मन की उत्पत्ति संकर्षण से हुई है और सम्पूर्ण भूतों का मन ही प्रद्युम्न है। मन अपने कर्म (ध्यान-पूजनादि) द्वारा ही सनत्कुमारत्व (जीवन्मुक्ति) प्राप्त करता है। प्रद्युम्न को ही मनोभूत या मनोमय कहा गया है।

५—इसी प्रद्युम्न से जिसकी उत्पत्ति हुई है वह ही कर्ता, कारण व कार्य है। उसी से समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है। वही अनिरुद्ध, अहंकार अथवा ईश्वर है। अनिरुद्ध से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं ब्रह्मा से जगत् की उत्पत्ति हुई है।

६—धर्म के घर में वासुदेव की चार मूर्तियों—नर, नारायण, हरि व कृष्ण का अवतार हुआ जिनमें से चौथी मूर्ति कृष्ण ही वासुदेव हैं।

७—परमात्मा सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल तथा ध्रुव है। वह इन्द्रियों, विषयों तथा सम्पूर्ण भूतों से परे है। वही सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, अतः

क्षेत्रज नाम से पुकारा जाता है। वही त्रिगुणातीत एवं पुरुष कहलाता है। उसी से त्रिगुण अव्यक्त की उत्पत्ति हुई है। उसी को व्यक्त भाव में स्थित अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा जाता है। वह सदसत्स्वरूप है। अविनाशी शेष संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि सब स्वयं भगवान वासुदेव ही हैं।

यहाँ हमने 'महाभारत' के केवल तत्वपक्ष का ही उल्लेख किया है, उनके आचार-पक्ष का (पांचरात्रिकों के आचार पक्ष का) कोई विस्तृत विवरण 'महाभारत' में प्राप्त नहीं होता है।^१ चित्रशिखण्डियों के कठोर तप द्वारा श्वेतद्वीप तक पहुँच जाने का उल्लेख इतना तो संकेत देता ही है कि उस प्रारम्भिक युग में भी पांचरात्रिकों ने वेद से अपना नाता बना रखा था और वे तप द्वारा कम से कम श्वेतद्वीप एवं श्वेदीपनिवासियों का दर्शन सम्भव मानते थे जो किसी प्रकार भी कम महत्वपूर्ण न था, पर अनन्यभक्ति के बिना भगवान का दर्शन सम्भव न था। दूसरी उल्लेखनीय बात है अहिंसा पर बल तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कथन यह है कि चित्रशिखण्डी प्रवृत्ति मार्गी थे।^२ इसी पृष्ठभूमि में हम पांचरात्रिक सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

पहले हम पांचरात्रिकों के परब्रह्म को लेते हैं जिसे इन संहिताओं में नारायण नाम से भी अभिहित किया गया है। 'अहि० सं०' २।५३ में उसे सभी द्वन्द्वों से मुक्त, सभी उपाधियों से वर्जित, सभी कारणों का कारण, षडगुण्यरूप कहा गया है। अन्यत्र कहा गया है कि वह न भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान। न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न आदि है, न मध्य है और न अंत ही है। इस ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूप हैं। पांचरात्रिकों ने इन्हें निर्गुण होने का यह कारण बताया है कि वह प्राकृत गुणों से हीन हैं पर षडगुण से सम्पन्न होने के कारण वह सुगुण भी है। औपनिषदिक ब्रह्म से तो पांचरात्रिकों के ब्रह्म का अधिकांशतः साम्य है ही, 'महाभारत' के नारायण के स्वरूप और संहिताओं के नारायण के स्वरूप में भी कोई अन्तर नहीं है।

१. डा० थ्रेडर ने 'महाभारत' के नारदीयोपाख्यान को इसी कारण किसी अपांचरात्रिक द्वारा लिखित बताते हुए कहा है:—

"..... The Nāradya account does not give the impression of being based on first hand knowledge; it may have been composed by an outsider who was impressed by the story of Svetadīpa but not interested in the ritualistic details of the system"—

P. and A.S. p. 15.

किन्तु हम डा० थ्रेडर के इस मत से सहमत नहीं हो सकते हैं क्योंकि वहाँ भीष्म ने, जो युधिष्ठिर को श्वेतद्वीप की कथा सुना रहे हैं, यह स्पष्ट कह दिया है कि वे पूरी कथा नहीं सुना रहे हैं क्योंकि यह बहुत विस्तार में है। वे केवल सारभूत मानी गई कथा ही युधिष्ठिर को सुना रहे हैं। यदि भीष्म पूरी कथा कहते और उसमें भी सात्वत विधि का उल्लेख नहीं होता तो फिर ऐसी शंका सम्भव थी।

२. 'महाभारत' की सामग्री का अध्ययन करते समय इन तथ्यों पर विचार किया जा चुका है।

संहिताओं के नारायण ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज आदि षडगुणों से सम्पन्न हैं। ये गुण ही सृष्टि के निमित्त तथा उपादान कारण हैं।

सृष्टि के लिए पांचरात्रिकों का ब्रह्म औपनिषदिक ब्रह्म की भाँति केवल संकल्प रूपी तप करके रयि एवं प्राण का जोड़ा नहीं उत्पन्न करता है प्रत्युत इसके लिए उसे लक्ष्मी की आवश्यकता पड़ती है किन्तु यह भी पांचरात्रिकों की अपनी मौलिक कल्पना नहीं है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में भी परमात्मा की मूल शक्ति प्रकृति द्वारा स्थूल महा-भूतों की रचना का उल्लेख किया गया है। पांचरात्रिकों ने लक्ष्मी को भगवान विष्णु की शक्ति स्वीकार करते हुए उन्हें सृष्टि का कारण मानते हुए भी प्रलय अवस्था में दोनों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है। एक ओर षडगुणों का तेज गुण, जिसके अनुसार सृष्टि-निर्माण में किसी सहकारी की आवश्यकता नहीं और दूसरी ओर विष्णु से पृथक् अस्तित्व लक्ष्मी को देना (यद्यपि यह भी कहा गया है कि लक्ष्मी भगवान विष्णु की इच्छा का ही पालन मात्र करती हैं) कुछ असंगत लगता है। शक्ति और शक्तिमान का अस्तित्व पृथक् नहीं हो सकता, किन्तु 'अहि० सं०' (३।२५) ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि 'देवात् शक्तिमता भित्ता ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।' पर यही संहिता 'व्यापकावति संश्लेषदिकं तत्त्वमिव स्थितौ' (४।७८) कह कर हमें यह सोचने की प्रेरणा देती है कि नारायण तथा लक्ष्मी प्रलय-काल में 'एकत्व धारण करते हुए से लगते हैं' ऐसा भी कुछ लोगों द्वारा सोचा जा रहा था और उन्हीं का उत्तर देने के लिए उक्त संहिता ने यह कथन किया है कि लक्ष्मी और विष्णु प्रलय-काल में भी पृथक् ही रहते हैं और संश्लेष से केवल दिखाई ही पड़ते हैं। संहिताओं ने औपनिषदिक शक्ति को लक्ष्मी रूप में स्वीकार करके और नारायण से उसका पृथक् अस्तित्व मान कर सगुणोपासना के लिए ही मार्ग प्रदर्शित किया है, जो उन्हें अभीष्ट था। पर यही संहिता (५।४) 'आत्मभूता ही या शक्तिः' कह कर शक्ति को भगवान के स्वरूप से अभिन्न भी मानती है। वास्तविकता यह है कि हर प्रकार से लक्ष्मी को महत्वपूर्ण पद देना आवश्यक था। यही कारण है कि लक्ष्मी के दो रूप सृष्टि के प्रारम्भ में ही कर दिये गये, १—क्रिया तथा २—भूत। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई सृष्टि के निर्माण की भगवदिच्छा या संकल्प ही क्रिया-शक्ति है और जगत की परिणति भूत-शक्ति है। इस प्रकार साधक के मन में स्वभावतः यह भावना घर कर जाती है कि जगत् तो लक्ष्मी की भूत-शक्ति का परिणाम है ही, इसकी सृष्टि की कल्पना के मूल में भी लक्ष्मी ही हैं। लक्ष्मी को महत्व देने वाला विचार यह मान कर पुष्ट हो जाता है कि लक्ष्मी का उदय ही शुद्ध सृष्टि है। पांचरात्र मत में विभवों का सम्बन्ध भी शुद्ध सृष्टि से ही है। इस प्रकार लक्ष्मी को महत्व प्रदान किया गया और आनन्दा, स्वतन्त्रता, श्री, पद्मा आदि इनके अनेक नामकरण भी किये गये। प्राचीन भारत का अन्तिम चरण, पद्मा आदि इनके अनेक नामकरण भी किये गये। प्राचीन भारत का अन्तिम चरण, जिसे हम सरलतापूर्वक आगम या तंत्रयुग कह सकते हैं वैष्णव, शैव तथा शाक्त आगमों के निर्माण के लिए उर्वरतम युग रहा है और इन समस्त आगमों में, जैसा कि सर जान उडरफ महोदय ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'शक्ति एण्ड शाक्त' में सुझाया है, शक्ति को महत्व दिया गया है—वह चाहे स्वयं परब्रह्म की इच्छाशक्ति हो या देवता विशेष की शक्ति हो।

अतः हम यह सोच सकते हैं कि यह युग की माँग थी कि पांचरात्रिकों ने शक्ति या लक्ष्मी को बढ़ावा दिया।

पांचरात्र संहिताओं में अवतारवाद—अब हम पुनः अपने पूर्व विषय पर आते हैं। षड्गुणों का उल्लेख किया जा चुका है। संहिताओं ने इन षड्गुणों के विषय में कुछ और मान्यताएँ स्थापित कीं जिनका उद्देश्य अवतारवाद का सुदृढीकरण करना था। उपर्युक्त षड्गुण, जो सृष्टि के उपादान तथा निमित्त कारण हैं, दो रूपों में सक्रिय होते हैं—१. समष्टि रूप तथा २. युग्म रूप। समष्टि रूप में ये गुण वासुदेव के शरीर का निर्माण करते हैं और ये ही लक्ष्मी का भी निर्माण करते हैं। मूर्ति तथा क्रिया दोनों शक्तियों से आशिक रूप से सम्बन्धित गुणों को पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है—(क) विश्राम भूमयः जिसके अन्तर्गत ज्ञान, ऐश्वर्य तथा शक्ति गुण सम्मिलित हैं एवं (ख) श्रम भूमयः जिसमें बल, वीर्य तथा तेज गुण आते हैं। ज्ञान+बल, ऐश्वर्य+वीर्य, शक्ति+तेज परस्पर जो युग्म बनाते हैं उनसे अवतार होते हैं। 'महाभारत' में व्यूह-सिद्धान्त की स्थिति हम देख चुके हैं। संहिताओं ने इन्हें और अधिक विस्तृत किया और इनमें कुछ नये सिद्धान्त भी जोड़ दिये। उपर्युक्त छः गुणों में से किन्हीं दो गुणों की प्रधानता से प्रत्येक व्यूह की सृष्टि होती है। ज्ञान तथा बल गुण की प्रधानता से संकर्षण, ऐश्वर्य तथा वीर्य गुण की प्रधानता से प्रद्युम्न एवं शक्ति तथा तेज गुण की प्रधानता से अनिरुद्ध की सृष्टि होती है। किन्तु जैसा कि डा० श्रेडर ने सुझाया है प्रत्येक व्यूह में अन्य गुण भी विद्यमान रहते हैं क्योंकि संहिताओं में बार-बार यह कहा गया है कि हर व्यूह विष्णु है। अतः प्रत्येक व्यूह में सभी गुणों का होना सिद्ध होता है, दो की तो प्रधानता भर रहती है। 'महाभारत' में भी जैसा कि हम देख चुके हैं, नारायण, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि को भगवान नारायण का अपना ही रूप कहा गया है। अतः जहाँ तक व्यूहों की सार्वभौमिकता की बात है 'महाभारत' तथा संहिताओं में अभिन्नता है। व्यूहों की उत्पत्ति के विषय में 'महाभारत' का मत संहिताओं को भी मान्य है। ये भी वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह उत्पत्ति ठीक ज्ञात होती है। हमें ज्ञात है कि भागवत, सात्वत या पांचरात्र मत के प्रवर्तक एवं प्रचारक स्वयं वृष्णि वंशीय कृष्ण तथा उनके कुलवाले ही हैं। संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इसी वंश के भ्राता, पुत्र तथा प्रपौत्र हैं। अतः पांचरात्रिकों ने इनके व्यूह-रूप की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त धार्मिक आधार पर प्रस्तुत किया है वह ऐतिहासिक भी है, इसलिए मान्य है। स्वामी शंकराचार्य ने भागवतों के इस मत का जोरदार खण्डन करते हुए 'वेदान्त सूत्र' में कहा है कि "यह सम्भव नहीं कि परमात्मा वासुदेव से जीवात्मा संकर्षण का जन्म हो क्योंकि ऐसी अवस्था में आत्मा सत-गुण युक्त हो जायेगा और अन्यान्य उद्भूत पदार्थों की अपूर्णताएँ भी उसमें युक्त हो जायेंगी आत्मा अजन्मा है अतः इस आधार पर भागवतों का सिद्धान्त (व्यूह-सिद्धान्त) अमान्य है"। शंकर ने यह भी कहा है कि जब वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध सभी समान हैं तो कारण-कार्य सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। स्वामी

रामानुज ने इस मत का विरोध करते हुए और साथ ही उक्त पांचरात्र-मत को श्रुति-सम्मत सिद्ध करते हुए (शंकर ने भागवतों को वेद का निन्दक कहा था) कहा है कि जो लोग भागवतों के सिद्धान्तों एवं उपदेशों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं वे ही ऐसी आलोचना करते हैं। वास्तव में इस सिद्धान्त का यह उपदेश है कि परब्रह्म परमात्मा वासुदेव स्वयं भी भक्तों पर अनुग्रह करके उनकी सुलभता के लिए चार रूप धारण करते हैं। इस प्रकार व्यूह-सिद्धान्त मान्य है।

संहिताओं ने व्यूहों के कार्यों के सम्बन्ध में एक मत नहीं प्रकट किया है, पर उनका भेद भी बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। सृष्टि के निर्माण के प्रसंग में हमने लक्ष्मी का उल्लेख किया था जिनसे शुद्ध सृष्टि होती है। शुद्धतर सृष्टि के लिए हमें व्यूहों पर आना पड़ता है। ज्ञान व बल-गुण प्रधान संकर्षण से सृष्टि का आरम्भ माना गया है जो इसे 'तिलकालक' रूप में धारण किये रहते हैं। ज्ञान-गुण स्वतः परब्रह्म का स्वरूप भी है और बल का अर्थ है जगत्-निर्माण में परिश्रम का अभाव। अतः संकर्षण द्वारा सृष्टि के निर्माण की पांचरात्रिक कल्पना शास्त्रोक्त ही है। अब पुरुष-प्रकृति का भेद होता है जिसे प्रद्युम्न सम्पादित करते हैं। ऐश्वर्य गुण द्वारा ये मानव-सर्ग व वैद्य-सर्ग की रचना करते हैं। प्रद्युम्न में, जैसा कि हमें ज्ञात है, ऐश्वर्य तथा वीर्य-गुण प्रधान हैं और वीर्य-गुण की विशेषता है सृष्टि का उपादान कारण बनते हुए भी विकार से रहित होना, अतः शंकर ने जो विकार आ जाने की बात करके व्यूह-सिद्धान्त को अमान्य सिद्ध किया था वह उक्त कथन से तर्कहीन सिद्ध हो जाता है क्योंकि वीर्य-गुण का आशय ही विकारहीनता है। इतने कार्य हो जाने के पश्चात् अनिरुद्ध अन्त में शक्ति व तेज-गुण से आत्मा व शरीर का निर्माण करते हैं।

'महाभारत' तथा संहिताओं में व्यूह को लेकर कुछ मतभेद देखने को मिलता है जिसकी ओर श्रेडर महोदय ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'महाभारत' में संकर्षण को जीवात्मा, प्रद्युम्न को मन तथा अनिरुद्ध को अहंकार कहा गया है। अधिकांश, संहिताएँ अनिरुद्ध से अहंकार को पृथक् कर देती हैं। उक्त विद्वान ने व्यूह जैसी पावन वस्तु से अहंकार का सम्बन्ध स्थापित करने में संहिताओं की असुविधा को ही इसका कारण बताया है; किन्तु आगे उन्होंने यह भी दिखाया है कि परवर्ती संहिताएँ मूल सिद्धान्त का निर्वहण कुछ सीमा तक करती हैं और इसके लिए श्रेडर महोदय ने 'विश्वकसेन' संहिता का उदाहरण दिया है, जिसमें संकर्षण को जीवों का अधिष्ठाता, प्रद्युम्न को मन का अधिष्ठाता तथा अनिरुद्ध के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई स्पष्ट कथन न होते हुए भी उसे राजस व तामस से प्रमाणित आत्मा का स्रष्टा कह कर उसे अहंकार का अधिष्ठाता कहा गया है। अभी हमने सृष्टि के निर्माण का पांचरात्रिक विवरण प्राप्त करते समय अनिरुद्ध से शरीर व आत्मा के निर्माण का बोध किया था। अतः इस आधार पर भी अनिरुद्ध को अहंकार का अधिष्ठाता मानना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार हम श्रेडर महोदय के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि कुछ संहिताओं ने व्यूहों के मूल सिद्धान्त का निर्वहण किया है।

व्यूहों के कार्यों के सम्बन्ध में भी संहिताओं में मतैक्य नहीं है। 'लक्ष्मीतंत्र' में संक-
र्षण का कार्य विनाश, प्रद्युम्न का रक्षण तथा अनिरुद्ध का कार्य सृष्टि की रचना कहा गया
है। 'विश्वकसेन' संहिता प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के कार्यों में 'लक्ष्मीतंत्र' के प्रतिकूल मत का प्रति-
पादन करते हुए प्रद्युम्न द्वारा रचना तथा अनिरुद्ध द्वारा रक्षण-कार्य का उल्लेख करती
है। कहीं-कहीं कुछ संहिताओं में सभी कार्य किसी एक ही व्यूह द्वारा सम्पादित बताये
गये हैं। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि व्यूहों के कार्यों के सम्बन्ध में कोई
कठोर सिद्धान्त नहीं था ; पर प्रायः सभी संहिताएँ इनके द्वारा सृष्टि-निर्माण तथा पांच-
रात्र धर्म का उपदेश, ये दो कार्य सम्पादित होना बताती हैं। व्यूहों का द्वितीय कार्य, जिसे
आध्यात्मिक या नैतिक कार्य भी कह सकते हैं, तीनों व्यूहों द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से किया
जाता है। संकर्षण एकांतिक धर्म की शिक्षा देते हैं, प्रद्युम्न उस शिक्षा को व्यावहारिक रूप
प्रदान करते हैं तथा अनिरुद्ध उस क्रिया का फल प्रदान करते हैं। श्रेडर महोदय ने 'विश्व-
कसेन' संहिता के आधार पर यह दिखाया है कि संकर्षण केवल पांचरात्र की शिक्षाएँ ही नहीं
देते प्रत्युत वे वेद की भी शिक्षा देते हैं। सम्भवतः श्रुतिसम्मतता के लिए ही उक्त उल्लेख
किया गया है।

अवतारवाद को बहुत अधिक आगे बढ़ाने वाले पांचरात्रिकों ने व्यूहों के बाद व्यूहान्तर
की भी कल्पनाएँ की हैं। प्रत्येक व्यूह से तीन-तीन व्यूहान्तर हुए—

वासुदेव से केशव, नारायण तथा माधव ।

संकर्षण से गोविन्द, विष्णु तथा मधुसूदन ।

प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन तथा श्रीधर ।

अनिरुद्ध से हृषिकेश, पद्मनाभ तथा दामोदर ।

इस प्रकार चार व्यूहों से बारह व्यूहान्तर हुए और फिर अनेक संहिताओं ने इनके
अतिरिक्त बारह विदेव्यों की कल्पना भी की और इस प्रकार यह संख्या चौबीस तक
पहुँच गई और तब चतुर्विंशतिमूर्त्याः की स्थापना हुई ।

'सात्वत' संहिता में ३९ विभवों की कल्पना की गई है और 'अहि०' संहिता
में भी इसे स्वीकार किया गया है। डा० श्रेडर ने इस सूची के नामों को दस अवतारों,
विष्णु की, सृष्टि के आरम्भ तथा प्रलयकालीन विभिन्न चार अवस्थाओं, धर्म के घर में
उत्पन्न विष्णु के चार रूपों आदि के ही अर्थात् दूसरे शब्दों में, इसे अवतारों की एक विस्तृत
सूची के रूप में ही, स्वीकार किया है। यहीं उक्त विद्वान् ने एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य
की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इन्होंने यह सुझाया है कि अवतारों की जो
विस्तृत सूची इस प्राचीनतम संहिता (सात्वत-संहिता) में दी गई है वह बाद की संहिताओं
की संक्षिप्त सूची से पहले की होगी। इतना ही नहीं, ३९ अवतारों की कल्पना 'महाभारत'
की नारायणीय सूची से भी, जिसमें केवल छः अवतारों का ही उल्लेख किया गया है, प्राचीन
है और 'महाभारत' की यह संक्षिप्त सूची प्राचीनतम सूचीन न होकर केवल संचयन मात्र
ही है, अर्थात् ३९ विभवों और अवतारों में से केवल छः को ही चुन लिया गया है, क्योंकि
वराह को विष्णु का अवतार स्वीकार करने वाले मत्स्य की प्राचीनतम एवं सुप्रसिद्ध कथा

को नहीं भूल जाते।^१ डा० श्रेडर का यह मत कुछ अंशों में ही मान्य हो सकता है क्योंकि जहाँ तक नारायणीय के ६ अवतारों की बात है उसमें तो मत्स्य का नाम नहीं है, किन्तु आगे जो दशावतारों की सूची दी गई है उसमें मत्स्य को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है जिससे पहली संक्षिप्त सूची को तो संचयन स्वीकार कर सकते हैं किन्तु दूसरी सूची निश्चित रूप से प्राचीनतम है। यही वह सूची है जिसे परवर्ती ग्रन्थों ने स्वीकार किया है। दूसरे, यदि ३९ विभवों वाली सूची प्राचीनतम होती तो परवर्ती भागवत ग्रन्थ 'श्री-मदभागवत', जो पांचरात्रिकों के साथ हर प्रकार का सामंजस्य करने को तैयार था और जिसके लिए उसने तीन प्रकार के अवतारों—पुरुषावतार, गुणावतार तथा लीलावतार की कल्पना की थी और पुरुषावतार के अन्तर्गत संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पुरुष स्वीकार किया था, वह चौबीस लीलावतारों को 'सात्वत' संहिता की सूची से चुनता।^२ वास्तविकता यह ज्ञात होती है कि 'महाभारत', जो केवल पांचरात्रिकों का ग्रन्थ नहीं, उसकी सूची उस युग तक के मान्य अवतारों की सूची है और यही प्रामाणिक सूची है, जब कि पांचरात्र मत वाले, जो निश्चय ही महाभारत-युग के बहुत पहले के नहीं हैं, विभवों की कल्पना में विस्तार करते जा रहे थे जिसे 'महाभारत' के परवर्ती परिवर्द्धकों ने भी महत्व नहीं दिया क्योंकि 'महाभारत' में भागवत-तत्त्व जोड़ने वालों को सर्वमान्य भागवत सिद्धान्तों को ही सम्मिलित करना था। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'सात्वत' संहिता के निर्माण-काल में भागवतों के विशेष वर्ग पांचरात्रिकों में या कम से कम पांचरात्र संहिताओं के मानने वाले भागवतों में ३९ विभवों का ही प्रचार था जब कि 'महाभारत' या गीता-कालीन भागवतों में वे प्राचीनतम सर्वमान्य दशावतार ही चले आ रहे थे और आगे भी चलते रहे।

संहिताओं ने विभव के भी दो वर्ग किये हैं—(१) मुख्य तथा (२) गौण। इन दोनों विभवों के विषय में 'विश्वकसेन' संहिता में पूर्ण प्रकाश डाला गया है। मुख्य अवतारों को स्वयं विष्णु स्वीकार किया गया है और इनकी उत्पत्ति उसी प्रकार बताई गई है जैसे एक अग्नि-शिखा से दूसरी अग्नि-शिखा की उत्पत्ति होती है। मुख्य अवतारों की उपासना मुक्ति के लिए की जाती है। ये अप्राकृत हैं जब कि गौण अवतार प्राकृत देहवद्ध हैं और इनकी उपासना भुक्ति के लिए की जाती है।

पांचरात्रिकों ने व्यूहों तथा विभवों के अतिरिक्त भगवान के अन्य अवतारों की भी कल्पना की है। उन्होंने भगवान विष्णु की मूर्तियों को भी पांचरात्र विधि से पवित्र किये जाने पर उनको अवतार रूप में स्वीकार किया है। इसे अर्चावतार कहते हैं। इसी प्रकार प्राणियों के हृदय में निवास करने वाले विष्णु को भी उन्होंने अन्तर्यामी रूप दिया है।

१. श्रेडर, पृष्ठ ४७

२. यहाँ 'सात्वत' संहिता तथा 'भागवत' की तिथियों को महत्वहीन समझा गया है। डा० श्रेडर ने उक्त सूची को 'महाभारत' की सूची से भी प्राचीनतर कहा है और 'भागवत' निश्चित रूप से 'महाभारत' के बाद की रचना है। अतः 'सात्वत' संहिता एवं 'भागवत' की तिथि यहाँ अमहत्वपूर्ण है।

पांचरात्रिकों के सृष्टि तथा जीव-तत्त्व-सम्बन्धी दर्शन में कोई विशेष मौलिकता नहीं है और उस पर सांख्य मत का पर्याप्त प्रभाव है। अनेक स्थानों पर तो जीव की दशा औपनिषदिक जीव से पूर्णतया साम्य रखती है, हाँ इसमें 'गीता' का दर्शन भी संयुक्त होगया है; विशेषतया जीव की मुमुक्षा तो 'गीता' से ही प्रभावित है। जो कुछ अन्तर है वह भी सभी संहिताओं का समर्थन लेकर नहीं आता। अतः हमें इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः चतुर्व्यूह ही पांचरात्रिकों की अपनी थाती है और इसी व्यूह-सिद्धान्त को आधार बना कर उन्होंने जो विभवों की कल्पना की है वही उनकी मौलिक सूझ है। जीवात्मा को पांचरात्रिक भी परमात्मात्मय एवं अनादि स्वीकार करते हैं जिसे भगवान से निरन्तर अपने कार्य में रत रहने की प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। जीवात्मा स्वभावतः व्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान है किन्तु सृष्टि के आरम्भ में भगव की निग्रह-शक्ति जीव के व्यापकत्व, सर्वज्ञत्व एवं शक्तिमत्त्व का तिरोधान करके उसे आन एवं अशक्त बना देती है। भगवान की इस निग्रह-शक्ति के अनेक नाम दिये गये हैं—माणु, अविद्या, महामोह आदि। ये नाम निश्चित रूप से औपनिषदिक हैं। माया को भगवान या, शक्ति के रूप में प्रायः सभी सिद्धान्तों ने मान्यता प्रदान की है और पांचरात्रिकों ने मायाकी जो कार्य ऊपर बताये हैं वे भी सर्वमान्य हैं। जिस प्रकार उपनिषदों ने जीव को कर्मानुस के आवागमन की भूल-भुलैया में भटकता हुआ दिखाया है उसी प्रकार संहिताओं का जीव भीर पूर्व कर्मानुसार भटकता है। किन्तु पांचरात्रिकों को भगवान का दयालु एवं करुणामय रूप सदा ध्यान में रहता है, अतः उन्होंने भगवान की अनुग्रह-शक्ति की महान एवं भव्य कल्पना की है। प्रायः सभी संहिताएँ भगवान की इस अनुग्रह-शक्ति का वर्णन करती हैं जिससे जीवों पर भगवान की नैसर्गिक कृपा होती है और तब जीवों के शुभ एवं अशुभ कर्म समत्व को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में जब भक्त के हृदय में भगवान की अनुग्रह-शक्ति का निक्षेप हो जाता है तब उसके शुभ-अशुभ कर्म स्वतः अपने व्यापार स्थगित करके उदासीन हो जाते हैं। जब जीव की यह अवस्था हो जाती है और वह उस पथिक की स्थिति में नहीं आ जाता जिसे बटमार तब तक लूटते रहते हैं जब तक वह राजकीय अनुचरों की शरण में नहीं आ जाता, तब उसमें स्वतः मुमुक्षता उदित हो जाती है। मुमुक्षता के साथ ही उसमें वर्म-परायणता आ जाती है और वह शास्त्रोक्त विधि का पालन करता हुआ ज्ञान के द्वारा शुद्ध चेतनावस्था को प्राप्त करके वैष्णव धर्म को प्राप्त करता है। पांचरात्रिकों का मोक्ष 'ब्रह्म भावापत्ति' भी सर्वथा 'गीता' के अनुरूप है। जीव ब्रह्म में लीन होकर ही 'अपुनर्भवता' की स्थिति को प्राप्त करता है। मुक्तावस्था की दशा का वर्णन करते हुए 'जयाख्य' संहिता ने दिखाया है कि जिस प्रकार अग्नि में डाले गये काठ के टुकड़े दग्ध हो जाने पर पृथक् नहीं लक्षित होते प्रत्युत वे भी अग्निमय हो जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तावस्था में भक्त भी भगवानमय हो जाता है।^१ किन्तु इस 'भगवानमय' रूप में भी महत्वपूर्ण बात यह है कि तब भी जीव व ब्रह्म का पूर्ण एकीकरण नहीं होता है प्रत्युत दोनों एक रूप में संश्लिष्ट से

प्रतीत होते हैं। पांचरात्रिकों ने अपने व्यूह-सिद्धान्त की रक्षा यहाँ भी की है क्योंकि मुक्तावस्था में उन्होंने जीव को वासुदेव के 'पर' रूप के साथ शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न बैकुण्ठ में सानन्द विहार करता हुआ दिखाया है। व्यूह वासुदेव से इसका यहाँ सम्बन्ध नहीं रहता है।

अब हम पांचरात्रिकों के साधन-पक्ष पर विचार करेंगे। हमें ज्ञात है कि भक्ति-भावना का उदय तो उपनिषद-युग में ही हो चुका था और 'महाभारत' तथा 'गीता' में इस भावना को बहुत अधिक आगे बढ़ा कर भक्ति-मार्ग की सुदृढ़ स्थापना कर दी गई थी, किन्तु जैसा कि हमने देखा था उपर्युक्त किसी भी ग्रन्थ में साधना-मार्ग के बाह्य उपकरणों एवं पूजा-विधियों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश नहीं डाला गया था, केवल अम्यान्तर भावों की ओर ही उक्त ग्रन्थों में संकेत किया गया था। 'महाभारत' के परवर्ती अंशों में जो वैष्णव तत्व सम्मिलित किये गये थे वे भी उपासना-पद्धति के विस्तार में नहीं जाते हैं। यह एक बहुत बड़ी कमी थी जिसकी पूर्ति सगुणोपासक भक्तों के लिए पुराणों तथा संहिताओं ने ही की थी।

प्रारम्भ में ही कहा गया था कि अधिकांश संहिताएँ ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या आदि अपने प्रतिपाद्य विषयों में से ज्ञान तथा योग की अपेक्षा क्रिया तथा चर्या पर ही विशेष ध्यान देती हैं और इन पर ही अधिक पृष्ठ व्यय करती हैं। उनकी इसी विशेषता के कारण पांचरात्र संहिताओं को 'वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा' गया है। श्रेडर महोदय ने 'पाद्मतंत्र' संहिता का उदाहरण देते हुए, जिसमें उक्त चारों पाद हैं, यह दिखाया है कि शेष दो पादों को संहिताओं में कितना महत्व दिया जाता था। उक्त ग्रन्थ में चर्या के लिए तीन सौ छिहत्तर, क्रिया के लिए दो सौ पन्द्रह तथा ज्ञान एवं योग के लिए क्रमशः पैंतालिस एवं ग्यारह पृष्ठ खर्च किये गये हैं।

अधिकांश संहिताएँ मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, मूर्ति की सात्वत विधि द्वारा स्थापना आदि की विस्तृत पद्धति का विवेचन ही करती हैं। अवतारों की सुदृढ़ स्थापना के पश्चात् एवं विशेषतया भागवतों या पांचरात्रिकों के अर्चावतार की कल्पना के सुदृढीकरण के पश्चात् तो मन्दिरों एवं मूर्तियों का महत्व बढ़ गया। वैसे यदि हम मक्खलिगोसाल का कथन सच मानते हैं तो पाँचवीं या चौथी शती ई० पू० में भी वैष्णव मन्दिरों का बाहुल्य था। पर पांचरात्रिकों के साहित्य ने मन्दिर-निर्माण को और अधिक बढ़ावा दिया और भगवान के विभव तथा अन्तर्यामी रूप की अपेक्षा उनका अर्चावतार कहीं अधिक साध्य, अतः आकर्षक सिद्ध हुआ। जब अर्चावतार को व्यावहारिक महत्व दे दिया गया तो स्वभावतः पूजा-विधियों की विस्तृत व्यवस्था करनी पड़ी। अवान्तर होते हुए भी यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि पांचरात्रिकों की भाँति वैखानसों ने भी अपनी संहिताओं में पूजा-विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला था, पर इन दोनों की विधियों में, जैसा कि हमें ज्ञात है, पर्याप्त अन्तर था। दक्षिण भारत-के अधिकांश मन्दिरों में रामानुज के पूर्व वैखानस संहिताओं द्वारा

ही पूजा-अर्चन होता था।^१ विद्वानों ने यह भी सूचित किया है कि आज भी तिथित के विख्यात वैष्णव मन्दिर में श्री वैकुण्ठेश्वर की पूजा इसी संहिता के अनुसार होती है।

पांचरात्रिकों ने जब तक अपने को तांत्रिक प्रभावों से सुरक्षित रक्खा था तब तक तो 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं', की प्राचीन परम्परा को ही महत्व दिया जाता रहा और 'स्नान' 'ध्यान', 'जप' आदि पूर्णतया महाभारतीय विधि के अनुसार ही चलते रहे किन्तु कालांतर में पांचरात्रिकों पर तांत्रिक प्रभाव पड़ने लगे और तब तो यहाँ भी 'मन्त्रन्यास', 'मुद्रा', 'भूत-सिद्धि', 'तिलक-संस्कार', 'मेखल-पूजन' तथा 'स्नान विधि, आदि पूर्णतया तांत्रिक विधियों पर होने लगे। डा० आर० सी० हाजरा ने पांचरात्रिकों की तीन प्रमुख एवं प्रामाणिक संहिताओं—'जयाख्य', 'सात्वत' तथा 'पौष्कर' में से स्वयं 'जयाख्य' संहिता में ही, जिसकी तिथि श्री बी० भट्टाचार्या के अनुसार उन्होंने ४०० ई० स्वीकार की है, अनेक तांत्रिक प्रभाव दिखाये हैं।^२ किन्तु वाह्य उपकरणों में, विभिन्न प्रभावों से चाहे जितने भी परिवर्तन आ गये हों, मूल स्वर—वह स्वर जिसने भागवतों को वैदिक याज्ञिकों, ब्राह्मणीय कर्मकाण्डियों तथा औपनिषिदक ब्रह्मज्ञानियों से पृथक किया था, उत्तरोत्तर उच्च होता गया। 'मामेकं शरणं ब्रज' का जो उपदेश 'गीता' ने भागवतों को दिया था और शरणागति भाव की जो उद्दाम कल्पना वहाँ की गई थी उसे पांचरात्रिकों ने सदा उन्नतशील बनाये रक्खा। इतना ही नहीं, उन्होंने इस मानसिक भाव को इतना तीव्रतम बना दिया कि अब भक्त भगवान का केवल मात्र अकिंचन दास बन कर रह गया और भगवान ही उसके एक मात्र आश्रय-दाता रह गये जिनके सम्मुख वह अपने सारे अपराध निश्छल रूप से कह सकता था क्योंकि भगवान को छोड़ कर उसके पास मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं रह गया था—

अहमस्म्य पराधानामालयो र्गिकचनो ऽगतिः।

त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना-मतिः।

शरणागतिरित्युक्ता सा देवे ऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥^३

यह स्वीकार किया गया कि भगवान की शरणागति या प्रपत्ति ('न्यास') के बिना मुक्ति किसी प्रनार भी सम्भव नहीं है और प्रपत्ति के लिए, अग्रलिखित सिद्धान्तों का पालन आवश्यक बताया गया—

१. हमें वैखानसों के विशाल साहित्य की सूचना भर ही प्राप्त होती है किन्तु इनके आगमों या अन्त्याय ग्रन्थों की कोई उपलब्धि सम्भव नहीं हो सकी है। केवल 'वैखानस' आगम नामक एक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। पण्डित बलदेव जी उपाध्याय ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'भागवत सम्प्रदाय' पृष्ठ १३७ पर इनके विषय में लिखा है—

"वैखानसों की अपनी मंत्र संहिता है तथा अपने सूत्र (गृह, धर्म तथा श्रौत) हैं। संहिता के अंतिम चार अध्यायों में विष्णु पूजा का विशेष विधान है। वैखानस-गृह सूत्र में भी इसी प्रकार विष्णु अर्चा की स्थापना, प्रतिष्ठा तथा अर्चना का विशिष्ट वर्णन है।"

२. विशेष विवरण के लिए डाक्टर हाजरा की पुस्तक 'स्टडीज इन द पुरानिक रिकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एंड कस्टम्स' पृष्ठ २१८ से २२३ द्रष्टव्य।

३. अहि० सं० ३७।३१। प० बलदेव जी उपाध्याय द्वारा 'भागवत सम्प्रदाय' पृष्ठ

- १—भगवान के अनुकूल बना रहने का संकल्प,
- २—भगवान के प्रतिकूल भावों का त्याग,
- ३—भगवान के रक्षक रूप में विश्वास.
- ४—भगवान को गोप्ता (रक्षक) रूप से वरण करना,
- ५—आत्मसमर्पण तथा
- ६—कार्पण्य।^१

किन्तु इसके लिए योग्य गुरु से दीक्षा लेना आवश्यक था और इस दीक्षा के लिए निम्नलिखित पाँच बातें अनिवार्य थीं—

१—ताप, (शंख, चक्र आदि की मुद्राओं को तप्त करके उनका चिन्ह शरीर पर बनाना), २—तिलक, ३—नया नाम ग्रहण करना, ४—मंत्र तथा ५—याग या पूजा।

तत्पश्चात् पांचरात्रिकों के लिए पाँच प्रकार के अनुष्ठानों की व्यवस्था की गई। इसके लिए दिन-रात को पाँच कालों (पंचकाल) में विभाजित किया गया। प्रातःकाल से लेकर रात के अन्त तक चलने वाले कर्म हैं—१—अभिगमन या भगवान के प्रति हर प्रकार से अभिमुख होना, २—उपादान अर्थात् पूजा-सामग्रियों—पुष्प, नैवेद्य आदि का संग्रह, ३—इज्या या पूजा-अर्चना, ४—अध्याय अर्थात् वैष्णव ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं अध्ययन तथा ५—योग अर्थात् अष्टांग योग का अनुष्ठान।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त साधना-पद्धति सभी पांचरात्रिकों में समान रूप से प्रचलित थी अथवा इसमें देश एवं स्थानानुसार कुछ भेद भी था। इस शंका का सबसे प्रमुख कारण तो पांचरात्र आचार का विस्तृत वर्णन करने वाली स्वयं 'जयास्व' संहिता ही है जिसने पांचरात्र मत वालों को तीन प्रमुख भागों में विभक्त करके प्रत्येक भाग के अन्तर्गत पुनः अनेक प्रकार के साधकों का उल्लेख करके कुल १४ प्रकार के पांचरात्रिकों का विवरण दिया है।

१. पं० बलदेव जी उपाध्याय ने उपर्युक्त षड्विधियों का विवरण देने के पश्चात् लिखा है, “शरणागति के इस षड्विध-क्रम में मनोवैज्ञानिक सामरस्य है।” किन्तु वास्तव में इस क्रम में कोई मनोवैज्ञानिक सामरस्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उक्त षड्विधि के पीछे शरणागति (Appeal) तथा दैन्य (Submission) ये दो मूलप्रवृत्तियाँ तथा क्रमशः करुणा (Distress) एवं आत्महीनता (Negative Self-feeling) से सम्बद्ध संवेग मुख्यतः कार्य करते हैं। पलायन (Scape) की प्रवृत्ति भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। अतः सर्व प्रथम कार्पण्य का उदय होना चाहिए जिसे इस क्रम में अन्तिम स्थान दिया गया है। तब पलायन की प्रवृत्ति सहायक रूप में भगवान के रक्षक रूप में विश्वास की भावना जागृत करेगी जिसे तृतीय स्थान दिया गया है और तब अन्त में आत्मसमर्पण का स्थान आयेगा। ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक, इन तृपक्षीय अनुभ को भी यहा कमबद्धता नहीं है।

१४४ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

प्रथम वर्ग में यती, एकान्तिन, वैखानस, कर्म सात्वत व शिखी; द्वितीय वर्ग में आप्त, अनाप्त, आरम्भिन तथा सम्प्रवर्तिन एवं तृतीय वर्ग में योगी, पनिष्ठ, तामस, शास्त्रज्ञ व शास्त्रधारक हैं। (जयाख्य : २२) इनमें आरम्भिनों के लिए कहा गया है कि वे 'आप्तों' (पूर्णतया पांचरात्र मत में दीक्षित भक्तों) के मार्ग की चिन्ता न करते हुए उद्देश्य-प्राप्ति के लिए विश्वात्मा की पूजा करते हैं और 'सम्प्रवर्तिन' वे हैं जो अपनी इच्छानुसार अमार्ग पर चलकर श्रद्धा से हरि की पूजा करते हैं। तृतीय वर्ग वालों में अनेक तो वर्णाश्रम एवं पांचरात्र के अनेक नियमों के विरोध में जाते से प्रतीत होते हैं। अतः हम सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जिस प्रकार 'महाभारत' के पांचरात्रिकों का सिद्धान्त एक देशीय था उसी प्रकार पांचरात्र मत का बहुत अधिक प्रचार पा जाने के बाद भी उसके साधना-पक्ष में साम्य नहीं आ पाया था और वह देश एवं स्थानानुसार भिन्नता को प्राप्त था।

एक बात और। भक्ति के लिए भी 'गीता' में ज्ञान की आवश्यकता बताई गई थी और ज्ञान को हर प्रकार से महत्व दिया गया था। पांचरात्रिकों पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था अतः अनन्य भक्ति को ही एक मात्र आधार मानने वाले पांचरात्रिकों ने भी ज्ञान को महत्व दिया और यह बताया कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान है ब्रह्म के साथ जीव की अभिन्नता का बोध। इसे भी 'जयाख्य' संहिता ४।५० में दो प्रकार का बताया गया है—१—क्रियाख्य ज्ञान तथा २—सत्ताख्य ज्ञान अर्थात् क्रमशः नियम एवं यम-सम्बन्धी ज्ञान। इनके पालन से ही मुक्ति का द्वार खुल सकता है।

उपर्युक्त अध्ययन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पांचरात्रिकों ने तीसरी-चौथी शताब्दी ई० से लेकर सातवीं-आठवीं शताब्दी तक की अवधि में भक्ति-आन्दोलन को बढ़ाने का कार्य गतिशील रखा और यद्यपि इसकी पूजा-विधियों पर बाह्य प्रभाव पड़ते रहे तथापि इसने आन्दोलन के प्रमुख स्वर एकान्त भक्ति को नहीं छोड़ा।

७: भक्ति-आन्दोलन के विकास में राजनीतिक शक्तियों का सहयोग

ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी पूर्व से लेकर प्राचीन युग के अन्तिम चरण तक, अर्थात् हमारे इस अध्ययन के 'उपनिषद्-युग' से लेकर 'आचार्य-युग' के प्रारम्भ तक की अवधि में भक्ति-आन्दोलन के विकास में राजनीतिक शक्तियों द्वारा क्या योग-दान दिया गया था, यही यहाँ विचारणीय है। दो बातों का प्रारम्भ में ही उल्लेख कर देना आवश्यक है—प्रथम यह कि प्राचीन भारतीय राजाओं के धर्म-प्रश्रय तथा विदेशी राजाओं के धर्म-प्रश्रय में महान् अन्तर था। दोनों के सार्वभौमिकता सम्बन्धी दृष्टिकोण को ही हम इसका मूल कारण मान सकते हैं। भारत में कभी भी किसी राजा या राज-परिवार द्वारा किसी सम्प्रदाय विशेष या मत विशेष को राज-धर्म (राष्ट्र धर्म) घोषित करने के बाद भी अन्यान्य धर्मावलम्बियों के प्रति कभी भी अनुचित व्यवहार नहीं किये गये थे।^१ इसके विपरीत जिस सम्राट् में भी धार्मिकता जगी थी वह उदारता तथा सहिष्णुता को लेकर ही। अतः किसी भी राजनीतिक सहयोग का अर्थ एक ऐसे प्रश्रय मात्र से लिया जाना चाहिए जिसमें अभीष्ट मत के प्रचार-प्रसार में केवल नैतिक या आर्थिक सद्भावना-सहायता ही दी गई थी। विरोधी सम्प्रदायों को राजनीतिक स्तर पर कुचल कर राज्याश्रित धर्म की स्थापना या वृद्धि का उदाहरण प्राचीन भारत में कहीं नहीं प्राप्त होता। दक्षिणापथ के कुछ नरेशों को इसके अपवाद स्वरूप लिया जा सकता है पर इसके लिए भी कोई ठोस प्रमाण नहीं उपलब्ध है कि यह उनकी धार्मिक नीति का अंग था अथवा सम्प्रदाय विशेष के आचार्य या प्रवर्तक से उसके व्यक्तिगत विरोध का फल था। दूसरी बात यह है कि भारतीय धर्म, विशेषतया ब्राह्मण धर्म, स्वतः इतना लचीला था, अथवा आवश्यकतानुसार इसे इतना लचीला बना लिया जाता था कि इसमें सब कुछ समा सके। भक्ति-आन्दोलन तो इस दृष्टि से और भी आगे बढ़ा हुआ था। यह ब्राह्मणों की श्रुति-स्मृतियों को शिरोधार्य करके लोकधर्म या लोक-वेद (बहुमत) की लकुटी हाथ में लिये चल रहा था। वह जानता था कि लोकमत की इसी लकुटी के बल भर वह श्रुति-स्मृतियों का भारी बोझा ढो रहा है और इस प्रकार लोक-चक्षु में वजनदार बना हुआ है। जिस दिन यह लाठी फिसली कि सारी थाती फिसल जायेगी। यह सिद्धान्त भक्ति-आन्दोलन

१. पुष्यमित्र शुंग (१८७-१५१ ई० पू०) को बौद्धग्रन्थ 'दिव्यावदान' तथा लामा तारानाथ ने बौद्धहंता सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य की है पर डा० हेमचन्द्र राय चौधरी तथा अन्य माने-जाने इतिहासकारों ने पुष्यमित्र की 'दीनार शतम् दास्यामि'वाली घोषणा का आधार राजनीतिक बताया है, न कि धार्मिक।

१४६ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

के आदि युग से ही मान्य होकर इसे जन-जन तक पहुँचाने वाले भक्त कवियों तक में इसी गहराई के साथ उतरा है। ऐसी स्थिति में अन्य धर्म-सम्प्रदायों को किसी 'अशोक' या धर्माचार्यों को किसी 'हर्ष' की भले ही अपेक्षा रही हो, पर भागवतधर्म के लिए ऐसी किसी राजनीतिक शक्ति के सहारे की आवश्यकता न थी। आध्यात्मिक जगत् में ये भागवत अपने परम आराध्य भगवान् विष्णु या उनके अवतारों की शरण चाहते थे और व्यावहारिक जगत-व्यापार में इन्हें जनता-जनार्दन पर भरोसा था। यही कारण है कि केवल राज्याश्रय प्राप्त धर्मों का उत्थान-पतन राजनीति के तराजू पर ऊपर-नीचे झूलता रहा जब कि सात्वतों का धर्म सदा शास्वत बना रहा।

भागवत धर्म के प्रचारक देवकी पुत्र वृष्णिवंशीय कृष्ण का सम्बन्ध सात्वत कुल से था, यह हमें ज्ञात है। इस कुल को महाभारत-युग में राजनीतिक महत्व प्राप्त हो चुका था और शूरसेन प्रदेश में भागवत धर्म के प्रश्रयदाता राजाओं की परम्परा काफी दिनों तक चलती रही। 'महाभारत' में ही चेदि-नरेश वसुजपरिचर का उल्लेख किया गया है जो पांचरात्र या सात्वत धर्म का बहुत बड़ा प्रतिपोषक था।

जैन तथा बौद्ध धर्मों की स्थापना के पश्चात् धर्मों को राजनीतिक प्रश्रय का प्रश्न बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। जैन तथा बौद्धधर्म संस्थापकों का सम्बन्ध भी राज-घरानों से था और इनके वैवाहिक सम्बन्धों ने इनके मतों को राज्याश्रय प्रदान कराने में बहुत बड़ा योग दिया था। छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर चौथी शताब्दी ई० पू० तक अर्थात् वत्स, अवन्ति, मगध आदि के मौर्य-पूर्व नरेश बहुधा अब्राह्मण धर्मावलम्बी थे और इन्होंने जैन अथवा बौद्ध धर्म के प्रचार में पर्याप्त सहायता की थी। इन राजतन्त्रात्मक राज्यों के अतिरिक्त गणतन्त्रों ने भी उक्त अब्राह्मण धर्मों के प्रचार में ही योग दिया था। बुद्धकालीन ग्यारह गणराज्यों^१ में से अधिकांश ने तो इन्हीं बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रसार में सक्रिय सहयोग प्रदान किया था। किन्तु तत्कालीन सोलह महाजनपदों^२ में से चेदि तथा शूरसेन तो भागवतों के बहुत बड़े समर्थक और प्रश्रयदाता थे ही, इनके अतिरिक्त मगध के कुछ प्रारम्भिक शासकों ने भी इस धर्म को प्रोत्साहन दिया था। पर छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर आगामी दो शताब्दियों तक राज्याश्रय की दृष्टि से बौद्ध या जैन धर्म का ही प्राधान्य रहा है। मगध के बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव ने तो बौद्धों तथा जैनों को इतना आकर्षित किया था कि वे विम्बिसार, अजातशत्रु आदि को अपने धर्म में घसीटने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। तत्पश्चात् मगध के सिंहासन पर पुराणों के 'शूद्रगर्भोद्भव' महापद्म का आधिपत्य स्थापित होता है और तभी से न केवल भागवत प्रत्युत पूरी ब्राह्मण-व्यवस्था को ठेस पहुँचने लगती है। नन्दों के बाद मौर्यों ने भी भागवत धर्म को कोई प्रश्रय नहीं

१. कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुली, केसपुत्त के कालाम, सुसुमगिरि के भग्न, रामगाम के कोलीय, पावा के मल्ल, कुशीनारा के मल्ल, पिप्पलिवन के मोरिय, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवी तथा वैशाली के नाय।

२. अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुड, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार तथा कम्भोज।

प्रदान किया था। बौद्ध धर्म-प्रचारक आशोक की धार्मिक नीति तथा बौद्ध अशोक के प्रजाहितकारी कार्यों ने उलटे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाने में बहुत अधिक हाथ बटाया था। पर नन्दों-मौर्यों की राजनीतिक शक्तियों से कहीं अधिक प्रबलतम थी जनशक्ति जिसने भागवत धर्म को आगे बढ़ाने में पांचरात्रिक परम्परा को बनाये रखा। हाँ, केवल कुछ समय के लिए इन विरोधी राजनीतिक शक्तियों ने कहीं-कहीं आन्दोलन की प्रगति में शिथिलता अवश्य ला दी थी। मेगस्थनीज के कथनानुसार भी चौथी शती ई० पू० में शूरसेन प्रदेश (मथुरा) में वासुदेवोपासकों का प्राधान्य था।^१ कर्टियस ने भी लिखा है कि जब पोरस ने सिकन्दर के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए अपनी सेना बढ़ाई तो सेना के आगे-आगे हेराक्लीज (कृष्ण) की मूर्ति लाई गई थी। किन्तु तीसरी शती ई० पू० में हमें यहाँ इस मत का प्रभाव घटता हुआ दिखाई देता है। इस युग के बौद्ध साहित्य अथवा आभिलेखिक साक्ष्यों में हमें भागवतों का कोई उल्लेख तक नहीं मिलता है। अशोक अपने सातवें शिलालेख में ब्राह्मण, आजीवक आदि का उल्लेख करते हुए भी भागवतों को छोड़ देता है। साहित्यिक साक्ष्यों में केवल 'निदेस' में ही वासुदेव और बलदेव के नाम आते हैं और उन्हें भी पशु-पक्षी के पूजकों के साथ गिना गया है। इसी प्रकार 'अंगुत्तरनिकाय' आजीवक, निगन्थ, मुण्डसावक, जटिलक, परिव्राजक मार्गधिक, तेदान्तिक, अविरुद्धक, गौतमक तथा देवधम्मिक आदि दस सम्प्रदायों का उल्लेख करता है पर वासुदेवक, भागवत या अर्जुन का नाम नहीं गिनाता है। इति-हासकारों ने इसका कारण यह बताया है कि उस समय तक भागवत धर्म केवल दोआब तक ही सीमित था। किन्तु बौद्धों तथा जैनियों का यह व्यापकत्व अधिक दिनों तक राज्याश्रय द्वारा पल्लवित न हो सका और अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ का बध करके ब्राह्मण पुष्पमित्र (१८७-१५१ ई० पू०) ने मौर्य साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मण द्वारा दिलाया गया राज्य फिर एक ब्राह्मण द्वारा ही छीन लिया गया। पुष्पमित्र वह प्रथम सम्राट् है जिसने ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान में सक्रिय सहयोग दिया और चिरकाल से लुप्त अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया। वह तथा उसके वंशजों ने भागवत धर्म के प्रसार में क्या योग दिया था इसका विस्तृत विवरण तो नहीं प्राप्य है पर परवर्ती शुंगों ने निश्चय ही भागवत धर्म को बढ़ावा दिया था। शुंग वंश के नवें राजा भागभद्र का नाम ही भागवत था। उसके शासन-काल में तक्षशिला के यवन शासक

१. मेगस्थनीज ने लिखा है कि 'मैदानों के निवासियों, विशेष रूप से शूरसेनों द्वाराजिनके पास मथुरा और कृष्णपुर नामक नगर थे, हेराक्लीज (कृष्ण) की पूजा की जाती थी।'

मेगस्थनीज ने हेराक्लीज तथा पाण्ड्यों को साथ मिलाकर सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य देश की जो कथा कहो है उससे और पाण्ड्य देश की राजधानी मद्रा के नामकरण के आधार पर मथुरा शब्द से जिसकी व्युत्पत्ति सम्भव है, कुछ विद्वानों ने मौर्य-युग में ही दक्षिण भारत में भागवत धर्म के प्रचार का उल्लेख किया है।

अन्तर्लिकितस ने उसकी राजसभा में दिय के पुत्र हेलिओदोर को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। सम्भावना है कि यवन-नरेश इस शुंग-शासक से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था और इसीलिए दूत ने स्वयं को भागवत-धर्मावलम्बी बताया था। अतः शुंगों द्वारा भागवतधर्म को प्रश्रय देना प्रमाणित हो जाता है। यदि भारतीय इतिहास के रंगमंच पर शुंगों का पदार्पण नहीं हुआ होता तो पश्चिमोत्तर के यवनों ने अशोक की धार्मिकता से उत्पन्न दुर्बल राजनीतिक शक्ति को पददलित करके भारत पर अपना अधिकार कर लिया होता। शुंगों के इसी महत्व को प्रदर्शित करते हुए श्री के० एम० मुंशी ने लिखा है—

‘‘पुण्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक के पूर्ववर्ती मगध की परम्परा को बढ़ाया। धर्म-विजय की अभिप्राप्ति का साधन युद्ध से घृणा नहीं अपितु सैन्य संगठन का निर्माण समझा गया। मध्यदेश के बुद्धिमानों एवं विद्वानों में सन्यास का मोह समाप्त हो गया। धर्म की सुदृढ़ स्थापना की गई तथा स्मृतियों के नियमों की पूर्ण सत्ता स्थापित की गई। सामूहिक उत्साह की नई लहर ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध संघर्ष के रूप में एक अधिक समृद्ध एवं पूर्णतर जीवन के सन्धान के रूप में युद्ध-देवता कार्तिकेय के सम्प्रदाय के रूप में, भागवत सम्प्रदाय के पुनरुत्थान तथा हिन्दु देव-मण्डल में वासुदेव-कृष्ण की प्रधानता के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त की।’’

अभिलेखों से भी हमें यह सोचने का अवसर प्राप्त होता है कि शुंगों के युग में भागवतधर्म को प्रश्रय प्राप्त हुआ था; कारण यह है कि बहुधा विदेशियों द्वारा राजधर्म ही स्वीकार करने की सम्भावना रहती है। वेसनगर अभिलेख (२०० ई० पू०) में भागवत हेलिओडोर द्वारा देवाधिदेव वासुदेव का गरुडध्वज बनवाने का उल्लेख है।^१

शुंगों के पश्चात् ब्राह्मण कर्णों का शासन-काल (७५ ई० पू० से ३० ई० पू०) भी ब्राह्मण-पुनरुत्थान का युग कहा जा सकता है। पुराणों में इनके विषय में जो यह कहा गया है कि ये धर्मानुसार राज्य करेंगे, इसका स्पष्ट आशय ब्राह्मण-पद्धति से है। इस वंश के चार नरेशों में से प्रथम का नाम वासुदेव तथा तृतीय का नारायण हमें यह सुझाता है कि इन काण्व गोत्रीय नरेशों में भागवत धर्म के प्रति निष्ठा थी।

उत्तरापथ की भाँति दक्षिणपथ में भी, जहाँ चौथी शताब्दी ई० पू० से ही भागवत धर्म का प्रचार होना आरम्भ हो चुका था, कुछ शासकों का इसे राज्याश्रय प्रदान होने लगा था। सातवाहन नरेशों में से कुछ ने इसे प्रश्रय प्रदान किया था। पुराणकारों की वर्णश्रम धर्म-स्थापन की जिन समस्याओं का अध्ययन हमने किया था उन समस्याओं

१. दी एज आफ इम्पीरियल युनिटी—प्राक्कथन

२. देवदेवस वा (सु दे) वस गरुडध्वजे अयन्

कारिते इ (अ) हेलिओडोरेना भाग

वतेन दीयस पुत्रेणा तक्षशिलाकेन

यवन-दूतेन अगातेन महाराजस

अन्तर्लिकितस. उपा (न) ता सकासमरणो

को राजनीतिक स्तर पर सुलझाने का सर्व प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न नासिक गुहालेख के बहु प्रशंसित सम्राट, जिसके 'वाहनों' ने तीन समुद्रों का जल पिया था, गौतमीपुत्र शातकर्णि (१०६ ई० से १३० ई०) ने किया था। उक्त अभिलेख यह सूचित करता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया और विरोधी तत्वों का उन्मूलन कर दिया। बौद्ध धर्म के प्रभाव तथा विदेशियों के भागवत धर्म में सम्मिलित हो जाने के फल-स्वरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों में वर्णसंकरता आ गई थी। इस सुप्रसिद्ध नरेश ने इसे दूर करके वैष्णव पुराणोंकारों के कार्यों में हाथ बटाया था। अपने विस्तृत साम्राज्य (गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकण, पूना तथा नासिक के निकटवर्ती भूभाग) में शातकर्णि ने वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना करके भागवत धर्म की अवैदिक तत्वों से जो रक्षा की थी वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के अतिरिक्त अन्य शातवाहन नरेशों ने भी वैष्णव धर्म के प्रचार में योग दिया था। इस युग के अभिलेखों पर उत्कीर्ण 'गोपाल', 'विष्णुदत्त', 'विष्णुपालित', 'कृष्ण' आदि संशयों इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रथम शती ई० में पश्चिमोत्तर भारत में एक ऐसे विशाल साम्राज्य का निर्माण कुषाणों द्वारा होता है जिससे बौद्धों के लुप्तप्राय राज्याश्रय का पुनरुद्धार हुआ। यद्यपि इस वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक कनिष्क चतुर्थ बौद्ध संगीति से ही महायान^१ बौद्ध शाखा का संरक्षक हो चुका था और उसे राजधर्म का रूप दे चुका था तथापि उसने कहीं भी धार्मिक असहिष्णुता नहीं दिखाई। वास्तव में भागवतों के आदि स्थान पर राज्य करनेवाला कोई भी न्यायी शासक जनरुचि का पूर्ण विरोध किसी प्रकार भी नहीं कर सकता था और कनिष्क में धार्मिक सहिष्णुता का अभाव न था। इतना ही नहीं, इसी वंश के एक परवर्ती शासक हुविष्क की मुद्राओं पर विभिन्न देवी-देवताओं में विष्णु की भी मूर्ति उत्कीर्ण है। एक सील से, जो हुविष्क की बताई जाती है, यह पता चलता है कि वह विष्णु का भक्त था। हुविष्क के पश्चात् कुषाण-नरेश वासुदेव (१४५-१७६ ई०) सिंहासनासीन हुआ जिसका नाम हमें कम से कम इतना तो सूचित करता है कि अब तक इन विदेशी कुषाणों

१. भागवतों के अवतारवाद ने अबतक न केवल जैनियों को ही प्रभावित किया था प्रत्युत बौद्ध धर्म पर भी इसकी ऐसी अमिट छाप पड़ी थी कि यदि कनिष्क जैसे शक्तिशाली शासक ने ठीक अवसर पर स्थिति न संभाल ली होती और वसुमित्र तथा अश्वघोष जैसे मेधावी आचार्य ठीक इसी युग में अवतरित न हो गये होते तो आशंका इस बात की थी कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक ही बौद्ध धर्म का भागवतधर्म से पर्यावसान हो गया होता। महायान में भक्तितत्व का पूरा-पूरा समावेश, भगवान बुद्ध को राम तथा कृष्ण की भाँति ही अवतार रूप की स्वीकृति आदि ऐसे ही लक्षण थे। किन्तु चतुर्थ संगीति ने महायान मत को सुदृढ़ करते हुए बौद्ध धर्म का अस्तित्व बनाये रखा। हाँ, इसमें उन तत्वों का समावेश अवश्य करा दिया गया जिनके द्वारा वह जनसाधारण की वस्तु बन सके और वह तत्व था भक्ति एवं सर्वभूतानुकम्पा जिसे उन्होंने भागवतों से प्राप्त किया था।

का भारतीयकरण हो चुका था। यद्यपि वासुदेव का नामकरण भागवत धर्म से सम्बन्धित है पर इतिहासकारों ने उसे शैव माना है। जो भी हो, कुषाणों के अन्तिम दो शासकों के ब्राह्मण धर्मावलम्बी होने का प्रमाण मिलता है और इसे हम उन पर पड़ने वाला स्थानीय प्रभाव ही कह सकते हैं। डा० रायचौधरी ने कुषाणयुगीन सभ्यता का महत्व बताते हुए लिखा है कि “यह धार्मिक नवचेतना तथा धर्म-प्रचार-सम्बन्धी कार्यों का युग था। इसी युग में... महायान बौद्ध धर्म और मिहिर तथा वासुदेव कृष्ण के सम्प्रदायों का विकास हुआ।” भागवतों के आदि स्थान मथुरा में कुषाण-युग में जिस कला का विकास हुआ था उसने उपासकों को अवतारों की मूर्तियाँ प्रदान करके सगुणोपासना का पथ और अधिक प्रकाशमान कर दिया था। कुषाण-नरेशों ने इस कला को जो प्रोत्साहन दिया था वह भी प्रशंसनीय है।

कुषाणों के बाद उत्तरी भारत में यौधेयों का आधिपत्य स्थापित हुआ। कुणिन्द राज्य से इनका गहरा सम्बन्ध था। इन दोनों राज्यों में भागवत धर्म को प्रश्रय देने के मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाण मिलते हैं। छत्रेश्वर नामक एक कुणिन्द-शासक की एक मुद्रा २०० ई० की प्राप्त हुई है जिसपर ‘महात्मन’ तथा ‘भागवत’ की उपाधि उत्कीर्ण है। किन्तु आगे चलकर कुणिन्दों ने शैवधर्म स्वीकार कर लिया था। पर युधिष्ठिर के वंशज यौधेय तथा अर्जुन के वंशज आर्जुनायन गणराज्यों ने अपने पूर्वजों के धर्म के प्रसार में सराहनीय योग दिया था। इन्हीं गणराज्यों ने कुषाणों की सत्ता का उन्मूलन किया था। इनमें से कुछ शैव मतावलम्बी भी थे किन्तु अधिकांश ने भागवत धर्म को प्रश्रय प्रदान करके भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में योग दिया था।

जिन राज्याश्रयों का अब तक उल्लेख किया जा रहा था उन सब को बहुत पीछे छोड़ जाने वाला तथा पूरे भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में, राजनीतिक सहयोग की दृष्टि से, एक नया परिच्छेद जोड़ने वाला युग गुप्तों के उदय से आरम्भ होता है। चौथी शताब्दी ई० के प्रथम चरण से आरम्भ होने वाली यह शक्ति आगामी दो शताब्दियों तक भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक शक्ति बनी रही। इन्हीं ‘परम भागवतों’ के राज्याश्रय ने भागवत-धर्म की प्रगति में एक नई लहर ला दी थी। उदयगिरि में एक अभिलेख चौथी शताब्दी का मिला है जिसमें चतुर्भुज देवता का चिन्ह है जो सम्भवतः विष्णु है। भीतरी (गाजीपुर) के एक स्तम्भ पर ४५४ से ४६४ ई० के बीच का अभिलेख प्राप्त है जिसे डा० भण्डारकर ने वासुदेव-कृष्ण-सम्बन्धी अभिलेख स्वीकार किया है। डा० भण्डारकर ने चक्रपालित द्वारा एक विष्णु-मन्दिर बनवाने का उल्लेख किया है। सुराष्ट्र में स्कन्दगुप्त का राज-प्रतिनिधि पर्णदत्त था। यह चक्रपालित उसी पर्णदत्त का पुत्र था जिसने स्कन्दगुप्त के आदेश से सुप्रसिद्ध सुदर्शन शील का जीर्णोद्धार करवाया था और जब शील के पुनर्निर्माण का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया तो चक्रपालित ने चक्रभूत अर्थात् विष्णु का मन्दिर बनवाया था, पर दुर्भाग्यवश सुदर्शन शील अथवा उक्त विष्णु-मन्दिर का कोई चिह्न आज अब-

शिष्ट नहीं है।^१ गुप्त-नरेश बुद्धगुप्त के एरण के सामन्त मातृविष्णु ने तथा उसके अनुज धन्यविष्णु ने जनार्दन के सम्मानार्थ जिस ध्वज-स्तम्भ का निर्माण करवाया था उसका बोध हमें बुद्धगुप्त के एरण-अभिलेख से होता है। इनके नाम से तो हमें दोनों का वैष्णव-मतावलम्बी होना परिलक्षित होता ही है, साथ ही मातृविष्णु को यहाँ अत्यन्त भगवद् भक्त भी कहा गया है। इसी 'भगवद् भक्त' के आधार पर डा० भण्डारकर ने उक्त जनार्दन को वासुदेव-कृष्ण स्वीकार किया है जो तर्कसम्मत है। डा० भण्डारकर ने इसकी तिथि ४८३ ई० स्वीकार की है। इसी अभिलेख में भगवान विष्णु के अतारों की, जैसे वाराहा-वतार की, स्तुति पूर्णतया पौराणिक ढंग से की गई है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मिहरीली लौह-स्तम्भ भी विष्णु-ध्वज कहा गया है। डा० भण्डारकर ने कोह (ववेल खण्ड) के एक ताम्रपत्र का भी उल्लेख किया है जिसकी तिथि ४९५ ई० है और जिसमें जयनाथ द्वारा भागवतों को उसी देवता के मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए एक ग्रामदान का उल्लेख है। राजपूताना के गणराज्यों ने भी भागवतधर्म को प्रश्रय प्रदान किया था। इसका उल्लेख हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। जोधपुर के मंदोर नामक स्थान से प्राप्त स्तम्भ के चित्रों में बालकृष्ण सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। डा० भण्डारकर ने इसकी तिथि पाँचवीं शती स्वीकार की है। इन विवरणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुप्तों तथा उनके सामन्तों एवं अधीनस्थ राज्यों में से अनेक ने भागवत धर्म को प्रश्रय प्रदान किया था। यद्यपि उनमें से किसी नरेश ने भागवत धर्म के प्रचारार्थ बौद्ध अशोक जैसा सुनियोजित प्रचार-कार्य नहीं किया था तथापि प्रजाहितकारी कार्यों के लिए प्रसिद्ध तथा अपनी युद्ध एवं दान-वीरता के लिए विख्यात गुप्तों का परम भागवत होना ही पर्याप्त था और उनका अप्रत्यक्ष सहयोग भी भारत के एक विस्तृत भूभाग पर वैष्णव धर्म के प्रचार में बहुत अधिक समर्थ था। यही वह युग है जब पुराणकारों को भागवत धर्म-सम्बन्धी साहित्य के सृजन एवं अभिवर्द्धन का स्वर्णिम अवसर प्रदान हुआ था। यह गुप्तों के साहित्यानुराग का ही प्रतिफल रहा कि अनेक दार्शनिक एवं पौराणिक ग्रन्थों की रचना हुई जिससे भागवत धर्म गतिशील और 'शास्त्रानुमोदित' हुआ। इसी युग में मनुस्मृति के आधार पर याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, बृहस्पति आदि ने अपने स्मृति-ग्रन्थ लिखे थे। 'सांख्य कारिका', 'मीमांसा सूत्र', 'सबर भाष्य', 'पदार्थ धर्म संग्रह', 'दशपदार्थ शास्त्र' आदि दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन गुप्तयुगीन धार्मिक जागरूकता का एक सबल प्रमाण है। बौद्धों, जैनियों तथा विभिन्न ब्राह्मण-मतों के बीच भागवत धर्म जिस प्रकार तीव्र गति से बढ़ रहा था वह भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में सचमुच एक गौरवपूर्ण सोपान है। गुप्तों की इसी विष्णु-परायणता का फल था कि भारत के अधिकांश भूभाग पर भागवत धर्म का प्राधान्य

१. यद्यपि स्कन्दगुप्त सभी गुप्त-नरेशों की भाँति वैष्णव मतावलम्बी था तथापि उसने बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु की शिष्यता ग्रहण की थी और अन्यान्य धर्मावलम्बियों को भी सहायता प्रदान की थी। वास्तव में धार्मिक सहिष्णुता गुप्तों की धार्मिक नीति का एक प्रमुख अंग थी।

स्थापित हो गया। गुप्तों के अधिकांश अभिलेखों के वैष्णवात्मक तत्वों को देखते हुए डा० भण्डारकर ने कहा है कि वैष्णव धर्म ही वह बहु प्रचलित धर्म था जिसे गुप्तों का राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। जब अश्वघोष जैसा मेधावी ब्राह्मण, जो भक्ति एवं उसके सार्व-जनिक प्रभावों को भली-भाँति जान चुका था, और यह अनुभव कर चुका था कि गौतम की शिक्षाओं में कृष्ण की पराभक्ति के प्रच्छन्न प्रवेश द्वारा ही बढ़ते हुए भागवतों के सामू-हिक आकर्षणों को क्षीण बनाया जा सकता है, धर्म-प्रवर्तन करके बौद्ध हो गया और उसने महायान का नेतृत्व अपने में ले लिया तथा साथ ही उसे कुषाणों का राज्याश्रय प्राप्त हो गया तब तो स्थिति इतनी संकटापन्न हो उठी थी कि गुप्तों के राज्याश्रय के अभाव में भागवतों का जन-आन्दोलन ठीक पूर्ववत् ही गतिशील रह पाता या नहीं इसमें भी सन्देह होने लगा था। पुराणों तथा पांचरात्र आगमों का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि किस प्रकार बौद्धों की महायान शाखा का प्रभाव स्वयं भागवत ग्रन्थों एवं भागवत सम्प्रदाय वालों पर पड़ने लगा था। किन्तु कुषाणों के पतन के पश्चात् से लेकर वर्द्धन राजवंश के उदय तक की अवधि में एक ओर तो वैष्णव आचार्यों एवं पण्डितों ने साहित्य द्वारा भागवत धर्म में उत्पन्न द्वयों को नश्वर लगाकर आरोग्य करना आरम्भ किया और दूसरी ओर गुप्त नरेशों ने दुर्बल पड़ते भागवत धर्म को शक्तिमय बनाने के लिए राज्याश्रय प्रदान किया। इसी राज्याश्रय के परिणामस्वरूप बौद्धधर्म को प्रोत्साहित करने-वाली कुषाण-कालीन मथुरा तथा गान्धार कलाओं को चुनौती देने वाली गुप्तकालीन कला-शैली का विकास हुआ और मूर्तिकारों एवं वातु-शिल्पियों की देन से विष्णु के अनेकानेक अवतारों की कथाएँ प्रस्तर-खण्डों पर मुखरित होने लगीं। भीतरी स्तम्भ-लेख में 'हति-रिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः' से कृष्ण के जीवन की तथा इसी प्रकार के अन्यान्य अभिलेखों से अनेक अवतारों की कथाएँ वर्णित हैं। विशेषता यह है कि जहाँ मथुरा-शैली की कला बौद्ध के जन्म, सम्बोधि, धर्म-चक्रप्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण-सम्बन्धी केवल थोथे एवं अनाकर्षक मूर्ति प्रस्तुत करती रही वहाँ गुप्तकालीन कला वैष्णव तथा शैव-तत्त्व-प्रतिपादक आध्यत्मिक अभिव्यंजनायुक्त तथा कलागत सौन्दर्य से परिपूर्ण मूर्तियों द्वारा उक्त सम्प्रदायों को प्रोत्साहित करने लगी। असंख्य मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण ने सगुणोपासना के प्रचारक धर्माचर्यों को उनके कार्यों में सहयोग दिया। यह सब गुप्त-नरेशों के प्रथम का ही परिणाम था। किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं लिया जा सकता कि भगवान् बुद्ध-सम्बन्धी कला को गुप्तों ने प्रोत्साहन नहीं दिया, हाँ वैष्णव चित्रकारों एवं शिल्पकारों ने उन्हें प्रभावित अवश्य किया और अब उनके भित्त-चित्रों की आकृति तथा भावभंगिमा भी वैष्णवात्मक होने लगी। इस प्रकार विचाराधीन युग में धार्मिक एवं राजनीतिक स्तरों पर भागवत धर्म को जो बढ़ावा दिया गया उससे आन्दोलन में एक आश्चर्यजनक प्रगति आ गई। इस प्रगति ने न केवल बौद्ध धर्म को पीछे धकेल दिया था प्रत्यत् पहली से चौथी शताब्दी ई० के प्रथम चरण तक वृद्धि पाते हुए कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक धर्म को भी भागवत धर्म ने अपने विकास के लिए मार्ग देने को बाध्य किया। ईसा की प्रथम चार शताब्दियों में हमें वैदिक यज्ञों के चिह्न पाषाणयुग—बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं और इस

अवधि के नरेशों के अगणित अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान के भी विवरण प्राप्त होते हैं। किन्तु आगे की शताब्दियों में अग्नि, वेदी या यूप के स्थान पर भीटा, नालन्दा, वैशाली आदि से प्राप्त मुहरों पर शंख, चक्र त्रिशूल तथा नन्दी आदि के चिह्न अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं।

उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण भारत में भी भागवत धर्म के प्रचार के प्रमाण उपलब्ध हैं। सुप्रसिद्ध आलवारों के रसमय मधुर गीतों से इसी युग में अधिकांश दक्षिणी भारत गूँज रहा था। जहाँ तक राज्याश्रय का सम्बन्ध है, दक्षिणी भारत के सुप्रसिद्ध गुप्त-कालीन वाकाटक वंश के प्रथम चार प्रसिद्ध नरेश तो शैव मतावलम्बी थे और उन्होंने इस सम्प्रदाय के विकास में कुछ योग दिया था किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय का दामाद वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय अपने स्वसुर से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि इसने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। दुर्भाग्यवश इस वैष्णव शासक की मृत्यु पाँच वर्षों के अल्पकालीन शासन के पश्चात् ही ३९० ई० में (३० वर्ष की अवस्था में) हो गई जिससे यह वैष्णव धर्म के प्रचार में कोई विशेष सहयोग न दे सका। किन्तु अनवरत २० वर्षों तक उसकी पत्नी प्रभावती गुप्ता (चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री) संरक्षिका के रूप में शासन करती रही और भागवत-कुल की इस राजकुमारी ने भागवत धर्म के प्रचार में योग दिया होगा, ऐसा अनुमान सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

गुप्तों के समकालीन वाकाटकों के सम्बन्ध में उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् हम पुनः उत्तर भारत के राजवंशों की ओर दृष्टिपात करेंगे और देखेंगे कि उन्होंने वैष्णव धर्म को कितना प्रश्रय दिया था।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में तौर-माण तथा उसके पुत्र मिहिरकुल के बर्बर आक्रमणों ने उत्तरी भारत में जो राजनीतिक अशान्ति उत्पन्न कर दी थी उससे सारा उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टि से छिन्न-भिन्न हो गया था और यदि ह्वेनसांग के कथन पर विश्वास किया जाय तो इन हूणों ने बौद्ध विहारों को लुटवाकर उनमें आग लगवा दी थी। ब्राह्मण धर्म के विरोध में इन्होंने क्या किया था, इसका कोई प्रामाणिक विवरण नहीं प्राप्त है, पर गुप्तों के विनाश का एक कारण बनने वाले हूणों ने अप्रत्यक्ष रूप से तो वैष्णव धर्म को, उसके महान आश्रयदाताओं को श्रीहीन करके क्षतिग्रस्त किया ही था। यह भी सत्य है कि भारतीय समाज में एक बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित हो जाने के पश्चात् हूणों ने पुराणकारों के समक्ष वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना के प्रयत्नों में कुछ जटिलता ला दी थी। पुराणों में जो वर्ण-सम्बन्धी कठोरताओं का समावेश किया गया है उसके मूल में अन्यान्य कारणों के साथ विदेशी जातियों का सम्मिश्रण भी है।

ऊपर जिस राजनीतिक विशृंखलता की बात की गई है उसने न केवल राजनीतिक स्तर पर छोटे-छोटे राजनीतिक गुटों का समय-समय पर निर्माण किया था प्रत्युत हम

१५४ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

कभी-कभी धार्मिक आधार पर भी दो राज्यों की मित्रता या शत्रुता को बनते-बिगड़ते देखते हैं; जैसे परवर्ती गुप्तों तथा गौड़ों के गुट का संगठन इसलिए और भी सुदृढ़ रूप से संगठित हो पाया था कि वे दोनों ब्राह्मण तथा विशेषतया भागवत धर्मानुयायी थे जब कि उनका शत्रु-गुट पुष्यभूति तथा मौखरी वंश बौद्ध धर्म का संरक्षक था। परवर्ती गुप्तों में आदित्य सेन, विष्णुगुप्त आदि ने वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया था पर उनका वह पूर्व गौरव खो चुका था। अतः उनका प्रश्रय भी बहुत अधिक फलदायक नहीं रहा; किन्तु अब तक भक्ति-आन्दोलन जनता की वस्तु बन चुका था और किसी भी राज्याश्रय की इसे कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह गई थी। बराहमिहिर तथा अमरसिंह जैसे सुप्रसिद्ध लेखकों के साध्यों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाँचवीं-छठीं शताब्दी तक भागवत धर्म बहुत अधिक विस्तार प्राप्त कर चुका था। वाण के 'हर्षचरित' तथा 'जीवन-वृत्तान्त' में भी केश लुम्बक, पाशुपति आदि के साथ-साथ पांचरात्रिक व भागवतों का उल्लेख किया गया है। भागवतों का प्राधान्य हिन्दू समाज पर इतना सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था कि अपने ४१ वर्षों के शासन-काल (६०६-६४७ ई०) तक एकनिष्ठ होकर बौद्धों को प्रश्रय प्रदान करने वाला तथा हर प्रकार से उन्हें धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से ऊँचा उठाने वाला हर्ष भी, जो अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी यह कामना करता रहा कि 'ईश्वर करे कि मैं आगामी जन्म-जन्मान्तरों में सदा इसी प्रकार अपने धन-भण्डार को मानव-जाति को धार्मिक रीति से दान करता रहूँ और इस प्रकार अपने को बुद्ध के दस-बलों से सम्पन्न कर लूँ'^१ इस प्रगति में कोई रुकावट नहीं उपस्थित कर सका। हर्ष ने कन्नौज की परिषद में एक विदेशी यात्री (चीनी यात्री) ह्वेनसांग को तथाकथित सार्व-जनिक धार्मिक सम्मेलन में अपने राजत्व का दुरुपयोग करके जिस प्रकार ऊँचा उठाया था और अपने इस धार्मिक पक्षपात के विरुद्ध उठी आवाज को उसने मुख्य ब्राह्मण नेताओं को प्राणदण्ड देकर तथा ५०० ब्राह्मणों को निष्कासित करके जिस प्रकार उन्हें दबाया था, उससे कम से कम वर्द्धन-राज्य-सीमा से तो ब्राह्मण धर्म का लोप ही हो जाना चाहिए था, किन्तु जनता की दस-दस तक पहुँचा हुआ यह ब्राह्मण धर्म (वैष्णव तथा शैव धर्म) इन समस्त विरोधी परिस्थितियों से लोहा लेता रहा और इस विरोध का कोई भी स्थायी प्रभाव उस पर अन्त तक न पड़ सका।^२

हर्षोपरान्त उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था एक बार पुनः विशृंखल होती है। पर शीघ्र ही जिन राज्यों का निर्माण हुआ उनमें से कुछ राज्य किसी प्रकार भी हर्ष

१. जीवन वृत्तान्त पृष्ठ १८७

२. यद्यपि कुछ विद्वानों ने कन्नौज की परिषद में हर्ष के पक्षपात के विरोध में रचित उसकी (या चीनी यात्री ह्वेनसांग की) हत्या के षडयंत्र को, जिसे असन्तुष्ट ब्राह्मणों ने रचा था, अधिक महत्व नहीं दिया है पर स्वयं हर्ष का जीवन वृत्तान्त उसके धार्मिक पक्षपात और ब्राह्मणों पर आक्रोश का प्रमाण है।

के साम्राज्य से छोटे न थे। प्रतिहारों, चन्देलों, कलचुरियों के साम्राज्य निश्चित रूप से हर्ष के समान ही विस्तृत थे और इन नरेशों की शक्ति भी अतुल थी। भागवत धर्म के एकान्त प्रश्रय की दृष्टि से हमें सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की अवधि में अनेक महत्वपूर्ण नाम मिलते हैं। यद्यपि बंगाल के पालों में से अधिकांश नरेशों ने बौद्ध धर्म को ही बढ़ावा दिया था तथापि उनमें से नयपाल ने वैष्णव धर्म के प्रचार में काफी योग दिया और उसी के शासन-काल के १५वें वर्ष में गया के शासक विश्वरूप ने कई वैष्णव मन्दिरों का निर्माण गया में करवाया था। गया अब हिन्दुओं का भव्य एवं एक सुन्दरतम तीर्थ-स्थान बन गया। वैष्णव धर्म-सम्बद्धकों में सेन वंश का नाम विशेष महत्वपूर्ण है जिसने पालों द्वारा लगभग चार शताब्दियों तक बंगाल तथा तिब्बत तक में प्रचारित बौद्ध धर्म के विरुद्ध भागवत धर्म को बढ़ावा दिया और विशेषतया कृष्णोपासना का प्रचार किया।^१ यद्यपि इस वंश में भी बल्लाल सेन तथा कुछ परवर्ती सेन-नरेश-शैव मतावलम्बी थे तथापि वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में बल्लाल सेन ने जो साहसिक कार्य किये वे बौद्धों के प्रतिकूल पड़े और इस प्रकार ब्राह्मण धर्म की स्थापना में उसने महान योग प्रदान किया। इस वंश के सुप्रसिद्ध शासक लक्ष्मण सेन ने तो वैष्णव धर्म को बहुत अधिक बढ़ावा दिया और प्रथम विख्यात वैष्णव गायक जयदेव को राज्याश्रय प्रदान करके इसने कृष्ण-काव्य की रचना को प्रोत्साहित किया। 'पवनदूत' का रचयिता घोषी भी इसके पाँच रत्नों में से एक था। हर्ष के समय से ही चले आने वाले काश्मीर राज्य ने आठवीं शताब्दी में पूर्ण शक्ति प्राप्त कर ली थी और यद्यपि इस वंश के अधिकांश शासक शैव मतावलम्बी थे तथापि कर्कोटक वंशीय ललितादित्य (७२४-७६० ई०) ने अनेक कवियों को प्रश्रय प्रदान करके वैष्णव तथा अन्यान्य पौराणिक साहित्य की प्रगति में सहायनीय योग दिया था। अनेक मन्दिरों के निर्माण द्वारा भी इसने भक्ति-भावना के प्रसार में सहायता पहुँचाई थी।

किन्तु काश्मीर राज्य का प्रश्रय ब्राह्मण धर्म अधिक दिनों तक नहीं भोग सका और इस राज्य के उत्पल वंशीय शासकों में शंकरवर्मन जैसा शासक भी हुआ जिसने मन्दिर-निर्माण की परम्परा का पालन तो दूर रहा विष्णु तथा शिव-मन्दिरों के सम्पत्ति-हरण में भी संकोच नहीं किया। कल्हण ने इस दुरवस्था का जो चित्रण किया है वह सर्वांशतः सत्य है। किन्तु प्रारम्भिक उत्पल-नरेश अवन्तिवर्मन ने क्षेमेन्द्र जैसे अनेक कवियों को राज्याश्रय प्रदान कर वैष्णव साहित्य के सुजन में सहायनीय योग अवश्य दिया था। वास्तविकता तो यह है कि प्रारम्भिक उत्पल-नरेश अवन्तिवर्मन का युग कवियों की बाढ़ का युग रहा। क्षेमेन्द्र ने विष्णु के अवतारों, 'रामायण' तथा 'महाभारत' से सम्बन्धित जो रचनाएँ कीं वे वैष्णव साहित्य की शृंखला में एक सुन्दरतम कड़ी हैं।

कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों में मिहिर भोज (८४०-८९० ई०) ने वैष्णव धर्म को

१. सेनों की दक्षिणी मूल का बताया गया है अतः बहुत सम्भव है कि इन पर दक्षिणी भक्त आलवारों का प्रभाव था।

राज्याश्रय प्रदान किया था पर वह शैव धर्म को भी आदर की दृष्टि से देखता था। इसी प्रकार कन्नौज के गहड़वालों में गोविन्दचन्द (१११४-११५५ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिए विख्यात था पर साथ ही जिसने वैष्णव धर्म को बढ़ावा दिया था। उसके एक अभिलेख (११२९ ई०) से ज्ञात होता है कि उसने काशी में गंगा-स्नान करके सूर्य, वासुदेव व शिव की पूजा की थी।

शाकम्भरी तथा अजमेर के चौहान ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे और उनमें से अधिकांश वैष्णव मतानुयायी थे। इन राजाओं ने संस्कृत विद्यालयों की स्थापना तथा मन्दिरों के निर्माण द्वारा बढ़ते हुए भागवत धर्म को सहयोग प्रदान किया था।

दुन्देलखण्ड के चन्देलों में से अधिकांश ने शैव धर्म को ही बढ़ावा दिया था और शिव-मन्दिरों के निर्माण में ही उन्होंने विशेष रुचि ली थी फिर भी वैष्णवों के प्रति वे काफी उदार रहे। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास में महान् योगदान देनेवाले मालवा के परमारों में से मुञ्ज (१७५-११५ ई०) तथा भोज (१०१८-१०६० ई०) यद्यपि कट्टर शैव मतावलम्बी थे और भोज ने तो शैव धर्म के सिद्धान्तों पर 'तत्त्व प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना भी की थी तथापि इनका धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था और अनेक साहित्यकारों को प्रश्रय प्रदान कर एवं मंदिरों का निर्माण कराकर इन्होंने ब्राह्मण धर्म के वैष्णव सम्प्रदाय को बढ़ावा दिया था।

मालवा के परमारों की भाँति अन्हिलवाड के सोलंकी भी अधिकांशतः शैव मतावलम्बी ही रहे तथापि उनमें धार्मिक सहिष्णुता की कमी न थी। कर्णदेव (१०६४-१०९४ ई०) तथा उसके पुत्र जयसिंह सिद्धराज ने मन्दिरों के निर्माण तथा साहित्यकारों के प्रश्रय द्वारा वैष्णव धर्म को अप्रत्यक्ष रूप से कुछ सहयोग प्रदान किया था किन्तु इसी कुल का कुमारपाल कट्टर जैन सिद्ध हुआ और उसने ब्राह्मण-विरोधी अनेक कार्य किये। घोर अहिंसा-पालन के लिए बहेलियों तथा शिकारियों तक को विवश करके उसने सन्यासियों के लिए मृगचर्म तक की उपलब्धि असम्भव कर दी थी। हम नहीं कह सकते कि 'गुर्जरे जीर्णता गता' किस शताब्दी की उक्ति है पर इसमें सन्देह नहीं कि छिटपुट राजाओं को छोड़कर गुर्जर-प्रदेश में शैव तथा जैन धर्म के प्रश्रयदाताओं का ही बाहुल्य रहा। सर्वप्रथम सोलंकी नरेश अजयपाल ने ही जैन धर्मावलम्बियों को प्रताड़ित करना आरम्भ किया था जिसके लिए उसका बध कर दिया गया था।

त्रिपुरी के कलचूरियों ने भी शैव धर्म को ही अपनाया था पर गांगेयदेव (१०१९-४० ई०) शिवोपासक होते हुए भी वैष्णव धर्मानुरागी था और उसने अपनी मुद्राओं पर लक्ष्मी की आकृति उत्कीर्ण करवाई थी।

अब हम दक्षिण भारत की ओर आते हैं।

वाकाटकों का विवरण प्राप्त किया जा चुका है। वाकाटक-शक्ति के मूलोच्छेदक कर्नाटक के चालुक्यों में से कुछ नरेशों ने वैष्णव धर्म को प्रश्रय प्रदान करके दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ने में योग दिया था। मंगलेश के समय के अभिलेखों से यह

ज्ञात होता है कि चालुक्य वंश का वास्तविक संस्थापक पुलकेशिन प्रथम (५५०-५५६ ई०) वैष्णव धर्म के प्रति अनुराग रखता था क्योंकि एक अभिलेख उसे धर्मशास्त्र, पुराण, 'रामायण' तथा 'महाभारत' का ज्ञाता बताता है। पुलकेशिन के प्रथम पुत्र के वैष्णव-प्रश्रय का कोई आभि-लेखिक विवरण हमें नहीं प्राप्त है पर उसके द्वितीय पुत्र (पुलकेशिन द्वितीय के पुत्र) मंगलेश के भागवत होने का ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है। इसी के शासनकाल (५९८-६०९ ई०) में बादामी में विष्णु का भव्य गुहा-मन्दिर निर्मित किया गया था जो कला का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। इस मन्दिर की निर्माण-तिथि शक संवत् ५०० है। मन्दिर में भगवान विष्णु को सर्पशायी दिखाया गया है और लक्ष्मी पैर दबाती हुई दिखाई गई हैं। इसमें वाराह व नृसिंह अवतार के भी दृश्य अंकित हैं। इस वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक पुलकेशिन द्वितीय (६१०-६४२ ई०) वैदिक कर्मकाण्डीय मार्ग को यज्ञों के अनुष्ठान के लिए मानते हुए भी पौराणिक भागवत धर्म में आस्था रखता था, पर वह धर्म-सहिष्णु भी अधिक था। उसने जैन मतावलम्बियों तथा भागवतों को जो प्रश्रय दिया था तथा उसके उत्तराधिकारी विजयादित्य एवं विक्रमादित्य ने जैनियों को जो अनुदान दिये थे, उसके परिणाम स्वरूप दक्षिण भारत में भागवत सम्प्रदाय के प्रबल विरोधी बौद्धों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई जिससे भागवतों को प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण उपलब्ध हो गया।

चालुक्यों के पश्चात् दक्षिण भारत की राजनीतिक सत्ता राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई जो भारतीय इतिहास में अपने असंख्य शासकों तथा २२७ वर्षों के दीर्घकालीन शासन (७४५-९७२ ई०) के लिए विख्यात है। लगभग सभी राष्ट्रकूट-नरेश शैव या वैष्णव थे। इन्होंने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराकर तथा साहित्यकारों को प्रश्रय प्रदान करके पौराणिक धर्म को आगे बढ़ाने में सहायनीय योग दिया था। राष्ट्रकूट-सत्ता का संस्थापक दन्तिदुर्ग (७४५-७५६ ई०) तो निश्चित रूप से वैष्णव धर्म का बहुत बड़ा प्रश्रयदाता था। इसी के शासन-काल में एलौरा के दशावतार मन्दिर का निर्माण हुआ था जिसमें विष्णु सर्पशायी दिखाये गये हैं और लक्ष्मी पैर दबा रही हैं। अन्य अवतारों के भी दृश्य दिये गये हैं तथा कृष्ण गोवर्द्धन-धारण किये हुए हैं। कैलाश मन्दिर में भी इसी प्रकार के दृश्य अंकित हैं और वहाँ कालिया-दहन भी दिखाया गया है। यद्यपि मान्यखेट राष्ट्रकूटों में अमोघवर्ष (८१४-८८० ई०) जैसा जैन मतावलम्बी शासक भी हुआ था तथापि उसके संजन-लेख से हमें यह ज्ञात होता है कि उसने भी अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग नहीं किया था और वह महालक्ष्मी का परम भक्त था। उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय (८८०-९१२ ई०) भी जैन मतावलम्बी ही था।

राष्ट्रकूटों के पश्चात् दक्षिण भारत में धार्मिक दृष्टि से एक महान् क्रांतिकारी युग का सूत्रपात होता है। यहाँ कल्याण में कलचूरी अन्तराधिपत्य के युग में वीर-शैव मत अथवा लिगायत सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिससे ब्राह्मण धर्म को कुछ ठेस लगी थी, साथ ही इस सम्प्रदाय के संस्थापक वासव ने तो जैन धर्म की अवस्था दयनीय कर दी थी।

दक्षिण भारत की राजसत्ता राष्ट्रकूटों के पश्चात् चालुक्यों के हाथ में गई जो कट्टर शैव मतावलम्बी थे। तत्पश्चात् उनके ही सामन्त देवगिरि के यादवों का युग आया जो स्वयं को भगवान् कृष्ण का वंशज मानते थे। यादवों ने भागवत धर्म के प्रचार में सक्रिय सहयोग

दिया था। इस राजवंश ने अनेक पण्डितों एवं आचार्यों को प्रश्रय देकर भागवत धर्म के प्रसार में योग दिया था। मन्दिरों के निर्माण में भी यह वंश बहुत आगे बढ़ा हुआ था और महादेव के मन्त्री हेमाद्रि ने इतने अधिक मन्दिर बनवाये थे कि वास्तु-कला की एक विशिष्ट शैली ही उसके नाम से चल निकली। हेमाद्रि ने पौराणिक हिन्दूधर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी जिनमें 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह वंश अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल तक चलता रहा।

दक्षिण के चालुक्य साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर जो नवीन राजवंश खड़े हुए उनमें वारंगल का काकतीय वंश भी एक था। यह राजवंश बारहवीं शताब्दी में शक्ति सम्पन्न होता है और नवोदित लिगायत सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग देता है। इसी वंश के प्रतापरुद्र प्रथम (११६२-११९९ ई०) ने सुप्रसिद्ध वीर शैवाचार्य सोमनाथ को प्रश्रय प्रदान किया था जिसने वीर शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इन नरेशों ने तथा उनके मंत्रियों ने अनेक शैव मन्दिरों का जीर्णोद्धार या नवनिर्माण करवाया था, पर भागवत सम्प्रदाय के विरोध में इन्होंने कोई कार्य नहीं किया था। हाँ, जैन मतावलम्बियों को इनकी कट्टर शैव नीति से कुछ आघात अवश्य पहुँचा होगा।

परवर्ती शताब्दियों के दक्षिणतः नरेशों पर वैष्णव आचार्य रामानुज का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाता है। द्वारसमुद्र का होयसल-नरेश बिहगि देव (११०८-११४१ ई०) जो वंश-परम्परानुसार जैन था, रामानुज के प्रभाव से ही वैष्णवमतावलम्बी होकर 'विष्णुवर्द्धन' की उपाधि धारण करता है। इसी नरेश के शासन-काल में मद्दूर तथा श्रीरंगपट्टम के सुप्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर निर्मित किये गये थे। किन्तु यह अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिए भी विख्यात है और इसने जैन तथा शैव सम्प्रदायों को भी दान-अनुदान द्वारा सहायता प्रदान की थी। इस वंश के शेष राजाओं ने भी वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने की परम्परा को आगे बढ़ाया। इनमें बल्लाल प्रथम (११७२-१२१५ ई०) का नाम आदर से लिया जा सकता है जिसके शासन-काल तक होयसलों का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। इन नरेशों ने जैन साहित्यकारों को प्रश्रय प्रदान करके, जिन्होंने अनेक पौराणिक कथाओं को अपनी रचनाओं का विषय बनाया था, कन्नड़ साहित्य की भी बहुत बड़ी सेवा की थी।

दक्षिणापथ के दो राजवंश—कदम्ब तथा पश्चिमी गंग जैन धर्म में ही विशेष अभिरुचि रखते रहे और वे जैन-मन्दिरों तथा जैनाचार्यों के प्रश्रय में ही धन लगाते रहे। गंगवंशीय शासकों ने तो आधुनिक मैसूर राज्य में जैन धर्म को बहुत अधिक फलने-फूलने का अवसर दिया था जिससे वहाँ वैष्णव धर्म कुछ दिनों के लिए दुर्बल पड़ गया था। किन्तु इसी वंश के परवर्ती नरेशों में से कुछ ने पुराणों के अध्ययन एवं प्रसार में अपनी साहित्यिक सेवाओं द्वारा कुछ सहयोग प्रदान किया था। इन्हीं गंगों की पूर्वी शाखा ने वैष्णव धर्म के प्रचार में सक्रिय सहयोग प्रदान किया था और इस प्रकार वहाँ जैन धर्म के विरुद्ध वैष्णव धर्म अधिक उन्नति कर सका था। इन पूर्वी गंगों का राज्य आधुनिक गंजाम तथा विजगापट्टम के भू-भाग पर था। इस वंश के सर्वश्रेष्ठ शासक अनन्तवर्मन ने अपने सत्तर वर्ष की लम्बी अवधि में वैष्णवधर्म के प्रचार में महान योग दिया था। उसी ने पुरी के जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण करवाया था।

कोणक का प्रसिद्ध सूर्य-मंदिर भी इसी वंश की देन है। भुवनेश्वर के निकट लगभग तीस वैष्णव मन्दिरों का निर्माण भी कलिंग नगर के इन्हीं पूर्वी गंगों ने किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ पश्चिमी गंगों द्वारा जैन धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया जा रहा था वहीं पूर्वी गंगों द्वारा वैष्णव धर्म को बढ़ावा देने के लिए उन्मुक्त भाव से मन्दिरों एवं देवालयों का निर्माण कराया जा रहा था। यह राजवंश ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से लेकर लगभग चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। तत्पश्चात् मुसलमानों ने इसका मूलोच्छेदन कर दिया।

सुदूर दक्षिण के राजवंशों को ही वास्तव में पूर्व मध्यकालीन एवं मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के प्रश्रयदाताओं के रूप में महत्व दिया जा सकता है।

इन राजवंशों में से पल्लव वंशीय अधिकांश नरेशों ने तो शैव मत स्वीकार करके उक्त मत को बढ़ावा दिया था किन्तु आंदोलन को आगे बढ़ाने की दृष्टि से इनका महत्व इसलिए अधिक है कि इन्होंने जैन प्रभाव से मुक्ति प्राप्त की थी। शैव होते हुए भी इन्होंने, जहाँ तक मन्दिर-निर्माण का प्रश्न है, विष्णु-मंदिरों के निर्माण में समान रुचि ली थी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्रथम महत्वपूर्ण पल्लव नरेश सिंह विष्णु (५७५-६०० ई०) वैष्णव मतावलम्बी था पर इसके लिए केवल 'विष्णु' नाम ही प्रमाण है। तत्पश्चात् महेन्द्र प्रथम^१ (६००-६२५ ई०) को हम शैव मतावलम्बी पाते हैं, पर मण्डगप्यतु-अभिलेख से यह विदित होता है कि उसने विष्णुदरी-मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसके पुत्र नरसिंह वर्मन (६२५-६५५ ई०) ने भी कुल-परम्परा का पालन करते हुए मन्दिरों का निर्माण जारी रखा। आगे के दो पल्लव-नरेश पूर्णतया शैव मतावलम्बी हो गये और इनमें से नरसिंह वर्मन द्वितीय राजसिंह ने तो 'शंकर भक्त', 'शिवचूडामणि', 'आगम प्रिय' (निश्चय ही शैवागम को लक्ष्य में रखते हुए) आदि की उपाधि ग्रहण की थी। किन्तु इसी समय एक वैवाहिक सम्बन्ध ने परम्परागत शैव पल्लवों को वैष्णव धर्म में कुछ दिनों के लिए दीक्षित कर दिया। राष्ट्रकूट-नरेश दन्तिदुर्ग ने, जो कट्टर वैष्णव था, अपनी पुत्री का ब्याह पल्लव-नरेश नन्दिवर्मन द्वितीय से कर दिया जिसके परिणाम-स्वरूप नन्दिवर्मन ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। नन्दिवर्मन को यह गौरव प्राप्त है कि उसके शासन-काल में ही प्रसिद्ध वैष्णव सन्त तिरुमंगई आलवार हुए थे। नन्दिवर्मन ने कांची के वैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर का निर्माण करवाया था। कांची में उसने अन्य अनेक वैष्णव मन्दिर भी बनवाये थे। उसके राज्याश्रय में भक्ति-आन्दोलन को एक नई प्रगति मिली थी, किन्तु यह प्रभाव बहुत अधिक दिनों तक नहीं चल सका और नन्दिवर्मन तृतीय ने (८२६-८४९ ई०) पुनः शैव धर्म को पल्लवाश्रित किया। यद्यपि यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि किस कट्टर शैव पल्लव-नरेश ने तिरुमलिसई नामक आलवार भक्त तथा उसके शिष्य कनिकम्म को देश-निकाले का दण्ड दिया था तथापि इस घटना को हम सत्य मान सकते हैं क्योंकि पल्लवों की घोर शैववादिता प्रसिद्ध है। पर सभी पल्लव-नरेशों को असहिष्णु नहीं कहा

१. महेन्द्रवर्मन पहले जैन मतावलम्बी था पर बाद में सन्त अप्पर के प्रभाव से उसने शैवमत स्वीकार किया था। यह भी कहा जाता है कि उसने तत्पश्चात् जैनियों को प्रताड़ित किया था।

जा सकता। अनेक पल्लव-नरेशों पर आलवार सन्तों की भक्ति-भावना का प्रभाव पड़ रहा था और उनमें से अधिकांश धर्म-सहिष्णु भी थे जिसके फलस्वरूप शिव-मन्दिरों के साथ-साथ उन्होंने विष्णु-मन्दिरों का भी निर्माण उसी लगन तथा रुचि से किया था। कवियों को प्रश्रय प्रदान करके पल्लवों ने शैव एवं वैष्णव साहित्य की अभिवृद्धि में सराहनीय योगदान प्रदान किया था।

तमिल देश के एक अन्य प्रसिद्ध राजवंश चोलवंश में भी शैव मत को राजधर्म होने का गौरव प्राप्त हुआ था। इस वंश के किसी शासक (सम्भवतः कुलोत्तुंग) ने धार्मिक असहिष्णुता का भी परिचय दिया था और उसके अत्याचारों से ही ऊब कर रामानुज को मैसूर राज्य में वैष्णव समर्थक विडिगदेव की शरण लेनी पड़ी थी जिसने आचार्य को समुचित सम्मान एवं आदर देकर वैष्णव धर्म ग्रहण किया था। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री के मतानुसार इस धार्मिक प्रपीड़न ने एक जन-विद्रोह को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप विजयालय के अन्तिम वंशज अधिराजेन्द्र को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। इस घटना से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं: पहला यह कि वैष्णव मत को नष्ट करने का विचार चोल-शासकों की नीति का एक अंग न था, अपितु यह किसी एक शासक की सनक मात्र थी। दूसरा निष्कर्ष यह कि युग का सामान्य वातावरण एक संकीर्ण धार्मिक नीति के लिए इतना प्रतिकूल था कि जिस शासक ने इसका अवलम्बन किया, उसे जन-विद्रोह के कारण मृत्यु को स्पर्श करना पड़ा।

चोल-नरेश कुलोत्तुंग तृतीय के समय में ही सुप्रसिद्ध कवि कम्बन ने 'रामावतारम्' की रचना की थी। वास्तव में सभी चोल-नरेश असहिष्णु नहीं थे। उनमें से अनेक नरेशों ने सहिष्णुता से काम लिया था और प्रगतिशील वैष्णव धर्म को समुचित सहयोग प्रदान किया था। मन्दिर-निर्माण एवं मंदिरों को धर्म-प्रचार का एक सुन्दर साधन बनाने की दृष्टि से तो हम चोलों को बहुत अधिक महत्व दे सकते हैं। प्रोफेसर नीलकान्त शास्त्री ने इन मन्दिरों के सामाजिक व धार्मिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ये मन्दिर केन्द्र-स्थान के रूप में थे जहाँ सुसंस्कृत जीवन की सभी कलाओं का सर्वोत्तम रूप एकत्र किया जाता था और जो धार्मिक भावना द्वारा प्रसूत मानवी भावना से उन कलाओं को संचालित करते थे।^१ इन मन्दिरों के सार्वजनिक सम्मेलनों एवं उत्सवों में भाग लेकर चोल-शासकों ने जनता का उत्साह-वर्द्धन भी किया था।

मद्रा के पाण्ड्य तथा केरल के चेर-राजवंशों में भी शैव तथा वैष्णव मतानुयायी शासक हुए थे। प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध धर्म यहाँ ह्रासोन्मुख हो चला था। इन वंशों के नरेशों ने भी मन्दिर-निर्माण की परम्परा जारी रखी थी। मद्रा के सुप्रसिद्ध नरेश वरगुण (७६५-८१५ ई०) ने कोयम्बटूर जिले के पेरूर नामक स्थान में एक विष्णु-मन्दिर का निर्माण करवाया था जिसकी ख्याति दूर तक फैली हुई थी। पाण्ड्य राज्य के यहाँ ही सुप्रसिद्ध आलवार सन्त शठ-कोप के पिता किसी ऊँचे पद पर कार्य करते थे। इसी प्रकार कहा जाता है कि केरल या चेर-राज्य-धराने में ही कुलशेखर आलवार का जन्म हुआ था। निश्चय ही यह उस समय की घटना होगी जब चेर-वंश विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में बँट चुका था। पैरी आलवार द्वारा

मदूरा के बलदेव नामक शासक को वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने की भी किंवदन्ति प्रसिद्ध है।

हमने प्राचीन भारत के विभिन्न राजवंशों की धार्मिक अभिवृत्तियों एवं उनकी धर्म-सम्बन्धी गतिविधियों का जो विवरण प्राप्त किया है उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अधिकांश भारतीय नरेश धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाते रहे, केवल दो-चार नरेशों को ही इसके अपवाद स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। शासकों की धार्मिक सहिष्णुता का प्रजा पर उपयुक्त प्रभाव पड़ा था और केवल दो-एक अवसर ही ऐसे आये हैं जब धर्म को लेकर जनविद्रोह खड़ा किया गया था। भागवत सम्प्रदाय की प्रगति में सहयोग देने की दृष्टि से हम सर्वप्रथम उल्लेखनीय राजवंश गुप्तवंश को मान सकते हैं जिसके दीर्घकालीन शासन एवं विशाल अधिकृत भूभाग के कारण इस सम्प्रदाय को फलने-फूलने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ था। राजपूतों ने भी उत्तर भारत में वैष्णव सम्प्रदाय को प्रश्रय प्रदान करके विकास-क्रम को आगे बढ़ाया था। उधर मध्यकालीन भक्ति की प्रधान भूमि दक्षिण में तो अनेक नरेशों ने वैष्णव सन्तों तथा कवियों को राज्याश्रय प्रदान कर दक्षिण भारत के भक्ति-आन्दोलन में एक नई लहर ला दी थी। किन्तु इन सारे राज्याश्रयों को हम गौण स्थान ही प्रदान कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि लगभग साथ-साथ उदित होने वाले भागवत या सात्वत धर्म को अपने प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध धर्म की भाँति न तो शैशवावस्था में किसी राज्याश्रय की अपेक्षा थी और न यौवनावस्था में ही। इसके संस्थापक या प्रचारक का सम्बन्ध भले ही महाभारतकालीन राज-वंशों से रहा हो पर सर्वांशतः मानवी मनोभावों पर आधारित एवं हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों पर अवलम्बित भक्ति-मार्ग जनता-जनार्दन का बहुमत लेकर चल रहा था और किसी राज्याश्रय के अभाव में भी यह अपनी स्वाभाविक गति पर ही चलता रहता। हाँ, अपने मस्तिष्क-पक्ष के लिए भागवतों को आचार्यों की तथा हृदय-पक्ष के लिए कवियों की अपेक्षा अवश्य थी।

८ : पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन

दक्षिण भारत के आलवार तथा वैष्णव आचार्य

‘परम भागवत’ गुप्त-नरेशों द्वारा ब्राह्मण धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था वह उत्तर भारत में केवल मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व तक ही गतिशील बना रहा। यद्यपि बौद्ध धर्मनुरागी सम्राट हर्षवर्द्धन ने भी ब्राह्मण धर्म के विकास में कोई सबल बाधा नहीं उपस्थिति की थी, किन्तु तुर्क-अफगानों की धार्मिक असहिष्णुता ने उत्तर भारत में इस प्रगति को आघात पहुँचाया। इसके विपरीत दक्षिण भारत लगभग बारहवीं शताब्दी तक इन आघातों से सुरक्षित रहा। अलाउद्दीन खिल्जी ही एक ऐसा सुल्तान था जिसने सर्वप्रथम दक्षिण तक मुसलमानी राज्य की सफल स्थापना की थी पर वह भी दक्षिण भारत की धार्मिक अवस्था को बहुत अधिक छिन्न-भिन्न न कर सका था। अतः चालुक्यों राष्ट्रकूटों, देवगिरि के यादवों तथा सुदूर दक्षिण—तामिल प्रदेश के पल्लवों, चोलों आदि के प्रश्रय में ब्राह्मण धर्म अपने प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध तथा जैन धर्म पर उत्तरोत्तर प्रधानता पाता गया। इन राजवंशों के शासक बहुधा साहित्य और कला-प्रेमी थे जिससे जन-साधारण को धार्मिक एवं बौद्धिक उन्नति करने का अवसर बराबर मिलता रहा। इस राजनीतिक परिस्थिति ने ही पूर्व मध्यकाल में, दक्षिण भारत में, अनेक दार्शनिकों एवं धर्माचार्यों को जन्म दिया था। यद्यपि दक्षिण भारत में कोई ब्राह्मण अशोक नहीं उत्पन्न हुआ था तथापि मन्दिर या देवालय स्थापक नरेशों का दक्षिण भारत में, विचाराधीन युग में, बाहुल्य था और उनकी इस क्रिया का प्रत्यक्ष प्रभाव धार्मिक प्रोत्साहन के रूप में जनसाधारण पर पड़ता रहा। दक्षिण भारत में ब्राह्मणों के शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदाय पल्लवित हो रहे थे। कुछ नरेशों ने शैव मत को प्रश्रय दिया था तो कुछ ने वैष्णव को, जैनधर्मानुयायी नरेश भी कभी-कभी मिल जाते थे।

वैष्णव धर्म की इसी गतिशीलता को लक्ष्य करके अपनी भविष्यवाणी शैली में भागवतकार ने घोषित किया था कि विष्णु के परम भक्त दक्षिण भारत में ताम्रपर्णी, कृतमाला (बेंगी), पयस्विनी (पलर) कावेरी तथा महानदी के तटों पर उत्पन्न होंगे और ‘भविष्य-वक्ता’ की ‘भविष्यवाणी’ सच निकली। उपर्युक्त स्थानों में विभिन्न आलवारों का उदय हुआ जो अपनी भक्ति के लिए भारत के धार्मिक इतिहास में अमर हैं। आलवार वैष्णव भक्तों के इसी बाहुल्य को देखते हुए ही सम्भवतः ‘श्रीमद्भागवत माहात्म्य’ में स्पष्ट घोषणा की गई—

उत्पन्ना द्रविडे सांह वृद्धिं कर्णाटके गता।

वचित्त्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥

श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १, श्लोक ४८

द्रविड देश में भक्ति के उदय का प्रमाण ‘पद्मपुराण’ में भी प्राप्त होता है। अतः इन साहित्यिक

भक्ति नहीं) की उद्गम भूमि द्रविड़ ही है। पर यहाँ 'उत्पन्न' शब्द को एक विशेष अर्थ में लेना होगा। 'महाभारत' तथा अन्य पुराणों में भी धर्म के अनेक बार लोप होने और फिर उनके उदय की बात कही गई है। इसी विशेष अर्थ में ही यहाँ भक्ति की उत्पत्ति कही गई है।

दक्षिणी भक्ति-परम्परा का काल-निर्धारण—इस उद्गम की काल-सम्बन्धी समस्याओं की गहराई में बहुत अधिक न जाकर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के लगभग हो चुका था। डा० ताराचन्द्र की यह धारणा कि इस उद्गम के पीछे जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रभाव है, युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होती। पूर्वलिखित धर्मपरक साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त आभिलेखिक साक्ष्य भी दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के उद्भव की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। हाँ, विकास के रूपों पर जैन एवं बौद्ध धर्मों के ब्राह्मणधर्म-प्रभावित सम्प्रदायों का कुछ प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने भी चौथी शताब्दी तक, सुदूर दक्षिण तक, भक्ति का प्रचार दिखलाया है। तब उद्भव निश्चय ही कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ होगा और यदि इतना पीछे न भी खींचे तो भी काड्वेल महोदय की तिथि तेरहवीं शताब्दी या उसके पश्चात की तिथि को इस उद्भव की अवधि घोषित करना तो किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं है। दक्षिणी भक्ति की प्राचीनता एवं मौलिकता पर कुछ संदेह उत्पन्न करने की प्रेरणा एक अन्तर्साक्ष्य से प्राप्त होती है और वह है आलवार भक्तों का ही ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' जिसके एक पद में किसी भक्त ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने बौद्ध, जैन तथा शैवागमों का अध्ययन किया है। किन्तु अय्यंगर महोदय ने इस साक्ष्य को स्वीकार नहीं किया है। वे इसे केवल लाक्षणिक मानते हैं। सबसे बड़ा तर्क तो यह है कि 'प्रबन्धम्' का विचाराधीन पद किसी ऐसे परवर्ती भक्त की भी तो रचना हो सकती है जो पहले बौद्ध या जैन धर्म में दीक्षित हो चुका हो। सारांश यह कि दक्षिण भारत की भक्ति-परम्परा इसवी शती के कुछ ही आगे पीछे आरम्भ होती है अथवा किसी प्रकार इसे तीसरी शताब्दी तक लाया जा सकता है, पर इसके बाद नहीं। केवल आलवार भक्तों की अन्तिम तिथि को ही दक्षिण में वैष्णव भक्ति की उदय-तिथि मान लेना इतिहास के प्रति अन्याय करना होगा। आलवार भक्तों की परम्परा किसी पूर्ववर्ती लोक-चिन्तन-धारा की विकसित अवस्था के रूप में स्वीकार की जा सकती है और यह चिन्तन-धारा प्रथम शताब्दी ई० के लगभग की ही होगी।

यद्यपि दक्षिण भारत में उत्तर भारतीय पुण्यभित्र शुंग की भांति 'यो मे श्रमणस्सिरो दास्यति तस्याऽहं दीनार शतं दास्यामि' की घोषणा करने वाला कोई शासक नहीं हुआ तथापि चोल-नरेश कुलोत्तुंग जैसे दो एक असहिष्णु शासक दक्षिण भारत में भी हो चुके हैं जो शैव या वैष्णव सम्प्रदाय में से किसी एक को आवश्यकता से अधिक प्रश्रय देते थे और जिससे कभी-कभी तो घोर धार्मिक असहिष्णुता का सूत्रपात तक होने लगता था। किन्तु जैसा कि श्री कृष्ण स्वामी अय्यंगर ने लिखा है प्रारम्भिक शैव तथा वैष्णव भक्त एक दूसरे को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आलवार भक्तों ने शिव और विष्णु का एकीकरण करने की चेष्टा की थी पर शैवमत ने, जो विश्व-इतिहास में केवल अपनी प्राचीनता के लिए ही अद्वितीय स्थान रखता है, अपना एक सर्वथा पृथक् अस्तित्व बनाये रखा और अडियार शैव

भक्तों की जो परम्परा दक्षिण भारत में अति प्राचीन काल से चली आ रही थी वह अबाध गति से चलती रही।

आलवार भक्त—‘आलवार’ शब्द का साधारण अर्थ तमिल भाषा में पहले ऐसे सन्त से लिया जाता था जिसे आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी हो, किन्तु कालान्तर में केवल भागवत भक्ति में मग्न रहने वाले भक्तों को ही आलवार कहा जाने लगा। आलवार का अर्थ भी ‘मग्न’ माना जाता है। अपनी स्वाभाविक सरलता, मुदुलता और विनम्रता के लिए आलवार भक्त विख्यात थे। भगवान की भक्ति ही उनका सर्वस्व था। इन्हें किसी प्रकार की आवश्यकता कभी भी प्रतीत नहीं हुई थी और इन्होंने तदर्थ कोई चेष्टा भी नहीं की। स्वाभाविक भक्ति स्वभावतः उन्नतशील होती गई और आलवारों का ऐतिहासिक महत्व बढ़ता गया। आलवारों के पदों का सर्व प्रथम संग्रह ‘प्रबन्धम’ है, जिसका संकलन एवं सम्पादन नवीं शताब्दी में नाथमुनि ने किया था।

हिन्दी के भक्त कवियों पर दक्षिण के आचार्यों का प्रत्यक्ष प्रभाव चाहे जितना भी पड़ा हो पर यदि प्रवृत्ति एवं स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो आलवार भक्त कवियों की तन्मयता मधुरता, सरलता और हृदयस्पर्शिता हिन्दी-भक्त कवियों में ज्यों की ज्यों उतरी-सी लगती है; दोनों का जीवन और साहित्य समानान्तर है।

अतः यहाँ आलवार भक्तों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार पूर्वक अध्ययन कर लेना विषयान्तर होना न होगा।

इस अध्ययन के लिए बाह्य साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्य दोनों प्रकार के साधन उपलब्ध हैं। अन्तर्साक्ष्यों में स्वयं आलवार भक्तों के पद और भक्तों के पदों के टीका-ग्रन्थ आदि सम्मिलित हैं और बाह्य साक्ष्यों में अभिलेखों का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है जिनमें कुछ शिलालेख हैं और कुछ ताम्रपत्र। दक्षिण व सुदूर दक्षिण के इतिहास के अनेकानेक साधन आलवारों के सम्बन्ध में भी कुछ सूचना प्रदान करते हैं। अन्तर्साक्ष्यों में गुरु-परम्परायें विशेष उल्लेखनीय हैं जिनमें आलवारों की जीवन-घटनाएँ तथा अन्तिम तिथियाँ (जो अधिकांशतः अनैतिहासिक हैं) दी गई हैं। किन्तु ‘नालायिर दिव्य प्रबन्धम’ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। ‘यतीन्द्रप्रवण प्रभावम्’ तथा ‘प्रबन्धम्’ की अनेक टीकायें इस सम्बन्ध में अपना विशेष महत्व रखती हैं। ‘श्रीमद् भागवत’ की घोषणा का उल्लेख करते हुए कहा गया था कि भागवतकार ने ताम्रपर्णी, कृतमाल, पयस्विनी, कावेरी तथा महानदी के तटों पर विष्णु के परम भक्तों की अवतरणा उद्घोषित की थी—अर्थात् दूसरे शब्दों में, ‘श्री मद्भागवत’ में उक्त स्थानों को आलवार भक्तों की उद्गम-भूमि बताया गया है। इन आलवारों के तिथि-क्रम की समस्या कुछ टेढ़ी है। ऐसा कहा जाता है कि श्री रामानुजाचार्य ने अपने एक शिष्य पिल्लन को नम्म आलवार के सहस्र पदों पर टीका लिखने का आदेश दिया था। पिल्लन ने टीका के साथ-साथ संस्कृत में एक श्लोक में प्रायः सभी आलवारों की गणना करते हुए उनका क्रम निर्धारित करने की चेष्टा की थी। श्लोक में नाम-क्रम इस प्रकार है—

भूतं सरश्च महद्बन्धु भट्टनाथ—

श्री भक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहन ।

भक्ताडधिरेषु-परकाल-यतीन्द्र मिश्रान्

श्रीमत् पराङ्कुशमुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

(भूतम् वा भूतत्तार, सर वा प्यायगयी, महद् वा पे, भट्टनाथ वा विष्णु-चित्त, भवित-सार वा तिरुमलिसई, कुलशेखर, योगिवाहन वा तिरुपत्त, भक्ताङ्घ्रिरेणु, तोडर, डिप्पोड़ी, पर-काल वा तिरुमंगई, यतीन्द्र मिश्र वा मधुर कवि तथा पराङ्कुश मुनि।)

किन्तु इसे तिथि-क्रम के प्रमाण स्वरूप नहीं स्वीकार किया जा सकता कारण इसमें केवल ग्यारह आलवारों का ही उल्लेख किया गया है। 'प्रबन्धम्' के एक दूसरे सम्पादक ने भी भक्तों का क्रम प्रदर्शित करने की चेष्टा की है किन्तु उसमें ऐतिहासिक बारह आलवारों में से नम्म तथा मधुर कवि का उल्लेख ही नहीं किया गया है। इन अन्तर्साक्ष्यों में सर्वाधिक आपत्तिजनक बात तो यह है कि इनकी दी गई सूची में नाम तथा क्रम की दृष्टि से स्वयं अन्तर है। क्रम के अन्तर के सम्बन्ध में तो छन्दशास्त्र की दुहाई दी जा सकती है जिससे सम्पादक को अपने श्लोक में छन्द-रचना की दृष्टि से नामों को इधर-उधर कर देना पड़ा है, पर किसी-किसी नाम का पूर्ण लोप हो जाना कैसे सम्भव हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सम्भवतः कुछ विशेष उद्देश्य से ही सम्पादकों ने ऐसा किया होगा साहित्यिक साक्ष्यों पर ही एकमात्र आश्रित होकर इतिहासकारों ने, अन्त में, वेदान्त देशिकाचार्य की तालिका को स्वीकार कर लिया है। डा० भण्डारकर की स्वीकृति के पश्चात् तो यह तालिका और भी प्रामाणिक हो गई है, केवल कुछ ही विद्वान निम्न तालिका के क्रम को ठीक-ठीक इसी रूप में स्वीकार नहीं करते हैं—

| तमिल नाम | संस्कृत नाम | स्थान |
|--------------------------|-----------------------------|-------------------|
| १. पोयगै आलवार | सरोयोगिन् | पयस्विनी प्रदेश |
| २. भूतत्तालवार | भूतयोगिन् | " " |
| ३. पेआलवार | महद्योगिन् वा भ्रांति योगिन | " " |
| ४. तिरुमलिसई आलवार | भवितसार | " " |
| ५. नम्म आलवार | शठकोप | ताम्रपर्णी प्रदेश |
| ६. मधुर कवि आलवार | मधुर कवि | " " |
| ७. कुलशेखर आलवार | कुलशेखर | महानद प्रदेश |
| ८. पेरी आलवार | विष्णुचित्त | कृतमाल प्रदेश |
| ९. आंडाल आलवार | गोदा | " " |
| १०. तोडर डिप्पोड़ी आलवार | भक्ताङ्घ्रिरेणु | कावेरी प्रदेश |
| ११. तिरुप्पन आलवार | योगिवाहन | " " |
| १२. तिरुमंगई आलवार | परकाल | " " |

इनमें प्रथम चार प्राचीनतम हैं। उनके पश्चात् नम्म, मधुर, कुलशेखर, पेरी तथा आंडाल का युग आता है और सबसे अन्त में तोडर, तिरुप्पन तथा तिरुमंगई का स्थान है। अय्यंगर महोदय नम्म को अन्तिम आलवार भक्त मानते हैं।

तमिल-प्रदेश के ऐतिहासिक आलवारों में पोयगै (पोयगेय) आलवार, भूतत्तालवार तथा पे (पेय) आलवार प्राचीनतम हैं और कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार ये समसामयिक तथा परस्पर सुपरिचित भी हैं। जनश्रुतियाँ इन भक्तों की वैष्णवात्मक उत्पत्ति की कथाएँ

कहती हैं और इन्हें अवतारों से भी सम्बन्धित करती हैं। यथा, पोयेगै की उत्पत्ति कांचीनगर के एक विष्णु-मंदिर के निकट एक सरोवर में कमल-पुष्प पर हुई थी। इन्हें पाँचजन्य का अवतार माना जाता है। भूतत्तालवार भी, महाबलीपुरम् में पुष्प से प्रकट हुए थे और इन्हें विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है। इसी प्रकार अनुश्रुतियाँ पे आलवार को भी मैलापुर (मद्रास) में किसी कुएँ के एक लाल फूल से उत्पन्न बताती हैं और इन्हें भगवान के खड्ग का अवतार स्वीकार करती हैं।

इन भक्तों को समकालीन मानने के पक्षपाती इतिहासकार यह भी बताते हैं कि इन तीनों ने सौ-सौ पदों की रचना की थी। 'प्रबन्धम्' में वे तीन सौ पद 'तिरुव दादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इन तीनों भक्तों को एक ही कुटी में तिरुक्कोईलूर नामक स्थान में स्वयं भगवान विष्णु ने दर्शन दिया था। तभी इन तीनों भक्तों ने सौ-सौ पद रच डाले जो "ज्ञान प्रदीप" नाम से प्रसिद्ध है।

किंवदन्ति है कि दक्षिण भारत में तिरुमलिसई (महीसरपुर) नामक स्थान में भार्गव एवं कनकावली (दम्पति) के घर तिरुमलिसई का जन्म हुआ था और इसी पर इनका नामकरण भी हुआ। माता-पिता द्वारा सरकंडा के जंगल में फेंक दिये जाने पर स्वयं महालक्ष्मी ने इन्हें अपना दुग्धपान कराया था। तत्पश्चात् तिरुवाइन नामक व्याध तथा उसकी पत्नी पंक्ज-वल्ली ने इनका पालन-पोषण किया। यह लौकिक विश्वास जे० एस० एम० हूपर महोदय को मान्य नहीं और वे तिरुमलिसई का जन्म कैकसी ऋषि तथा किसी अप्सरा से हुआ बताते हैं। अपनी जाति के सम्बन्ध में तिरुमलिसई का वक्तव्य है, 'मेरा जन्म किसी द्विजाति कुल में नहीं हुआ था'। इनकी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वता को सभी स्वीकार करते हैं। इनके लगभग दो सौ पद प्राप्य हैं। नम्म को शठकोप या परांकुश नाम से भी जाना जाता है। इनके पिता कारिमारन पाण्ड्य-नरेश के उच्च पदाधिकारियों में से थे। नम्म का जन्म तिरुवेली जिले के ताम्रपर्णी नदी के तट पर तिरुकुल्लुर नामक गाँव में, ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके वाल्यकाल की भी आश्चर्यजनक कथाएँ, जिन्हें अलौकिक ही कहा जा सकता है, कही जाती हैं। कहते हैं ये सोलह वर्षों तक भगवान विष्णु द्वारा रक्षित इमली के कोटर में पड़े रहे। नम्म का जीवन केवल ३५ वर्षों का ही बताया जाता है पर इस अल्प अवधि में ही इन्होंने हजारों पदों की रचना कर ली। इनके ग्रन्थों को तमिल में बहुत ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। ये ग्रन्थ हैं—'तिरुवि-रुत्तम,' 'तिरुवाशिरियम', 'पेरिय तिरुवन्ताति', तथा 'तिरुवाय मोलि।' नम्म विष्वक्सेन (विष्णु के एक अनुचर) के अवतार माने जाते हैं।

श्री बलदेव जी उपाध्याय के शब्दों में "आलवारों के इतिहास में शठकोप आचार्य का नाम सर्वातिशायी तथा नितान्त महत्वपूर्ण है। इन्हें सर्व श्रेष्ठ माना जा सकता है।" मन्दिरों तथा धार्मिक उत्सवों में नम्म के पदों का गान ही बहुतायत से किया जाता है। नम्म की प्रशंसा में अनेक परवर्ती कवियों एवं भक्तों ने अनेक पदों की रचना की है। इनकी तिथि के सम्बन्ध में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं पर सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री कृष्ण स्वामी अय्यंगर ने इनका समय छठी शताब्दी स्वीकार किया है।

मधुर कवि भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे, जन्म-स्थान तिरुकोल्लूर बताया जाता है। किंवदन्ति है कि वेदाध्ययन के पश्चात् इन्होंने उत्तरी भारत की यात्रा आरम्भ की थी पर अयोध्या पहुँचते ही इन्हें दक्षिण दिशा की ओर एक दिव्यालोक-सा दिखाई पड़ा। तब वे उसी अलौकिक ज्योति के निर्देशन पर दक्षिण की ओर चलते रहे और अन्त में नम्म आलवार के पास उसी इमली के कोटर तक पहुँच गये। यहाँ नम्म की अद्वितीय प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। अपने गुरु की महिमा के गुण-गान में मधुर कवि ने अनेक मधुर पदों की रचना की है। नम्म की प्रसिद्धि के अनेक प्रमुख कारणों में से मधुर कवि भी एक हैं, जिन्होंने घर-घर उनके यश का प्रचार किया।

कुलशेखर केरल-नरेश दृढव्रत के पुत्र थे। अनेकानेक विद्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् जब इन्हें सिंहासनासीन किया गया तो कुलशेखर ने अपने राज्य को रामराज्य-सा बना दिया। इनकी रामभक्ति-सम्बन्धी अनेक कथाएँ कही जाती हैं। अन्त में इन्होंने राज-पद से मुक्ति ले ली और ये भगवत भक्ति में लीन हो गये। श्रीरंगम में वास करते हुए इन्होंने 'मुकुन्द माला' की रचना की जो वैष्णवों का प्रियतम ग्रन्थ बन गया। इनकी काव्यगत विशेषताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा सभी विद्वानों ने की है। 'प्रबन्धम्' में कुलशेखर के १०५ पदों का संग्रह किया गया है। डा० भण्डारकर ने इनका समय बारहवीं शताब्दी स्वीकार किया है, किन्तु अय्यंगर महोदय छठी शताब्दी में कुलशेखर का होना बताते हैं। इन्हें भगवान विष्णु के वक्ष-स्थल की कोस्तुभमणि का अवतार माना जाता है।

पेरि आलवार का जन्म तिरुनेवेली जिले के विल्लीपुतूर में हुआ था। माता-पिता का नाम क्रमशः पद्मा तथा मुकुन्दाचार्य था। पाण्ड्य नरेश बलदेव पर इनका बहुत अधिक प्रभाव था। इनकी 'तिरुमोलि' नामक पदावली वात्सल्य रस की अनुपम कृति है। तमिल-साहित्य में इनकी रचनाओं का अपना महत्व है। अय्यंगर महोदय ने इनका समय सातवीं शताब्दी बताया है। ये गरुड़ के अवतार माने जाते हैं।

किंवदन्ति है कि पेरि आलवार को एक बालिका पुष्प-पत्रों के बीच प्राप्त हुई थी। भगवान के आदेश से पेरि ने उसका लालन-पालन किया। यही बालिका आगे चलकर आंडाल नाम से विख्यात हुई। इसकी ख्याति का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आज भी दक्षिण के वैष्णव-मन्दिरों में श्रीरंगनाथ जी के साथ आंडाल के विवाह का शुभ उत्सव मनाया जाता है। भगवान की भक्ति में आंडाल हमारी मीरा की भाँति ही व्याकुल हो उठती थीं। इनके दो ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। १—तिरुप्पावै तथा २—ताच्चियार तिरुमोलि। काव्य की दृष्टि से ये काव्य-कृतियाँ साहित्य की निधि हैं। स्वयं श्री रामानुजाचार्य भी इनके तीस पदों की आवृत्ति करके मुग्ध हो जाया करते थे। आंडाल स्वयं को गोपी का अवतार मानती थीं।

तोडर डिप्पोड़ी या भक्तांगिरेणु का दूसरा नाम विप्र नारायण भी था। इनका जन्म एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। श्री रंग जी के मन्दिर में, जहाँ ये उपासना किया करते थे, देवदेवी नामक देवदासी पर आसम्बत हो जाने के फलस्वरूप कुछ दिनों तक ये धर्म-विमुख हो गये थे और यहाँ तक कि इन पर चोरी का अपराध भी लगा था पर जन-श्रुति

१६८ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

है कि स्वयं भगवान ने राजा को तोडर की निर्दोषिता का स्वप्न दिया और तब इन्हें कारागार के दण्ड से मुक्ति मिली। साथ ही सांसारिक प्रलोभनों से भी मुक्ति मिल गई और ये भगवान की उपासना पूर्ववत् करने लगे। 'प्रबन्धम्' में इनके कुछ ही पद संग्रहीत हैं। उनमें अन्य आलावारों-सा न तो माघुर्य ही है और न सौन्दर्य ही वरन् अन्य धर्मों के प्रति कटु भावना की व्यंजना मिलती है। इन्हें भगवान की वनमाला का अवतार माना जाता है।

तिरुप्पन आलवार सम्भवतः त्रिचनापल्ली जिले के उरैपर या वोरीडर नामक गाँव में एक धान के खेत में पड़े मिले थे। उन्हें एक तथाकथित अछूत जाति का व्यक्ति उठा लाया। शीघ्र ही वे बीणा-वादन में निपुण होकर केवल भगवान का नाम गाने लगे। श्री रंगम के मन्दिर में अस्पृश्यता के कारण उनका प्रवेश नहीं हो पा रहा था पर अन्त में स्वयं भगवान ने अपने सेवक सारंगमा मुनि को आदेश दिया कि तिरुप्पन को कन्धे पर उठा कर मेरे पास लाओ। वही हुआ, और तभी से तिरुप्पन को 'मुनिवाहन' भी कहा जाने लगा। इन्हें वत्स का अवतार माना जाता है।

तिरुमंगई आलवार चोल-देश में शैव परिवार में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने प्रारम्भ में सेनानायक का जीवन व्यतीत किया था। कुमुद वल्लभी से व्याह करने के लोभ में इन्होंने जितने अत्याचार और पापाचार किये हैं उस सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ये सुप्रसिद्ध शैवाचार्य श्री ज्ञान संबंध के समकालीन थे। इन्होंने ६ पद्य-ग्रन्थों की रचना की है जो तमिल भाषा के 'वेदांग' माने जाते हैं। नम्म आलवार के बाद रचना-वाहुल्य में इन्हीं का स्थान है। इनका समय आठवीं और नवीं शती के बीच माना जाता है।

जिन आलवार भक्तों का विवरण प्राप्त किया गया है उनमें से अधिकांश विद्वान् थे और उन्होंने वेदादि का अध्ययन किया था, पर उनमें बौद्धिक तत्त्व की अपेक्षा हृदय-तत्त्व की प्रधानता थी और वे भगवान के गुणगान में सारा ज्ञान-विज्ञान समर्पित कर देना चाहते थे।

यदि इनकी भक्ति-भावना की छान-बीन की जाय तो ज्ञात होगा कि भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में ये पूर्णतया 'गीता' तथा 'भागवत' से प्रभावित हैं। भगवान को ये सर्वस्व स्वीकार करते थे। उसे ही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता मानते थे। शरणागति या प्रपत्ति ही आलवारों की भक्ति की आधार-शिला थी और भगवद्कृपा पर ही आश्रित रह कर भगवान का नाम-स्मरण तथा ध्यान करना ही इन आलवारों के लिए भगवद्-प्राप्ति का एकमात्र साधन था। कुछ आलवारों ने राधा-भाव को भी अपनाया था। इनमें शठकोप का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पेरी आलवार ने बाल-गोपाल की उपासना वात्सल्य भाव से की थी। राधा-भाव की जो उपासना शठकोप ने दक्षिण में प्रचारित की थी वह आण्डाल द्वारा चरम सीमा पर पहुँचा दी गई जिसने श्री रंगनाथ जी को पति रूप में वरण किया था। विरहासक्ति की चरम अवस्था हमें आण्डाल से ही उपलब्ध होने लगती है और आत्म-

आचार्य

दक्षिण भारत में भक्ति की जो धारा आलवार भक्तों ने प्रवाहित की थी उसकी गति उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही थी और सारा दक्षिण भारत इससे सिंचित हो रहा था। सौभाग्यवश आलवार-युग के बाद ही वहाँ कुछ ऐसे मेधावी दार्शनिक भक्तों का उदय होता है जिन्होंने अब तक के भक्ति-आन्दोलन की छिट-पुट शक्ति को संगठित करने और 'मायावादी' या 'मिथ्यावादी' शंकर के बढ़ते हुए प्रभाव का अन्त करने में भगीरथ प्रयत्न किया। वैष्णव पुराणों की रचना ने सम्पूर्ण देश में भागवत धर्म का जो प्रचार कर दिया था उसकी स्थिति में शंकर के प्रचार ने कुछ अस्थिरता ला दी थी। यदि ठीक इसी अवसर पर इन आचार्यों का उदय नहीं हुआ होता तो इसमें भी सन्देह ही रहता कि भक्ति-आन्दोलन को मध्यकालीन समाज उसी रूप में अपनाता या नहीं, जिस रूप में उसने अपनाया है। इतना ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत दिनों तक देश के उत्तरी भाग से कुछ पृथकता रखने वाले दक्षिण भारत को भी उत्तर भारत के निकट सम्पर्क में लाने, दोनों की आध्यात्मिक मान्यताओं में सामञ्जस्य स्थापित करने तथा सम्पूर्ण भारत में भक्ति-आन्दोलन का व्यापक प्रचार एवं भक्ति की शास्त्रीय स्थापना करने की दृष्टि से भी इन आचार्यों का अपना पृथक महत्व है। भक्ति-आन्दोलन के इतिहास के तो ये आचार्य आलोक-स्तम्भ हैं। पांचरात्रों की भक्ति को प्रश्रय देने वाले ये आचार्य ही हैं।

यहाँ हम इन आचार्यों का अध्ययन संक्षेप में करेंगे। प्रारम्भ में इनकी संक्षिप्त जीवनी पर दृष्टिपात करेंगे तत्पश्चात् प्रस्थानत्रयी में से 'ब्रह्मसूत्र' की दार्शनिकता का अवलोकन करेंगे जिसका इन आचार्यों से अटूट सम्बन्ध है (उपनिषद और 'गीता' के सिद्धान्तों का अध्ययन प्रारम्भ में ही हो चुका है) और तब आचार्यों के मतों पर विचार किया जायेगा।

रंगनाथ मुनि—इन्हें ही आदि आचार्य कहा जा सकता है। इनका समय ८२४ ई० से ९२४ ई० तक माना जाता है और ये शठकोप की शिष्य-परम्परा में पड़ते हैं (शठकोप-मधुरकवि-परांकुश मुनि-नाथमनि।)

वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए इन्होंने दो कार्य किये थे—आलवार भक्तों के साहित्य का, जो तामिल वेद कहा जाता है, संकलन तथा नवीन संस्कृत ग्रन्थों की रचना। 'योग रहस्य' तथा 'न्यायतत्त्व' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें 'न्यायतत्त्व' तो विशिष्टाद्वैत का प्रथम मान्य ग्रन्थ है। रंगनाथ मुनि को इस सम्प्रदाय का आदि आचार्य माना जाता है।

यामुनाचार्य—ये नाथमुनि के प्रपौत्र थे। श्रीरंग की आचार्य गद्दी पर इनके पूर्व पुंडरीकाक्ष तथा राम मिश्र आरूढ़ हुए थे और इन दोनों आचार्यों ने वैष्णव धर्म के प्रचार में पर्याप्त योग दिया था, किन्तु अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों के कारण यामुनाचार्य का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ हैं—'गीतार्थ संग्रह', 'सिद्धित्रय', 'महापुरुषनिर्णय', 'श्री चतुःश्लोकी', 'आगम प्रामाण्य' तथा 'स्तोत्ररत्न'। अपने ग्रन्थों में वैष्णव भक्ति तथा पांचरात्रों के सिद्धान्तों का गूढ़ प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने भागवत धर्म की स्थापना में बहुत बड़ा योग

दिया था। भागवत सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने तथा शंकर-मत के खण्डन में आचार्य ने जो लगन दिखाई थी वह अद्वितीय है। भक्ति-भावना में आत्मसमर्पण को ही यहाँ सर्वोच्च स्थान दिया गया है। आचार्य ने इसी भावना के प्रचारार्थ 'स्तोत्ररत्न' की रचना की थी। इसका एक पद जिसे, पं० बलदेव जी उपाध्याय ने उद्धृत किया है, द्रष्टव्य है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी

न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।

अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं

त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥

रामानुजाचार्य तथा श्री सम्प्रदाय—भक्ति-भावना को एक सुसंगठित शास्त्रसम्मत साधना-पद्धति का रूप देने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न, दक्षिण भारत में, श्री रामानुजा-चार्य ने किया था। इनकी जीवन-सम्बन्धी-सूचनाएँ हमें अनेकानेक साहित्यिक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों से प्राप्त होती हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि इनका जन्म मद्रास के निकट तेरुकुदुर नामक ग्राम में सन् १०१६ ई० में हुआ था। पिता का नाम था केशवभट्ट तथा माता का नाम था कान्तिमती। कहा जाता है कि ये भी पहले शंकरानुयायी यादव प्रकाश की शिष्यता में गये थे किन्तु गुरु-शिष्य में मतभेद हो गया और तब इन्होंने वैष्णव आस्त्रों की ओर ध्यान दिया। शीघ्र ही इन्होंने यह अनुभव किया कि भक्ति की प्रबल एवं सुदृढ़ स्थापना के लिए कुछ ग्रन्थों का प्रणयन आवश्यक है। तदर्थ रामानुज ने अनेक प्रयत्न किये। यामुनाचार्य की मृत्यु के पश्चात् इन्हें वैष्णव मत की श्री रंगम की गद्दी का उत्तराधिकारी भी बनाया गया। रामानुजाचार्य का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि देखते-देखते दक्षिण भारत के कुछ भागों में प्राचीन आलवार भक्तों के युग का-सा वातावरण पुनः सृजित हो उठा। हमें ज्ञात है कि दक्षिण-भारत शैव और वैष्णव प्रतिस्पर्धा का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। श्री रामानुजाचार्य को भी इस द्वन्द्व में पिसना पड़ा और तत्कालीन शैव चोल-नरेश कुलोटुंग प्रथम ने वैष्णवों पर ऐसा अत्याचार किया कि आचार्य का श्री-रंगम में रहना कठिन हो गया और वे कर्नाटक चले आये जहाँ होयसल-नरेश के राज्य में इन्हें प्रश्रय मिला। यह घटना है सन् १०९५-९८ के बीच की जब आचार्य की अवस्था थी लगभग ८०-८१ वर्ष। आचार्य का प्रभाव पूर्व कर्नाटक के प्रदेशों पर ही अधिक स्थापित हुआ था। इनका देहावसान श्री रंगम में सन् ११३७ ई० में हुआ था।

प्रचार-कार्य—भक्ति-योग के प्रचार के निमित्त आचार्य ने दो प्रमुख कार्य किये—
१—साहित्य-सृजन तथा २—धर्म-यात्रा। साहित्य-सृजन के अन्तर्गत उनके वे ग्रन्थ आते हैं जिनका प्रणयन आचार्य ने शंकर के मायावाद के खण्डन तथा भक्ति की स्थापना के निमित्त किया था। इनमें टीकायें, भाष्य और मौलिक ग्रन्थ आदि हैं। इन्हीं ग्रन्थों पर श्री-वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्त अवलम्बित हैं। ये हैं—

१—वेदार्थ संग्रह जिसमें आचार्य ने शंकर तथा भेदाभेदवादी भास्कर मत का खण्डन किया है।

- २—'वेदांतसार'—यह 'ब्रह्मसूत्र' की लघ्वक्षरा टीका है।
- ३—'वेदांतदीप'—यह 'ब्रह्मसूत्र' की विस्तृत व्याख्या है।
- ४—'गीता भाष्य'—'गीता' का भाष्य।
- ५—'गद्य त्रय'—इसमें ईश्वर तथा प्रपत्ति की व्याख्या है।
- ६—'श्री भाष्य'—यह ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है और यह 'ब्रह्मसूत्र' पर सर्वाधिक सुन्दर भाष्य है।

निम्बार्काचार्य—सनक-सम्प्रदाय के संस्थापक निम्बार्काचार्य के समय के विषय में निश्चयपूर्वक हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। अधिकांश विद्वान इनका समय बारहवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। इनका जन्म बल्लारी जिले में निवापुर नगर में हुआ बताया जाता है और निम्बार्क मतावलम्बी इनकी जन्म-तिथि सन् १११४ ई० स्वीकार करते हैं। ये तेलंग ब्राह्मण थे। अब तक के सभी आचार्यों का कार्य-क्षेत्र दक्षिण भारत ही रहा पर निम्बार्क स्वामी ने उत्तर भारत को अपनी कार्य-भूमि बनाया और वृन्दावन में निवास करते हुए इन्होंने बारहवीं शताब्दी में, उत्तर भारत में, भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया था। राधा के प्रति प्रगाढ़ अनुराग ही सम्भवतः उन्हें वृन्दावन खींच लाया था।

कुछ विद्वान भेदाभेदवादी भास्कराचार्य तथा निम्बार्काचार्य को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु यह मत ठीक नहीं है। अपने मत की स्थापना के लिए आचार्य ने 'ब्रह्म-सूत्रों' पर भाष्य लिखा था जो 'वेदान्त पारिजात सौरभ' के नाम से प्रसिद्ध है तथा दूसरा ग्रन्थ है 'दशश्लोकी'। कुछ लोग 'सविशेष निर्विशेष श्री कृष्ण स्तवराज' नामक पांच श्लोकों वाले स्तोत्र-ग्रन्थ को भी निम्बार्काचार्य की ही रचना बताते हैं। डा० मण्डारकर ने इनकी निधन-तिथि ११७२ ई० स्वीकार की है। पूर्ववर्ती श्री तथा ब्रह्म सम्प्रदाय की अपेक्षा निम्बार्क का सनक सम्प्रदाय बहुत अधिक व्यापकत्व प्राप्त कर रहा था। राधा-कृष्ण की मधुर उपासना ही इसके प्रसार का मूल कारण है। जहाँ उक्त दो सम्प्रदाय अधिकांशतः दक्षिण भारत तक ही प्रचारित थे वहाँ सनक सम्प्रदाय लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रसारित हो गया, और ब्रजमण्डल तथा बंगाल तो इसका प्रमुख केन्द्र बन गया।

आचार्य आनन्द तीर्थ (मध्वाचार्य)—शंकर के अद्वैत के मूल पर कुठाराघात करने वाले आचार्यों में आचार्य आनन्दतीर्थ या मध्व का नाम सर्व प्रथम लिया जा सकता है। रामानुजाचार्य ने जो भी प्रयत्न मायावाद के उन्मूलन के निमित्त किये थे वे सफल होते हुए भी अभी मध्व की अपेक्षा रखते थे। भक्ति की पूर्ण स्थापना में पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रशंसनीय कार्यों को अभी भी एक ऐसे उन्नायक की आवश्यकता थी जो इस आन्दोलन को अत्यधिक स्फूर्ति प्रदान करता और वह आवश्यकता मध्वाचार्य के आविर्भाव से ही पूर्ण हुई। वास्तविकता तो यह है कि भक्त को पूर्ण द्वैत की एकान्त आवश्यकता है और उसकी स्थापना सर्वप्रथम मध्वाचार्य ने ही की थी। सिद्धान्त-निरूपण तथा प्रचार दोनों दृष्टियों से मध्वाचार्य की भक्ति-आन्दोलन में बहुत बड़ी देन है।

आचार्य की जीवनी का यथेष्ट विवरण हमें उनके ही शिष्य पण्डित त्रिविक्रम के पुत्र नारायण पण्डित के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'माध्व-विजय' तथा 'मणिमंजरी' से प्राप्त होता है। मध्वानुयायी आचार्य के जीवन की अलौकिक कथाओं को बड़ा महत्व देते हैं। इनके आविर्भाव-काल को भी वे पीछे धकेलते हैं और इस प्रकार इनका समय संवत् १०४० से १११९ तक बताते हैं। किन्तु इतिहासकारों में इनके समय के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। फिर भी अधिकांश विद्वान् ११९७ ई० के आस-पास इनका जन्म स्वीकार करते हैं। इन्हें अस्सी वर्ष की लम्बी आयु प्राप्त हुई थी। अल्पायु में ही 'पूर्ण प्रज्ञ' उपाधि प्राप्त कर और तब वेदान्त में पारंगत हो जाने पर 'आनन्द तीर्थ' कहला कर ये गुरु अच्युतपक्ष के साथ धार्मिक विजय के लिए निकले और इन्होंने दक्षिण भारत के अनेक अद्वैती आचार्यों को पराजित किया। शीघ्र ही मध्वाचार्य का यश सारे दक्षिण भारत में फैल गया। इन्होंने उत्तर भारत के अनेक तीर्थ-स्थानों की भी यात्रा की थी। इनकी इन यात्राओं ने द्वैतवाद के प्रचार में बहुत अधिक योग दिया।

आचार्य का महत्व उनके रचित सैतिस ग्रन्थों में से 'ब्रह्मसूत्र भाष्य', 'अनुभाष्य', 'दशोपनिषद् भाष्य', 'गीता-तात्पर्य-निर्णय', 'गीता भाष्य', 'अनुव्याख्यान', 'भागवत तात्पर्य निर्णय', 'महाभारत तात्पर्य निर्णय', 'उपाधि-खण्डन', 'मायावाद खण्डन', आदि ने भी बहुत अधिक बढ़ाया था। जहाँ इन्होंने द्वैत की सुदृढ़ स्थापना के लिए अनेक सिद्धान्तों की उद्भावना करके अपने मण्डनात्मक ग्रन्थों में उनका प्रतिपादन किया था वहीं विरोधी मतों के मूलोच्छेदन के लिए इन्होंने ठोस खण्डनात्मक ग्रन्थों का निर्माण भी किया था।

मध्वाचार्य द्वारा स्थापित ब्रह्मसम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या उत्तर भारत में कम है, पर दक्षिण भारत में कनाड़ी प्रदेश में इस मत के मानने वालों की संख्या बहुत अधिक है।

विष्णु स्वामी—वल्लभाचार्य का सम्बन्ध साम्प्रदायिक साक्ष्यों के आधार पर विष्णु स्वामी से है, अतः पहले हम विष्णुस्वामी का परिचय प्राप्त करेंगे।

इतिहासकारों के समक्ष विष्णुस्वामी एक समस्या बने हुए हैं। साम्प्रदायिक ग्रन्थों तथा किंवदन्तियों की छान-बीन करने का प्रयास अनेक इतिहासकारों ने किया है पर समस्या आज तक उलझी ही रह गई है। विष्णुस्वामी नामक चार आचार्य कहे जाते हैं—१. दक्षिण भारत के पाण्ड्य राज के राजगुरु देवेश्वर भट्ट के पुत्र जिन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त सूत्रों पर 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक भाष्य लिखा था और जिनके ७०० वैष्णव त्रिदण्डी सन्यासी उनके मत का प्रचार किया करते थे, २. कांचीनिवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी (८३०-ई०) जिन्होंने कांची में श्री राजगोपाल देव तथा द्वारिका में रणछोर तथा सप्त-नगरियों में से ६ नगरियों में विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की थीं। किंवदन्ती है कि इन्होंने ही 'श्रीकृष्ण कृष्णमृत' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी और लीलाशुक बिल्वमंगल इन्हीं के शिष्य थे, ३. वल्लभमतानुयायी वल्लभाचार्य की गुरु-परम्परा में भी एक विष्णुस्वामी हैं तथा ४. माध्वाचार्य तथा सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर का दूसरा नाम भी विष्णु-स्वामी था। इन चारों विष्णु-स्वामियों के समीकरण के लिए अब तक कोई ऐतिहासिक

प्रमाण नहीं उपलब्ध हो सका है पर वल्लभ सम्प्रदाय से हमारे विषय का सम्बन्ध होने के नाते और सम्प्रदाय में विष्णु स्वामी को प्राचीन आचार्य के रूप में मान्य होने के कारण हम विष्णु स्वामी का सम्बन्ध वल्लभ-मत से स्वीकार करते हैं; पर साध्यों के अभाव में इनकी निश्चित तिथि का निर्धारण कठिन है। सम्भवतः ये तेरहवीं शताब्दी में हुए होंगे।

वल्लभ सम्प्रदाय के विष्णु स्वामी के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि वे द्रविड़ देश के निवासी थे और उन्होंने वेद, उपनिषद्, स्मृतियों आदि का गहन अध्ययन किया था और इस प्रकार आचार्यत्व प्राप्त किया था। इन्होंने भक्ति-मार्ग के प्रचार का कार्य बहुत ही उत्साह से किया और भक्ति को मुक्ति से भी ऊँचा ठहराया। यह भी किंवदन्ति है कि विल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में वल्लभाचार्य को विष्णु स्वामी की शरण में जाने का उपदेश दिया था और यह भी कहा जाता है कि महाराष्ट्र के संत ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम आदि संत इन्हीं विष्णु स्वामी के मतानुयायी थे। महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय को भी विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का रूपान्तर कहा जाता है। इन्हीं किंवदन्तियों को नाभादास ने 'भक्त माल' में विष्णु स्वामी का परिचय देते हुए संग्रहीत किया है।^१

विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय देने वाला प्रमुख ग्रन्थ है 'सर्वज्ञसूक्त' जिस पर श्रीधर ने टीका लिखी है। इस मत में ईश्वर को सच्चिदानन्द स्वरूप स्वीकार करते हुए उसे जीव से पृथक् बताया गया है। माया ईश्वर के अधीन कही गई है। जीव अपनी अविद्या द्वारा आच्छादित है और इसीलिए क्लेशों का भण्डार बना हुआ है। ईश्वर और जीव का भेदवाला सिद्धान्त विष्णु-स्वामी मत को आंशिक रूप से द्वैतवाद के निकट ला देता है।

सम्प्रदाय में इनकी सगुणोपासना और विशेषतया मधुर कृष्णोपासना के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिससे हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वल्लभ मतानुयायी मधुरोपासना की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ही इस प्रकार की चेष्टा करते रहे और उन्होंने वल्लभाचार्य के पूर्व भी पीढ़ियों पहले, इस उपासना का सूत्रपात दखाना चाहा था।

वल्लभाचार्य—रुद्र सम्प्रदाय के संस्थापक वल्लभाचार्य का आविर्भाव भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा देने के अर्थ में अपना पृथक् महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पूर्ववर्ती आचार्यों के साध्य एवं साधन-तत्त्वों पर विचार करते समय हमें ज्ञात हुआ था कि निम्बार्क तथा मध्वाचार्य ने कृष्णोपासना को महत्व देते हुए उसमें राधा तत्व का समावेश बहुत पहले ही कर दिया था किन्तु वल्लभ ने अपनी कुछ नवीन उद्भावनाओं द्वारा इस तत्व को और भी शास्त्रोक्त बना दिया और साथ ही लोक-रुचि से भी समरसता स्थापित करने की व्यवस्था कर दी। हिन्दी-भक्ति-साहित्य की दृष्टि से तो वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा महत्व है। इनके राधावल्लभ या गोपीवल्लभ कृष्ण ही हिन्दी-कृष्ण-काव्य के नायक हैं।

आचार्य का जन्म सन् १४७९ ई० में हुआ था। पिता लक्ष्मण भट्ट तैलंग ब्राह्मण थे जो मूल निवासी तो आन्ध्र प्रदेश के थे किन्तु काशी में ही सपरिवार रहा करते थे। काशी में ही वल्लभाचार्य की शिक्षा हुई थी। इनकी कुशाग्र बुद्धि की प्रशंसा सब ने मुक्तकण्ठ

से की है। शंकराचार्य के अनुयायियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके तथा भारत के सभी प्रमुख तीर्थ-स्थानों का भ्रमण करके आचार्य ने भक्ति-आन्दोलन की गतिशील धारा को और भी तीव्रतर बना दिया था। विजयनगर राज्य में आयोजित धर्म-सम्मेलन में आचार्य को विरोधियों के विरुद्ध जो सफलता प्राप्त हुई थी और जिसके फलस्वरूप विजयनगर के शासक राजा कृष्णदेव राय ने आचार्य का जो 'कनकाभिषेक' किया था वह इतिहास-प्रसिद्ध है। वैसे तो आचार्य ने सम्पूर्ण भारत को ही अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया था किन्तु काशी, वृन्दावन तथा मथुरा इनके प्रमुख केन्द्र थे। इनका निधन १५३० ई० में काशी में हुआ था।

'अणुभाष्य', 'पूर्व मीमांसा भाष्य' 'तत्त्वदीप निबन्ध', 'सुवोधिनी', आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

'गुजरात, राजपूताना तथा मथुरा में इनके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक है।
दार्शनिक पक्ष

श्रुतिसम्मतता की समस्या पौराणिक युग से ही आरम्भ हो गई थी और जैसा कि हमें ज्ञात है, प्राचीन युग के अन्तिम चरण से ही ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को अब्राह्मण धर्मों के विरुद्ध अनेक दृष्टियों से श्रुति-स्मृति की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा करनी पड़ी थी। साथ ही, अन्य ब्राह्मण सम्प्रदायों पर अपनी प्रधानता स्थापित करने तथा इस प्रकार अपने सम्प्रदाय को समाज में ऊँचा स्थान प्रदान कराने के अभिप्राय से भी उन्हें श्रुतियों एवं स्मृतियों का सहारा लेना पड़ा था। किन्तु इस युग के भी पूर्व एक ऐसी जटिल समस्या उपस्थित हो चुकी थी जिसका समाधान अपेक्षित था और जिसके लिए, जैसा कि हमें ज्ञात है, पुराणकारों को सचेष्ट होना पड़ा था, ठीक उसी प्रकार जैसे उन्हें वर्णाश्रम धर्म एवं वेदों तथा स्मृतियों की स्थापना के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था। वह समस्या थी स्वयं प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों (उपनिषदों) का मत-वैभिन्य एवं परस्पर विरोधमूलक कथन; किन्तु सौभाग्यवश इस समस्या का सुन्दरतम निराकरण वादरायण जैसे उद्भट एवं मेधावी महापुरुष ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' में कर दिया था।^१ अतः परवर्ती उपपुराणकारों के समक्ष श्रुतियों की स्थापना की समस्या अवश्य बनी रही पर उन्हें श्रुतियों के पारस्परिक विरोधों के समन्वय के लिए कुछ नहीं करना था।

पर उपर्युक्त अवस्था बहुत अधिक दिनों तक न चल सकी। जिस युग में भक्ति-

१. रचना-अवधि की दृष्टि से इस सामग्री का अध्ययन हमें पुराणों के पहले या कम से कम उनके साथ करना चाहिए था क्योंकि यद्यपि इनकी प्राचीनतम तिथि भी पुराणों की भाँति ६ठीं शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक मानी जाती है और अधिक से अधिक कुछ लोग इस तिथि को ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक खींच लाते हैं, तथापि भक्ति-आन्दोलन के मध्यकालीन कर्णधारों द्वारा ही इसका सर्वाधिक उपयोग होने के कारण और इसी युग में इसका व्यावहारिक प्रयोग होने के नाते हम वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' का संक्षिप्त एवं आवश्यक अध्ययन इस स्थल पर ही कर रहे हैं।

आन्दोलन के अन्तिम पौराणिक विभूतियों द्वारा भगवान कृष्ण तथा राम के दिव्य एवं लीलामय रूप का प्रचार देश के एक छोर से दूसरे छोर तक किया जा रहा था और इस प्रकार जब एक ओर भगवान की महानता, कृपालुता, उदारता, उनके ऐश्वर्य आदि के साथ भक्त की लघुता, कार्पण्य, दासता आदि के भाव जन-जन में भरे जा रहे थे, जिससे वस्तुतः भक्त और भगवान में द्वैत की भावना घर करती जा रही थी, ठीक उसी समय भक्त और भगवान के बीच की इस प्रेमोत्पादक दूरी को घटा कर विश्वविख्यात स्वामी शंकराचार्य ने भक्तों से उनका कार्पण्य उनकी लघुदासता और अन्त में उनकी मधुर भावना छीन ली। फलतः एक ओर भक्त और भगवान की दूरी मिटती है और दूसरी ओर भक्ति के मूल तत्व दूर होते-से दिखाई पड़ने लगते हैं। यह समस्या सम्भवतः इतनी विकट न हुई होती और 'एकमेवाद्वितीय', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'सर्वं खल्विदं' 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', आदि की माया मायावाद को इतना अधिक प्रचारित न कर सकी होती तथा तर्कों द्वारा माया-मेघाच्छन्न वातावरण को भक्ति-प्रचारकों द्वारा स्वच्छ कर दिया गया होता, किन्तु कठिनाई तो यह थी कि शंकर श्रुति-वाक्यों को ही आधार मान कर चल रहे थे और वे 'श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्क रूप अभ्युपपात्ता' का सबल ओट लिये हुए थे। फलतः परवर्ती वैष्णव आचार्यों को भी श्रुति पर ही निर्भर करते हुए भक्तिमूलक तत्वों की स्थापना करनी पड़ी। मध्ययुग की श्रुतिसम्मतता के तीन आधार रहे—'उपनिषद्' 'गीता' तथा 'ब्रह्मसूत्र'।

यहाँ हम एक तथ्य की ओर संकेत कर देना चाहेंगे कि उपनिषदों के अर्थ में, जैसा कि हमने भक्ति के उदय पर विचार करते समय यथास्थान देखा था, आचार्यों ने बहुत अधिक खींचातानी की थी और लगभग यही खींचातानी आगे भी चलती रही है। सारे भाष्य वास्तव में अपने-अपने सम्प्रदाय के समर्थन या संरक्षण की दृष्टि से ही लिखे गये थे। हर भाष्यकार को टीका की अपेक्षा अपने मत की अधिक चिन्ता रही है। पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि उन्होंने कहीं भी अर्थ का अनर्थ किया हो। बात यह है कि उपनिषदों तथा 'गीता' की भाँति 'ब्रह्मसूत्र' में भी इस बात की पर्याप्त गुंजाइश थी कि भाष्यकार उसे द्वैत, अद्वैत, विविष्टा-द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि किसी भी पक्ष में ले जा सकते थे।

'प्रस्थानत्रयी' में भी 'ब्रह्मसूत्र' को बहुत अधिक महत्व दिया गया था। स्वयं शंकर ने भी इसे एक आधार बनाया था। पूर्व मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को वेदान्त सूत्रों के भाष्यों के इसी आधिक्य के कारण यदि हम 'भाष्य युग' कहें तो अनुचित न होगा। शंकर-पूर्व भी कुछ भाष्यकारों का उल्लेख शंकर तथा रामानुज के ग्रन्थों में मिलता है। उपवर्ष, बोधायन, द्रमिडाचार्य, टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, भर्तृहरि, प्रपंच, ब्रह्मानन्दी, ब्रह्म-दत्त, सुन्दर पाण्ड्य आदि का नामोल्लेख अनेकानेक ग्रन्थों में किया गया है जिन्होंने ब्रह्म-सूत्र, पर भाष्य लिखा था। किन्तु महत्वपूर्ण भाष्य शंकर एवं शंकरोपरान्त ही लिखे गये जिनसे मध्यकालीन अनेक सम्प्रदाय प्रभावित हुए थे। कुछ महत्वपूर्ण भाष्यकार, भाष्य एवं उनके मत की सूची आगे दी जा रही है—^१

१. तिथि निर्धारण की समस्या पर हमने यहाँ विचार नहीं किया है और सर्वमान्य मत को ही स्वीकार कर लिये है।

१७६ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

| भाष्यकार | समय (ई० सन्) | भाष्य | मत |
|----------------|--------------------|----------------------|--------------------|
| शंकर | ७८८-८२० ई० | शंकर भाष्य | अद्वैत |
| भास्कर | नवम-दशम शताब्दी | भास्कर भाष्य | औपाधिक भेदाभेद |
| रामानुज | १०१७-११३७ | श्री भाष्य | विशिष्टाद्वैत |
| निम्बार्क | ११६२ के आसपास | वेदान्त पारिजात सौरभ | स्वाभाविक भेदाभेद |
| मध्व | ११९७-१२७६ | पूर्णप्रज्ञ भाष्य | द्वैत |
| श्री कण्ठ | १३वीं शती का ओषांश | शैवभाष्य | शैवविशिष्टाद्वैत |
| श्रीपति | १४वीं शताब्दी | श्रीकरभाष्य | वीरशैव विशेषाद्वैत |
| वल्लभ | १४७९-१५३० | अणुभाष्य | शुद्धाद्वैत |
| विज्ञान भिक्षु | १७वीं शताब्दी | विज्ञानामृत भाष्य | अविभागाद्वैत |
| वलदेव | १८वीं शताब्दी | गोविन्द भाष्य | अचिन्त्य भेदाभेद |

इनके अतिरिक्त भी रामानन्द सम्प्रदाय के दो भाष्यों—‘आनन्द भाष्य’ तथा ‘जानकी भाष्य’ प्राप्य हैं।^१ आगे चलकर आर्य समाज के सिद्धान्तों को आधार मान कर आर्य मुनि ने ‘वेदान्त दर्शन भाष्य’ तथा हरप्रसाद वैदिक मुनि ने ‘वेदान्त सूत्र वैदिक वृत्ति’ की रचना की थी। हाल ही में पंचानन तर्क रत्न ने ‘शक्ति भाष्य’ तथा भागवदाचार्य ने ‘वैदिक भाष्य’ की रचना की है।

उपर्युक्त भाष्यकारों में रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ के नाम ही वैष्णव भाष्यकारों में प्रमुख हैं और इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों का (परवर्ती सम्प्रदायों का भी) निर्माण हुआ है। किन्तु इसके पूर्व कि हम इन आचार्यों के सिद्धान्तों का अध्ययन करें, हम ‘ब्रह्मसूत्र’ के सिद्धान्तों पर एक दृष्टि डालेंगे जिससे परवर्ती आचार्यों (भाष्यकारों) की ‘ब्रह्मसूत्र’ सम्मतता का ठीक-ठीक बोध हो सकेगा और साथ ही उनकी मौलिक उद्भावनाओं का भी मूल्यांकन हो सकेगा।

‘ब्रह्मसूत्र’ मीमांसा—‘ब्रह्मसूत्र’ के तत्व-मीमांसा भाग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ‘ब्रह्मकारणवाद’ तथा आचार-मीमांसा भाग का मुख्य विषय है ‘ब्रह्मपरत्ववाद’।

पहले हम तत्व-मीमांसा पर विचार करेंगे। ‘ब्रह्मकारणवाद’ ‘ब्रह्मसूत्र’ का प्रसिद्ध सिद्धान्त है और इसके अनुसार जगत् का मूल तत्व ब्रह्म है। ‘नाभाव उपलब्धे’ (२।२।२७) कह कर जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया गया और ‘जन्माद्यस्य यतः’ (१।१।२) द्वारा उसके जन्मादि का कारण ब्रह्म को बताया गया। ‘यावद् विकारं तु विभागो लोकवत्’ (२।३।७) से यह सिद्ध किया गया कि जागतिक पदार्थ ब्रह्म के विकार हैं और वे ब्रह्म से विभक्त हैं। ‘परिमाणावात्’ (१।४।२७) से जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना गया।

सृष्टि के कारण के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही अनेक मत-मतान्तर चले आ रहे थे और जैसा कि हमें ज्ञात है उपनिषदों ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला था।

१. ‘आनन्द भाष्य’ रामानन्द के नाम से प्रचलित है किन्तु बलभद्रदासजी ने रघुवीर दास वेदान्ती को इसका रचयिता स्वीकार किया है जो सत्य के काफी निकट ज्ञात होता है। द्रष्टव्य डा० भगवती प्रसाद सिंह, ‘रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय’, पृष्ठ २२-२३

इसे लेकर अनेक वादों का भी सृजन हो चुका था पर समस्या अन्त तक नहीं सुलझ पाई थी। सूत्रकार ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया पर असंदिग्ध सफलता उसे भी नहीं मिली और स्वयं वैष्णव आचार्यों में ही इस विषय पर मतभेद उपस्थित हो गया। प्रश्न यह था कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण है, केवल उपादान कारण है या दोनों है। इस तत्व का भक्ति से सीधा सम्बन्ध था और जैसा कि हम आगे देखेंगे, वैष्णव आचार्यों को इसीलिए कहीं-कहीं सूत्रकार से असहमत होना पड़ा है। सूत्रकार ने 'आत्मकृतेः' 'परिणामात्' तथा 'योनिश्च हि गीयते' (क्रमशः १।४।२६, २७ तथा २८) द्वारा यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, पर साथ ही उसने ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण भी स्वीकार किया है। 'अत्रा चराचर ग्रहणात्' (१।२।१९), 'अक्षरम्बरान्तधृते' (१।३।१९) तथा 'साच प्रशासनात्' (१।३।१०) द्वारा ब्रह्म-सम्बन्धी सूत्रों से उसे जगत् का निमित्त कारण स्वीकार करना सिद्ध होता है। दूसरी ओर उपर्युक्त सूत्रों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म किसी औपाधिक रूप से नहीं प्रत्युत स्वामाविक रूप से संकल्प करके जगत् की सृष्टि करता है—जगत् का निमित्त कारण बनता है। जहाँ तक ब्रह्म के निमित्त कारणत्व का प्रश्न है, इसमें तो कोई शंका नहीं उठ सकती क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, एक चेतन परतत्त्व है, सर्वज्ञ है और जगत् के कर्तृत्व में समर्थ है, किन्तु उसे ही जगत् का उपादान कारण कैसे स्वीकार किया जा सकता है? विभिन्न विकारपूर्ण चेतनाचेतनात्मक जगत् का उपादान कारण हो जाने पर तो ब्रह्म सांख्यमिमत 'प्रधान' के समान ही स्वरूपतः विकारशील हो जायेगा जिसे सूत्रकार मानने को प्रस्तुत नहीं। तब तो 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा.....' तथा 'यावद विकारं.....' में ही स्वतः विरोध हो जाता। तब 'नाभाव उपलब्धे' के स्थान पर 'जगन्मिथ्या' को स्वीकार कर लेना पड़ता और ऐसी स्थिति में सूत्रकार के ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व संदिग्ध हो जाता और दूसरी ओर वैष्णव आचार्यों की अनेक मान्यताएँ शिथिल पड़ जातीं। किन्तु सूत्रकार ने स्थिति सँभाल ली और 'अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसंसर्गसम' (२।१।८) तथा 'न तु दृष्टान्तभावात्' (२।१।९) द्वारा ब्रह्म को उपादान कारण होते हुए भी उसे जागतिक विकारों से मुक्त सिद्ध कर दिया, साथ ही कार्य-कारण के पूर्ण सालक्षण्य को भी अमान्य सिद्ध करते हुए 'नविलक्षणत्वादस्य तथा त्वंच शब्दात्' आदि (२।१।४-६) की घोषणा कर दी। हाँ, सूत्रकार ने भी सांख्य की भाँति अपने प्रकृति ब्रह्म को जगत्-रूप विकृति में परिणत होने के उद्देश्य से विकृत स्वीकार किया है। किन्तु इस विकृति का सम्बन्ध सत् से है न कि परतत्त्व से। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण यह सत् ही है जो कारणावस्था में प्रकृति-रूप है और कार्यावस्था में जगत्-रूप विकृति भी है। पर सूत्रकार ने 'अधिकं तु भेद निर्देशात्' (२।१।२२) श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्म को जीव से अधिक या अतिरिक्त तत्व भी सिद्ध किया। सत् के भी नियन्ता और नियम्य दो अंश किये गये जिसमें अन्तर्यामी नियन्ता अंश ही पर-तत्त्व या ब्रह्म है और नियम्य अंश के अन्तर्गत जीव तथा जड़-तत्व सम्मिलित हैं। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि परतत्त्व, जो जगत् के निमित्त कारणत्व में समर्थ है, सत् द्वारा उसका उपादान कारण भी हो जाता है। अतः सत् अर्थात् जीव-जड़-युक्त पर-तत्त्व जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

१७८ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

यहाँ नियन्ता तथा नियम्य अंश का पारस्परिक सम्बन्ध भी विचारणीय है। इसके लिए पहले हम दोनों के स्वरूप पर विचार करेंगे। सूत्रकार ने नियन्ता अंश परतत्व व नियम्य अंश जीव-जड़-आत्मक तत्व के स्वरूपतः परस्पर भिन्नत्व को स्वीकार किया है पर-तत्व को सूत्रकार ने ज्ञानानन्द स्वरूप कहते हुए उसे केवल आनन्द मात्र, नहीं माना है प्रत्युत उसे स्वाभाविक रूप से आनन्दमय कहा है। यह स्वरूपतः सत्य, नित्य एवं निर्विकार है। इसकी महानता श्रुति-सम्मत है। यह स्वरूपतः निराकार, 'अरूपवत्' (३।१।१४) है। सूत्रकार परतत्व के स्वरूप में तारतम्यात्मक व्यूह-भेद नहीं स्वीकार करता, अर्थात् वह मानने को प्रसन्न नहीं है कि जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादन कारण बनने, जीव-जड़-आत्मक रूपयुक्त होने तथा अन्तर्यमन करने की स्थितियों में भेद है और परतत्व की समरसता का अभाव है। हम आगे देखेंगे कि वैष्णव आचार्यों का तत्सम्बन्धी मत इससे कुछ भिन्न है और वे व्यूह-भेद को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार सूत्रानुसार परतत्व कोई विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न देव भी नहीं है जब कि भाष्यकारों ने इसे विशिष्ट देव स्वीकार किया है। विश्वरूप होते हुए भी परतत्व विश्वातीत है और जगत् में स्थित होते हुए भी वह जागतिक दोष रहित है। 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' (३।२।१८)। यही कर्मानुसार फल प्रदान करने वाला भी है। वही जीव का एकमात्र उपास्य और प्राप्य है।

जीव के सम्बन्ध में सूत्रकार की बहुत ही ऊँची धारणा है। वह उसे श्रुतियों के अनुसार नित्य स्वीकार करता है (नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः—२।३।१८)। वह 'कर्ता-शास्त्रार्थं व त्वात्' (२।३।३३) अर्थात् कर्ता है। पर उसकी कर्तृत्व शक्ति परतत्व के अधीन है। सूत्रकार का जीव आत्मा है अतः जीवात्मा भी परमात्मा के समान ज्ञान-गुण-युग है और यह ज्ञान-गुण भी औपाधिक न होकर स्वाभाविक है।

अब दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया जायेगा। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है, सूत्रकार दोनों में स्वरूपतः भिन्नत्व स्वीकार करता है। दोनों में नियन्तृ-नियम्य-भाव-सम्बन्ध है। जीव को परतत्व के अधीन माना गया है। उसके स्वरूप, स्थिति तथा प्रवृत्ति आदि को परतत्व का आद्यत स्वीकार किया गया है और और इस दृष्टि से उसे अंश की संज्ञा दी गई है। (अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापि दाशकित्वादिस्त्वमधीयत एके—२।३।४२)

सूत्रकार ने जीव-जड़-आत्मक सत् से सूक्ष्म आकाश की उत्पत्ति, पुनः सूक्ष्म वायु आदि के क्रम से सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति बताई है और तब इन्हीं सूक्ष्म भूतों के मिश्रण से महा-भूतों के स्वरूप की निष्पत्ति स्वीकार की है। ये महाभूत ही जगत् के भौतिक पदार्थ तथा शरीर के उपादान बनते हैं। सूत्रकार ने आकाश तथा वायु पर विस्तार में विचार किया है पर उसने भूतों के स्वरूप, गुण आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। इसी प्रकार जीवोपकरण पर भी सूत्रकार ने बहुत अधिक विचार नहीं किया है। उसने केवल इतना सूचित किया है कि मन को लेकर कुल ११ इन्द्रियाँ हैं और ये परिमाण में अणु हैं। उपनिषदों के अनुसार सूत्रकार ने इन्द्रियों के अधिष्ठाता अग्नि आदि को देव स्वीकार किया है।^१

१. ब्रह्मसूत्रों के अध्ययन की इस सामग्री के लिए हम डा० रामकृष्ण आचार्य के विशेष रूप से ऋणो हैं जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का

सूत्रकारों ने साधन-पक्ष पर जो मत व्यक्त किये हैं वे कुछ ही वैष्णव आचार्यों के लिए सर्वांशतः मान्य हैं। अधिकांश आचार्यों ने साम्प्रदायिक तत्त्वों को ही महत्व दिया है। सूत्रकार ने जीव की वर्तमान स्थिति को 'आवृत्ति' कहा है। यह बार-बार विभिन्न दुःख पूर्ण जीवन-मरण चक्र के अनुभव की स्थिति है और इससे मुक्ति ही 'अनावृत्ति' है। यह अनावृत्ति ही जीव का परम निःश्रेयस है और यही ब्रह्म-जिज्ञासा का उद्देश्य है। ब्रह्मज्ञान ही वह साधन है जिससे अनावृत्ति सम्भव है। ब्रह्म-विद्या को पुरुषार्थ की प्राप्ति का एक स्वतंत्र साधन स्वीकार करते हुए भी सूत्रकार ने कर्म को एक सहकारी साधन के रूप में स्वीकार किया है; किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि सूत्रकार ने ब्रह्मविद्या को अनावृत्ति का कर्म-निर्पेक्ष स्वतंत्र साधन होना नहीं माना है।

मुक्तावस्था में सूत्रकार ने जीव की सत्यसंकल्पत्वादिगुण विशिष्ट होना स्वीकार किया है, अतः वह किसी के परतंत्र नहीं रहता, पर तब भी जीवात्मा तथा परमात्मा में गुणसाम्य नहीं हो जाता और 'परम साम्य' होते हुए भी उसे जगत्-व्यापार का अधिकार नहीं प्राप्त होता (जगद्व्यापारवर्जम् ४।४।१७)। परम पुरुष के साथ जीवात्मा का केवल 'भोग मात्र साम्य लिंगच्च' (४।४।२१) प्राप्त है। उसे विग्रह या अविग्रह दोनों रूपों में स्वेच्छापूर्वक रहने का अधिकार रहता है। जीव को कर्ता कहते हुए सूत्रकार ने यह बताया है कि उसकी वर्तमान दशा का कारण उसका कर्म ही है। उसके इष्टादि तथा अनिष्टादि कर्मों से ही सुकृत तथा दुष्कृत द्विविध संस्कार बनते हैं। परम निःश्रेयस के बाधक कर्मों का क्षय एक मात्र ब्रह्म-विद्या द्वारा ही होता है। पर इसके लिए परतत्त्व की सम्पत्ति आवश्यक है जिसके बिना आवृत्ति से अनावृत्ति की स्थिति तक पहुँचना संभव नहीं।

अब हम मध्यकालीन विभिन्न वैष्णव वादों का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में करेंगे। विशिष्टाद्वैतवाद

शंकर के बाद रामानुज का नाम ही उल्लेखनीय भाष्यकारों में प्रथम महत्वपूर्ण नाम है। वैष्णव धर्म के मध्यकालीन आन्दोलन के भी ये प्रथम उन्नायक हैं। विशिष्टाद्वैत के संस्थापक रामानुज का मत, जैसा कि हम देखेंगे, पूर्णतया सूत्रानुकूल है।

साध्य पक्ष—रामानुज ने तीन पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार किया है—(१) चित् (२) अचित् तथा (३) ईश्वर। चित् भोक्ता जीव है, अचित् भोग्य जगत् और ईश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है। नित्य तीनों ही हैं। पर चित् और अचित् स्वतः स्वतंत्र होते हुए भी ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर इन दोनों में विद्यमान है अतः चित् और अचित् ईश्वर के शरीर और प्रकार माने गये हैं।

चित्—जीव को चित् संज्ञा दी गई है। जीव शरीर मन, प्राण, बुद्धि आदि से पूर्णतया विलक्षण पदार्थ है। वह आनन्द स्वरूप नित्य अव्यक्त अणु, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है।

जीव अपने समस्त कार्यों के लिए ईश्वर पर आश्रित है। यही उसका गुण है जिसे 'शेषत्व' अर्थात् अधीनत्व कहते हैं और ईश्वर कहलाता है 'शेषी'। दोनों में देह-देही का सम्बन्ध है। इसे स्फुलिंग तथा अग्नि के सम्बन्ध से भी व्यक्त किया गया है। इस चित्त को आचार्य

ने ब्रह्म का अंश माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य का जीव-सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्णतया सूत्रानुकूल है।

यहाँ यह देख लेना आवश्यक होगा कि स्वामी शंकराचार्य के मायावाद और अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से उपर्युक्त सिद्धान्त कितनी भिन्नता रखता है, कारण इस भिन्नता पर ही भक्ति की नींव पड़ती है। शंकर ने, जैसा कि हमें ज्ञात है, जीव और ब्रह्म की एकता प्रमाणित की है और उसे ब्रह्म का ही आभास अथवा प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में वे जीव को भी ब्रह्म के समान नित्य, स्वतंत्र तथा स्वप्रकाश स्वीकार करते हैं। रामानुज ने शंकर के इस मत का खंडन किया है। वे जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हुए, दोनों में विम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध न मानकर अंश-अंशी का सम्बन्ध (स्फुलिंग तथा अग्नि का सम्बन्ध) मानते हैं। जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि से निकलती है उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निर्गत होता है ऐसी अवस्था में जीव और ब्रह्म एक कैसे हो सकते हैं। साथ ही रामानुज ने जीव को अणु (क्षूद्र) कहा है और उसके विपरीत ब्रह्म को विभु (महान) बताया है। जीव एक अल्पज्ञ और अल्प शक्ति-युक्त पदार्थ है जबकि ब्रह्म है सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान। दोनों में महान अन्तर है। दोनों की एकता किसी प्रकार सम्भव ही नहीं सकती। यह मत भक्तों के लिए प्रथम प्रेरक तत्व था।

जब तक जीव ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रखता तब तक भक्त को ब्रह्म की भक्ति की प्रेरणा ही नहीं मिलेगी। तब तो वह केवल ज्ञान द्वारा ब्रह्म की खोज में लीन हो जायेगा। इतना ही नहीं, जब तक जीव स्वयं को लघु और ईश्वर को महान नहीं स्वीकार करता है तब तक भक्ति का सम्बल ही नहीं प्राप्त होगा।

अचित्—अचित् अर्थात् जगत् को रामानुज ने ज्ञानशून्य तथा विकारस्पद बताया है। अचित् के तीन भेद किये गये हैं—

(१) शुद्ध सत्त्व (२) मिश्र सत्त्व तथा (३) सत्त्व शून्य।

शुद्ध सत्त्व वह नित्य ज्ञानानन्द-जनक तथा तेजोरूप द्रव्य है जिससे नित्य तथा मुक्त पुरुषों के शरीर एवं उनके भोग्य स्थान स्वर्गादि की रचना होती है। भगवान् के व्यूह-रूप इसी शुद्ध सत्त्व से ही बने हैं।

मिश्र सत्त्व प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है और इसमें रज तथा तम मिश्रित है। इसे ही माया, अविद्या या प्रकृति कहते हैं।

सत्त्व शून्य 'काल' को कहा गया है।

यहाँ शंकर के मत से इसकी भिन्नता द्रष्टव्य है। शंकर ने तो दृश्यमान जगत् को मिथ्या एवं मायामय घोषित कर दिया था और माया को ब्रह्म की शक्ति कह कर उसे अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ बताया था, किन्तु अचित् या जगत् रामानुजाचार्य के यहाँ न तो मिथ्या ही है और न वह अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ ही है। आचार्य ने शंकर के इस मायावाद का खण्डन बड़े ही प्रभावोत्पादक और साथ ही प्रामाणिक ढंग से (उसी ढंग और साधन से, जिसका आश्रय स्वयं शंकराचार्य ने लिया था) किया है। उनका कथन है कि जब जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है तो वह मिथ्या कैसे हो सकता है और वह केवल मायामय हो जाने से ही तो मिथ्या नहीं हो जायेगा। माया जब ब्रह्म की शक्ति है, तो उसका आश्रय ब्रह्म ही है। तब भला माया अनिर्वचनीय तुच्छ

पदार्थ कैसे हुई। शंकर ने जगत् मिथ्या की जो आवाज ऊंची उठाई थी और उसे मायामय होने की जो घोषणा की थी उसका प्रभाव भक्ति के विरोध में पड़ता था। सर्वसाधारण इस जगत् को मिथ्या मान कर ही चुप नहीं बैठता। वह तब शास्वत मानव-धर्मों एवं मानवी गुणों से भी विमुख होने लगता, कारण उसे इस संसार के मायामय होने का रहस्य ज्ञात हो गया था। रामानुजाचार्य ने अचित् (जगत्) को ठीक शंकर के विरुद्ध प्रदर्शित एवं प्रमाणित करके स्थिति संभाल ली। निश्चय ही रामानुज का यह जगदास्तित्ववाद सूत्रानुकूल है।

ईश्वर-ईश्वर चित् और अचित् का नियमन-कर्त्ता तथा उन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला है। यह समस्त जगत् का निमित्त कारण होते हुए भी उपादान कारण है। नियामक होने से ही ईश्वर को विशेष्य और नियम्य होने से चित् और अचित् को विशेषण कहा गया है। सृष्टि और संहति ईश्वर की लीला है। अवान्तर होते हुए भी यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि ईश्वर की लीला के सम्बन्ध में 'पद्मपुराण' की स्वरूप-लीला का इस पर काफी प्रभाव है। यामुनाचार्य ने श्री सम्प्रदाय में लक्ष्मी को आलम्ब करके लीला का जो स्वरूप व्यक्त किया है वह परवर्ती साधकों को निरन्तर प्रेरणा देता रहा। उन्होंने मुग्ध के साथ विदग्ध-लीला का भी उल्लेख किया है।

अब हम पुनः अपने पूर्व विषय पर आते हैं। प्रश्न उठता है कि जब चित् तथा अचित् को नित्य कहा गया है तब ऐसी अवस्था में सृष्टि तथा संहति का क्या अर्थ हुआ। वस्तुस्थिति यह है कि ईश्वर के दो प्रकार हैं—१. कारणावस्थ ब्रह्म तथा २. कार्यावस्थ ब्रह्म। सृष्टि-काल में जिस अचित् को हम स्थूल रूप से देखते हैं, वही संहति (प्रलय) काल में सूक्ष्मरूप में अवस्थान कर जाता है। ईश्वर और चित् अचित् का सम्बन्ध 'अपृथक् सिद्ध' है। अतः यह सम्बन्ध प्रलय दशा में भी रहेगा। प्रलय-काल में सूक्ष्म रूपापन्न जीव-जगत्-सम्बन्धी ईश्वर-सूक्ष्म चिद्चिद्-विशिष्ट ईश्वर 'कारण ब्रह्म' कहा जाता है। सृष्टि-काल में स्थूलचिद्चिद्-विशिष्ट ईश्वर 'कार्य ब्रह्म' कहलाता है। गुण (सगुण-निर्गुण) के सम्बन्ध में रामानुज का मत यह है कि कोई पदार्थ निर्गुण नहीं है। ईश्वर भी निर्गुण नहीं है। श्रुति का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से यह है कि ब्रह्म में हेय प्राकृतिक गुण नहीं हैं। अतः ईश्वर सगुण है और उसके स्वगत गुण हैं। वह कल्याण-गुण-गुणाकार, अनन्त ज्ञानानन्द-स्वरूप, ज्ञानशक्ति आदि गुणों से युक्त है। उपनिषदों ने इसी सगुण ब्रह्म की स्थापना की है। रामानुज ने ईश्वर के सजातीय-विजातीय भेद नहीं बताये हैं, पर उसे स्वगत भेद से भी शून्य नहीं कहा है, कारण चित् और अचित् ईश्वर के शरीर हैं जिनमें चित् अंश, अचित् अंश से भिन्न है। इस प्रकार ईश्वर के स्वगत भेद हैं।

ईश्वर तथा चित्-अचित् के पारस्परिक सम्बन्ध को रामानुज ने इस प्रकार प्रकाशित किया है—ईश्वर तथा चित्-अचित् (जीव-जगत्) का सम्बन्ध 'अपृथक्' सिद्ध है। यह पूर्णतया आंतरिक सम्बन्ध है। उन्होंने ईश्वर तथा जीव-जगत् के बीच वही सम्बन्ध बताया है जो आत्मा तथा शरीर के बीच है अर्थात् जिस प्रकार आत्मा शरीर का आश्रय, नियमन-कर्त्ता तथा उसे कार्य में प्रवृत्त कराने वाली है, उसी प्रकार ईश्वर भी चित्-अचित् का आश्रय, नियमन-कर्त्ता तथा उसे कार्य में प्रवृत्त कराने वाला है। ईश्वर नियामक है अतः वह 'विशेष्य' हुआ, चित्-अचित्

नियम्य है, अतः वह 'विशेषण' है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'विशेषण' का धारण करने वाला 'विशेष्य' ही है। इस 'विशेष्य' की पृथक् सत्ता तो सिद्ध है पर 'विशेषण' सदा 'विशेष्य' के साथ सम्बन्ध है, अतः उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। इस प्रकार चित्, अचित् और ईश्वर, इन त्रिविध पदार्थों को स्वीकार करते हुए भी रामानुज अद्वैत को मानते हैं। विशिष्टता यह है कि वे इन त्रिविध तत्त्वों का विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध (अंगांगी सम्बन्ध) स्वीकार करते हैं और विशेषणों से युक्त विशेष्य की एकता स्थापित करते हैं। इसीलिए इनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। रामानुज का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद तो पूर्णतया सूत्रानुकूल है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भी रामानुज सूत्रकार से सहमत हैं। किन्तु जहाँ वे ब्रह्म के व्यूह-भेद की बात करते हैं, वहाँ उनका सूत्रकार से मत-वैभिन्य है क्योंकि सूत्रों में किसी प्रकार का व्यूह-भेद नहीं स्वीकार किया गया है। यद्यपि रामानुज ने ईश्वर तथा चित्-अचित् का 'अपृथक् सिद्ध' सम्बन्ध माना है और सूत्रकार ने दोनों में 'स्वरूपतः परस्पर भिन्नत्व' की बात कही है, तथापि जीव तथा परमतत्त्व के सम्बन्धों का स्वरूप रामानुज ने सूत्रकार के अनुसार ही निर्धारित किया है और उनका नियन्तृ-नियम्य-भाव पूर्णतया सूत्रानुकूल है। ईश्वर के चित् अंश तथा अचित् अंश में रामानुज ने भिन्नता स्वीकार की है और इस प्रकार ईश्वर के स्वगत भेद को स्वीकार किया है।

अब शंकराचार्य से ब्रह्म के सम्बन्ध में रामानुज का वैभिन्य द्रष्टव्य है। शंकर ने ब्रह्म को श्रुतियों के 'एकमेवाद्वितीय' के आधार पर एक, अखण्ड तथा अद्वितीय सिद्ध किया था और ऐसी अवस्था में उसे स्वजातीय, विजातीय तथा स्वगत आदि त्रिविध भेदों से परे माना था, किन्तु रामानुज ने इसे स्वजातीय-विजातीय भेदों से रहित मानते हुए भी स्वगत भेदों से युक्त माना है और वह स्वगत भेद हैं चित् और अचित्। ब्रह्म के गुण के सम्बन्ध में भी दोनों में बड़ा मत-भेद है। शंकर ने निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया था, किन्तु रामानुज ने उन्हीं श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म को सगुण सिद्ध किया। ज्ञान, आनन्द, दया आदि सद्गुणों से युक्त ब्रह्म निर्गुण कैसे हो सकता है, हाँ हेय प्राकृतिक गुणों से हीन होने के अर्थ में वह निर्गुण है। यहाँ भी रामानुज सूत्रकार के मत को मानते हुए चलते हैं। सूत्रकार ने परतत्त्व को ज्ञानानन्द-गुण-युक्त स्वीकार किया था और इसी आधार पर रामानुज ने ज्ञान, आनन्द आदि गुणों से युक्त ब्रह्म का निर्गुण होना असम्भव बताया है। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध पहले ही देखा जा चुका है। इस प्रकार भक्ति की स्थापना के जो प्रयत्न आलवार भक्तों तथा रंगनाथ मुनि, यामुन मुनि आदि आचार्यों ने किये थे उनको और अधिक सुदृढ़ और शास्त्रानुमोदित करने का प्रथम सफल प्रयास रामानुजाचार्य ने ही किया था। शंकराचार्य ने श्रुतियों का प्रमाण या आश्रय लेकर ही अद्वैत की स्थापना की थी, अतः रामानुजाचार्य ने भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्हीं साधनों को अपने मत के समर्थन में अपनाया—हाँ, व्याख्या अपने ढंग से अवश्य की। ब्रह्म के सगुण रूप की स्थापना करके, साथ ही अद्वैत की भी मान्यता बनाये हुए, रामानुज ने सगुणोपासकों के लिए सगुण ब्रह्म के अवतारों की बात संहिताओं के आधार पर ही कही। भक्तों पर अनुग्रह करने के अभिप्राय से सगुण ब्रह्म पाँच रूप धारण करता है। ये पाँच रूप हैं—१. पर, २. व्यूह, ३. विभव, ४. अन्तर्यामी तथा ५. अर्चावतार। ईश्वर का परब्रह्म स्वरूप, जिसे नारायण या वासुदेव भी कहते हैं, अनेक प्रकार की विलास-सामग्रियों से सुसज्जित बैकुण्ठ में रहता है। नारायण शेष-

नाग पर विराजमान हैं तथा श्री, भू, लीला आदि से सेवित हैं और शंख, चक्र, गदा तथा पद्म को चारों हस्त-कमलों में धारण किये हुए हैं। वहाँ अनन्त, गरुड़-विश्वक्सेन आदि मुक्त आत्माएँ उनके साथ विहार करती हैं। इस परब्रह्म ने पूजा तथा सृजनार्थ वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध नामक चार रूप धारण किये हैं जिन्हें ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। विभव-रूप दस अवतारों से सम्बन्धित है। अन्तर्यामी रूप योगियों के मानस में प्रवेश करता है और वह घट-घट में वास करता है। अर्चावह रूप है जो उपासकों द्वारा मूर्तियों में ब्रह्म के प्रतिरूप में कल्पित है। जैसा कि हमें ज्ञात है, आचार्य का यह मत सूत्रानुकूल नहीं है, पर आचार्य को भक्तों के लिए इसकी व्याख्या करनी थी और शंकरद्वारा प्रतिपादित मत का भक्ति के लिए खण्डन करना था। जगत् को नित्य बताकर या दूसरे शब्दों में सत्य प्रमाणित करके और साथ ही, जीव और ब्रह्म में विशिष्टाद्वैत स्थापित करके उसे अंश-अंशी बताकर रामानुज ने ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता की जो स्थापना की उससे भक्तों को भगवान के प्रति अनेकानेक प्रकार के सम्बन्धों—(दास्य, सख्य आदि सम्बन्धों) की प्रतीति का अवसर प्राप्त हुआ। जीव और ब्रह्म के बीच अनुरक्ति का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विरह की स्थिति आवश्यक है। शंकर ने, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो ऐसी अवस्था उत्पन्न कर दी थी, जिसमें जीव और ब्रह्म का कोई अलगाव ही नहीं रह गया था, न संसारी दशा में और न मुक्त दशा में। वहाँ तो वह या तो ब्रह्म का ही आभास अथवा प्रतिविम्ब है या फिर बुद्धि-रूपी उपाधि के नष्ट हो जाने पर मुक्ति की अवस्था में उसका ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। किन्तु रामानुज ने यह सिद्ध किया कि ब्रह्म ब्रह्म ही है और जीव सदा जीव है। संसारी दशा में जिस प्रकार वह ब्रह्म से पृथक् है, मुक्त दशा में भी वह पृथक् ही रहता है, हाँ तब वह ब्रह्मानन्द का आनुभव अवश्य करता रहेगा। इस पृथक्त्व द्वारा जो अनुभूति होती है उससे भक्ति में तीव्रता आ जाना स्वाभाविक है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि शंकर ने 'तत्त्वमसि' के आधार पर मुक्तिलाभ का जो एकमात्र साधन ज्ञान घोषित किया था उसके खण्डन के निमित्त रामानुज ने 'तत्त्वमसि' की भिन्न व्याख्या की। उन्होंने 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य 'तस्य त्वम् असि' (दासः), तू उनका सेवक है बताया और तब भक्ति ही एकमात्र वह साधन रह जाता है जिससे मुक्ति सम्भव है। 'अहं ब्रह्मास्मि' को भी उन्होंने अपने ढंग से चित्रित करते हुए इसे साधक के उत्साह-वर्धन से सम्बन्धित सिद्ध किया है। एक दूसरा महत्वपूर्ण उद्योग था अधिकारी का विवेचन। शंकर ने तो यह स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' अर्थात् नित्य एवं अनित्य वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकारी हो सकता था, अन्य इससे वंचित थे किन्तु रामानुज ने इस सीमा में पर्याप्त विस्तार किया और उन्होंने यह बताया कि नित्यानित्य का ज्ञान तो ब्रह्म-ज्ञान के अनन्तर की घटना है, ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकारी होने के लिए कर्म तथा कर्मफल की अनित्यता को ही जान लेना पर्याप्त है।

साधन-पक्ष—उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के साध्य पक्ष का था, अब हम साधन-पक्ष का अध्ययन करते हैं।

रामानुज ने मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति को ही प्रमाणित किया है। भक्ति की स्थिति उनके मत में इस प्रकार है—

१८४ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

जीव तथा भगवान् का 'शेषशेषीभाव' (दास-स्वामी भाव) है। ऐसी दशा में जीव का परम कर्तव्य है भगवान तथा भगवद्-भक्तों की सेवा अहेतुक भाव से एक निष्ठ होकर करना। किन्तु भगवान की प्राप्ति के लिए उनकी कृपा आवश्यक है और इस कृपा का साधन है 'प्रपत्ति' या शरणागति-भाव। इस भाव से भी महत्वपूर्ण वस्तु है श्री या लक्ष्मी की अनुकम्पा। बिना उनकी मध्यस्थता के भगवद् कृपा सम्भव नहीं। श्री सम्प्रदाय नामकरण स्वयं इसका प्रमाण है कि रामानुज-मत में श्री या लक्ष्मी का बहुत बड़ा महत्व है। जिस प्रकार बालक और पिता के बीच माता की उपस्थिति हर कृपा एवं क्षमा-दान के लिए लौकिक व्यवहार में आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भक्त एवं भगवान के बीच श्री का महत्व है। फिर गुरु भी आवश्यक है। बिना गुरु के भक्ति-सम्बन्धी आवश्यक गुणों की उपलब्धि ही सम्भव नहीं है। रामानुज ने कर्म तथा ज्ञान को भी स्थान दिया है। कर्म द्वारा पहले हृदय शुद्ध होता है और तब वह ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। ज्ञान-योग से ही जीव प्रकृति का अनुभव प्राप्त करता है और तब इस अनुभव द्वारा जीव स्वयं को प्रकृति से पृथक् समझने लगता है। जीव का यह आत्मज्ञान ही उसे भगवद्-भक्ति की ओर ले जाता है। भक्ति-योग की प्राप्ति के लिए रामानुज ने निम्नलिखित सात साधन बताये हैं—

१. पवित्र भोजन द्वारा शरीर की शुद्धि, २. सदाचार, ३. अनवरत अम्यास, ४. पंचमहायज्ञों का सम्पादन, ५. सत्य, दया, अहिंसा, ६. आशावादिता तथा ७. अहंकार का परित्याग।

श्री सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शूद्रों को भी भक्ति का द्वार खुला मिला।

रामानुज की भक्ति में विशेष द्रष्टव्य वस्तु यह है कि इसमें विष्णु तथा नारायण नामों की ही प्रधानता है। यद्यपि व्यूहों के साथ वासुदेव का उल्लेख किया गया है पर राम-कृष्ण आदि नामों का कोई महत्व नहीं है। राधा और गोपाल कृष्ण का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

मेदाभेद-वाद

सूत्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी मेदाभेद के प्रचारक निम्बार्काचार्य ने कुछ स्थलों पर, जैसा कि हम आगे देखेंगे, अनेक नूतन उद्भावनाएँ की हैं, पर उन उद्भावनाओं को भी उपनिषदों तथा 'गीता' का आधार प्राप्त है। जहाँ तक पदार्थों के अस्तित्व की बात है, इन्होंने भी रामानुज की भाँति चित्, अचित् तथा ईश्वर को स्वीकार किया है। वास्तव में इन दोनों आचार्यों के मत पूर्णतया सूत्रानुकूल हैं।

जीव के सम्बन्ध में निम्बार्क को यह मान्य है कि—

ज्ञानस्वरूपं च हरेर धीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।

अणु हि जीवं प्रति देहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः। (दशश्लोकी १)

आशय यह है कि वे जीव को ज्ञानस्वरूप तथा ईश्वराधीन मानते हैं। जीव अणु है तथा देहादि अचित् पदार्थों से भिन्न है। निम्बार्क ने जीव को ज्ञानस्वरूप मानते हुए भी उसे नित्य-ज्ञाता तथा ज्ञानाश्रय भी स्वीकार किया है। जिस प्रकार सूर्य आलोकमय तथा आलोकाश्रय साथ-साथ है उसी प्रकार जीव भी ज्ञानमय तथा ज्ञानाश्रय है। किन्तु प्रकृतिरूपिणी माया

से आवृत होने के कारण जीव का स्वाभाविक गुण क्षीण हो जाता है और यह पुनः भगवान के प्रसाद से ही प्राप्त हो सकता है। निम्बार्क मतानुसार जीव के दो भेद हैं १. मुक्त जीव तथा २. बद्धजीव। दोनों प्रकार के जीवों में कर्तृत्व की सत्ता निम्बार्क ने स्वीकार की है। प्रत्येक अवस्था में वह ईश्वराधीन है और वह नियमत्व गुणयुक्त है। जहाँ निम्बार्क ने जीव को हरि का अंश कहा है वहाँ 'अंश' से उनका अभिप्राय शक्ति-रूप है और इसी दृष्टि से शक्तिमान ईश्वर को उन्होंने अंशी स्वीकार किया है। जीव की इच्छा के आधार पर पुनः दो-दो भेद किये गये हैं। बद्ध जीव के दो भेद हैं—(क) मुमुक्षु जो मुक्ति का इच्छुक रहता है तथा (ख) बुभुक्षु जो विषयानन्द का इच्छुक है। इसी प्रकार (क) नित्यमुक्त तथा (ख) साधनमुक्त से मुक्त जीव के दो उपभेद किये गये हैं।

निम्बार्क का उक्त जीव-सम्बन्धी मत अधिकांशतः सूत्रानुकूल है। उसकी कर्तृत्व-शक्ति, उसके ज्ञान-स्वरूपत्व और फिर उसका परतत्त्व-अधीनत्व सब कुछ सूत्रानुकूल है।

अचित् को निम्बार्क ने चेतनाहीन माना है और इसके तीन भेद किये हैं—प्राकृत, अप्राकृत तथा काल। प्राकृत अचित् के अन्तर्गत समस्त महाभूत तथा अप्राकृत में प्रकृति से परे वैकुण्ठादि सम्मिलित हैं। काल समस्त जागतिक परिणामों का जनक तथा नियामक है पर वह परमेश्वर के निकट नियम्य है।

ईश्वर के सगुण रूप को ही निम्बार्क मत में महत्व दिया गया है। उसे सार्वभौमिक माना गया है और साथ ही प्राकृत दोषों से रहित कहा गया है। वह कल्याण-गुणों से युक्त है। निम्बार्क मत में ब्रह्म के चार रूप स्वीकार किये गये हैं—

१. पर अमूर्त रूप अर्थात् परम अक्षर तत्त्व,
२. अपर अमूर्त रूप अर्थात् सर्वद्रष्टा तथा सर्व शक्तियों का उद्भव,
३. पर मूर्त अर्थात् हिरण्यगर्भ एवं सभी व्यक्त रूपों का मूल स्रोत, तथा
४. अपरमूर्त अर्थात् जीव रूप जिससे इन्द्रिय जगत् की अनुभूति होती है।

अन्यान्य वैष्णव आचार्यों की भाँति निम्बार्क भी ब्रह्म के भेदोपभेद में सूत्रकार से अनुकूलता नहीं रखते।

निम्बार्क ने ब्रह्म तथा जीव का भेदाभेद दिखाया है। हरिव्यास देव ने आचार्य निम्बार्क की 'दशश्लोकी' पर जो भाष्य लिखा है उसमें आचार्य के तत्सम्बन्धी मत को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि विज्ञान-स्वरूप एक ही ब्रह्म सर्वजीव-जगत् का नियन्ता होता है और जीव तथा जगत् में अभेद रहते हुए भी जीव तथा जगत् का परस्पर विलक्षण व्यवहार ही है जैसे अवतार व अवतारी, गुण और गुणी में अभेद है किन्तु दृष्टि-मात्र से ही भेद दिखाई देता है जो वास्तव में नहीं है। निम्बार्क ने जीव तथा जगत् का भेदाभेद स्वाभाविक और नियत स्वीकार किया है। जीव बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, भेदाभेद की यह स्थिति सभी अवस्थाओं में बनी रहती है। निम्बार्क का यह स्वाभाविक भेदाभेद भारतीय दर्शन का एक प्राचीन सिद्धान्त है। पण्डित बलदेव जी उपाध्याय ने वादरायण से भी पूर्व औडुलोमि, आश्वमथ्य आदि को भेदाभेदवादी बताया है। उन्होंने भर्तृप्रपञ्च, भास्कर, यादव आदि को भी इसी सैद्धान्तिक

१८६ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

परम्परा का माना है।^१ इस प्रकार निम्बार्क का भेदाभेद परम्परित सिद्ध होता है।

निम्बार्क मत का साधन-पक्ष रामानुज-मत से पर्याप्त साम्य रखता है। शरणागति या प्रपत्ति को यहाँ भी महत्व दिया गया है। इसी प्रकार भगवान के अनुग्रह की भी यहाँ अपेक्षा की गई। इसके बिना भगवान के प्रति उत्कट प्रेम जग ही नहीं सकता और तब भगवद् साक्षात्कार होना असम्भव है।

निम्बार्क-मत में उपास्य देव हैं कृष्ण जिन्हें निम्बार्क ने सर्वोच्च स्वीकार किया है और इनकी प्राप्ति के लिए रामानुज की भाँति भक्ति को ही एक मात्र साधन बताया है। कृष्ण-भक्ति को इन्होंने पाँच भावों में व्यक्त किया है—

१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. उज्ज्वल या माधुर्य।

यद्यपि स्वयं निम्बार्क-मत में माधुर्य-भाव का ही प्राधान्य है तथापि निम्बार्क ने किसी विशेष भाव के लिए आग्रह नहीं किया है और कहा है कि अपनी रुचि के अनुसार साधक इनमें से कोई भी भाव अपना सकता है। आग्रह है केवल भक्ति का।

इस मत की सर्वाधिक विशेषता है राधा की उपासना। जिस प्रकार रामानुज ने, मध्यकाल में, भक्ति की स्थापना शास्त्रीय ढंग से की थी उसी प्रकार निम्बार्क ने कृष्ण को सर्वोपरि उठाते हुए राधा को शास्त्रीय आधार देकर कृष्ण-भक्ति में राधा का प्राधान्य स्थापित किया। यह प्राधान्य इतना प्रबल रहा कि बहुत शीघ्र राधा कृष्ण के समकक्ष पहुँच जाती हैं। निम्बार्क ने इन्हें 'अनुरूप सौमगा' कह कर ही उक्त स्थिति की मृष्टभूमि सृजित कर दी थी। सर्वेश्वर कृष्ण की भाँति ही राधा सर्वेश्वरी हैं, वे कृष्ण के वामांग में सुशोभित हैं और सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं।^२ हम अन्यत्र देखेंगे कि किस प्रकार निम्बार्क के सनक-सम्प्रदाय से अनेक उप सम्प्रदायों का उद्भव हुआ जिनमें राधा प्रधान हैं या दूसरे शब्दों में ये सम्प्रदाय ही राधा-प्रधान सम्प्रदाय हैं।

द्वैतवाद

विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद या द्वैताद्वैत के पश्चात् हम द्वैतवाद पर आते हैं। मध्वाचार्य ने जिस उत्साह तथा लगेन के साथ ब्रह्म तथा जीव का द्वैतभाव प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया था वह भक्ति-आन्दोलन के लिए एक बहुत ही शक्तिशाली एवं प्रभावोत्पादक तत्व सिद्ध हुआ। यही वह प्रथम प्रयास था जिससे मध्यकालीन भागवतों या वैष्णवों को, भक्ति-विरोधी समस्त तत्त्वों को तथा उन सम्प्रदायानुयायियों को, जो इनके उपास्य देव को निराकार सिद्ध करके इनसे इनकी भक्ति-भावना छीनना चाहते थे, मुँहतोड़ उत्तर देने का अवसर प्राप्त हुआ।

१. भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३४-३९

२. अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा

विराजमानाननुरूप सौभगाम।

सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा,

स्मरेम देवीं सकलेऽऽ कामदान ॥—दशश्लोकी, श्लोक ५,

पंडित बलदेव जो उपाध्याय द्वारा 'भागवत सम्प्रदाय', पृष्ठ ३४४ पर उद्धृत।

मध्वाचार्य ने यत्र-तत्र शंकराचार्य के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उन्होंने जगत् की सत्ता स्वीकार की है। अपने मत के समर्थन में आचार्य ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि वेद के अनुसार ईश्वर 'सत्य संकल्प' है अर्थात् उसका संकल्प सत्य है। तब ऐसी स्थिति में हम उसके सत्य संकल्प द्वारा विरचित जगत् को कैसे मिथ्या कह सकते हैं। आचार्य का यह मत पूर्णतया सूत्रानुकूल है। किन्तु मध्वाचार्य का आकाशादि भूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सूत्रकार तथा अन्य वैष्णवभाष्यकारों से भी मतभेद है। सूत्रकार ने इन महाभूतों को उत्पन्न स्वीकार किया है, जैसा कि हमें ज्ञात है, किन्तु मध्वाचार्य इन्हें उत्पन्न मानते हुए भागशः अनुत्पन्न भी मानते हैं। जीव को इन्होंने स्वभावतः अल्पज्ञानसम्पन्न एवं अल्प-शक्तियुक्त स्वीकार किया और उसे हरि का अनुचर कहा है। अपने कार्यों के लिए उसे भगवान का आश्रय लेना पड़ता है। वह स्वतः कार्य करने में समर्थ नहीं है। मध्वाचार्य ने जीव के तीन भेद किये हैं—१. मुक्ति योग्य, २. नित्य संसारी तथा ३. तमोयोग्य। इसे ही दूसरे शब्दों में क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम कह सकते हैं। इनमें से अंतिम दो प्रकार के जीवों की कमी भी मुक्ति नहीं होती है। मध्व ने विष्णु को ही सर्वोच्च स्थान दिया है। वही सर्वोच्च परमतत्त्व है तथा अनेक ऐश्वर्य, आनन्द, सर्वज्ञत्व, अनन्त-शक्तिमत्त्व आदि गुणों से युक्त हैं। वे ही उत्पत्ति, स्थिति संहार, नियमन, आवरण, बोधन, बन्धन तथा मोक्ष आदि आठ प्रकार के कार्यों के कर्ता हैं। विष्णु भगवान के अतिरिक्त उपर्युक्त कार्यों में और किसी का कोई अधिकार नहीं है। माध्व-मत में भगवान में अचित्य शक्ति का वास स्वीकार किया गया है और उस शक्ति को अद्भुत एवं अलौकिक कहा गया है।

श्री हरि की मायारूपिणी शक्ति हैं लक्ष्मी। वे विष्णु के अधीन रहते हुए भी उनसे भिन्न हैं। मध्वाचार्य ने लक्ष्मी को भी नित्ययुक्त, अप्राकृत, अक्षर, दिव्य तथा व्यापक स्वीकार किया है। इन्हीं के द्वारा भगवान विष्णु चतुर्मुख ब्रह्म से जगत् की सृष्टि तथा उसका संचालन कराते हैं। लक्ष्मी ही मुक्त तथा अमुक्त सबको योग्यतानुसार सृष्टि के समय आनन्द प्रदान करती है। लक्ष्मी ही जीवों को भगवान विष्णु की कृपा प्रदान कराती हैं। मध्व ने, प्रलय के समय लक्ष्मी को श्रीहरि के आर्लिगन में रमण करना बताया है किन्तु प्रत्येक दशा में पति-पत्नी भाव सुरक्षित रहता है।^१ लक्ष्मी के इसी रूप को आगे चलकर मधुरिमाय बनाने की भूमिका के रूप में स्वीकार किया गया है।

भगवान विष्णु के अवतारों अर्थात् शरीरधारी विष्णु को, जिनका शरीर सच्चिदानन्दमय है, अवतार रूप में भी पूर्ण स्वीकार किया गया है और भगवान तथा भगवान के अवतारों में कोई भेद नहीं है। मध्वाचार्य ने हरि या विष्णु को जो ऊँचा पद प्रदान किया है वह

१. तदुक्तमैतरेयभाष्ये

एवमन्योन्यतो विष्णुः रतः स्वस्मिन् नवान्यतः।

रमया रममाणोऽपि तस्थे नैव स्त्रियात्मना ॥

रमते नान्यतः क्वापि रतिर्विष्णोः सुखात्मनः।

रमया रमणं तस्माद्रमया रतिपात्रता।

नैवास्या रतिदातृत्वं-विष्णोर्नैहान्यतो रतिः ॥

मध्वसिद्धान्तसार डा० शशिभूषण दास गुप्ता द्वारा 'रा० का० क्र० वि०'

पृष्ठ ९६ पर उद्धृत।

बहुत ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने वेद का समस्त तात्पर्य ही विष्णु को बताया है। अर्थात् वेद के अंग-उपांग आदि हरि का ही गुणगान तथा वर्णन करते हैं। मध्वाचार्य ने वेद के सभी देवताओं को हरि का रूप स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रुतिस्मृतता का सहारा लेने का सारा झगड़ा ही मध्वाचार्य ने मिटा दिया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भागवतों या वैष्णवों के विष्णु ही सब कुछ हैं। वेद-वेदांग आदि सभी उन्हीं का वर्णन करते हैं, सारे देवता उन्हीं के अवस्थानुसारी रूप हैं।

मध्वाचार्य का बहुत ही प्रसिद्ध सिद्धान्त है 'तत्त्वतोभेदः' अर्थात् जीव, जगत् तथा ईश्वर का परस्पर भेद। यह भेद पाँच प्रकार का है—

१. ईश्वर का जीव से भेद,
२. ईश्वर का जड़ से भेद,
३. जीव का जड़ से भेद,
४. जीव-जीव का भेद तथा
५. जड़-जड़ का भेद।

उपासना के दो प्रकार मध्व-मत में माने गये हैं—शास्त्राभ्यास तथा ध्यान। शास्त्राभ्यास से अज्ञान दूर होकर वस्तुतत्त्व का बोध होता है। अपरोक्षज्ञान प्राप्त होने पर ही परम भक्ति की प्राप्ति सम्भव है जो पूर्णतया भगवान विष्णु की कृपा पर आधारित है। मुक्ति का सर्वोत्तम साधन 'अमला' या दोषरहित भक्ति है। सबसे बड़ा दोष स्वार्थ की भावना है। अतः मध्व ने निष्काम भक्ति को प्रधानता दी। 'अनन्य' या अहैतुकी भक्ति को ही मुक्ति का सर्वोत्तम साधन स्वीकार करते हुए मध्वाचार्य ने 'गीता' की भक्ति-परम्परा को आगे बढ़ाया है। यहाँ मुक्ति के चार प्रकार बताये गये हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादि मार्ग तथा भोग। कर्मक्षय में संचित पाप-पुण्य का क्षय हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता। उनका क्षय हो जाने पर ही जीव सुषुम्ना नाड़ी के सहारे उत्क्रमण करता है। तब हृदय-द्वार खुल जाता है और मानसस्थ ईश्वर की सहायता से जीव और ऊँचे उठता है। इस प्रकार वैकुण्ठ-लोक में पहुँच कर जीव भगवान का साक्षात्कार करता है। यही उत्क्रान्तिलय की चरमावस्था है। अर्चिरादि मार्ग का अवलम्ब लेकर वे ज्ञानी भक्त, जिनके कर्मों का क्षय नहीं होता है, सुषुम्ना की पार्श्ववर्ती नाड़ी से उर्वगमन करते हैं और वायु-लोक होते हुए वे ब्रह्म-लोक को पहुँच जाते हैं। भोगयुक्त में ज्ञानी भक्तों के कर्मों का क्षय हो जाने पर वे श्वेदद्वीप पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें नारायण का दर्शन प्राप्त होता है। भोग मुक्ति के भी चार उपभेद बताये गये हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सालोक्य भोगमुक्ति में मुक्त जीव परमात्मा के लोक को प्राप्त होकर इच्छा-नुसार भोग करता है, सामीप्य भोगमुक्ति में जीव को ईश्वर का सामीप्य प्राप्त हो जाता है और वह इस सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करता है, सारूप्य भोगमुक्ति में जीव भगवान के सदृश रूप तथा गुणों को प्राप्त हो जाता है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह भगवान के परमानन्द भोग में भी समर्थ हो जाता है। अन्तिम व सर्वोत्तम मुक्ति सायुज्य में जीव ईश्वर में ही प्रविष्ट हो जाता है और इस ईश्वर के शरीर से ही आनन्द-भोग करता है, किन्तु इस मुक्ति के अधिकारी साधारण जन नहीं हैं, प्रत्युत केवल देवताओं को ही यह मुक्ति प्राप्त होती है।

मध्वाचार्य के सिद्धान्तों को श्री पादराय ने एक श्लोक में इस प्रकार व्यक्त किया है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्स्वतो ।
भेदो जीवगणा हरेरनुचराः नीचोच्य भावंगताः ।
भुक्तिर्न जसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम् ।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलात्मनैकयेद्ये हरिः ॥

शुद्धाद्वैतवाद

अद्वैतवादियों के विरुद्ध वैष्णव आचार्यों ने द्वैतवाद का जो नारा बुलन्द किया था उसमें शुद्धाद्वैतवाद के संस्थापक वल्लभाचार्य जी का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है।

शंकर के मायावाद का खण्डन करने के लिए आचार्य ने सर्वप्रथम माया पर ही कुठाराघात किया है। शंकर ने माया-सम्बन्धों से युक्त ब्रह्म को ही जगत् का कारण स्वीकार किया था किन्तु वल्लभाचार्य ने जोरदार शब्दों में घोषित किया—

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः
कार्यकारण रूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम् ॥

यहाँ ब्रह्म के तीन भेद किये गये हैं—१. आधिभौतिक, २. आध्यात्मिक तथा ३. आधिदैविक, अर्थात् क्रमशः जगत्, अक्षर ब्रह्म तथा पर ब्रह्म। अक्षर ब्रह्म में वल्लभ ने सच्चिदानन्द ब्रह्म के आनन्द अंश का किञ्चिन्मात्र तिरोधान स्वीकार किया है और आनन्द से परिपूर्ण केवलपरब्रह्म को ही माना है। इसी प्रकार अक्षरब्रह्म को केवल विशुद्ध ज्ञान से गम्य बताया गया है परब्रह्म की प्राप्ति के लिए अनन्या भक्ति ही एकमात्र साधन है। यह परब्रह्म ही परमेश्वर पुरुषोत्तम है और यही सर्वशक्तिमान है। यही जगत् का कर्ता भी है। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूप आचार्य को मान्य हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जहाँ आचार्य यह कहते हैं कि परतत्त्व ही एकमात्र सत्ता है और वही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है, साथ ही वह अविकृत भी रहता है, वहाँ वे सूत्रानुकूल नहीं हैं। हम देख चुके हैं कि सूत्रकार ने इसी विकृतिके आक्षेप से बचने के लिए सत् तथा परतत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया था। अतः वल्लभाचार्य का अविकृत परिणामवाद सूत्रानुकूल नहीं है क्योंकि ब्रह्म को जगत् की प्रकृति मानने पर उसे विकृत स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि विकृत हुए बिना उसका प्रकृतित्व नहीं माना जा सकता। वास्तव में वल्लभ का अविकृत परिणामवाद केवल कहने भर को ही है। इसी प्रकार वल्लभ का यह मत भी सूत्रानुमोदित नहीं है कि परतत्त्व पुरुषोत्तम है और वह जब सृष्टि की इच्छा करता है तो उक्त इच्छा के करते ही उससे अक्षर-ब्रह्म-स्वरूप का आविर्भाव होता है। इस प्रकार वल्लभ का ब्रह्म-सम्बन्धी उक्त तारतम्यात्मक व्यूह-भेद सूत्रानुकूल नहीं है। किन्तु इसके लिए हम केवल वल्लभ को ही सूत्र-विरोधी मत-प्रतिपादक नहीं कह सकते, व्यूह-भेद लगभग सभी वैष्णव भाष्यकारों को मान्य है। वल्लभ ने 'अरूपवत' (ब्र० सू० ३।१।-१४) का भी विरोध प्रस्तुत किया है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वे परतत्त्व को स्वरूपतः साकार या आनन्दविग्रहवान मानते हैं।

ब्रह्म की माया के सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि यह परब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहक शक्ति अथवा सूर्य से उसका प्रकाश। पर यह माया परब्रह्म

से परिवेष्टित रहती है। यह उसी की शक्ति है और चूँकि परब्रह्म उसके आश्रित नहीं है इस-लिए वह उसके सत्य रूप को आच्छादित नहीं कर सकती है।

वल्लभ-मत में श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म स्वीकार किया गया है जिन्हें अपनी ही आत्मा में अन्तर-रमण करनेवाली स्थिति में 'आत्माराम' तथा बाह्य रमण की स्थिति में 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है। इस रूप में उन्हें 'आनन्दमय', 'अगणितानन्द' तथा 'परमानन्द' स्वरूप कहते हैं। जैसा कि पण्डित बलदेव जी उपाध्याय ने सुझाया है, आचार्य ने परब्रह्म को "पुरुषोत्तम" नाम 'गीता' के आधार पर दिया है क्योंकि 'गीता' के अनुसार "क्षर पुरुष को अतिक्रमण करने तथा अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह पर पुरुष 'पुरुषोत्तम' के नाम से विख्यात होता है"।^१

वल्लभाचार्य ने 'व्यापी वैकुण्ठ' की कल्पना करके उसमें भगवान् कृष्ण को अपनी अनन्त शक्तियों से युक्त होकर भक्तों के साथ नित्य लीला करना बताया है। कृष्ण के इस 'व्यापी वैकुण्ठ' को उन्होंने विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर तथा गोलोक से भी महान बताया है। श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या आदि भगवान् की १२ शक्तियाँ मानी गई हैं।

भगवान् के प्रादुर्भावों का उद्देश्य आचार्य ने 'भागवत' की भाँति जीवों को निपेक्ष मुक्ति-दान ही स्वीकार किया है। 'पुष्टि मार्ग' के लिए अवतारों का यह उद्देश्य स्वीकार करना आवश्यक भी था क्योंकि इस मार्ग में भगवान् का अनुग्रह ही सब कुछ है। इतना ही नहीं, इस अनुग्रह को भी आचार्य ने भगवान् की सर्ग-विसर्ग लीलाओं की भाँति ही एक लीला माना है।

जीव को वल्लभ ने भगवान् की रमण करने की इच्छा का प्रतिफल स्वीकार करते हुए कहा है कि जब भगवान् को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तो वे अपने आनन्द आदि गुणों को तिरोहित करके जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। यहीं उन्होंने शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए कहा है कि उक्त व्यापार में भगवान् की केवल मात्र इच्छा का ही हाथ है, माया का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। चूँकि वल्लभाचार्य ने जीव को भगवान् का एक रूप स्वीकार किया है इसलिए उन्होंने भगवान् के विभिन्न अंशों के तिरोधान की कल्पना की है। उदाहरणार्थ ऐश्वर्य गुणों के तिरोधान से जीव में दीनता, यश के तिरोधान से सर्वहीनता, श्री के तिरोधान से नाना प्रकार की आपत्तियों का भाजनत्व तथा ज्ञान के तिरोधान से देहात्म-बुद्धि का पात्रत्व होना स्वीकार किया गया है। आनन्द अंश के तिरोधान से जीव की उत्पत्ति का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आविर्भूत जीव को वल्लभ ने नित्य माना है और उसे ज्ञाता, ज्ञान रूप तथा अणु कहा है। सच्चिदानन्द भगवान् के अविकृत चिदंश से ही वल्लभ ने जीव का आविर्भाव स्वीकार किया है जिसकी आलोचना हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वल्लभ ने जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया है। यह शंकर के मत का विरोध करना ही है क्योंकि जहाँ सूत्रकार ने 'अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकित्त-वादित्वमधीयत एके' (२।३।४२) कहा है वहीं आगे उसने स्पष्ट कर दिया है कि जीव प्रकाश के समान अंश है पर वह स्वरूपतः परतत्त्व नहीं है। अतः वल्लभ का उक्त मत पूर्णतया सूत्रा-नुकूल नहीं है। लगभग सभी भाष्यकारों में जीव तथा परतत्त्व के सम्बन्धों में इस प्रकार का मतभेद देखने को मिलता है। वल्लभाचार्य ने जीव के तीन भेद किये हैं—१. शुद्ध जीव जिसमें

आनन्द अंश का तिरोधान नहीं हुआ रहता है अर्थात् निर्गमन के पूर्व की अवस्था, २. मुक्त जीव अर्थात् उस अवस्था का जीव जब भगवान की कृपा से उसमें पुनः आनन्द-अंश का समावेश हो जाता है तथा ३. संसारी जीव जिसमें आनन्द अंश के तिरोधान के कारण अविद्या का समावेश हो चुका रहता है। संसारी जीवों के भी बल्लभ ने दो उपभेद बताये हैं—क—दैव तथा ख—आसुर। मुक्त जीवों के भी दो भेद किये गये हैं (क) जीवन मुक्त तथा (ख) केवल मुक्त। मुक्तावस्था में बल्लभ ने जीव को स्वयं सच्चिदानन्द बन जाना बताया है और तब भगवान से उसका अभेद स्वीकार किया है।

हमें ज्ञात है कि सूत्रकार ने इन्द्रिय, प्राण, मन आदि पर अधिक विचार न करते हुए केवल इतना कहा था कि मन सहित कुल ११ इन्द्रियाँ या जीवोपकरण हैं जो परिमाण में अणु हैं, प्राण भी अणु है। सभी वैष्णव भाष्यकारों ने इसे स्वीकार किया है किन्तु बल्लभ-मत में इसे स्वीकृति नहीं प्राप्त है।

जगत् के सम्बन्ध में बल्लभ के अविष्कृत परिणामवाद का उल्लेख किया जा चुका है। वे निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही अविष्कृत भाव से जगद्-रूप में परिणत हो जाना मानते हैं। ब्रह्म की अविष्कृति के लिए उन्होंने उदाहरण दिया है सोना तथा कुण्डल का और यह दिखाया है कि जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों में परिणत होने पर भी सोने में किसी प्रकार का विकार नहीं आता उसी प्रकार ब्रह्म में भी विकार सम्भव नहीं है। पर जैसा कि हमें ज्ञात है, बल्लभ का यह मत सूत्रानुकूल नहीं है। बल्लभ ने जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश को भी नहीं स्वीकार किया है प्रत्युत उन्होंने इसे क्रमशः आविर्भाव तथा तिरोभाव कहा है। सृष्टि के आविर्भाव का श्रेय इन्होंने ईश्वर की इच्छा को दिया है। बल्लभ ने जगत् और संसार में सूक्ष्म भेद माना है और भगवान के सदंश से आविर्भूत पदार्थ को जगत् तथा अविद्यावश जीव-कल्पित ममता-रूप पदार्थ को संसार की संज्ञा दी है। अतः अविद्या की सत्ता पर आधारित संसार का ज्ञान के उदय से स्वयं ही नाश हो जाता है किन्तु इसके विपरीत जगत् नित्य है। इस प्रकार आचार्य ने शंकर के 'जगन्मिथ्या' को संसारोन्मुख कर दिया और जगत् को उन्होंने ईश्वर तथा जीव की भाँति ही नित्य सिद्ध किया।

बल्लभ का साधन-पक्ष, जो पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है, कुछ विशिष्टताओं के कारण भक्ति-आन्दोलन में अपना पृथक् तथा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वैसे 'पुष्टि' अर्थात् भगवान के अनुग्रह या प्रसाद की अपेक्षा सभी वैष्णवभाष्यकारों ने स्वीकार की थी और उन्होंने जीवन-मुक्ति के लिए इसे अनिवार्य माना था तथापि बल्लभ की 'पुष्टि' केवल अनुग्रह तक ही सीमित नहीं है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, आचार्य ने विभिन्न जाति, वर्ण तथा सम्प्रदायों के बन्धनों में जकड़े हुए, सामाजिक या धार्मिक दृष्टि से निम्नपद पर घसीट कर लाये हुए लोगों के लिए एक ऐसे मार्ग का निर्माण किया जिस पर राजा-रंक-फकीर, ऊँच-नीच आदि बिना किसी जाति या वर्ण-भेद के चल सकें। आचार्य ने देखा था कि हर प्रकार से साधनहीन युग ज्ञान या कर्म के लिए उपयुक्त न होकर केवल भक्ति के लिए ही उपयुक्त था और वह भक्ति भी चाहिए केवल पुष्टिमार्गी—साधन निरपेक्ष—भगवान के अनुग्रह द्वारा स्वतः उद्भूत। इन्हीं कारणों से आचार्य का 'पुष्टिमार्ग' भक्ति-आन्दोलन में एक नई लहर ला देता है। यहाँ हम संक्षेप में 'पुष्टिमार्ग' पर विचार करेंगे।

वल्लभाचार्य ने तीन धर्म-साधना-पद्धतियों का उल्लेख किया है—

१—पुष्टि-मार्ग, ३—प्रवाह-मार्ग तथा ३—मर्यादा-मार्ग।

पुष्टि-मार्ग या भक्ति-मार्ग सर्वोच्च है। प्रवाह-मार्ग है संसार के प्रवाह में बहते हुए सुख तथा नाना भोगों के लिए, प्रयत्नशील होना तथा मर्यादा-मार्ग है वेद-प्रतिपादित कर्म तथा ज्ञान-मार्ग का अनुसरण। वल्लभ ने तीन प्रकार के ब्रह्म-भेदों में से अक्षर-ब्रह्म की वाणी से मर्यादा-मार्ग का अस्तित्व में आना बताया है और परब्रह्म पुरुषोत्तम के शरीर से पुष्टि-मार्ग का उद्भव स्वीकार किया है। प्रवाह-मार्ग को आचार्य ने त्याज्य बताया है और मर्यादा तथा पुष्टि-मार्गों में से पुष्टि को महत्व दिया है। पुष्टि या अनुग्रह को भी आचार्य ने अनन्त गुणों एवं ऐश्वर्योंवाले भगवान की सृष्टि-लीला की भाँति ही एक लीला स्वीकार किया है और विलास की इच्छा का ही नाम लीला कहा है। इस प्रकार आचार्य ने पुष्टि-मार्ग को हर प्रकार से पुष्ट करने की चेष्टा की है। मर्यादा-मार्ग को वैदिक स्वीकार करते हुए भी वल्लभ ने भगवान को यहाँ साधन-परतंत्र माना है जब कि पुष्टि-मार्ग में ऐसे किसी भी साधन के परतंत्र न होकर वे स्वयं स्वतंत्र हैं।

आचार्य ने किसी भी भाव से भगवान का भजन करने का उपदेश दिया है और साथ ही उसी भगवान की अनुकम्पा पर ही केवलमात्र भरोसा करने को कहा है। नवधा-भक्ति को स्वीकार करते हुए भी इन्होंने इसे साधन-भक्ति कहा है और इसे मर्यादा-मार्गियों का पंथ बताया है। पुष्टि-मार्गियों के लिए तो केवल भगवत्सेवा की ही एक-मात्र उपादेयता है। शुद्ध अनुरागयुक्त एवं एकनिष्ठ होकर भगवान की सेवा का उपदेश आचार्य ने दिया है। सेवा तीन प्रकार की बताई गई है—(क) तनुजा, (ख) वित्तजा तथा (ग) मानसी (तन-धन-मन से सेवा)। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया था, वल्लभाचार्य ने सभी वर्गों एवं वर्ण वालों के लिए भक्ति-मार्ग का द्वार खोलना चाहा था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने साधक को अपनी क्षमतानुसार सेवा (तन, धन, या मन से सेवा) का विधान किया। इनमें भी आचार्य ने 'कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता' कह कर मानसी सेवा को सर्वोत्तम घोषित किया है जो सबके लिए सम्भव है।

सेवा से भी महत्वपूर्ण तथ्य वल्लभ ने विरह-भाव को स्वीकार किया है। जब तक साधक के हृदय में भगवान से मिलने के लिए आनुरता तथा व्याकुलता का सूत्रपात नहीं होता है तब तक नैसर्गिकी कृपा की आशा नहीं की जा सकती है। सांसारिक माया-मोह से विरक्त होकर केवल भगवान कृष्ण से ही प्रेम करना भक्ति का बहुत बड़ा साधन है। इस प्रेम की भी स्नेह, आसक्ति तथा व्यसन आदि तीन अवस्थाएँ होती हैं। इसे आचार्य ने भगवद्भक्ति के उदय का क्रमिक सोपान माना है।

वल्लभाचार्य ने भी शरणागति या प्रपत्ति को स्वीकार किया है किन्तु भक्ति-प्रपत्ति में भेद बताते हुए इन्होंने भक्ति में साधनों की अपेक्षा तथा प्रपत्ति में साधनों की अनावश्यकता स्वीकार की है। प्रपत्ति भी दो प्रकार की बताई गई है—(क) मर्यादिकी तथा (ख) पुष्टिमार्गीया। वास्तव में आचार्य ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-मार्गों में से श्रुति-सम्मतता के लिए प्रथम दो को भी मान्यता देते हैं पर अन्तर्लोकत्वा भक्ति (पुष्टि मार्गी भक्ति) को सर्वश्रेष्ठ दिखाने की चेष्टा करते हैं। वल्लभ का यह मत सभी वैष्णव आचार्यों को मान्य है अन्तर यद्वा है कि जहाँ अन्य आचार्य नवधा-भक्ति पर बल देते हैं, वहाँ वल्लभ पुष्टि-

९ : रामावत सम्प्रदाय

भक्ति-आन्दोलन की महाकाव्य-युगीन प्रगति का अध्ययन करते समय हमें यह ज्ञात हुआ था कि वाल्मीकि के महाकाव्य में भी रामावतार की कल्पना की गई थी। इसी प्रकार 'महाभारत' के नारायणीपर्व में भी राम को अवतार रूप में स्वीकार किया गया था। किन्तु इन सभी साक्ष्यों को डा० भण्डारकर तथा उनसे प्रभावित अन्यत्र विद्वान राम को अवतार रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। आभिलेखिक साक्ष्य भी इन विद्वानों के मत की पुष्टि करते हैं क्योंकि कोई भी प्राचीन अभिलेख रामावतार का निर्देशन नहीं करता है। यद्यपि नासिक गुफालेख में 'राम' शब्द दो बार आया है पर इससे वीर भुरूप राम का ही बोध होता है, न कि अवतार-रूप राम का। इसी प्रकार 'दशरथकथानम्' (२०० ई० के बाद) तथा 'अनामक जातक' (३०० ई०) से भी केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उस युग तक राम-कथा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। हमने प्रारम्भ में ही इस बात का संकेत किया था कि यद्यपि प्राचीन युग (महाकाव्य युग) में तथा उसके ठीक बाद के युग के साहित्य में रामावत सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि रामावतार-सम्बन्धी कल्पना की प्राचीनता असंदिग्ध है।

पौराणिक युग से हम रामोपासना का बढ़ता हुआ प्रभाव देखते हैं। इनमें भी 'हरिवंश', 'विष्णु', 'वायु', 'भागवत', 'कूर्म', 'अग्नि', 'स्कन्द', 'नारद' तथा 'पद्म' पुराणों में रामावतार विषयक प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, जैसा कि हमने पुराणों का अध्ययन करते समय ज्ञात किया था। इनकी कोई निश्चित तिथि न दे सकने पर भी हम ई० पू० के पहले से ही रामोपासना का आरम्भ स्वीकार कर सकते हैं। बुल्के महोदय ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर प्रथम शती ई० पू० में रामावतार-भावना का प्रचार सिद्ध किया है।^१ पांचरात्र संहिताओं में भी राम को अवतार स्वीकार किया गया है। 'अहिर्बुध्न्य' संहिता में लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को स्वयं भगवान का ही अंश बताया गया है।^२ प्राचीन साहित्य में राम का जो चरित्र दिखाया गया है उस आधार पर हमें यह सोचने की प्रेरणा मिलती है कि रामोपासना का सूत्रपात उनकी वीर-पूजा से ही आरम्भ होता है। यदि देखा जाय तो अधिकांश अवतारों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वीरता से स्थापित किया गया है। अवतार का उद्देश्य ही कुछ ऐसा निर्धारित किया गया था कि स्वभावतः वह वीर-कार्य से सम्बद्ध हो जाता है। और दाशरथि राम तो इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। परवर्ती साहित्य में भी हम राम का वीरत्व पाते हैं। यदि

१. विशेष विवरण के लिए कामिल बुल्के की 'रामकथा' पृष्ठ ५१-५५ द्रष्टव्य है।

२. रामकथा, पृष्ठ १४५

३. अहि० संहिता, द्वितीय खण्ड, ३६।६२-६५

१९४ : भक्ति आन्दोलन का अध्ययन

दास्य एवं शरणागति भक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो वाल्मीकि के 'रामायण' में ही हनुमान तथा विभीषण के ऐसे चरित्र हैं जिनसे उक्त दोनों भावों की प्रेरणा मध्यकालीन आचार्यों को प्राप्त होती है। रामानुजाचार्य ने भी 'शरणागति गद्य' में विभीषण का आधार लेकर आत्मनिवेदन किया है।^१ हनुमान के सम्बन्ध में वाल्मीकि के 'रामायण' में यह कथा आती है कि स्वर्गारोहण के समय भगवान राम से हनुमान ने तीन वरदान माँगे थे—प्रथम इनके चरणों में अनन्य भक्ति, दूसरे रामकथा के जगत् में प्रचलित रहने तक आयु की प्राप्ति तथा तीसरे अप्सराओं के मुख से नित्य राम-कथा का श्रवण। और भगवान राम ने उन्हें ये वरदान दिये भी थे। (उत्तरकाण्ड, ४।११४-२०) 'रामायण' की यह कथा कितनी प्रचलित थी इसका प्रमाण हमें इसी से प्राप्त हो जाता है कि 'महाभारत' वनपर्व (१४।१६-२०) में हनुमान ने स्वयं इन वरदानों की उपलब्धि का उल्लेख दिया है। 'भागवत' में भी 'कि-पुरुषवर्ष' नामक स्थान में हनुमान को अपने आराध्यदेव के चरित्र के गान एवं श्रवण में लीन दिखाया गया है। इन सारे प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वाल्मीकि 'रामायण' के युग से लेकर भागवत-युग तक हनुमान की राम-भक्ति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। परवर्ती साहित्य में तो भगवान के रामभक्तों में प्रथम उल्लेखनीय नाम हनुमान का ही आता है। विभीषण को भी 'रामायण' में रामभक्ति की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व दिया गया है। वैष्णव भक्तों की एक प्रमुख साधना-भूमि रंगवाम में विभीषण द्वारा स्थापित (भगवान राम द्वारा प्रदत्त) रघुवंशी कुलदेव श्री रंगनाथ के विग्रह का उल्लेख भी 'रामायण' में किया गया है। उसी युग से विभीषण भी परम रामभक्तों में गिने जाने लगे हैं और परवर्ती साहित्य में ये एक स्वर से भगवान राम के अनन्य भक्त माने गये हैं।

भास तथा कालिदास के युग में तो रामोपासकों की संख्या निश्चित रूप से बहुत अधिक बढ़ जाती है। उस समय तक अनेक राम-मन्दिरों के निर्माण के साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इन सारे साक्ष्यों से हम यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाल सकते हैं कि यद्यपि रामोपासना का प्रारम्भ कुछ क्षेत्रों में बहुत पहले ही ई० सन् के पूर्व हो चुका था किन्तु इसका व्यापक प्रचार गुप्त-काल से ही आरम्भ हुआ था। पर सम्भवतः उस समय तक भी इसे सम्प्रदाय का रूप नहीं दिया गया था और जिस प्रकार अन्यान्य ब्राह्मण-देवताओं के पूजक छिट-पुट अपने आराध्य देव की उपासना करते रहे उसी प्रकार कुछ वर्गों में राम की भी उपासना प्रचलित थी।

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में श्री सम्प्रदाय से ही रामानंदी सम्प्रदाय का विकास स्वीकृत किया गया है और श्री वैष्णवों की गुरु-परम्परा का आरम्भ हम ऐतिहासिक दृष्टि से शठकोप आलवार से स्वीकार कर सकते हैं। अतः स्वभावतः शठकोप आलवार को रामभक्त अपना प्रथम आचार्य मानते हैं। आलवार भक्तों का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि पाँचवें आलवार शठकोप राम के परम भक्त थे जब कि पूर्व चार आलवार नारायण तथा

विष्णु के उपासक थे। शठकोप ने 'सहस्रगीति' की रचना करके रामभक्ति को सर्वप्रथम साम्प्रदायिक रूप प्रदान करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया था। चूंकि १२ आलवारों में शठकोप का महत्वपूर्ण स्थान था अतः इनके द्वारा स्वीकृत मार्ग भी बहुत अधिक मान्यता प्राप्त कर सका। रामावत सम्प्रदाय वाले इन्हें राम की पादुका का अवतार मानते हैं और 'सदाशिव-संहिता' में इन्हें ही कलिभुग में रामभक्ति के प्रचार का श्रेय दिया गया है। वेंकटाचल के निकट तिरुपति में इन्होंने भगवान राम की मूर्ति की स्थापना भी की थी। रामभक्ति में मधुरोपासना का समावेश भी शठकोप ने ही किया था। अपने गुरु से प्रभावित मधुर कवि न भी रामोपासना को अपनाया था और जैसा कि हमें ज्ञात है, सातवें आलवार कुलशेखर तो राम-कथा में आत्म-विभोर होकर सुध-बुध तक खो बैठते थे।

प्राचीन संस्कृत कवियों तथा पूर्वकथित आलवारों की रामोपासना ने कुछ वैष्णवाचार्यों को भी प्रभावित किया था। किन्तु तब तक भागवतों पर कृष्णोपासना का रंग इतना गहरा चढ़ चुका था कि केवल श्री तथा ब्रह्म सम्प्रदाय में ही आंशिक रूप से राम को महत्व दिया गया, अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भक्ति-साधना कृष्ण तक ही व्यावहारिक रूप में सीमित रह जाती है। श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य नाथमुनि ने रामोपासना के प्रति रुचि दिखाई थी। रामावत सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नाथमुनि, पुंडरीकाक्ष, राममिश्र, यामुन मुनि आदि कौन केवल राम-भक्त बताया गया है प्रत्युत इनके द्वारा राम-साहित्य की रचना का भी उल्लेख किया गया है। रामानुजाचार्य को सम्प्रदाय में (राम-अनुज) लक्ष्मण का अवतार स्वीकार किया जाता है। 'प्रपन्नामृत' तथा 'राम रहस्यत्रयार्थ' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि श्री सम्प्रदाय के लगभग सभी आचार्य रामोपासना में लीन थे और वे इसका प्रचार भ्रमण तथा साहित्य-निर्माण द्वारा करते रहे। यद्यपि इन साम्प्रदायिक वक्तव्यों पर बहुत अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता है तथापि इनसे इतना तो ज्ञात ही होता है कि श्री सम्प्रदाय में रामोपासना को भी स्थान दिया गया था। दक्षिण भारत में रामोपासना का प्रचार निश्चित रूप से श्री सम्प्रदाय के आचार्यों की ही देन है। श्री सम्प्रदाय की भाँति ब्रह्म सम्प्रदाय के भी आचार्यों ने रामोपासना को महत्व प्रदान करते हुए उसे आगे बढ़ाया था। मध्वाचार्य को हनुमान का अवतार भी स्वीकार किया गया है, किन्तु ये सारे प्रयत्न अप्रत्यक्ष ही रहे। वास्तव में रामोपासना को साम्प्रदायिक रूप एवं स्थायित्व प्रदान करने का पूरा-पूरा श्रेय स्वामी राघवानन्द तथा रामानन्द को ही दिया जा सकता है।

स्वामी राघवानन्द—इनके गुरु हर्यानन्द जी को भगवान राम का परम भक्त कहा गया है। इनके आदेश से ही राघवानन्द उत्तर में रामभक्ति का प्रसार करने गये थे और अयोध्या, काशी आदि प्रमुख धार्मिक केन्द्रों के भ्रमण के पश्चात् जब ये पुनः दक्षिण वापस आये तो आचार्य हर्यानन्द का गोलोकवास हो चुका था और गद्दी पर गुरु भाई बैठे हुए थे। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' से विदित होता है कि मन्दिर में जब 'पंगत' का समय आया तो इन्हें इनकी आचार-सम्बन्धी सहिष्णुता के कारण पृथक् बैठाया गया। बस यही

घटना रामावत सम्प्रदाय की स्थापना का मूल कारण बनती है। खिन्न होकर राघवानन्द काशी चले आते हैं और आजीवन वहीं पंचगंगा घाट पर रामोपासना में लीन रहते हुए ये राम-भक्ति का प्रचार करते रहे। इन्होंने 'सिद्धान्त पंचतन्मात्रा' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। राघवानन्द की विचारधारा पर नाथ-पंथ का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जातीय भेद-भाव को भी राघवानन्द ने महत्व नहीं दिया है। श्री सम्प्रदाय के रामोपासकों में हम प्रायः इसी प्रकार की सामाजिक सहिष्णुता पाते हैं किन्तु इस विचारधारा को दक्षिण भारत में पनपने का अवसर ही नहीं था। यही कारण था कि राघवानन्द को उत्तर भारत में, जहाँ की सामाजिक सहिष्णुता का परिचय वे पहले ही प्राप्त कर चुके थे, प्रस्थान करना पड़ा। इसी राघवानन्द के शिष्य थे स्वामी रामानन्द।

स्वामी रामानन्द

ये प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। प्रारम्भ में इनका नाम रामदत्त अथवा राम भारती था और ये शंकरमतानुयायी थे। 'भक्तमाल' में स्वामी रामानन्द की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी गई है—रामानुज—देवाचार्य—हरियानन्द—राघवानन्द—रामानन्द।

पर स्वामी रामानन्द की तिथि की समस्या काफी जटिल है और इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि 'भक्तमाल' की उक्त गुरु-परम्परा, जिसका उल्लेख ग्रियर्सन महोदय ने भी किया है, अपूर्ण है क्योंकि स्वयं स्वामी जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामार्चन पद्धति' श्लोक ३-५ में, जिसका उल्लेख पंडित बलदेव जी उपाध्याय ने भी किया है, रामानुजाचार्य के आगे की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

रामानुज—करेश—माधवाचार्य—वोपदेवाचार्य—देवाधिप—पुरुषोत्तम—गंगाधर—रामेश्वर द्वारानन्द—देवानन्द—श्रीआनन्द—हरियानन्द—राघवानन्द—रामानन्द।

इस प्रकार रामानन्द रामानुज की १४वीं परम्परा में पड़ते हैं न कि पाँचवीं में जैसा कि नाभादास जी ने सूचित किया था। सम्भवतः नाभादास जी केवल कुछ प्रमुख आचार्यों का ही नामोल्लेख करना चाहते थे। उपर्युक्त गुरु-परम्परा के अनुसार स्वामी रामानन्द का समय लगभग पंद्रहवीं शताब्दी के तृतीय चरण के प्रारम्भ में माना जा सकता है। इनकी दीर्घायु का प्रमाण अनेक साक्ष्यों से उपलब्ध होता है। गुरु राघवानन्द से दीक्षित होने के पश्चात् ही ये रामोपासक हुए। रामावत सम्प्रदाय की स्थापना में स्वामी रामानन्द ने उतना ही श्रम किया है जितना अद्वैतवादी शंकर का विरोध करके द्वैतवादी वैष्णव आचार्यों ने विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना में किया था। स्वामी राघवानन्द ने श्री सम्प्रदाय में रामोपासना की स्थापना अवश्य कर दी थी किन्तु अब भी वहाँ लक्ष्मीनारायण की प्रधानता थी और वहाँ रामावत सम्प्रदाय की कोई स्वतंत्र सत्ता न थी। यह कार्य सर्व-प्रथम स्वामी रामानन्द ने ही किया था। इसी प्रकार वैष्णव आचार के निर्वाह का भी प्रश्न कुछ जटिल रूप धारण करता जा रहा था और जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, स्वामी राघवानन्द को भी इसीलिए आचार्यपीठ एवं मातृ-भूमि द्रविड़ देश से हट कर उत्तर भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाना पड़ा था। फलतः स्वामी रामानन्द के सम्मुख न केवल गण्डोपासना के व्यापक प्रचार की ही समस्या थी प्रत्यत इसकी सैद्धान्तिक स्थापना का कार्य

भी इन्हें ही करना था। यह अवश्य है कि इसके लिए इन्हें किसी सर्वथा नवीन दर्शन की व्यवस्था नहीं करनी थी क्योंकि श्री सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा प्रपत्ति-सिद्धान्त में ही तदर्थ मूलभूत सर्वमान्य एवं बहु प्रचलित तत्व निहित थे। केवल इन्हीं तत्वों को एक मये ढंग से भगवान राम तक केन्द्रित कर देना था। हाँ, आचार-मीमांसा-सम्बन्धी कुछ सर्वथा नवीन उद्भावनायें इन्हें अवश्य करनी पड़ीं जिसकी स्वीकृति इन्हें समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों से प्राप्त थी। युग की प्रत्येक घड़कन को पहचानने में स्वामी रामानन्द से अधिक सफलता अब तक के किसी आचार्य को नहीं प्राप्त हुई थी और यही कारण है कि अधिकांश सम्प्रदायों में—यहाँ तक कि कुछ विरोधी सम्प्रदायों में भी स्वामी रामानन्द को मान्यता प्रदान की गई थी। उनके व्यक्तित्व की व्यापकता का ही प्रभाव है कि अनेक परवर्ती सम्प्रदायों ने उन्हें अपने सम्प्रदाय का आदि गुरु या संस्थापक स्वीकार किया है। तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि उस समय सगुण-निर्गुण, हिन्दू-मुसलमान, वैष्णव-अद्वैतवादी (कठोर वर्णाश्रमी तथा सहिष्णु आचारवादी, कभी-कभी स्वच्छन्द आचारवादी) की ऐसी समस्या उपस्थित हो चुकी थी जिसका समाधान यदि किसी के पास था तो केवल रामानन्द के पास ही। स्वामी रामानन्द ने अपने मत के व्यापक प्रचार के लिए ही जहाँ प्राचीन परम्परानुसार संस्कृत में 'वैष्णवमताञ्जभास्कर' तथा 'रामार्चनपद्धति' की रचना की थी वहीं 'राम रक्षा स्तोत्र' 'सिद्धान्त पटल' 'ज्ञान-लीला' 'ज्ञान-तिलक' तथा 'योगचिन्तामणि' आदि ग्रन्थों की रचना हिन्दी में की थी। हिन्दी रचनाओं में उन्होंने लोक प्रचलित आध्यात्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं को भी स्थान केवल इसीलिए दिया था कि उनका मत व्यापक प्रचार पा सके। इसी प्रकार शैव तथा शाक्तों के तंत्र, मंत्र, कोल-कवचादि की व्यवस्था भी रामोपासना में उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही की गई थी। यद्यपि उपर्युक्त हिन्दी रचनाओं को रामानन्द द्वारा विरचित मानने में कुछ सन्देह प्रस्तुत किया जाता है पर इतना तो सत्य ही है कि रामानन्द अपने सम्प्रदाय में विभिन्न विरोधी मतों को भी सिमेट लेना चाहते थे। उनके दार्शनिक विचारों का अवलोकन करते समय हम देखेंगे कि किस प्रकार स्वामी रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत को मानते हुए भी इसे रामोन्मुख कर दिया है। यही कारण है कि रामानन्द ने हर प्रकार से समन्वयात्मक मार्ग का अनुसरण करते हुए, धर्म का द्वार सभी ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के लिए खोलते हुए रामोपासना का एक ऐसा नव पथ निर्मित कर दिया जिस पर बिना किसी भेद-भाव के सभी चल सकते थे। यहाँ कबीर का यथार्थ और तुलसी का आदर्श साथ-साथ चल सकता था। भक्ति-आन्दोलन को जिस नयी दिशा की अपेक्षा थी उसका सृजन स्वामी रामानन्द ने अपने अथक परिश्रम तथा लगन से करके इसमें एक नई प्रगति ला दी थी।

सौभाग्यवश रामानन्द को शिष्य भी ऐसे मिले जो अपने आचार्य के उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल हुए। उनके इन शिष्यों ने आचार्य द्वारा नियोजित मार्ग को, जिसमें हिन्दू-मुसलमान, निर्गुण-सगुण, सब को विकास की प्रेरणा प्राप्त हो सकती थी, लगभग उसी रूप में आगे बढ़ाया। 'भक्तमाल' ने रामानन्द के शिष्यों का नाम इस प्रकार दिया है—

१. अनन्त, २. सुखानन्द, ३. सुरसुरानन्द, ४. नरहर्यानन्द, ५. भावानन्द, ६. पीपा, ७, कबीर, ८. सेन, ९. धना, १०, रैदास, ११. पद्मावती तथा १२. सुरसुरी।

इन शिष्यों में से अनन्तदास ने सगुण तथा कबीर ने निर्गुण भक्ति का प्रचार किया।

रामावत सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक ग्रन्थों की अलौकिक कथाओं को सत्य रूप में न स्वीकार करते हुए भी (जिनका उल्लेख 'भक्तमाल' प्रभृति ग्रन्थों में भी किया गया है) हम इतना तो मान ही सकते हैं कि स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने अपने गुरु की योग-साधना-समावेश की नीति को आगे अवश्य बढ़ाया था और रामानन्द की वैरागी-परम्परा की शाखा में योग-साधना के समावेश के फलस्वरूप ही 'तपसी शाखा' का उदय हुआ था। गलता गद्दी के महन्तों ने तो सम्प्रदाय में और भी न जाने कितने नये तत्व ला दिये थे जिनमें रसिकता का स्थान सर्वोच्च है।

पर स्वामी रामानन्द जी के उक्त १२ शिष्यों के परिश्रम के पश्चात् भी रामोपासना को सम्भवतः वह महत्त्व न प्राप्त हो सका होता और कृष्णोपासना की भाँति रामोपासना में लाख रसिकता भर कर भी इसे वे जनप्रिय नहीं बना सके होते यदि नरहर्यानन्द जी के शिष्य महात्मा तुलसीदास का आविर्भाव नहीं हुआ होता।

सिद्धान्त—जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया था, रामानन्द ने रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। वे भी तीनों पदार्थों—चित्, अचित् तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। चित् तथा अचित् से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर ही 'चिद्चिद् विशिष्ट' माना गया है। ईश्वर को वे जगत् का कारण तथा कार्य मानते हैं। कारण-ईश्वर तथा कार्य-ईश्वर क्रमशः स्थूल तथा सूक्ष्म रूप में विद्यमान है, किन्तु दोनों दशाओं में वह एक ही रहता है, उसके स्वरूप का व्याघात नहीं होता है। इस प्रकार रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत को पूरी स्वीकृति देते हुए रामावत सम्प्रदाय की स्थापना की थी। हाँ, जहाँ श्री वैष्णव मत में द्वादशाक्षर मंत्र की प्रधानता थी वहाँ स्वामी रामानन्द ने षडाक्षर मंत्र—'श्री रां रामाय नमः' की व्यवस्था कर दी जो रामावत सम्प्रदाय का मूल मंत्र है तथा द्वयमंत्र (पंचविशत्यक्षरमंत्र)—'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये', 'श्रीमते रामचन्द्राय नमः' तथा चरम मंत्र—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वं भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम, की व्यवस्था कर के उन्होंने श्री वैष्णवों से रामावत सम्प्रदाय को पृथक् भी कर दिया। 'भागवत' का अध्ययन करते समय हमें ज्ञात हुआ था कि वहाँ भगवान् कृष्ण के विमुग्धकारी, शक्तिशाली, सर्वव्यापी एवं सर्वोत्तम रूप के ध्यान पर बार-बार बल दिया गया था। 'भागवत' तथा इसी प्रकार के अन्य वैष्णव पुराणों में भी कृष्ण के ध्यान को ही प्रधानता दी गई थी, अतः रामानन्द ने रामोपासना की सुदृढ़ स्थापना के लिए सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र के ध्यान का आदेश दिया। इसी तृमूर्ति को उपर्युक्त तत्त्वमय का बाह्य विग्रह स्वीकार किया गया। सीता प्रकृतिस्थानीय, लक्ष्मण जीवस्थानीय तथा भगवान् राम ईश्वरतत्त्व माने गये। ये ही परमप्राप्य हैं। वे चेतनों के भी चेतन, संसार

के पालक, गुणों के सागर, शरण्य तथा प्रभु हैं। इनकी प्राप्ति से ही मुक्ति सम्भव है और प्राप्ति का एक मात्र साधन है भक्ति। भगवान राम में नित्य निरन्तर स्मरणपूर्वक परम अनुराग ही भक्ति है। भक्ति उत्पन्न होने के लिए १. विवेक (दृष्टाहार तथा सात्विक आहार का विवेचन), २. विमोक्त (काम में अनासक्ति), ३. अभ्यास (भगवान राम का सतत् शीलन), ४. क्रिया (पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान), ५. कल्याण (सत्य, आर्जव, दान-दया आदि), ६. अनवसाद (उत्साह), तथा ७. अनुद्वर्ष (सांसारिक हर्षों से अनासक्ति) आवश्यक है।

(स्वामी रामानन्द के हिन्दी ग्रन्थों के आधार पर हम उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं क्योंकि अधिकांश विद्वानों ने इनकी मौलिकता पर ठीक ही सन्देह किया है।)

रामावत सम्प्रदाय में रसिकता

महाकाव्य-युग में भागवत सम्प्रदाय का अध्ययन करते समय हमने वाल्मीकि का उल्लेख किया था। यद्यपि उस प्राचीन युग में रामोपासना किसी साम्प्रदायिक रूप में नहीं स्थापित की जा सकी थी और प्राचीन काल में केवल वीर-पूजा के रूप में ही राम को महत्व प्रदान किया गया था तथापि यह वीर-पूजा ही अवतार की भावना का मूल कारण बनती है और आगामी शताब्दियों में हम राम को प्राचीन साहित्यकारों के प्रिय पात्र के रूप में पाते हैं। राम-कथा को प्राचीन भारतीय साहित्य में जितना गौरव प्राप्त है, उतना सम्भवतः अन्य किसी धार्मिक या लौकिक कथा को नहीं प्राप्त हुआ है। यदि सच पूछा जाय तो राम को ईश्वरत्व एवं अन्ततोगत्वा उन्हें रसिक रूप प्रदान करने का बहुत कुछ श्रेय प्राचीन संस्कृत कवियों को ही है। अतः इसके पूर्व कि हम रसिक रामावत सम्प्रदाय के प्रत्यक्ष स्थापकों के प्रयासों का विवरण प्राप्त करें, रसमय राम-साहित्य पर दृष्टिपात करेंगे जो निश्चय ही रसिक रामावत सम्प्रदाय का अप्रत्यक्ष पर सशक्त उत्प्रेरक तत्व है। राम-काव्य में ही हमें रसिक-परम्परा के बीज निहित मिलते हैं। शृंगारमयी कृष्णोपासना के क्षेत्र में भी साहित्यकारों ने बहुत अधिक योग दिया था, किन्तु उतना ही महत्वपूर्ण योगदान आचार्यों का भी है, जब कि रामोपासना में साहित्यकारों की देन अपेक्षाकृत अधिक है। अतः हर दृष्टि से राम-साहित्य को रामावत सम्प्रदाय के अध्ययन में विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। हम संस्कृत-साहित्य से अपना अध्ययन आरम्भ करेंगे और पहले राम-चरित काव्यों को लेंगे।

रामकाव्य एवं नाटक

महाकवि वाल्मीकि ने 'रामायण' की जिस परम्परा का शिलान्यास किया था वह उस प्राचीन युग से आरम्भ होकर आधुनिक युग तक अबाध गति से चल रही है और भारत की लगभग सभी प्रादेशिक भाषाओं में किसी न किसी रूप में राम-कथा को काव्य का विषय बनाया गया है।

वाल्मीकि के 'रामायण' के सम्बन्ध में यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि इस प्रकार कृष्णोपासकों ने 'भागवत' को अपना प्रमाण ग्रन्थ स्वीकार किया था उसी प्रकार गलत गद्दी के स्वामी मधुराचार्य के प्रयासों से उक्त 'रामायण' अब की मधुरोपासना का एक उपजीव्य ग्रन्थ बन गया है। स्वामी मधुराचार्य ने 'रामायण' के अनेक स्थलों की शृंगार-परक व्याख्या करते हुए इसे रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय का आधार-ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। अपने 'सुन्दरमणि संदर्भ' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में उन्होंने 'रामायण' के विभिन्न शृंगारपरक स्थलों को उद्धृत करके यहाँ तक घोषित किया है कि भगवान् कृष्ण तो वंशीवादन से स्त्रियों को मोहित करते हैं जब कि श्री राम अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से ही नर-नारी क्या समस्त जीव-जन्तुओं को मुग्ध कर देते हैं।^१

रामोपासना में रसिकता के उन्नायकों में से जिस प्रकार मधुराचार्य ने 'रामायण' की रसिक व्याख्या की है उसी प्रकार पण्डित राधावल्लभशरण ने भी अनेक स्थलों की शृंगार परक व्याख्या करते हुए राम को शृंगार रस के सहायक, गान्धर्व तत्व के ज्ञाता-श्रोता, शृंगार के कन्दर्प आदि सिद्ध किया है।

प्राचीन संस्कृत-राम-साहित्य में शृंगारिकता की दृष्टि से महाकवि कालिदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कालिदास अपनी घोर शृंगारिकता के लिए विश्वविख्यात हैं पर राम के साथ तो इन्होंने उतनी छूट नहीं बरती है जितनी कि शिव के शृंगारिक चित्रण में 'कुमार सम्भव' में देखने को मिलती है। फिर भी राम का मर्यादित शृंगारिक रूप 'रघु-वंश' में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। कालिदास के पश्चात् आठवीं शती में भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' में राम के रसमय जीवन की सफल झाँकी दी है। संयोग एवं वियोग दोनों अवस्थाओं का चित्रण 'उत्तररामचरित' में उपलब्ध है पर प्रधानता विप्रलम्भ शृंगार की है, (शृंगार-कान्य में इसे ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्व भी मिलना चाहिए था।) लग-भग इसी समय कुमारदास का आविर्भाव होता है जिन्होंने संयोग शृंगार की कमी को पूर्ण करते हुए 'जानकी हरण' में घोर शृंगारिकता का वातावरण सृजित कर दिया। कुमार-दास ने राम-सीता के विलास-वर्णन के लिए एक पृथक सर्ग ही रचा है जिसमें 'आलिगन' 'चुम्बन' तथा 'नीवीबन्धन-मोक्ष' क्या, सब कुछ है। और 'सुरत-क्रीड़ा' तक की योजना की गई है। (जानकी हरण, सर्ग आठ दृष्टव्य, 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय'—डा० भगवती प्रसाद सिंह, पृष्ठ ७३ पर उद्धृत)।

प्राचीन काल का दूसरा महत्वपूर्ण रसिक ग्रन्थ है 'हनुमन्नाटक' जिसे मधुरोपासकों द्वारा बहुत अधिक महत्व दिया गया है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन रसिक राम-साहित्य को इसी ग्रन्थ में पराकाष्ठा पर पहुँचाया जाता है। इसकी तिथि सम्भवतः १०वीं शती है। यहाँ शृंगारिकता अस्वीलता की सीमा छूने लगती है, (हनुमन्नाटक २।२१) और राम बार-बार आलिगन-चुम्बन से भी तृप्त होते नहीं दिखाई देते हैं। नाटकों की परम्परा

में बारहवीं शती में जयदेव द्वारा विरचित 'प्रसन्नराघव' का भी नाम विशेष उल्लेखनीय है और फिर जयदेव के हाथों में पड़कर राम-साहित्य कितना रसमय हो गया होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ सीता साक्षात् रति तथा राम कामदेव-सा लगते हैं। हस्तिवल्लभ के 'मैथिली कल्याण' में यह कामुकता और आगे बढ़ती है और वहाँ स्वयंवर के पूर्व ही राम-सीता कामदेव-मन्दिर में और फिर माधवी वन में मिलते हैं। मध्यकालीन नाटकों में 'उदार राघव' 'सत्योपखान' का नाम उल्लेखनीय है जिसे रसिकों ने अपनाया है। कुछ ऐसा भी राम-साहित्य है जो केवल सम्प्रदाय की गुरु-देहरी तक ही सीमित है। उदाहरणार्थ 'बृहतकौशल खण्ड'।

वाल्मीकि के पश्चात् साम्प्रदायिक दृष्टि से 'कंवन रामायण', 'आनन्द रामायण', 'भुशुंडि रामायण' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'कंवन रामायण' दसवीं शताब्दी की रचना कही जाती है। तमिल कवि कंवन इसके रचयिता हैं। इसमें विवाहपूर्व सीता-राम के अनुराग का शृंगारिक चित्रण किया गया है। यहाँ दोनों की प्रेमजनित आतुरता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। कंवन निश्चय ही घोर शृंगारवादी कवि थे। उन्होंने दशरथ की जलक्रीड़ा तथा अन्यान्य विलासपूर्ण लीलाओं का भी चित्रण किया है।

'आनन्द रामायण' (पन्द्रहवीं शताब्दी) में तो यह रसिकता और भी आगे बढ़ाई गई और यहाँ कहीं-कहीं तो राम-सीता की प्रेमचेष्टाएँ अश्लीलता को भी चुनौती देने लगती हैं। कामशास्त्रियों द्वारा वर्णित काम-चेष्टाओं को कवि ने राम के केलिवर्णन में बड़ी ही रोचकता से चित्रित किया है। उक्त ग्रन्थ में रामोपासकों को विष्णु-भक्तों का गुरु बताया गया है जिससे यह लक्षित होता है कि कवि रामोपासना को बहुत अधिक ऊँचा उठाना चाहता था और वह कृष्णोपासकों की मधुरिमा से भी होड़ लेना चाहता था। इस बृहदाकार ग्रन्थ में १२२५२ श्लोक हैं। नौ काण्डों में 'विलास काण्ड' के नवों सर्ग अब तक के समस्त रसिक रामकाव्य को पीछे छोड़ जाते हैं। सीता का नखशिख वर्णन तथा जल-क्रीड़ा तो घोर शृंगारिकता से ओतप्रोत है। कृष्णावतार का जो रहस्य उक्त रामायण में दिया गया है वह विशेष द्रष्टव्य है। 'राज्य काण्ड' में लिखा है कि राम के रूप को देख कर स्त्रियाँ कामातुर हो जाती हैं। तब राम अपने अगले (कृष्ण) अवतार में १६१०८ नारियों की लालसा पूर्ण करने का आश्वासन देते हैं। यहीं २१वें सर्ग में कथा आती है कि राम का ताम्बूल रस उनकी एक दासी पी जाती है जिसके फलस्वरूप उसे अगले जन्म में राधा बनने का वरदान प्राप्त होता है। इन सारे विवरणों से ग्रन्थकार का उद्देश्य स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है कि वह रामोपासना को कृष्णोपासना से हर प्रकार से श्रेष्ठ ठहराना चाहता है। 'भुशुंडी रामायण' भी रसिक सम्प्रदाय वालों का एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। जिस प्रकार वाल्मीकि के 'रामायण' से 'महाभारत' प्रभावित हुआ था और वहाँ सीता-हरण की भाँति, द्रौपदी-हरण की कथा गढ़ी गई थी उसी प्रकार वैष्णव ग्रन्थ 'भागवत' से 'भुशुंडी रामायण' प्रभावित होता है और यहाँ बालक कृष्ण की भाँति बालक राम को रावण द्वारा प्रेरित राक्षस मारने आते हैं। यद्यपि ये राक्षस स्वयं अपना अन्त देखते हैं तथापि दशरथ राम को गुप्त स्थान में भेज देते हैं। सरयूपार गोप-प्रदेश में गोपेन्द्र सुखित

२०२ : भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन

तथा उनकी पत्नी मांगल्या के यहाँ इनका पालन-पोषण होता है। ये तथा इसी प्रकार के अन्य प्रसंग पूर्णतया 'भागवत' से प्रभावित हैं। विवाह के पूर्व ही राम अपनी पराशक्ति सीता तथा गोपियों के साथ अयोध्या के प्रमोदवन में रासलीला करते हुए दिखाये गये हैं। इतना ही नहीं राम मिथिला पहुँच कर सीता के पास एक पक्षी द्वारा अपना चित्र भी भेजते हैं। चित्रकूट में भी गोप-गोपिकाओं के साथ रास-क्रीड़ा का आयोजन किया गया है। विचित्रता यह है कि सीता के अतिरिक्त राम की एक अन्य पत्नी सहजा का भी उल्लेख किया गया है और सीता ज्ञानपरक भक्ति की प्रतीक हैं तथा सहजा प्रेमाभक्ति की। इन प्रमुख प्राचीन रामचरित-काव्यों के अतिरिक्त रसिक सम्प्रदाय में कुछ अन्य अर्वाचीन चरित-काव्यों का भी महत्व है। किन्तु इनका विशेष प्रचार नहीं हो सका था और ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इनका केवल समसामयिक तथा केवल स्थानीय महत्व ही रहा होगा। ये ग्रन्थ हैं 'महारामायण' जिसमें राम शब्द की व्युत्पत्ति ही 'रस' धातु से सिद्ध करते हुए रास-लीला का चित्रण किया गया है, 'आदि रामायण' जिसमें चित्रकूट में राम सीता एवं उनकी स्त्रियों के साथ रास-क्रीड़ा करते हुए दिखाये गये हैं, 'मन्द रामायण' जिसमें जनकपुर की बाटिका में राम-सीता का लीला-विलास चित्रित है तथा 'मंजुल रामायण' जिसमें राम की रागमयी भक्ति का विवरण दिया गया है। सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में काशी के अद्वैत नामक ब्राह्मण ने 'रामलिगामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। 'जानकी राम-क्रीड़ा हितक' अध्याय में अद्वैत जी ने संभोग लीला का वर्णन किया है। काशी में किसी समय रसिकोपासकों के लिए यह प्रेरक सिद्ध हुआ होगा। लगभग इसी के आगे-पीछे 'कौशल खण्ड' नामक रामकाव्य की भी रचना हो चुकी थी जिसमें राम का शृंगारिक रूप पूर्ववर्ती रामायणों की भाँति चित्रित है।

उपर्युक्त सभी रामचरित-काव्यों को उत्तर मध्यकालीन रसिक रामावताचार्यों ने अपने साहित्य में स्थान दिया है और बिखरी हुई रस-सामग्री को एकत्रित करके रसिक सम्प्रदाय के साहित्य को सम्बद्धित किया है।

संहिता ग्रन्थ

रामोपासना में रसिकता का बीजारोपण करने वाली कुछ संहिताएँ भी हैं, जिनमें कुछ की तिथि मध्यकाल में ठहराई जा सकती है और कुछ नितान्त अर्वाचीन ही मानी जा सकती हैं। अभी तक इनकी तिथि-निर्धारण की समस्या नहीं सुलझाई जा सकी है अतः हम यहाँ विषय को महत्व देने के क्रम से इनका अध्ययन करेंगे। इनकी संख्या भी कम नहीं है। पाँच-रात्र संहिताओं के बढ़ते हुए प्रचार एवं प्रभाव ने सभी सम्प्रदायों को अपनी संहिता या आगम की रचना के लिए प्रेरित किया था। जिन संहिताओं का अधिकाधिक प्रचार हो गया और इस प्रकार जिनको व्यापक साम्प्रदायिक मान्यता प्राप्त हो गई वे तो पूर्व मध्यकाल या मध्यकाल में ही अन्यान्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धृत की गईं किन्तु जिनको केवल स्थानीय महत्व ही प्राप्त हो सका था और इस प्रकार जिनका प्रचार कम हो सका था उनकी जानकारी बहुत दिनों तक नहीं हो सकी थी। विशेषतया रसिकतापूर्ण संहिताओं को तो, जिनमें कुछ गुह्य एवं गोपनीय क्रियाओं का वर्णन रहा, व्यापक प्रचार नहीं ही मिल सका था। फलतः इनकी तिथि और इनके

प्रणेताओं के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अनुमानतः इनका रचना-काल १५वीं शताब्दी के बाद ही माना जा सकता है। अनेक संहिताएं तो और भी बाद की हो सकती हैं। इन संहिताओं में सर्व प्रथम उल्लेखनीय नाम 'हनुमत्संहिता' है जिसकी तिथि १५वीं शताब्दी के आस-पास ठहराई जा सकती है। इस संहिता का रामोपासक रसिक सम्प्रदाय में मुख्य स्थान है और अनेक परवर्ती रसिक साहित्य पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ राम की अनन्यभक्ति एवं अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध हनुमान को राम की प्रधान एवं प्रियतम सखी (चारुशीला सखी) के रूप में चित्रित किया गया है। सीता की १८१०८ सखियों के साथ राम की रस-क्रीड़ा का भी उल्लेख किया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में रस-प्रकरण है जो पूर्णतया रस-शास्त्रानुकूल है। साम्प्रदायिक महत्व की दूसरी संहिता है 'शुक संहिता'। इसमें राधा-कृष्ण की रास-लीला तो है ही, साथ ही भगवान राम को भी सीता की विलासमय भावनाओं की तृप्ति के लिए हम यहाँ नाना प्रकार की चेष्टायें करते हुए पाते हैं। अन्त में वे सीता को यह दिखा देते हैं कि वे ही राधा हैं और और स्वयं राम ही कृष्ण हैं। इन समस्त विवरणों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस समय तक राधा-कृष्ण की जो घोर शृंगारिक रास-लीलाएँ चित्रित की जा रही थीं उतना तो ग्रन्थकार राम के प्रसंग में नहीं कर सकता था अतः विवश होकर वह राम तथा सीता को कृष्ण तथा राधा-रूप में दिखा कर सन्तोष कर लेता है। चित्रकूट में छः महीने की पूर्णिमा की एक रात्रि की योजना करके तथा राम-सीता का अनेक सखियों के साथ रासलीला कराके भी ग्रन्थकार की सीता का सन्तोष नहीं होता और तब रामचन्द्र ने गोलोक का निर्माण किया जिसमें सरयू यमुना में, मणिपर्वत गोवर्धन में, कल्पवृक्ष वंशीवट में, दशरथ नन्दरूप में, कौशल्या यशोदा रूप में, जानकी राधा रूप आदि में परिणत हो जाती हैं, अर्थात् राम-कथा सम्बन्धी पूरे के पूरे उपादान-उपकरण, स्थान, रूप आदि कृष्ण-सम्बन्धी अवयवों, उपादानों आदि में परिणत हो जाते हैं। सखियों के साथ सीता-राम की रास-लीला का अत्यन्त शृंगारिक एवं बेजोड़ वर्णन करने वाली संहिता है 'लोमश संहिता' जिसमें राम-सीता का संयोग कराने वाली सखी चन्द्रकला भी है। काव्य की दृष्टि से यह संहिता निश्चय ही प्रशंसनीय है। इसकी कोमल-कान्त पदावली सहसा जयदेव की स्मृति दिला देती है—

अखण्ड रासमण्डले सखी समूहकल्पिते
 रराज राजनन्दिनी विमोहयन् जगत्त्रयम् ।
 प्रकामकामकामुको मनोजमंत्रभावितं
 रणन्मुवल्लकी भृशं सुधासुधारया तदा ।
 क्वचित् क्वचिद्वनान्तरे क्वचित् क्वचिल्लतान्तरे
 क्वचित् क्वचित्कुचान्तरे प्रविश्य राजनन्दनः ।
 प्रदीपयन्मनोभवं प्रदर्शयन्स्वलाघवं
 कलाकुतूहलं मुहुः प्रकामकामशास्त्रजम् ॥^१

ठीक उसी कोटि की दूसरी संहिता है 'शिव संहिता'। अन्यान्य संहिताओं की भाँति भगवान राम के अनेक गुणों तथा विभूतियों का विस्तृत वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने राम की रास-लीला का 'रास पंचाध्यायी' की भाँति ही चित्र खींचा है और भगवान राम के प्रति यह उद्गार व्यक्त किया है कि उनके मधुर वेणुनिनाद को सुनकर तथा त्रैलोक्य मोहन रूप को देखकर कौन स्त्री कुलधर्म नहीं छोड़ देगी।^१ इतना ही नहीं यहाँ 'मान' तथा 'मनुहार' भी है फिर कदलीवन में सीता-राम का प्रेम-प्रसंग भी आयोजित है।

उपर्युक्त संहिताओं के अतिरिक्त 'वशिष्ट संहिता', 'सदाशिव संहिता', 'महा सदाशिव संहिता', 'ब्रह्म संहिता', 'महाशंभु संहिता', 'पुराण संहिता', 'आलमंदार संहिता', 'बृहद ब्रह्म संहिता', 'सनत्कुमार संहिता', 'अगस्त्य संहिता' आदि अनेक संहिताएँ रामावत सम्प्रदाय के मधुरोपासकों को प्रेरणा देती रही हैं। अन्त में इन संहिताओं के विषय में इतना कह देना आवश्यक है कि इनमें से अधिकांशतः या तो काव्यशास्त्र के सुधी मर्मज्ञों या रससिद्धों द्वारा लिखी गई हैं जैसा कि उनकी काव्यगत विशेषताओं से प्रमाणित होता है, अथवा फिर उन राम-भक्त रसिक कवियों द्वारा विरचित हैं जिन पर 'भागवत' का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। भगवान राम को अवतारों का कारण एवं परब्रह्म परमेश्वर सिद्ध करने की चेष्टा लगभग सभी संहिताओं ने की है। साथ ही कुछ संहिता राधा-कृष्ण की लीलाओं का भी घोर शृंगारिक वर्णन करने में नहीं चूकती हैं। इनमें 'बृहद ब्रह्म संहिता', 'शुक संहिता' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन संहिताओं से एक तथ्य तो निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि रामोपासना में रसिकता के प्रवेश का अधिकांश श्रेय कृष्णोपासना में मधुरिमा लाने वाले 'भागवत' को ही दिया जा सकता है। कुछ तांत्रिक प्रभावों को भी इसके मूल में स्वीकार किया जा सकता है जैसा कि हमें 'उपनिषद्' विरुद्धवारी साम्प्रदायिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

उपनिष

जिस प्रकार संहिता या आगमों को साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्व दिया जाता है, उसी प्रकार हर सम्प्रदाय की अपनी उपनिषद् भी आवश्यक थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रामावत सम्प्रदाय वालों ने भी अपनी उपनिषद् रचीं। शृंगारोपासक रामावत की भी कुछ अपनी उपनिषदें हैं जिनकी रचना निश्चय ही १४वीं-१५वीं शताब्दी के बाद से आरम्भ हुई होगी। इन ग्रन्थों के प्रणेताओं ने भरसक यह चेष्टा की है कि उनकी रचना-शैली पूर्ववर्ती उपनिषदकारों की भाँति ही रहे। विषय-प्रतिपादन में भी इन्होंने वही पद्धति अपनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु विषय पूर्णतया भिन्न है। इनमें न केवल साम्प्रदायिक तत्त्वों का बाहुल्य है प्रत्युत अधिकांश उपनिषदों पर तो तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'रामतापीनीयोपनिषद्', सम्पूर्ण जगत् को राममय बताकर तथा परमात्मा जीवात्मा का सेव्य-सेवक, आधार आश्रय, नियम्य-नियामक, शेष-शेषी, व्याप्य-व्यापक, शरीर-शरीरी, पिता-पुत्र, मातृ-भार्या आदि नवधा-विधि-सम्बन्ध का उल्लेख करके अन्त में 'तारक मंत्र' तथा रामपंचायतन का आसन त्रिकोण-पद्धति पर दिखाती है जो निश्चय ही तांत्रिक प्रभाव है। राम को इस

उपनिषद् में अपनी आल्हादिनी शक्ति सीता से सदा आश्लिष्ट संयुक्त माना गया है। पर मधुरोपासकों के लिए सर्वाधिक महत्व 'विश्वम्भरोपनिषद्' का है जिसे पूर्व कथित उपनिषद् की भाँति ही अथर्ववेद से लिया हुआ कहा जाता है। राम को सभी देवों से श्रेष्ठ सिद्ध करना ही ग्रन्थकार का प्रमुख उद्देश्य ज्ञात होता है। भक्ति के प्रधान आचार्य शाण्डिल्य स्वयं महाशंभु से ही प्रश्न करते हैं कि सभी देवों में श्रेष्ठ, सगुण-निर्गुण से परे, वाणी-मन-बुद्धि से अगोचर, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के सर्वेश्वर कौन हैं और वह मंत्र कौन है जिसके द्वारा जीव संसार से मुक्त होकर भगवान का सायुज्य प्राप्त करता है। उत्तर में महाशंभु ने राम को ही निर्गुण-सगुण ब्रह्म से परे बताया और कहा है कि वे अयोध्या में केवल रासलीला ही करते हैं। अनेक मन्त्रों का उल्लेख करते हुए अन्त में 'राम रामाय नमः' 'श्रीमद्रामचन्द्रचरणो शरणप्रपद्ये श्रीमते राम-चन्द्रायनमः' तथा 'ऊँ नमः सीतारामाभ्याम्' इन तीन मन्त्रों को प्रधान कहा गया है। राम के दो स्वरूप बताये गये हैं—परिछिन्न तथा अपरिछिन्न। परिछिन्न स्वरूप से वे साकेत-लोक में नारियों के समूह में वास करते हुए केवल रासलीला करते हैं और अपरिछिन्न स्वरूप से वे संसार की उत्पत्ति का कारण हैं। सभी अवतारों की उत्पत्ति भी इन्हीं की चरण-रेखाओं से बताई गई है।

जहाँ 'रामतापनीयोपनिषद्' ने भगवान राम को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए उन्हें केवल रास-लीला में लीन बताया है वहीं 'सीतोपनिषद्' में सीता को सर्वोच्च सिद्ध करते हुए स्वयं भगवान को भी उनके संकेतों पर चलने वाला कहा गया है और उनसे ही अगणित महा-काली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, उमा, राधा, तारा, दुर्गा आदि का उद्भव बताया गया है। सीता ही सृष्टि, स्थिति तथा लय की नियामिका हैं। इनके विभिन्न रूपों एवं शक्तियों की भी कल्पना की गई है। 'रामरहस्योपनिषद्' को भी रामावत सम्प्रदाय में कहीं-कहीं आदर प्राप्त है, पर मधुरोपासकों के लिए पूर्वोक्त दो उपनिषदें ही महत्वपूर्ण हैं।

स्तवराज

जिन संहिताओं का उल्लेख किया जा चुका है, उन्हीं से कुछ 'स्तवराज' ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था जिनमें 'रामस्तवराज' तथा 'जानकी स्तवराज' जो क्रमशः 'सनत्कुमार संहिता' तथा 'अगस्त्य संहिता' से लिये गये हैं, विशेष उल्लेखनीय हैं। 'रामस्तवराज' सभी रामोपासकों का मान्य ग्रन्थ है। इसके भाष्यकार श्री हरिदास ने इसकी हलकी शृंगारिता पर भी गहरा रंग ढा दिया है और यह दिखाया है कि भगवान का रूप ही कुछ ऐसा है जिसे देखकर जब पुरुष तपस्वियों का मन डोल जाता है तो फिर स्त्रियों की क्या दशा होगी। रसिक रामावतों में सम्भवतः इस भाष्य के कारण ही 'रामास्तवराज' का महत्व बढ़ा है। दूसरा ग्रन्थ है 'जानकी स्तवराज' जिसमें सीता का नखशिख वर्णन एक सफल शृंगारी कवि की भाँति किया गया है। ग्रन्थकार का उद्देश्य है सीता को सजाना और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है। किन्तु भक्ति की भावना इस घोर शृंगारिता में कहीं भी दबने नहीं पाई है। सीता के सुन्दर तलवों की लाली साधारण लालिमा नहीं है प्रत्युत वह भक्तों का पूजीभूत अनुराग है, उनके मस्तक की लाल बिन्दी भी भक्तों की प्रीति का ही प्रतीक है। भगवान राम की कृपा पाने वालों को सीता के चरणों की सेवा को ही अनिवार्य बताया गया है। इन ग्रन्थों की तिथि तो और भी बाद में ठहराई जा सकती है।

अब तक हमने जिस साहित्य का विवरण प्रस्तुत किया है, वही और केवल उतना ही रसिक रामोपासकों का संस्कृत-साहित्य नहीं है। यह कोष बहुत ही समृद्ध है। अर्वाचीन कवियों ने भी हिन्दी एवं रेखता के साथ-साथ संस्कृत में राम-साहित्य लिखकर इसमें बहुत अधिक अभिवृद्धि कर दी है। जब पूर्व मध्यकाल में रामोपासना में मधुरिमा की पूर्ण स्थापना हो गई और उधर मध्यकाल में यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई तो कवियों ने 'मेघदूत' से प्रभावित होकर रामकाव्य में भी दूत साहित्य की रचना आरम्भ की। इनमें प्राचीनतम सम्भवतः वेदान्तदेशिक (वेंकट) का 'हंस दूत' है। इस परम्परा के अन्य ग्रन्थ हैं रुद्र वाचस्पति का 'भ्रमरदूत', वासुदेव का 'भ्रमरसंदेश' वेंकटाचार्य का 'कोकिल-सन्देश' कृष्णचन्द्र का 'चन्द्र-दूत' आदि।

जयदेव के 'गीत-गोविन्द' ने भी रामोपासक रसिक कवियों को बहुत अधिक प्रभावित किया था और अनेक राम-भक्त कवियों ने गीति-साहित्य की रचना करके राम-सीता का श्रृंगारिक रूप प्रचारित किया था। पर इनकी तिथि पूर्णतया अर्वाचीन है।

राम-भक्ति में रसिक हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं का उल्लेख यथास्थान किया जायेगा। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि साम्प्रदायिक साहित्य में रसिक धारा पाँच नामों से अभिहित है—१. जानकी सम्प्रदाय, २. रहस्य सम्प्रदाय, ३. रसिक सम्प्रदाय, ४. जानकी बल्लभी सम्प्रदाय, तथा ५. सिया सम्प्रदाय। किन्तु इन पाँचों नामों में 'रसिक सम्प्रदाय' नाम सर्वप्रचलित है। डा० भगवती प्रसाद सिंह ने इसका कारण यह बताया है कि इस धारा के प्रवर्तक अग्रदास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्यानमंजरी' तथा 'अष्टयाम' में राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करने वालों को रसिक की संज्ञा दी है।

१० : भागवत धर्म में मधुरोपासना तथा रसिकता

नारायण (कृष्ण), नारद, पाँचरात्रिकों, कृष्ण द्वैपायन, वेदव्यास, शाण्डिल्य आदि द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित भागवत धर्म जब धार्मिक आंदोलन का रूप ग्रहण करता हुआ बहुसंख्यकों एवं विभिन्न देशी एवं विदेशी जातियों की वस्तु बनने लगा तो स्वभावतः इसमें कुछ नवीन तत्व सम्मिलित हो गये। इन्हीं नवागत तत्वों में से कृष्ण तथा राम के अन्त्यन्त रसिक रूप की कल्पना एक उल्लेखनीय तत्व है जिस पर यहाँ विचार किया जायेगा।

यद्यपि हम उपर्युक्त तत्व के समावेश की कोई निश्चित तिथि नहीं दे सकते तथापि उपलब्ध साहित्यिक सामग्रियों के आधार पर इसे हम पुराणों की अवधि तक ले जा सकते हैं। अधिकांश विद्वानों ने तदर्थ भगवान की शक्ति-कल्पना के उदय के मूल का अन्वेषण किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत के सभी धार्मिक सम्प्रदायों में शक्ति की कल्पना किसी न किसी रूप में की गई है।^१ यहाँ हमें केवल लक्ष्मी, राधा तथा सीता तक ही अपने को सीमित रखना है, इनमें भी राधा तथा सीता से ही हमारे विषय का सीधा सम्बन्ध है क्योंकि लक्ष्मी के साथ विष्णु के हास-विलास की वैसी रसिक कल्पना नहीं की गई है जैसी कि हमें कृष्ण एवं कुछ राम-भक्तों में उपलब्ध होती है। इन दोनों सम्प्रदायों में से कृष्ण-भक्ति में रसिक भावना का प्रारम्भ पूर्ववर्ती है तथा रामभक्ति में परवर्ती। लक्ष्मी के कमनीय रूप की कल्पना कभी पाँचरात्रिकों ने भी की थी और 'अहिर्बुध्न्य' संहिता ने 'कामदानाच्च कमला' आदि के साथ 'रति' 'मोहिनी' आदि नाम देकर भागवत धर्म में मधुर उपासना का बीज अवश्य बोया था किन्तु इसका पूर्ण विकास पुराणों में ही हो पाया था। पुराणों ने ही भगवान विष्णु या शिव की शक्तियों के अनेक नामकरणों की योजना की थी और उन्होंने ही लक्ष्मी-सम्बन्धी अनेक मौलिक कथाओं की सृष्टि की थी। लोक-प्रचलित कथाओं को भी कुछ पुराणों में बड़ी रुचि के साथ लिपिबद्ध किया गया है। दक्ष तथा प्रूति से लक्ष्मी तथा उनकी २३ बहनों का जन्म बताया गया। अथवा 'विष्णु पुराण' में भृगु तथा ख्याति से लक्ष्मी का जन्म सूचित किया, गया, पर लोक-मत में लक्ष्मी के समुद्रोद्भव वाली कथा ही विशेष प्रचलित रही, सम्भवतः विशेष प्राचीन भी^२। लोकमत में विष्णु तथा लक्ष्मी के पति-पत्नी भाव को भी पर्याप्त महत्व मिल चुका था और लक्ष्मी को एक आदर्श पत्नी के रूप में देखा जाता था। प्राचीन भारत

१. पुराणों के युग तक शक्ति की भावना इतनी प्रबल हो उठी थी कि पौराणिक युग के देवताओं की तो बात क्या, 'महाभारत' एवं वैदिक काल के देवताओं को भी बिना शक्ति के पूर्ण नहीं माना जा सकता था और इसीलिए पुराणकारों ने प्रत्येक देवता की पत्नियों की कल्पना की थी।

२. लक्ष्मी या श्री की वैदिक परम्परा एवं स्वरूप के लिए डा० शशिभूषण दास गुप्ता की पुस्तक 'श्री राधा का क्रम विकास' पृष्ठ १५-१९ द्रष्टव्य है।

की अन्तिम चार शताब्दियों (आठवीं से बारहवीं शताब्दी) में मन्दिर तथा मूर्ति-निर्माण की बाढ़ सी आ गई थी और इन मूर्तिकारों ने लक्ष्मी को विष्णु का पैर दवाते दिखाया है। एक बात और। परवर्ती कवियों एवं शिल्पियों को पुराणों का लक्ष्मी-सम्बन्धी तात्त्विक सिद्धान्त उतना मोहक न था जितना लौकिक। अतः स्वभावतः उन्होंने पुराण के परवर्ती अंशों में से ही भाव-ग्रहण किया था, जहाँ लक्ष्मी के उस रूप का चित्रण किया गया है जो लोकमत के काफी निकट था। द्रष्टव्य है कि भगवान् विष्णु के अवतारों की भाँति लक्ष्मी के भी अवतारों की कल्पना की गई है और सभी अवस्थाओं में वे पत्नी ही हैं। स्वकीया भाव बहुत दूर तक विष्णु-लक्ष्मी से पृथक् नहीं होने पाया है। पर कालान्तर में कुछ तांत्रिक प्रभावों ने, जिन पर आगे विचार किया जायेगा, स्थिति में परिवर्तन ला दिया और उनके जगज्जननी रूप को कमनीय एवं कलामय बना दिया। स्वकीया भाव का बहुत अधिक गहराई और तन्मयता के साथ निर्वहण न होने का एक कारण यह भी सिद्ध हुआ कि पुराणकारों ने विष्णु की सोलह से लेकर सोलह हजार पत्नियों तक की बात कही। इसी प्रकार कृष्ण की भी आठ, सोलह और बाइस पत्नियों का उल्लेख मिलता है। पुराणकारों ने चाहे जिस प्रतीकात्मक या लक्षणात्मक रूप में अगणित पत्नियों की कल्पना की हो, पर लोकमत में तो इस उद्भावना ने रसिकता का ही बीजारोपण किया था। हाँ, सीधे विष्णु और लक्ष्मी से यह भाव जोड़ने में कुछ असुविधा हो रही थी क्योंकि लक्ष्मी का जगज्जननी रूप सर्वोपरि उठा हुआ था। किन्तु जब विष्णु और लक्ष्मी के अवतारों की कथाओं का नाना रूप में नाना प्रकार से चित्रण किया जाने लगा तो कथाकारों को पूरी छूट का अवसर प्राप्त हो गया। यहीं लीला-चित्रण का भी अवसर मिला। प्रारम्भ में तो लीला केवल विद्व-सृष्टि तक ही सीमित थी किन्तु 'पद्मपुराण' के अन्तिम खण्ड तक आते-आते लक्ष्मी को अवलम्बन बना कर आनन्ददायिनी लीला की योजना कर दी जाती है। अब विष्णु के भोग और लीला का सम्बन्ध जोड़ दिया गया। इसी पौराणिक लीला को हम परवर्ती रास-लीला का आदि रूप या कम से कम प्रेरक रूप कह सकते हैं और पूर्वोक्त कमनीय रूप को ही हम आने वाली शृंगारिकता का बीज स्वीकार कर सकते हैं। यहाँ पहला सोपान श्री का ललिता नामकरण है और फिर ललिता और कृष्ण का धूल-मिलकर एक हो जाना है। 'पद्मपुराण' का तत्सम्बन्धी विवरण स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ द्रष्टव्य है—

अहं च ललितादेवी राधिका या च गीयते।

अहं च वासुदेवाद्यो नित्यं कामकलात्मकः।

.....

अहं च ललितादेवी पुं-रूपा कृष्ण-विग्रहा।

आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं ही नारद ॥^१

इन्हीं तांत्रिक प्रभावों ने पुरुष और प्रकृति को लिंग एवं योनि द्वारा पीछे धकेल कर

१. पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ४४।४५।४६, डा० शशिभूषण दास गुप्त द्वारा 'श्री राधा का क्रमविकास', पृष्ठ ७७ पर उद्धृत।

विष्णु-प्रिया लक्ष्मी या रमा के केवल रमण रूप को समाज के सम्मुख प्रचारित करके और सृष्टि का आदि कारण इसी रमण को दिखा कर प्रत्यक्ष रूप से रसिक भावनाओं के लिए पृष्ठभूमि सृजित की थी। अब ब्रह्म की पराशक्ति को भी योनि-स्वरूपा कहा जाने लगा, काम को ही हरि का महत् बीज स्वीकार किया गया तथा इसी लिंग-योनि से सारे भूतगण की उत्पत्ति मानी जाने लगी। शैव-शाक्त सम्प्रदाय पर इस उद्भावना का क्या प्रभाव पड़ा, यह यहाँ विचारणीय नहीं है, किन्तु वैष्णव मत पर इसका जो कुप्रभाव पड़ा वह हमारे अध्ययन का विषय है और उस पर हम यहाँ कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

मध्यकालीन भागवत-आन्दोलन के प्राण कुछ आचार्यों को ही हम रसिक भावना के क्रमिक विकास का श्रेय दे सकते हैं। किन्तु इस रसिकता के बहुव्यापक प्रचार के लिए इन आचार्यों को भी कवियों की अपेक्षा थी। वास्तविकता तो यह है कि यदि भारतीय कवियों ने कृष्ण या राम को नहीं अपनाया होता है तो भक्ति-आन्दोलन को मध्यकाल में इतना प्रसार मिल पाया होता या नहीं अथवा कृष्ण या राम के रसिक रूप का भी प्रचार हो पाता या नहीं, इसमें सन्देह ही था।

प्रमुख उल्लेखनीय आचार्यों में रामानुज के मत में पौराणिक एवं पांचरात्रिक लक्ष्मी का रूप ही स्वीकार किया गया था और जैसा कि हमें ज्ञात है, लीला को बहुत अधिक विस्तार देते हुए भी श्री सम्प्रदाय वालों ने मधु एवं विदग्ध दो प्रकार की लीलाओं को स्वीकार किया था। रामानुज के सिद्धान्तों पर विचार करते समय हमने देखा था कि वहाँ श्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है; पर कमनीय रूप को सँवारने की न वहाँ आवश्यकता थी और न उपयोगिता ही। किन्तु परवर्ती आचार्यों को इसकी अत्यधिक आवश्यकता थी और उन्होंने मधुर भाव के विकास में अनेक उद्भावनाएँ की थीं। मध्व ने रामानुज की सीमाओं तक ही अपने को इस दृष्टि से बाँध रखा है और लक्ष्मी तथा विष्णु के सम्बन्धों को पति-पत्नी रूप में देखा है, जैसा कि पौराणिक युग से प्रचलित था, किन्तु रुद्र तथा सनक सम्प्रदाय वाले लक्ष्मी से हट कर राधा की ओर आते हैं। बस यहीं से गोपाल कृष्ण के साथ राधा का रूप सँवारना आरम्भ होता है।

वैष्णव सम्प्रदायों की मधुरोपासना का अध्ययन हम यहाँ न करके यथास्थान करेंगे, यहाँ इसके इतर उन स्रोतों का उल्लेख करेंगे जिनसे वैष्णव धर्म में मधुरोपासना और रसिकता का समावेश या संवर्द्धन होता है।

यद्यपि कृष्ण-प्रचारक 'भागवत' ने, जैसा कि हमें ज्ञात है, स्पष्ट रूप से राधा का उल्लेख नहीं किया था तथापि 'अनयाराधितो'¹ द्वारा कुछ टीकाकारों को राधा की स्थिति 'भागवत' में खोज लेने की गुंजाइश रख छोड़ी थी और कृष्ण जिस गोपी को अन्य गोपियों से पृथक् ले जाते हैं वह राधा ही हैं, ऐसा सोचने का अवसर प्रदान किया था। 'भागवत' की रास-लीला में कृष्ण की प्रियतमा राधा का स्पष्ट उल्लेख न होने का कारण यह भी ज्ञात होता है कि रास-लीला

१. अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीडवरः।

यस्यो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयदः ॥ १०।३०-२४

और राधा का सम्बन्ध लोक में इतना प्रचारित हो चुका था कि नामोल्लेख के बिना भी काम चल सकता था। तब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रचार का श्रेय किसे दिया जाय। निश्चय ही 'भागवत' पुराण की रचना के युग तक न तो कोई राधा-सम्प्रदाय ही चल सका था और न कृष्ण के रसिक रूप को लेकर ही कोई धर्म-मत किसी आचार्य द्वारा खड़ा हुआ था। एक सफल शृंगारी कवि की भाँति भावानुभाव एवं व्यभिचारी भावों की सफल योजना करते हुए तथा उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करते हुए भागवतकार ने, जैसा कि हम देख चुके हैं, कृष्ण के रास की योजना करके भक्ति और रस का अनन्य सम्बन्ध अवश्य स्थापित कर दिया था, किन्तु वह किसी साम्प्रदायिक स्तर तक नहीं उठाया गया था। कृष्ण की चित्ताकर्षक मधुर मूर्ति की यत्र-तत्र कल्पना अवश्य की गई थी किन्तु यह मधुरिमा या रसिकता ही इति न थी। इसके इतर भी कृष्ण का महाभारतीय रूप और विशेषतया 'गीता' में वर्णित रूप पुराणों में प्रचारित किया जा चुका था। फलतः कृष्ण का दोनों रूप—योगी व धर्मोपदेशक रूप तथा शृंगारिक एवं मोहक रूप समाज के सम्मुख था। यहीं हम आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा इंगित एक तथ्य की ओर ध्यान देना चाहेंगे। आचार्य जी ने राय रामानन्द तथा चैतन्य महा-प्रभु के वार्तालाप में राधा-भाव की मान्यता के लिए रामानन्द द्वारा जयदेव का प्रमाण प्रस्तुत करने का संदर्भ देते हुए 'मध्यकालीन धर्म-साधना,' पृष्ठ १३५ पर लिखा है—“.....नाना कारणों से मेरा अनुमान है कि भागवत महापुराण में श्री कृष्ण-लीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी जिसका प्रकाश जयदेव के गीत गोविन्द में हुआ है। भागवत-परम्परा की रासलीला शरद् पूर्णिमा को हुई थी, गीतगोविन्द-परम्परा का रास वसन्त काल में। प्रथम में राधा का नाम भी नहीं है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपी हैं। सूरदास आदि परवर्ती भक्त कवियों में ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे से गुंथ कर एक हो गई हैं।”

द्विवेदी जी के इस मत में पर्याप्त तथ्य है और यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त है, तथापि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, लोकमत में इसे निश्चय ही मान्यता प्राप्त हो चुकी थी और विशुद्ध शृंगारिक कवियों को भी यह राधा-प्रधान रासलीला उस प्राचीन युग में किसी न किसी रूप में प्रेरणा देती रही। अब हम पुनः अपने पूर्व विषय पर आते हैं। हमें ज्ञात है कि पाँचरात्रिकों की परम्परा में भी कृष्ण का रसिक रूप उस समय तक साम्प्रदायिक स्तर पर नहीं मान्य हुआ था। आशय यह कि तात्त्विक दृष्टि से राधा और कृष्ण का सम्बन्ध अब तक नहीं स्थापित हो पाया था किन्तु लोकमत सदा शास्त्रानुशासित ही नहीं होता। इसकी स्थापना में लोक-साहित्य, लोकाचार, परम्पराएँ और कुछ विशिष्ट स्थानीय धार्मिक रीति-रिवाजों का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। राधा के प्रचार के मूल में हम इन्हीं तथ्यों को स्वीकार कर सकते हैं। आचार्य योगेशचन्द्र राय ने ज्योतिष-तत्त्वों के आधार पर राधा और कृष्ण का जो प्राचीनतम सम्बन्ध स्थापित किया है वह लोकमत का उत्प्रेरक नहीं हो सकता था। शास्त्रीय दृष्टि से भले ही विशाखा, राधा, अनुराधा, ज्येष्ठा, चित्रा, भद्रा, रोहिणी, रेवती आदि खगोलीय नामों का सम्बन्ध कृष्ण-वंश या राधा की सखियों से हो पर इसे हम लोकमत का आधार नहीं मान सकते। यद्यपि हमारे पास उस प्राचीन युग का लोक-साहित्य

सुरक्षित नहीं है, पर लौकिक मान्यताओं के प्रतिविम्ब स्वरूप लिखित साहित्य में हम राधा का बीज पा सकते हैं। वास्तव में, जिस प्रकार कृष्ण का प्राचीनतम रूप खोजने के लिए धर्म-ग्रन्थों या दर्शन-ग्रन्थों की सहायता ली गई थी, उस पद्धति से अन्वेषण करने पर हम राधा का वास्तविक स्वरूप प्राप्त करने में असफल ही रहेंगे। प्राचीन ग्रन्थों के नामोल्लेख से राधा को 'राधा तत्व-पूर्ण' एक रमणी के रूप में—कृष्ण-प्रिया के रूप में—जिन पर सारी रास-लीला आधारित की जा सकती है, प्राप्त करने में निश्चित रूप से कोई विशेष सफलता नहीं मिलेगी। राधा रस से सम्बन्धित हैं अतः कृष्ण-काव्य की रसिकता का यदि सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश श्रेय हम पूर्ववर्ती लौकिक शृंगारिक साहित्य को ही दे सकते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से संस्कृत, पालि तथा प्राकृत में देवताओं के वर्णनों में शृंगारिकता का प्रदर्शन होता चला आ रहा था। पुरुरवा तथा उर्वशी की लौकिक वैदिक कथा में हम दैविक शृंगार का बीजारोपण पा सकते हैं। 'महाभारत' तथा 'रामायण' में भी देवताओं या देवता-सम्बन्धी प्रसंगों को शृंगारिक रूप में चित्रित करने के उदाहरण मिलते हैं पर इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें 'रामायण' से ही मिलना आरम्भ होता है। वियोगी राम का जो चित्रण वाल्मीकि ने किया है वह इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ भी वसन्त तथा वर्षा-काल विरह के उद्दीपन के कारण बनते हैं। वास्तव में किष्किन्धाकाण्ड के प्रथम तथा २८वें सर्ग के अनेक पदों को हम विरह-काव्य के प्रथम उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इनमें से अनेक पदों की ध्वनि हमें परवर्ती कृष्ण-काव्य में सुनाई पड़ती है। पम्पा तट के लता-कुंज, विहग-कलरव, भ्रमर-गुंजन, वसन्त-ऋतु आदि सभी उपकरण राम की विरह-वेदना को इतना बढ़ा देते हैं कि वे कह उठते हैं—

‘मां हि पल्लवताम्राचिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।’

अथवा

‘अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्न चिरादिव’।

अधिक महत्वपूर्ण उल्लेख है—

‘वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।

नूनं परवशा सीता साहि शोचत्यहं यथा ॥

किन्तु राम को विश्वास है—

नूनं न तु वसन्तस्तं देशं स्पृशति यत्र सा ।’

और यदि वसन्त वहाँ उपस्थित है तो वे सीता की परवशता पर दुःख प्रकट करते हैं। वर्षा-काल देखते ही राम लक्ष्मण से कहते हैं कि ‘अयं स कालः समयोऽद्यजलागमः’ और वर्षा की बूंदों को ‘सीतेव शोकसंतप्ता मही वाष्पं विमुंचति’ कहते हैं।

अश्वघोष के ‘बुद्धचरित’ में तो शृंगारिकता उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब स्त्रियाँ महात्मा बुद्ध का मार्ग रोकना चाहती हैं। हम देखते हैं कि मद के वशीभूत हो कुछ स्त्रियाँ कठिन संश्लिष्ट सुन्दर पीन स्तनों से कुमार का स्पर्श करती हैं।^१ कुछ गिरने के

बहाने भी उनका स्पर्श करती हैं।^१ 'रहस्य की बात सुनिये' कह कर कुछ उनके कान में साँस छोड़ती हैं^२ कुछ हाथ मिलाने के लोभ से 'यहाँ भक्ति करें' कहती हैं^३ और कुछ पीछे हटते कुमार को माला की रस्सियों से बाँवती हैं तो कुछ वाणी से।^४

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि के हाथ में राम तथा बुद्ध का विवरण भी शृंगार-परक हो गया है। अश्वघोष ने ईसा पूर्व क्री प्रथम शताब्दी के आस-पास रचना की थी। लगभग पाँच सौ वर्षों में ही बुद्ध के प्रसंग में इस प्रकार का घोर शृंगारिक विवरण प्रस्तुत करने का साहस किसी भी बौद्ध लेखक को सहज ही नहीं हो सकता था, किन्तु इसके मूल में काव्य है जिसे शृंगार का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार जब कृष्ण-चरित्र भी आचार्यों के बाद कवियों के हाथ में गया तो उसमें शृंगारिकता आ गई जिसकी परिधि कवि विशेष की रुचि के अनुसार निर्मित हुई।

यह तो अप्रत्यक्ष साधनों की बात थी। अब हम प्रत्यक्ष साधनों पर आते हैं। प्राचीनतम साक्ष्य इस दृष्टि से हाल की 'गाथा सप्तशती' (गाथा सप्तशती) को स्वीकार किया जा सकता है जिसमें कृष्ण के शृंगारिक रूप का बीज निहित है। वहाँ राधा का उल्लेख तो है ही, साथ ही गोपियों द्वारा कृष्ण के चुम्बन का भी दृश्य उपस्थित है।^५ 'गाथा सप्तशती' प्राकृत के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का संग्रह है। इसके गोपी-कृष्ण-सम्बन्धी अनेक स्थल इस बात के प्रमाण हैं कि उस युग तक राधा-कृष्ण का प्रेम लोक-प्रचलित हो गया था। अवांतर होते हुए भी यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सातवाहन-नरेश हाल ब्राह्मण धर्मनुयायी था और वह कृष्णोपासक आमीरों के सम्पर्क में भी आ चुका था। ऐसी स्थिति में हमें यह सोचने का पर्याप्त आधार मिल जाता है कि 'गाथा सप्तशती' के कृष्ण एक बहुत बड़ी संख्या के उपासकों के कृष्ण ही है जिन्हें उस समय तक लोक-कवियों ने शृंगारिक रूप प्रदान कर दिया था।

कृष्ण की जल-क्रीड़ा, रास-लीला आदि का प्रारम्भिक रूप प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। जल-क्रीड़ा तो भारतीय साहित्य का एक बहुत ही प्रिय विषय रहा है। पाँचवीं शताब्दी में कुमारदास ने 'जानकी हरण' में भी जलक्रीड़ा का घोर शृंगारिक वर्णन किया था। तत्पश्चात् भारवि ने भी 'किरातार्जुनीय' में जल-क्रीड़ा का वैसा ही उत्तेजक वर्णन किया। कृष्ण-काव्य की जल-क्रीड़ा भी इसी परम्परा में रक्खी जा सकती है। भट्ट-नारायण के 'वेणी-संहार' में राधा-कृष्ण की जल-क्रीड़ा का उल्लेख मिलता है जहाँ रास से विमुख हुई राधा से कृष्ण अनु-नय करते हैं। आनन्दवर्णन के 'ध्वन्यालोक' में भी एक श्लोक उद्धृत है जिससे राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला का संकेत मिलता है। इसी प्रकार त्रिविक्रम भट्ट के 'नलचम्पू' में भी कृष्ण तथा राधा के मधुर सम्बन्धों का संकेत प्राप्त होता है। किसी अज्ञात कवि द्वारा संग्रहीत 'कवीन्द्र

| | | | |
|----|-------------|---|------|
| १. | बुद्ध चरित, | ॥ | ३१३० |
| २. | ॥ | ॥ | ३१३१ |
| ३. | ॥ | ॥ | ३१३२ |
| ४. | ॥ | ॥ | ३१४० |

५. गाथा सप्तशती, ११२९, २११२, १४, ५१४७ आदि द्रष्टव्य हैं जिनकी ओर डा० जशभूषण दास गुप्त ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

वचन समुच्चय' नामक ग्रन्थ में तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है और यहाँ कृष्ण तथा राधा का श्लेषपूर्ण वातालाप दोनों के मधुर सम्बन्धों की सुस्पष्ट झाँकी दिखाता है। लगभग १०वीं शताब्दी में रचित 'राधा विप्रलम्भ' नाटक और भी आगे बढ़ता है। इसके रचयिता मंजल कवि बताये जाते हैं।

उपर्युक्त सारा साहित्य कृष्ण के मधुर रूप को आगे बढ़ाते हुए साहित्य-जगत् के रसिक कवियों के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि निर्मित करता है जिससे जयदेव, विल्वमंगल, ठाकुर, उमापति तथा शरण कवि आदि को कृष्ण के अत्यन्त रसिक रूप के चित्रण का सुअवसर प्राप्त हुआ। जयदेव के भक्ति-भाव तथा शृंगार काव्यानुराग को हम 'गीत गोविन्द' के इस प्रारम्भिक छन्द से ही माप सकते हैं जहाँ कवि ने 'हरिस्मरण' तथा 'कलासुविलासुकुतूहलम' को समान महत्व दिया है। साम्प्रदायिक महत्व प्राप्त करने की दृष्टि से हम अब तक के कृष्ण-काव्यों में विल्वमंगल रचित 'कृष्णकर्णामृत' को ही प्रथम स्थान दे सकते हैं जिसकी एक प्रति चैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत से लाये थे। गौड़ देश के भक्तों तथा कवियों को 'कृष्णकर्णामृत' ने बहुत अधिक प्रभावित किया था। सौभाग्यवश बंगाल के सेनवंशीय शासकों ने अनेक वैष्णव कवियों को राज्याश्रय प्रदान करके कृष्ण-काव्य के प्रसार में बहुत बड़ा योग दिया। उनके दरबार में स्वकीया-परकीया पर भी बराबर चर्चा चलती रही।

किन्तु सम्प्रदाय यों ही केवल काव्य-ग्रन्थों पर नहीं खड़ा हो सकता था। इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता थी। यहीं हम पुनः 'भागवत' पुराण को स्मरण करते हैं। यदि मध्य-कालीन भागवत धर्म की 'प्रस्थानत्रयी' के समान आदरणीय एवं प्रमाण ग्रन्थ 'भागवत' की रास पंचाध्यायी' का आविर्भाव नहीं हुआ होता तो इसमें भी सन्देह ही रहता कि रसिक सम्प्रदायों को आदर मिल पाता या नहीं, अथवा वे मर्यादित रह पाते या नहीं इसमें भी सन्देह ही रहता। अतः लोक-रुचि तथा विशुद्ध शृंगारिक साहित्य को हम रसिक सम्प्रदाय का उत्प्रेरक स्वीकार करते हुए भी 'भागवत' को इसका अधिकारी प्रचारक, अनुमोदक या समर्थक कह सकते हैं। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से वैष्णव धर्म की मधुरोपासना का सारा श्रेष्ठ 'भागवत' को ही नहीं दिया जा सकता है, दूसरे 'भागवत' को भी यह पद्धति परम्परानुसार ही प्राप्त हुई होगी। अतः भागवतपूर्व तथा भागवतेतर परम्परा को ठीक-ठीक समझे बिना हम मध्यकालीन भागवतों की रसिकोपासना का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। निम्बार्क, बल्लभ, राधावल्लभी, गौड़ी अथवा रामावतरसिकों को वैष्णवेतर साहित्य एवं साधना से भी इस दिशा में कम प्रेरणा नहीं मिली थी। किन्तु यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि जिन वैष्णवेतर साधनों की ओर हम संकेत करेंगे वे स्वयं भागवत-आन्दोलन से प्रभावित रहे हैं और भागवतों के शास्त्रीय प्रेम एवं राग को ही उन्होंने लौकिकता का जामा पहना कर अपने विभिन्न मत खड़े किये थे। यहाँ शास्त्रीय रसिकता के मूल के लिए हमें थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा। परवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण को जो रूप दिया गया था और उनके सम्बन्धों में प्रेमरस (उज्ज्वल रस) का जो उद्दाम समावेश कराया गया था, उसकी प्रेरणा के मूल में हम सरलतापूर्वक, अन्यान्य तत्वों के साथ, वज्रयानियों एवं शाक्तों को भी स्वीकार कर सकते हैं। एक समय था जब इन वज्रयानी साधुओं का भारत के कुछ भागों में बहुत अधिक प्रभाव था। अतः पहले इनकी रसिकता का मूल खोजना होगा।

बौद्धधर्म की महायान शाखा का मंत्रयान मत ही उग्र रूप धर कर वज्रयान कहलाया। धर्म को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से महायान शाखा ने धर्म का जो सरलीकरण आरम्भ किया उसमें स्वभावतः मानवी प्रवृत्तियों की ओर झुककर रसिकता का समावेश कराना पड़ा। अब महात्मा गौतम बुद्ध भी धर्मकाय, संभोगकाय, निर्माणकाय तथा सहजकाय आदि चार कायों में विभक्त होकर मानेवतर दिव्य रूपधारी हो गये। असंग तथा नागार्जुन के हाथों में पड़कर तो बौद्धधर्म और भी 'लौकिक' हो गया। इन मध्यममार्गियों ने चाहे जिस उच्च आदर्श से प्रेरित होकर और चाहे जिस विलक्षणता के लिए 'मैथुन' का सम्बन्ध धर्म से जोड़ा हो पर साधारण जनता पर इसका प्रभाव बहुत घातक सिद्ध हुआ और उधर दूसरी ओर उस प्राचीन काल (गुप्तकाल) से ही धर्म-गुरुओं की रुचि कहीं-कहीं रसिकता की ओर मुड़ जाती है। असंग के योगाचार तथा नागार्जुन-आर्यदेव (गुरु-शिष्य) के माध्यमिक दर्शन-सम्प्रदाय ने कुछ पण्डितों और पोंगपंथियों को समान रूप से प्रभावित किया। असंग के 'महायान सूत्रालंकार' का निम्न श्लोक विद्वानों के लिए रोचक व्याख्या का विषय बना तो साधुवेशधारी कामुकों के लिए स्वार्थ-सिद्धि का महान्तम प्रसाधन भी सिद्ध हुआ—

मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।

बुद्ध सौख्य विहारेऽथ दारा-संकेश-दर्शने ॥

धर्म तथा 'मैथुन' का योग मिलाने वाले इन आचार्यों को बराबर इस बात का भय बना रहता था कि कहीं अनुपयुक्त अधिकारी के हाथों पड़ कर उनका गूढ़ धर्म भ्रष्ट न हो जाय। फलतः उन्होंने अधिकार-भेद के अनुसार साधना की पद्धतियों और विधियों का निर्देश किया और तीन भाव—पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव, एवं सात आचार—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार की योजना की। यह जाल केवल इसलिए बिछाया गया था कि इसके फन्दे में सारा का सारा भारतीय समाज सरलता-पूर्वक बाँधा जा सके। निश्चय ही समाज के कुछ भाग में इनकी पैठ हो सकी और जब जन-साधारण के लिए खोले गये 'माध्यमिक' द्वार से बहुत बड़ी संख्या में जन साधारण का प्रवेश होने लगा तो विभिन्न स्थानीय एवं वर्गीय विश्वासों, अन्धविश्वासों, देवी-देवताओं, मंत्रों-तंत्रों, टोना-टोटका से यह वज्रयान भारी हो गया। फिर भी इतना भारी बोझा लाद कर यह यान काफी दिनों तक और काफी दूर तक चलता रहा। प्रारम्भ में तो वज्रयान में मंत्र, मुद्रा, मण्डल तथा अभिषेक पर ही विशेष बल दिया जाता रहा पर कालान्तर में इसमें मिथुन योग का सन्निवेश हो गया। फिर 'पंचमकार' की योजना हुई और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, तथा मैथुन की सीमाओं में ही सारी धर्म-साधना बँध गई। आचार्यों ने इन पाँच मकारों की अपनी अलग अलौकिक व्याख्या प्रस्तुत की और इनका सम्बन्ध अन्तर्योग से ठहराया। उदाहरणार्थ ब्रह्मरंध्र, में स्थित सहस्रदल कमल से स्रवित अमृत ही 'मद्य' है। ज्ञानःरूपी खड्ग से पुण्य और पाप की बलि देने वाला ही 'मांस' का सेवन करता है अथवा जो वाणी का सेवन करता है वही 'मांसाहारी' है। बाईं नाड़ी इड़ा और दाहिनी पिंगला है जिसे क्रमशः गंगा-यमुना कहा गया और इनमें प्रवाहित होनेवाला श्वास-प्रश्वास ही 'मत्स्य' है। असत् संग का त्याग और सत्संग सेवन ही 'मुद्रा' है। सुषुम्ना और प्राण का संगम ही 'मैथून' है। इस प्रकार 'योगिनी तंत्र',

‘कुलार्णवतंत्र’, ‘विजयतंत्र’, ‘मेरुतंत्र’, ‘आगमसार’ आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन केवल इन्हीं विधियों के प्रचार की दृष्टि से किया गया जिनमें इन प्रतीकात्मक शब्दों को घुमा-फिरा कर समझाया गया। आगे चलकर इसी परम्परा के हठयोगियों की भाषा वैदिक धर्म-अनुयायियों को आघात पहुँचाने वाली सिद्ध होती है और जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ‘मध्यकालीन धर्म-साधना’ में कहा है, ‘ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलट के जटिल और गुथीली बनाकर और आक्रामक तथा धक्का-मार बनाकर कहते गये। कहने का ढंग कुछ विचित्र सा था। गोमाँस-भक्षण पाप है, यह सर्व-विदित बात है, वारुणी पीना बुरी बात है यह सभी जानते हैं, लेकिन हठयोगी यही कहेगा कि नित्य गो-माँस-भक्षण करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए क्योंकि यही विष्णु का परमपद है और यही कुलीन का परम कर्तव्य है।’ किन्तु ये प्रतीक केवल तांत्रिक ग्रन्थों तक ही बन्द रह गये और इनका अन्तर्योग केवल प्रणेतार्यों के अन्तःकरण तक ही सीमित रह गया। जिन अधिकारियों के लिए इन्होंने जिन पृथक-पृथक पद्धतियों का विधान किया था वे सभी लगभग इसी ओर आकृष्ट हो गये और जन-साधारण ने तो इन लौकिक शब्दों का लौकिक अर्थ ही लिया। बिहार से लेकर आसाम तक ही ब्रजयानियों का प्रभाव अधिक रहा। आगे चलकर सिद्धि-प्राप्ति की लालसा रखने वाले कुमारियों के साथ भोग में रत रहने लगे और यही उनकी साधना की पराकाष्ठा थी, पतन की भी चरमावस्था थी। इनकी ‘संध्या’ भाषा का लाक्षणिक अर्थ केवल यही समझ सके, हाँ अभिधार्थ ने सारे पूर्वी भारत को इनकी स्थूलता एवं माँसलता से परिचित करा दिया।

वज्रयान का ही दूसरा नाम सहजयान है। पूर्वीभारत में चैतन्य मत के उदय के पूर्व जो वैष्णवधर्म फल-फूल रहा था उसे सहजिया वैष्णवमत कहा गया है। इस सहजिया वैष्णव मत पर बौद्ध धर्म की वज्रयान या सहजयान शाखा का काफी प्रभाव पड़ा था। अतः सहजयान मत पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। सहजिया सम्प्रदाय वाले ‘सहजावस्था’ को प्राप्त करने को ही परम सिद्धि स्वीकार करते रहे। इस सहजावस्था को निर्वाण, महासुख, सुखराज आदि संज्ञाएँ भी दी गई हैं। सहजावस्था प्राप्त हो जाने पर मन और प्राण का संचार नहीं होता और वहाँ रवि-शशि (इंद्रा-पिंगला) की भी गति नहीं रहती। यह अवस्था ही ‘महासुख’, ‘सहज’ है जिसके साधक सहजियानी कहलाते हैं। महासुख ही इनका परमपद है। इसकी प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है। इनका गुरु मिथुनाकार या युगनद्धरूप है। यह ‘युगनद्ध’ सहज-यानियों का महत्वपूर्ण मर्म है। पहले हम गुरु के स्वरूप पर दृष्टिपात करेंगे क्योंकि अब तक की समस्त तत्सम्बन्धी मान्यताओं से ये सहजियानी आगे बढ़ जाते हैं और गुरु को ही सब कुछ स्वीकार कर लेते हैं। गुरु को इन्होंने शून्यता (सर्वोत्तमज्ञान) और करुणा की युगल मूर्ति एवं उपाय तथा प्रज्ञा का सम-रस-विग्रह माना है। प्रज्ञा और उपाय को प्राचीन काल से ही बौद्धों ने बुद्धत्व-प्राप्ति का साधन माना था किन्तु उन दोनों का संयोग आवश्यक था, इसीलिए गुरु को इन दोनों की सम्मिलित मूर्ति कहा गया और इसी सम्मिलन से युक्त गुरुमूर्ति मिथुनाकार है। गुरु के उपदेश की विधि भी इन्होंने निराली बताई और अब मौन मुद्रा में गुरु आनन्द या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करने लगा। वज्रयानियों ने प्रज्ञा

और उपाय को ही पुरुष तथा नारी-तत्त्व मान लिया था और इनके अद्वय मिलन को ही इन्होंने साधना की पराकाष्ठा स्वीकार किया।

ऊपर 'युगनद्ध' शब्द आया था। यह शब्द सहजयानियों का मर्म कहा जा सकता है। अनेक तांत्रिक ग्रन्थों में इस पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। प्रो० हर्वर्टवान गुंथर ने ('युगनद्ध' चौखम्भा सीरीज स्टडीज अ० ३ में) इस पर विचार करते हुए बताया है कि यह ग्राहक और ग्राह्य का, सान्त और अनन्त का, प्रज्ञा और उपाय का, शून्यता और करुणा का, पुरुष और नारी का पूर्णतः सम्मिलन सामरस्य है। 'अद्वयवज्र संग्रह' के 'प्रेम पंचक' में यह बताया गया है कि शून्यता करुणा की पत्नी है और इनके इसी भाव में अखण्ड मिलन को 'सहज प्रेम' कहा जाता है। शैव तथा शाक्तों का 'मैथुन' या 'कामकला' भी वज्रयानियों का 'युगनद्ध' ही है। शून्यता और करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहा गया है। यही महासुख है, निर्वाण है।

सहजयानियों ने मध्यममार्ग द्वारा ही महासुख की प्राप्ति को सम्भव कहा। इस महासुख की अभिव्यक्ति होती है 'सहस्रदल' कमल में और इसके लिए गुरु की कृपा आवश्यक है। यही अवधूती मार्ग पर भी दृष्टिपात करना होगा। हमें ज्ञात है कि प्रज्ञा तथा उपाय में से केवल किसी एक से काम नहीं चल सकता था, प्रत्युत दोनों के सम्मिलित रूप की आवश्यकता बताई गई थी। तांत्रिक शब्दावली में प्रज्ञा का पर्याय ललना तथा चन्द्र भी है और इसी प्रकार उपाय का पर्याय रसना तथा सूर्य है। ललना और रसना क्रमशः वाम तथा दक्षिण शक्तियों के नाम हैं और इन दोनों शक्तियों के मध्य में 'अवधूती' शक्ति है। यह शक्ति अनायास ही क्लेशादि का नाश कर देती है। ललना और रसना (वाम मार्ग और दक्षिण मार्ग) इसी अवधूती मार्ग के ही अविशुद्ध रूप हैं और जब शुद्ध होकर इनका एकीकरण हो जाता है तो उसे 'अवधूती' मार्ग कहते हैं। माध्यमिक तथा शून्यवाद वालों ने बहुत पहले ही बौद्धदर्शन में उक्त विचारधारा का समावेश करा दिया था किन्तु 'अवधूती' मार्ग का व्यापक प्रचार पूर्व मध्ययुग के अन्तिम चरण में ही हुआ था और उस समय तक इनके रागमार्ग की पूर्ण स्थापना हो जाती है। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, यह सारा प्रयत्न मध्यम मार्ग के प्रति आग्रह को लेकर किया गया। स्वभावताः यहाँ विराग को हेय ठहराया गया। आचार्यों ने यह स्पष्ट घोषणा की कि 'रागेन बध्यते लोको रागे नैव विमुच्यते'। अथवा 'जिम विस मक्खई विसहिं पलुत्ता। तिम भव मुंजइ भवहिण जुत्ता। अस्तु, जब राग का बन्धन राग से ही छूट सकता है—विषस्य विषमौषधम्—तो फिर शरीर को कष्ट देने वाले विराग या तप की क्या आवश्यकता। हमें ज्ञात है कि भक्ति-भावना के प्रथम प्रचारक महाभारतकार ने भी विरक्ति-मार्ग के स्थान पर पाँचरात्रिकों के लिए अनुरक्ति मार्ग का विधान किया था। पर सहजयानियों का रागमार्ग पूर्णतया एक भिन्न मार्ग सिद्ध हुआ। भागवतों की अनुरक्ति की पावनता एवं सूक्ष्मता यहाँ मांसलता और स्थूलता में परिवर्तित हो जाती है। अब तो देहरूपी वृक्ष के चित्तरूपी अंकुर को विशुद्ध विषय-रस से सिंचित करने से ही काया रूपी वृक्ष कल्पवृक्ष बन कर आकाश के समान निरंजन फल देने लगा।^१ इस

१. तनुतश्चित्तान्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः

गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते।

पं० बलदेव जी उपाध्याय द्वारा 'भागवत सम्प्रदाय' पृष्ठ ४७३ पर 'चर्याचर्या विनिश्चय' से (लुईपाद कृत प्रथम पाद की टीका में सरहपाद के बचन से) उद्धृत।

फल की प्राप्ति के लिए सहजयान में 'अवधूती', 'चाँडाली' तथा 'डोम्बी' (बंगाली) शक्तियों की कल्पना की गई। हमें ज्ञात है कि रसना और ललना शक्तियों के विशुद्धीकरण के पश्चात् उनके सम्मिलन से 'अवधूती' रूप की परिणति होती है। जब उपर्युक्त दोनों शक्तियों-वाम शक्ति तथा दक्षिण शक्ति का मिलन होता है तो उससे एक अग्नि प्रज्वलित होती है जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। यह अपरिपक्वावस्था है और तब तक पूर्ण विशुद्धि नहीं हुई रहती है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली में 'चाण्डाली' कहा गया है। यही चाण्डाली जब विशुद्ध हो जाती है तो 'डोम्बी' या 'भंगाली' कही जाती है। इन शक्तियों को सहजयान ने सरल मार्ग की ओर उन्मुख करने को कहा। वक्र मार्ग छोड़ने और 'उज्ज्वाट'—सीधा मार्ग पकड़ने से इनका आशय रागमार्ग की पुष्टि से ही है। इसी से सिद्धि प्राप्त होगी और अन्त में रागाग्नि के भी निवृत्त हो जाने से 'विरमानन्द' प्राप्त होगा।

यह उपर्युक्त विवरण तो सैद्धान्तिक पक्ष का रहा। व्यावहारिक रूप में सहजयानियों की साधना क्या थी इस सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं और केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'राग के परिशोधन के निमित्त सहजयान का साधक मुद्रा का साधन करता है अर्थात् किसी पर-स्त्री के संग अनेक विशिष्ट तांत्रिक क्रियाओं का अनुष्ठान करता हुआ 'काम' को 'राग' के रूप में परिणत करता है और इसी जन्म में 'महासुख' का अनुभव करता हुआ जीवनमुक्ति लाभ करता है।^१

सहजयान सम्प्रदाय के सिद्धों का प्रभाव सम्भवतः उतना व्यापक नहीं पड़ सका होता किन्तु इन्होंने संस्कृत के स्थान पर देशज भाषा में साहित्य-सृजन किया था। दूसरे, रसेश्वर-दर्शन के समावेश से इनमें कुछ अधिक आकर्षण भी आ गया था। फलतः इनके विचारों का जनसाधारण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। पूर्वी भारत की भक्ति-साधना को तो सहजयान तथा अन्य तांत्रिक शक्तियाँ ने निश्चित रूप से प्रभावित किया था और सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय, जिसका चैतन्य पूर्व पूर्वी भारत के अधिकांश भाग पर बहुत अधिक प्रभाव था, उपर्युक्त सभी तांत्रिक तत्वों को सिमेट कर चल रहा था।

बौद्ध तांत्रिकों ने केवल वैष्णव सहजिया मत को ही नहीं प्रभावित किया था प्रत्युत इनका प्रभाव-क्षेत्र पूर्व मध्यकाल से बढ़ना आरम्भ हो गया था और पुराणों पर हमने जिस तांत्रिक प्रभावों का संकेत इस अध्ययन के प्रारम्भ में ही किया था उनमें से एक महत्वपूर्ण प्रभाव इन बौद्ध सहजयानियों का भी स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ वैष्णव पुराणों पर बौद्ध तांत्रिकों के अतिरिक्त शैव तंत्रों का भी प्रभाव पड़ा था। शैव पुराणों पर तो शैव आगमों का पूरा-पूरा प्रभाव द्रष्टव्य है। यद्यपि ये सारे प्रभाव परवर्ती हैं पर जहाँ तक कृष्ण को रसिक रूप देने का प्रश्न है, ये महत्वपूर्ण हैं। 'देवी भागवत' का यह कथन कि 'शिवोऽपि शवतांयाति कुण्डलिन्या विवर्जितः' इसी प्रकार के प्रभाव का द्योतक है। शैव कापालिकों ने भी मांस, मदिरा, मैथुन को प्रोत्साहन देते हुए भोग द्वारा ही मोक्ष का मार्ग प्रचारित किया था। यहाँ भी 'सामरस्य'-शिव-शक्ति के सम्मिलन

की योजना है। ये सारे तत्व चाहे और किसी दृष्टि से भक्ति को भले ही प्रभावित न कर सके हों पर 'भागवतपुराण' की रास-लीला को प्राप्त कर लेने के बाद परवर्ती भक्तों को सहज ही इस 'सहज मार्ग' वाली शक्ति-सम्मिलन की भावना ने प्रभावित किया और तभी राधा बिना कृष्ण आधा दिखाई पड़ने लगे।

बंगाल के गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय को प्रभावित करने और राधा-तत्व को बहुत अधिक प्रेममय बनाने की दृष्टि से भी सहजिया वैष्णव मत का स्थान महत्वपूर्ण है। अतः यहाँ हम संक्षेप में इस मत पर विचार करेंगे।

इस सम्प्रदाय का कोई स्वतंत्र दार्शनिक मत नहीं है प्रत्युत यह कुछ गुह्य साधनों पर आधारित है। हमने बौद्ध सहजियों के 'युगनद्ध' का उल्लेख किया था। वैष्णव सहजिया-मत बौद्धों के इसी 'युगनद्ध' या तांत्रिकों के 'केवलानन्द' तत्व को लेकर प्रारम्भ हुआ। शिव-शक्ति के मिलन से जनित केवलानन्द ही तांत्रिक प्रभावान्तर्गत इनका परम साध्य बना। साधन-पद्धति दो प्रकार की पाई जाती है। पहली वह जिसमें स्वयं साधक अपने अन्दर ही उक्त दोनों तत्वों को पूर्ण जाग्रत करके उभय-मिलन जनित आनन्द का अनुभव करता है और दूसरी विधि है नर-नारी की मिलित साधना। हमें ज्ञात है कि तांत्रिकों ने नर-नारी के स्थूल मिलन को भी आध्यात्मिक स्तर पर उठाने की चेष्टा की थी क्योंकि वे इन्हें क्रमशः शिव-शक्ति का प्रतीक मानते थे। इसी मिलन को बौद्धों ने 'महासुख' की संज्ञा दी थी और तांत्रिकों ने इसे 'सामरस्य सुख' कहा था। वैष्णव सहजिया-मत में इसे 'महाभाव स्वरूप' कहा गया। यह केवल नाम-परिवर्तन मात्र ही रहा, मूल सब का एक ही है। इसी प्रकार शिव-शक्ति को भी कहीं भगवान-भगवती, कहीं ब्रजेश्वर-ब्रजेश्वरी तो अन्यत्र प्रज्ञा-उपाय आदि की संज्ञा दी गई। प्रारम्भ में बंगाल के सहजिया मतानुयायी 'राधा-कृष्ण, शब्द का प्रयोग नहीं करते रहे और शिव-शक्ति या प्रज्ञा-उपाय ही के अन्त-र्मिलन से आनन्दित होते रहे। पाल-नरेशों के प्रश्रय में ये पूर्ण अवैष्णव मत के रूप में फल-फूल रहे थे किन्तु जब वैष्णव धर्म के प्रश्रयदाता सेन-नरेशों का शासन आरम्भ हुआ, जिनके दरबार में कृष्णोपासक कवियों एवं भक्तों की भीड़ लग गई तो स्वभावतः ये भी प्रभावित हुए और इन्होंने वैष्णवोन्मुख होकर राधा-कृष्ण का चयन किया जो सर्वथा इनके अन्तर्मिलन या 'युगनद्ध' के लिए, इनकी दृष्टि में, उपयुक्त रहे। बस यहीं से वैष्णव सहजिया मत का सूत्रपात हुआ। वैष्णव सहजिया मत में इस युगल तत्व को ही परमतत्व स्वीकार किया गया और इसी में महाभाव स्वरूप 'सहज' की स्थिति बताई गई। 'सहज' को इन्होंने समरस में स्थित प्रेम की पराकाष्ठा की अवस्था कहा और इसे ही विश्व-ब्रह्माण्ड का अन्तर्निहित चरम सत्य माना। जगत्-प्रपञ्च की उत्पत्ति इसी से है और लय भी इसी में है। इस 'सहज' को वे नित्य के देश की वस्तु बताते हैं। सहज तथा रस का यहाँ अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित किया गया। रस से बढ़ कर वे दूसरी कोई वस्तु नहीं मानते। राधा-कृष्ण के नित्य विहार से ही सहज रस की अजस्र धारा प्रवाहित होती है जो प्राणी-प्राणी के हृदय में रस का उद्रेक करा रही है। अब वैष्णव सहजियों ने बौद्धों के 'गुप्त चन्द्रपुर'

को 'नित्य वृन्दावन' में बदल दिया, जहाँ राधा-कृष्ण का नित्य विहार होता रहता है। वृन्दावन की अप्राकृत लीला को इन्होंने 'स्वरूप लीला' कहा और प्राकृत जगत् में परिणत उसी लीला को इन्होंने 'श्री रूप लीला' की संज्ञा दी। इस मत में प्रत्येक पुरुषस्वरूप में कृष्ण-विग्रह और नारीस्वरूप में राधा-विग्रह स्वीकार किया गया। इस प्रकार जब इस मत में पुरुष तथा नारी को ही कृष्ण-राधा का विग्रह मान लिया गया तो स्वभावतः मनुष्य का महत्व बढ़ गया। मनुष्य के महत्व को उद्घोषित करने वाली, बंगाल में बहु प्रचलित उक्ति, 'सवार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई' लगभग उसी युग में चण्डीदास ने कहा था। वैष्णव सहजिया मत में, जो पूर्ववर्ती प्रभावों को सिमेट कर चल रहा था, परकीया भाव को ही अपनाया गया था और इसकी स्पष्ट छाप हमें गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय पर दिखाई पड़ती है जिसने प्रारम्भ में तो स्वकीया को ही स्वीकार किया था किन्तु कालान्तर में वैष्णव सहजिया के प्रभाव में आकर परकीया को ग्रहण कर लिया। वैष्णव सहजिया मत वालों ने परकीया के साथ सहज-साधना करने का प्रचार बड़ी धूम से किया था और इन्होंने लगभग सभी भक्तों, सन्तों और कवियों को किसी न किसी परकीया के साथ यह साधना घटित दिखा कर लोगों को इस ओर आकृष्ट किया। इस सम्प्रदाय तथा इससे प्रभावित सम्प्रदाय में, यह कहा जाता है कि जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास ने परकीया नायिका से सहज-साधना की थी। आश्चर्य तो यह है कि स्वयं महाप्रभु चैतन्य को भी सार्वभौम की कन्या साठी के संग सहज-साधना करते बताया गया है। इसी प्रकार प्रसिद्ध किया गया कि रूप गोस्वामी ने मीरा के साथ, रघुनाथ भट्ट ने करमा बाई के साथ, सनातन गोस्वामी ने लक्ष्मी हीरा के साथ, लोकनाथ गोस्वामी ने चण्डालिनी कन्या के संग, कृष्णदास गोस्वामी ने ब्रजदेवी पिंगला के साथ, जीव गोस्वामी ने श्यामा नाइन के साथ, रघुनाथ गोस्वामी ने राधाकुण्ड पर मीरा बाई के साथ, गोपाल भट्ट गोस्वामी ने गौरी प्रिया के साथ और राय रामानन्द ने देवकन्या के साथ सहज-साधना सम्पन्न की थी। सहजिया वैष्णव और फिर गौड़ीय वैष्णव मत, जिस पर हम आगे विचार करेंगे, राधा-तत्त्व व परकीया-तत्त्व को इस प्रकार इतना आगे बढ़ा देते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के बाद का अधिकांश वैष्णव साहित्य इन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत हो जाता है। अब रस और भक्ति में कोई भेद नहीं रह जाता और कुछ भक्त कवियों को रसिक-शिरोमणि, रसिकाचार्य आदि की उपाधियाँ प्रिय होने लगती हैं।

किन्तु यहाँ यह दुहराने की पुनः आवश्यकता है कि ये सारे प्रभाव वाह्य ही थे। वास्तव में वैष्णव पुराणों की रास-लीला वैष्णवों की प्रेम-लक्षणा-भक्ति के अनवरत विकास के लिए और उसी आधार पर नई-नई मधुर कल्पनाओं के सृजन के लिए पर्याप्त थी। इतना ही नहीं, 'प्रस्थानत्रयी' सद्गुरु समादृत 'भागवत' से विशुद्ध कवि उसी प्रकार प्रेरणा पा सकते थे जिस प्रकार मधुरोपासना के प्रचारक वैष्णव आचार्य तथा कवि। कृष्ण-कवि उसी आदि स्रोत से, अपने आचार्यों के माध्यम से, प्रेम-लक्षणा-भक्ति का गुण-गान करते रहे और राधा-कृष्ण का सम्मिलन कराते रहे।

नहीं कहा जा सकता कि सभी वैष्णव सम्प्रदाय में राधा परकीया रूप में समा-
दृत हो पातीं कि नहीं यदि 'भागवत' ने इसकी व्यवस्था कृष्ण के गोपी-प्रेम के माध्यम
से न कर दी होती। राधा-कृष्ण का प्रेम लौकिक दृष्टि से निश्चित ही अवैध है। फिर इस
अवैध प्रेम को वैध कैसे स्वीकार कर लिया गया, यह विचारणीय प्रश्न है। 'भागवत'
(१०।३३।२६-२७) में परीक्षित का शुक के प्रति यह प्रश्न कि 'अंशावतार कृष्ण
भला पर-स्त्रियों के साथ क्यों रमण करते हैं,' आज भी राधावल्लभीय, गौड़ीय या
अन्यान्य व्याख्याकारों के उपरान्त भी प्रश्न ही बना हुआ है और उसका केवल
वही सन्तोषप्रद उत्तर है जो परीक्षित को शुक ने दिया था कि तेजस्वियों के लिए
कुछ भी दोष नहीं और उनके केवल वचन ही अनुकरणीय हैं, हमें उनके आचरण से कोई
प्रयोजन नहीं।

यहाँ एक तथ्य की ओर अन्त में, संकेत कर देना आवश्यक है। मध्यकालीन समस्त
साधनाओं में 'सामरस्य भाव' व्याप्त है और सभी साधनाओं ने इस अद्वितीय रस को
अलौकिक सिद्ध करते हुए यह बार-बार कहा है कि कोई अधिकारी ही इसे समझ सकता
है। हम आगे देखेंगे कि राधावल्लभ सम्प्रदाय वाले, जो राधा-कृष्ण प्रेमोपासना को परा-
काष्ठा पर पहुँचाने की चेष्टा कर रहे थे, स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि रसिकों की बातें
रसिक ही समझ सकते हैं, या लाखों में कोई एक ही समझ सकता है। इस प्रकार की
उक्ति इस प्रेम-साधना में पूर्व मध्यकाल से ही कही जाने लगी थी। ऐसे कथनों का अर्थ स्वतः
खुला हुआ है। लौकिक चित्रणों से अलौकिकता की झाँकी दिखाने वाले अपनी दुर्बलता
खूब समझते थे और उन्हें सदा इस बात का भय बना रहता था कि यदि इस पर गुह्य
या रहस्य या कुछ विचित्र पारिभाषिक शब्दावलियों का या फिर पेंचीदी व्याख्याओं का
जमघट नहीं एकत्र कर दिया जायेगा तो 'मैथुन,' 'सम्भोग' 'रति,' 'काम' 'योनि,' 'लिंग' आदि
ग्राह्य नहीं हो सकेंगे। परिणाम स्वरूप तांत्रिकों ने तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, मानव
शरीर के ही अनेक कल्पित अंगों की कल्पना कर ली। पर नैतिकता एवं सदाचार की
सुहृद् नींव पर खड़ा होने वाला वैष्णव धर्म किसी भी प्रभाव से शीघ्र अपनी संचित थाती
न छोड़ सका। उसने ऐसी दशा में राधा-कृष्ण या राम-सीता की काम-कलाओं को 'भग-
वत-लीला' के महाजाल में कुछ ऐसा लिपेट दिया और इस पर आध्यात्मिकता की इतनी
गहरी छाप लगा दी कि इनके कामरस ने भी भक्ति-रस का रूप ग्रहण कर लिया।
निश्चय ही इनके उज्ज्वल व्यक्तित्व ने भी बहुत दिनों तक इनके 'उज्ज्वल' रस को शुद्ध
आध्यात्मिक भाव से ग्रहण करने की प्रेरणा लोगों को दी थी। हर सम्प्रदाय-संस्थापक
का व्यक्तित्व उसके सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का चश्मा स्वभावतः बन जाता है। भक्तों के
इसी उच्च नैतिकता प्रधान व्यक्तित्व ने उनकी घोर शृंगारिक रचनाओं को भी अलौकिक
अर्थ में लेने को बाध्य किया।

कृष्णकाव्य के लिए तो इस रसिकता का स्रोत खोज लेना सरल है। किन्तु रामावत
सम्प्रदाय में भी रसिकता कुछ कुतूहल उत्पन्न करने वाली और चौकाने वाली बात ही है।

आचार्य शुक्ल ने इसे पतन स्वीकार किया है और इस पर ओभ प्रकट करते हुए लिखा है—

“गुह्य’ रहस्य, माधुर्य भाव इत्यादि के समावेश से किसी भक्ति-मार्ग की यही दशा होती है।”

पर यह ‘दशा’ भारतीय भक्ति-साहित्य के अर्द्धांश से भी अधिक की मानी जा सकती है और इसमें भी सन्देह नहीं कि जब भी कोई भाव-प्रधान धर्म-साधना कवियों के हाथ में पड़ेगी तो उसकी यही स्वाभाविक गति होगी। पुराणकारों में भागवतकार इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

११ : हिन्दी भक्ति-साहित्य--एक सामान्य परिचय

भक्ति-आन्दोलन की जो लहर प्राचीन काल से चली आ रही थी उसमें, जैसा कि हमें ज्ञात है, प्रारम्भ से ही सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म की कल्पना विद्यमान थी। हमने पिछले पृष्ठों में देखा था कि भक्ति-भावना का सर्व प्रथम बीजारोपण करने वाली उपनिषदों ने निर्गुण या निराकार ब्रह्म की तो स्पष्ट घोषणा की थी पर साथ ही कुछ उपनिषदों ने सगुण या साकार ब्रह्म की भी उद्भावना की थी। तत्पश्चात् 'महाभारत' तथा 'गीता' में भी हमें ब्रह्म के दोनों रूप प्राप्त हुए थे। 'ब्रह्मसूत्र' का ब्रह्म 'अरूपवत्' होते हुए भी जहाँ ज्ञानानन्द गुणयुक्त हो जाता है वहीं वह सगुण रूप में स्वीकार किये जाने योग्य हो गया और जैसा कि हम देख चुके हैं, वैष्णव भाष्यकारों ने इसी रूप में उक्त सूत्रको ग्रहण भी किया है। पुराण तो सगुण-निर्गुण के सागर ही हैं। आशय यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भागवत ग्रन्थों में ब्रह्म के दोनों रूपों को महत्व दिया गया था किन्तु आचार्यों के युग तक आते-आते स्थिति कुछ बदलने लगती है। जिस प्रकार प्राचीन काल में त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर) की पूजा साथ-साथ न चल सकी उसी प्रकार मध्य युग में भी निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म को समान स्वामिभक्ति के साथ नहीं अपनाया जा सका। आचार्यों ने सगुण ब्रह्म का इतना अधिक प्रचार कर दिया था कि अब भक्ति का सीधा सम्बन्ध साकार ब्रह्म से जोड़ दिया गया। किसी ने इस प्रकार के ब्रह्म में से कृष्ण को तो किसी ने राम को चुना। कुछ लोग और आगे बढ़े और उन्होंने राधा को ही सब कुछ मान कर अपनी सारी भक्ति-भावना उन्हीं तक सीमित कर दी। सगुण-ब्रह्म के इस एकाधिकार ने निर्गुण की सत्ता को कुछ ठेस अवश्य पहुँचाई, पर परम्परा शीघ्र ही समाप्त होने वाली वस्तु नहीं है। दूसरे, जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, भागवत सम्प्रदाय कभी भी अपनी विनम्रता नहीं छोड़ सका था। किसी भी उग्र अथवा विरोधी परिस्थिति ने उसकी सहिष्णुता तथा समन्वयात्मकता का अपहरण नहीं किया था। भागवान के प्रति अनन्य भक्ति का ही यहाँ मूल प्रश्न था, वही अभीष्ट था। भगवान के स्वरूप को लेकर मतभेद व्यक्त किया जा सकता था पर ज्योंही भगवत्-प्राप्ति के साधनों में भक्ति या प्रपत्ति को आधार बना दिया जाता था कि सारा सत्तात्विक मतवैभिन्य पीछे रह जाता था। वैष्णव आचार्यों ने ही इसके लिए गुंजा-इश रख छोड़ी थी और भक्तों तथा भक्तों के अगुआ परवर्ती वैष्णव कवियों ने तो इस क्षेत्र में और भी अधिक उदारता दिखाई। भक्ति के व्यापक व्यूह में निर्गुण-सगुण सभी ग्राह्य थे और भेद केवल औपाधिक था।

निराकार तथा साकार ब्रह्म को लेकर वैष्णव कवियों ने जो साहित्य-सृजन किया उस आधार पर भक्ति-साहित्य को, साहित्य के इतिहासकारों ने, दो धाराओं—निर्गुण-धारा तथा सगुण-धारा में विभक्त किया है। इसी प्रकार कृष्ण तथा राम को लेकर चलने वाली साहित्यिक धाराओं को कृष्ण-काव्य तथा राम-काव्य के नाम से अभिहित किया गया है। एक तीसरी धारा सूफी कवियों के प्रेमाख्यान की भी थी जिसने मध्यकालीन भारतीय भक्ति-साहित्य के

विकास में बहुत अधिक योग दिया था। भागवत धर्म या वैष्णव धर्म से इसका कोई सम्बन्ध न रहते हुए भी भगवत्प्रेम के साम्य और हिन्दी भक्ति-साहित्य में सूफियों की देन से उन्हें भी भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में एक तटस्थ स्थान दिया जाता है। किन्तु सम्पूर्ण भारत में ये तीनों धारायें समान रूप से नहीं पाई जाती हैं। आचार्यों के प्रभाव-क्षेत्रों में उन्हीं द्वारा समर्थित एवं प्रचारित आराध्यदेव की लीलाएँ कवियों का प्रतिपाद्य विषय बनती हैं। जिन क्षेत्रों में कृष्णोपासकों का बाहुल्य था वहाँ स्वभावतः कृष्ण-काव्य को और जहाँ रामोपासकों की संख्या अधिक थी वहाँ राम-काव्य का प्रणयन अधिक हुआ। किन्तु हिन्दी प्रदेश इसका अपवाद है। भक्ति के इस आदि उद्गम स्थान में, जो प्राचीन युग से ही धार्मिक क्रियाशीलता के लिए विख्यात था, निगुण-सगुण तथा राम-कृष्ण के साथ-साथ नवोदित सूफी मत की प्रेम-साधना को भी साहित्यिक प्रश्रय प्राप्त हुआ।

ऊपर आचार्यों के प्रभाव की बात की गई है। निश्चय ही आचार्यों का वैष्णव कवियों के उत्प्रेरक-रूप में बहुत बड़ा महत्व है। हमें ज्ञात है कि सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्य को इन आचार्यों ने प्रेरित किया था किन्तु साहित्यकार कभी भी पूर्णतः सिद्धांतों की उपज नहीं हो सकता है। ऐसा होने पर वह किसी विशेष प्लेटफार्म का भजनोपदेशक बन कर रह जायेगा। वैष्णव कवियों में भी हम कुछ ऐसे उपदेशक पाते हैं; किन्तु जो वास्तव में कवि हैं उनका साहित्य विशुद्ध अर्थ में हित की भावना से युक्त साहित्य है। वहाँ आचार्यों के 'प्रभाव' पर लोकमत का रंग चढ़ा हुआ है और लोक-रक्षण के साथ-साथ लोक-रंजन की भावना को भी स्थान दिया गया है। ज्योंही लोकमत और शास्त्र के समन्वय की भावना कवियों में जगती है कि साहित्य अपनी स्वाभाविक गति पर आ जाता है और तब वह साहित्यिक परम्पराओं के राजपथ पर अग्रसर होने लगता है—हाँ उसका सम्बल नवीन होता है और वह उसके युग की माँग का प्रतिफल है। आचार्यों से दीक्षित और किसी विशेष मत या सम्प्रदाय में सम्मिलित भक्त भी जब काव्य-क्षेत्र में उतरते हैं तो उनका रूप कितना परिवर्तित हो जाता है और वे किस प्रकार साहित्य की परम्परित या स्वाभाविक गति को प्राप्त हो जाते हैं, इसके अनेक उदाहरण हमें आगे मिलेंगे। यहाँ हम राधावल्लभीय कवियों का उदाहरण ले सकते हैं जिन्होंने आचार्य द्वारा प्रायः उपेक्षित 'मान' को आगे चलकर विरह-काव्य की परम्परानुसार अपना लिया। यद्यपि तदर्थ उन्होंने कम नवीन उदभावनाएँ नहीं कीं जिससे आचार्य मत को कोई ठेस न पहुँचे, पर उपेक्षा के बाद वे प्रयास क्या? गौड़ीय वैष्णव बंगला कवियों को भी उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है जो स्वकीया से परकीया की ओर मुड़ पड़ते हैं। हम यह पुनः दुहराना चाहेंगे कि सम्प्रदाय के 'प्लेटफार्मी' कवि भले ही आचार्य-मत की लकीर के फकीर बने रह गये हों, पर जो सच्चे अर्थों में कवि थे वे आचार्य की अपेक्षा उससे मेल खाने वाली साहित्यिक परम्परा से अधिक प्रभावित हुए हैं और इनमें भी कुछ प्रतिभावान कवियों ने अपनी सारी परम्परा को पीछे छोड़कर साहित्य तो क्या सिद्धान्त-निरूपण के क्षेत्र में भी अपने नये विचारों द्वारा आनेवालों को एक नया पथ दिखाया है। उदाहरणार्थ कवि तुलसी को हम इसी दृष्टि से आचार्य तुलसी कह सकते हैं।

आचार्यों के दार्शनिक मतवाद को मानते हुए भी, कृष्ण-कवियों में जयदेव, विद्यापति,

चण्डीदास आदि की भाव-धारा कितनी प्रबल और स्वतंत्र है। यह कृष्ण-काव्य के हिन्दी, बंगला, मैथिली आदि के कवियों से सरलतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य को धर्मपरक सामग्री संस्कृत-साहित्य से पर्याप्त मात्रा में मिली है। हमारे अधिकांश भक्त कवियों की रचनाओं में पुराणों-उपपुराणों तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक काव्यों के पद ज्यों के त्यों या कहीं-कहीं कुछ उलट फेर से प्राप्त होते हैं। अपनी श्रुतिसम्मतता पुराणों तक सीमित कर देने से ही उनका काम चल जाता था। अतः अधिकांश सगुणोपासक वैष्णव कवियों ने पूर्वमध्यकाल तक चरमसीमा की प्रसिद्धि पर पहुँचे हुए वैष्णव पुराणों को ही हरदृष्टि से आधार बनाया है। इन कवियों के अपने सम्प्रदाय-आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' का नाम बार-बार अवश्य दुहराया था और अपने भाष्यों में प्रस्थानत्रयी में से कम से कम 'ब्रह्मसूत्रों' पर तो बहुत अधिक बल दिया था, पर हमारे भक्त कवियों को दर्शन के इतने गहरे कुयों में से कुछ नहीं बोलना था, वे तो सर्वसाधारण के लिए—कम से कम भक्तों के लिए और सबसे अधिक अपने आंतरिक भक्ति-भावों को प्रकाशित करने के लिए, रचनानन्द से प्रेरित होकर गाते थे और इसके लिए पूर्वकथित वैष्णव पुराण तथा अन्य संस्कृत-वैष्णव-ग्रन्थ पर्याप्त थे। सूर तथा तुलसी इस वर्ग के अगुवा हैं। पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, कुछ ऐसे भी कवि हुए जिनमें आचार्यात्व भी कम न था। ऐसे कवियों ने अपना पृथक सम्प्रदाय भी खड़ा किया। हरिव्यासी, सखी आदि सम्प्रदाय इसी कोटि के हैं। इस सम्प्रदाय के कवि प्राचीन परम्परा के साथ-साथ अपने आचार्यों के मतों का भी प्रचार करते रहे। इन भक्तों से पूर्व एक ऐसा वर्ग भी आ चुका था जो भक्ति को स्वीकार करते हुए भी अपनी भक्ति को केवल वैष्णव पुराणों की परिधि तक ही नहीं बाँधता है, प्रत्युत वह इससे बहुत आगे बढ़कर या और अधिक उपयुक्त शब्दों में इससे पृथक होकर आगमों तथा 'महाभारत' से भी केवल भक्तितत्व लेकर (भगवान के प्रति प्रेम-भावना लेकर) तत्त्व तथा आचार मीमांसा की दृष्टि से पूर्णतया एक पृथक मार्ग का अनुसरण करता है। 'प्रस्थानत्रयी' में से हम 'गीता' में इस वर्ग की साधना-पद्धति पूर्णरूपेण प्राप्त कर सकते हैं, पर साथ ही यह भी स्वीकार करेंगे कि इनकी अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता भी है और ये वेद-पुराण की दृष्टि देकर नहीं चलना चाहते थे। वेदान्तिक ब्रह्मवाद को स्वीकार करते हुए भी इन्हें इसके अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उल्टे ये पढ़ने-पढ़ाने की खिल्ली ही उड़ाते रहे।

हमने पुराणों एवं उपपुराणों का अध्ययन करते समय देखा था कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही ब्राह्मण धर्मों को अब्राह्मण धर्मों से अपनी रक्षा करने की चिन्ता पड़ गई थी जिसके फलस्वरूप अनेक प्राचीनतम ग्रन्थों में भी वर्णाश्रम धर्म-परक तत्त्वों को जोड़ना पड़ा था। आगे चलकर तो परिस्थिति और भी संकटमय हो गई। अब ब्राह्मण धर्मावलम्बियों में ही वर्णाश्रम धर्म के पालन के प्रश्न पर दो दल हो गये—एक वह जो जातिपाँति का भेद-भाव स्वीकार करते हुये स्ववर्णानुसार कर्म (धर्म) के आचरण को ही मुक्ति का साधन मानता था और उसे ही वैष्णव स्वीकार करता था जो वर्णाश्रम धर्म का पालन करे, और दूसरा वह जो जाति-पाँति का कोई भेद-भाव नहीं स्वीकार करता था। यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, परवर्ती पुराणकारों और विशेषतया उनके सम्पादकों ने वर्णाश्रम धर्म की पुनर्स्थापना का मगीरथप्रयत्न

किया था तथापि वह विरोधी मतों का अन्त न कर सके और न वेद की अकाट्य सत्ता को ही स्थापित कर सके। अस्तु हिन्दी-साहित्य का यह दूसरा वर्ग पुराणकालीन उपर्युक्त अवर्णाश्रम धर्मानुयायी वैष्णवों की परम्परा में ही पड़ता है। इसे तत्त्व-मीमांसा के लिए न तो वेदों, उपनिषदों, 'गीता', ब्रह्मसूत्रों या भाष्यों में भटकने की आवश्यकता थी और न आचार-मीमांसा के लिए स्मृतियों, पुराणों या आगमशास्त्रों-तंत्रों आदि का अनुगमन ही करना था। गुरु-प्रसाद इनके लिए सबल प्रमाण था और सत्संग इनका सबसे बड़ा व्यावहारिक प्रयोग था जहाँ ये अपनी तत्त्व एवं आचार-मीमांसा-सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करते थे। कहीं-कहीं तो समसामयिक धार्मिक प्रभावों ने इन्हें ऐसा रूप दे दिया है कि विशुद्ध अर्थों में इन्हें वैष्णव कहा भी नहीं जा सकता। गुरुओं द्वारा सुना-सुनाया ज्ञान ही इनका कुछ सीमा तक पथ-प्रदर्शक था और अपनी वैयक्तिक अनुभूति इनका सम्बल थी।

निर्गुणियाँ संतों की भक्ति और उनका साहित्य

सगुणोपासकों का अध्ययन हम बाद में करेंगे क्योंकि तिथि-क्रमानुसार वे परवर्ती हैं। यहाँ हम निर्गुण भक्ति-काव्य के कवियों की साहित्यिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करेंगे।

प्रायः आठवीं सदी ई० से तेरहवीं शताब्दी तक का अपभ्रंश-साहित्य ही भाषा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का पूर्वाधिकारी है। इसी प्रकार निर्गुणिया संतों के साहित्य पर तत्त्व एवं आचार-मीमांसा की दृष्टि से अधिकांशतः इसी अपभ्रंश साहित्य का ही प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। अतः प्रभाव की दृष्टि से भी इस साहित्य का बहुत बड़ा महत्व है। हमारे सन्त कवियों ने सूफियों तथा भक्तों से और चाहे जो कुछ भी लिया हो, उनके वे तत्त्व, जो उन्हें अपने युग के कवियों से बिल्कुल पृथक् स्थान दिलवाने हैं और जो उन्हें सुधारक और तथाकथित ज्ञानी भक्त की कोटि में बैठते हैं, निश्चय ही अपभ्रंश या देशज भाषा की देन हैं। सरहपा, स्वयम् भूदेव, भुसुकुपा, लुइपा, विरुपा, कण्हुपा, गोरक्षपा, देवसेन, तिलोपा, पुष्पदन्त, शान्तिपा, रामसिंह आदि के सिद्धान्तों को पुनर्स्थापित सबल ब्राह्मण धर्म के प्रवाह के आगे भले ही फिसल जाना पड़ा हो पर इनकी कविताओं को, जो साधारण बोल-चाल की भाषा में लिखी गई थीं, साधारण जनसमुदाय अपनाये बिना नहीं रह सका। सामन्तों को जिस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता थी वह संस्कृत साहित्यकारों द्वारा सृजित हो रहा था पर सर्वसाधारण के लिए उपर्युक्त कवियों ने ही साहित्य-सृजन किया था और निश्चय ही इनका साहित्य साधारण जनसमुदाय में इतना अधिक प्रचारित हुआ कि आने वाले वैष्णव शास्त्र-प्रणेताओं तक को इनके मत के खण्डन के लिए सजग चेष्टा करनी पड़ी और हिन्दी के सगुणोपासक कवियों को तो इनका उपहास तक करना पड़ा। आशय यह कि आठवीं शती से तेरहवीं शती तक का अपभ्रंश साहित्य बहुत ही सशक्त एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। सिद्धों और नाथों के इसी साहित्य की कुछ धार्मिक एवं लौकिक मान्यताओं की ओर यहाँ संकेत किया जायेगा जिसे आगे चलकर हमारे निर्गुणिया या ज्ञानी संतों ने अपनाया था।

हमारा ध्यान सर्व प्रथम सिद्धों एवं नाथों का पाखण्ड-खण्डन आकृष्ट करता है जिसे हिन्दी के निर्गुणियाँ संतों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

सर्वाधिक चिंता इन कवियों को थी ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं इनके ज्ञाता-अभिष्ठाता या

कम से कम इनके दावेदार ब्राह्मणों की। जब तक इनका खोखलापन सिद्ध नहीं किया जा सकता था तब तक कोई नया मत या सिद्धांत नहीं चलाया जा सकता था। अतः प्राचीन सिद्ध कवि सरहपा (आठवीं शती) ने इनके वेद-पठन-पाठन या कर्मकाण्ड को यों तिरस्कृत किया—

बम्हणहि म जाणन्त हि भेऊ । एंवइ पढ़िअउ ए चउबेऊ

भट्टि पाणि कुसलई पढ़न्त । घरहीं बइसी अगि हुणन्त ॥

कज्जे बिरहइ हुआवह होमे । अक्खि डहाविअ कडुएं धूयें ।

कण्ठपा ने भी ९वीं शती में कुछ इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये थे—

आगम वेअ पुराणें पण्डिअ माण बहन्ति ।

पक्क सिरोफले अलिय जिम बाहेरीअ भमन्ति ॥

‘छाड़ौ तंत-मंत वेदंत’ कहकर गोरखनाथ ने भी वेदों की अवहेलना की थी और—

कुम्हरा के घरि हाड़ी आछै, अहीरा के घरि साँड़ी ।

बभना के घरि राड़ी आछै, राड़ी, साँड़ी हाँड़ी ॥

जैसी अद्भुत चमत्कारिक तुकबन्दी द्वारा ब्राह्मणों एवं वेदों का मजाक उड़ाया था। इसवीं शताब्दी में पुष्पदन्त ने भी श्रोत्रीय कौन है, यह बताते हुए लिखा था कि अहिंसक हृदय का पवित्र, परमार्थी, निरामिस, सत्यभाषी अमापद ही श्रोत्रीय है। ग्यारहवीं शताब्दी में यह विरोध और अधिक बढ़ गया और रामसिंह मुनि ने ‘पाडुइ दोहा’ में पंडितों तथा उनके ज्ञान को थोथा सिद्ध करते हुए कहा—

पंडिय पंडिय पंडिया, कणु छंडिवि तुस कंडिया ।

अत्थे गंथे तुट्ठोसि, परमत्थुण जाणहि मूठोसि ॥

बहुयइं पठियइ मूठपर, तालु सुक्कइ जेण ।

एक्कुजि अक्खरुत्तं पठहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥

छह दंसण धंधइ पडिय, मणहं ण फिट्ठिय भंति

एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खहं जंति ॥’

इसी प्रकार लगभग सभी सिद्ध कवियों ने शास्त्रों एवं शास्त्र-प्रणेताओं एवं प्रतिपोषक ब्राह्मणों की कटु निन्दा की है। हमारे सन्त कवियों का स्वर बिल्कुल इन्हीं सिद्धों की भाँति है।

जहाँ सिद्धों ने प्राचीन ब्राह्मण दर्शनों की उपेक्षा की थी (यद्यपि इस उपेक्षा-भाव का वे सर्वत्र निर्वहण नहीं कर सके और इनके सिद्धान्तों का आधार भी ब्राह्मण तत्त्व-ज्ञान ही अनेक स्थल पर बन जाता है) वहीं उन्होंने कर्मकाण्डों की भी पूर्ण उपेक्षा और उसकी कटु आलोचना की। तीर्थटन, पूजा-पाठ, जप-ध्यान आदि को इन्होंने मोक्ष के लिए अयोग्य ठहराया। सरहपा ने वैष्णव धर्म साधन के विशेषतया कर्म-पक्ष पर, जिसका अधिकाधिक प्रचार प्राचीन पुराणों द्वारा सरहपा के युग में किया जा रहा था, कुठाराघात करते हुए कहा था—

१. यहाँ अपभ्रंश कवियों के जो पद दिये जा रहे हैं वे राहुल जी के ‘हिन्दी काव्य-धारा’ नामक ग्रन्थ से साभार उद्धृत किये जा रहे हैं।

जो जसु जेण होइ सन्तुटो । मोक्ख कि लब्धइ ज्ञान पविटो ॥

किन्तह दीवें कि तहं णवेज्जे । किन्तह किज्जइ संतह सेव्वे ॥

किन्तह तित्थ तपोवण जाई । मोक्ख कि लब्धइ पाणि नहाई ।^१

दसवीं शताब्दी में तिलोपा भी पुराणकारों का विरोध करते हुए दिखाई पड़ता है और उसने भी —

तित्थ तपोवण म करहु सेवा । देह सुत्रिहि ण सन्ति पावा ॥

बम्हा-विष्णु-महेसुर देवा । बोहिसत्त्व मा करहु सेवा ॥

देव म पूजहु तित्थण जावा । देव पुजाही मोक्ख ण पावा ॥

इस प्रकार का साहित्य बौद्ध सिद्धों की सेवाओं से भरा पड़ा है। इन सिद्धों ने वज्रयान तथा सहजयान के सिद्धान्तों का तो निरूपण किया ही था, साथ ही अन्य सम्प्रदायों की बहुत ही कटु और बड़ी लम्बी-लम्बी आलोचनाएं भी इन्होंने व्यंगात्मक शब्दों में की हैं। उनकी इसी परम्परा का पालन नाथ पंथी जोगियों ने भी किया है, किन्तु यहाँ थोड़ा अन्तर पड़ जाता है और नाथों की रचनाओं में ईश्वरत्व की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगती है जबकि 'बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में... केवल 'बोहि', 'सुन्न', एवं सहज का महत्व, नैरात्मा की विविध चेष्टाओं तथा कतिपय यौगिक साधनाओं के ही प्रसंग आते हैं।'^२

संत, संत-मत एवं परम्परा—'संत' शब्द में ही इस मत या परम्परा का रहस्य निहित है। 'संत' शब्द 'सत्' शब्द का ही एक रूप है जिसका अर्थ 'अस्तित्व का बोधक' है और यह एक प्रकार से 'सत्य' का भी पर्यायवाची है।^३ ऐसी अवस्था में सत्य पर पूरी आस्था रखने वाले को ही संत कहा जायगा और जब सत्य की अनुभूति साधक को हो जाती है तो वह संत स्वभावतः सम्पूर्ण विश्व को एक ही सत्ता का प्रतिरूप समझते हुए जाति धर्म या वर्गगत सभी भेदों को भेद कर उस गहराई पर पहुँच जाता है जहाँ—

जसतैं उलटि भया है राम ।

दुख विसर्या सुख किया विश्राम ॥

बैरी उलटि भया है मीता

साषत उलटि सजन भये चीता ॥

— — —
कहैं कबीर सुख जहज समाज ॥

आप न डरौ न और डराऊँ ।^४

अब मत की बात लेते हैं। सत्य विशुद्ध रूप में अनुभूति की बात है। यहाँ कोरे गुरु-उपदेश से काम नहीं चल सकता। उपदेश द्वारा अर्जित ज्ञान एकांगी होता है। मनोवैज्ञानिकों ने तृपक्षीय अनुभव बताया है—

१. ज्ञानात्मक अनुभव, २. भावात्मक अनुभव तथा ३. क्रियात्मक अनुभव जिन्हें चित्र में एक त्रिभुज के आकार का दिखाया जा सकता है।

१. हि० का० धारा पृष्ठ ४-५

२. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य पृ ७

३. संत काव्य, पृष्ठ ११

४. संत काव्य, पृष्ठ १५७ उद्धृत

यह तृपक्षीय अनुभव ही पूर्णता प्रदान कर सकता है और जिस प्रकार बिना तीन भुजाओं के सम्मिलन के त्रिभुज नहीं बन सकता उसी प्रकार तृपक्षीय अनुभव के बिना साधना रूपी त्रिभुज भी कदापि नहीं बन सकता। अतः गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान या मत संतों के लिए उतना ही और वही सब कुछ नहीं है। स्वयं संतों ने इस बात को स्वीकार किया है कि उन्होंने गुरु द्वारा बताये तत्व में से अपने व्यक्तिगत अनुभव के अनुसार मूल वस्तु को ग्रहण किया। ऐसी अवस्था में आचार्यों के पदचिन्हों पर आँख मूँद कर चलने वाले वैष्णव भक्तों से पृथक् रखते हुए हम इन्हें स्वतः अपने में स्वतन्त्र एवं पूर्ण मत-स्वरूप स्वीकार कर सकते हैं।

परहरयुग मौलिक अनुभूति वाले व्यक्तित्वों के आविर्भाव के लिए उर्वर नहीं हो सकता। संतों के विषय में भी यह एक कठोर सत्य है। प्रारम्भिक युग में जहाँ सेन, पीपा, रैदास आदि कबीर युगीन संतों ने अपनी सत्यान्वेषण प्रवृत्ति द्वारा 'संत' शब्द को सत्य सिद्ध किया था और किसी मत विशेष का न तो आग्रह किया और न सम्प्रदाय-स्थापना की चिन्ता की प्रत्युत एक सार्वभौम नैतिकताप्रधान मानव-धर्म का, अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से ज्ञातव्य विचारों को व्यक्त करके प्रचार किया एवं अपने व्यक्तिगत जीवन में उसे चरितार्थ करके एक व्यावहारिक धर्म-मार्ग का खुला प्रदर्शन किया, वहाँ १५वीं से १८वीं शताब्दी के युग में, जिसे पण्डितों ने संतों का मध्य युग कहा है, अनुभूति वाले संत 'अनुभूति' पर आ जाते हैं। (अनुभूति' से यहाँ हमारा अभिप्राय गुरुओं तथा सम्प्रदाय-संस्थापकों के वचनों एवं साक्ष्यों से है।) बस तभी से साम्प्रदायिक वितण्डावाद की खुलेआम खिल्ली उड़ाने वाले भी सम्प्रदाय-निर्माण के चक्कर में पड़ गये। और जब संतों में सम्प्रदाय-प्रियता आ गई तो फिर इनके मतों की संख्या अब तक के सभी धर्म-मत के उपसम्प्रदायों से कई गुना अधिक हो गई। बात यह है कि किसी विशिष्ट तत्व-मीमांसा-सम्बन्धी दर्शन को आधार मान कर उसी के अनुसार मत खड़ा करने पर विभेदों की संख्या सीमित रहती है, किन्तु साधन-पक्ष को आधार मान लेने पर इस सीमा का अन्त हो जाता है। तब तो मूल तत्व एक रहने पर भी सूक्ष्म साधनात्मक भेदों के आधार पर पंथ पर पंथ खड़े किये जा सकते हैं। मध्य या उत्तर-मध्यकालीन असंख्य संत-सम्प्रदायों के मूल में यह उपयुक्त कारण ही क्रियाशील रहा है। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि मध्यकाल में संतों के अनेक प्रमुख सम्प्रदाय तीन सौ वर्षों के भीतर ही उठ खड़े हुए थे।

| पंथ या मत | संस्थापक | समय सन् ई० |
|----------------------|---------------------|------------|
| नानक पंथ | गुरुनानक | १४६९-१५३८ |
| दादू पंथ | दादू दयाल | १५५३-१६०३ |
| बावरी पंथ | बावरी साहिब | १७वीं शती |
| निरंजनी मत | हरिदास | " " |
| मलूक पंथ | मलूक दास | १५७४-१६८२ |
| बाबालाली सम्प्रदाय | बाबा लाल | १५९०-१६५५ |
| धामी सम्प्रदाय | प्राणनाथ | १६१८-१६९४ |
| धरनीश्वरी सम्प्रदाय | धरनीदास | १८वीं शती |
| दरियादासी सम्प्रदाय | दरियादास (बिहार) | १७१३-१७८० |
| दरिया पंथ | मारवाड़ी दरिया साहब | १६७६-१७५८ |
| शिवनारायणी सम्प्रदाय | शिवनारायण | १८वीं शती |
| चरणदासी सम्प्रदाय | चरणदास | १७०३-१७८२ |
| गरीब पंथ | गरीबदास (रोहतक) | १७१७-१७७८ |
| रामसेनही सम्प्रदाय | रामचरण | १७२१-१७७३ |
| पानप पंथ | पानप दास | १७२१-१७७३ |

१. 'सन्त काव्य' से उद्धृत

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पंथ भी चलाये गये थे जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। आश्चर्य तो यह है कि स्वयं पंथ चलाने के इच्छुक उपर्युक्त सन्तों के सम्प्रदाय-निर्माण की तो बात ही पृथक् है, कबीर दास के नाम पर भी, जिन्हें और जिनके उत्तराधिकारी कमाल को, जिसे पंथ न चलाने के कारण ही 'बूढ़ा वंस कबीर का.....' की उक्ति सुनी पड़ी थी, पंथ-निर्माण से चिढ़ थी, कबीर के अनुयायियों ने मध्यकाल में 'कबीर-पंथ' का निर्माण कर ही दिया और काशी में सुरत गोपाल तथा मध्यप्रांत में धर्मदास का चलाया हुआ कबीर-पंथ धूम से चला। इसी प्रकार सतनामियों, अनेक दरवेशों तथा छिट-पुट गद्दी के अधिकारियों ने भी अपने अपने पृथक् पंथ स्थापित कर लिये। सारा देश साम्प्रदायिक दृष्टि से संतों के छोटे-बड़े पंथों से भर गया। वस तभी से सन्तों के मूल प्रारम्भिक तत्वों में ही आमूल परिवर्तन आ जाता है। जहाँ पहले अनुभूति एवं सत्यान्वेषण को महत्व दिया जाता था, बाह्य यादम्बरों की कटु आलोचना की जाती थी, अंधविश्वासों पर कुठाराघात किया जाता था, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा और जप के बाह्य उपकरणों को हँस कर उड़ा दिया जाता था और धार्मिक सहिष्णुता को सर्वोपरि स्थान दिया जाता था वहीं अब गुरुओं के वचन और साखी में आबद्ध होकर, उसे ही अपनी अनुभूति का आदि और अन्त मान कर और उनके संग्रहों को धर्म-ग्रन्थ के रूप में पूज कर नाना प्रकार की बाह्य विडम्बनाओं एवं साम्प्रदायिक संकीर्णताओं को अपना लिया गया। वे भी विवश थे। धर्म विश्वास की वस्तु है और परम्परित विश्वास की परिणति सम्प्रदाय में ही होती है। तब इनके भी शास्त्र बनने लगे। इन्होंने भी अर्द्धदार्शनिक रचनाएँ प्रस्तुत करना आरम्भ किया जिनमें रूपकों द्वारा संत-मत की अनेक बातें बताई जाने लगीं। साम्प्रदायिक दीक्षा और पूजन-सम्बन्धी विधियों पर भी ग्रन्थ लिखे गये। आशय यह कि जीवन का पूर्ण काया-पलट करने वालों ने संत-मत की मौलिकता की ही काया-पलट कर दी। अब केवल परम्परित शब्दावली भर रह गई, भाव बिल्कुल बदल गये। किन्तु भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से संतों का मध्ययुग बहुत ही महत्वपूर्ण है। मध्यकाल के सन्तों ने जब सम्प्रदाय निर्माण में रुचि ली तो देश के कोने-कोने में संत-मत का प्रचार होने लगा। जहाँ प्रारम्भिक युग में कबीर, रैदास आदि की कर्मभूमि काशी ही संतों की गद्दी थी वहाँ अब प्राचीन सन्तों के नये अनुयायियों तथा नवीन सन्तों की उत्तर-भारत, दिल्ली, राजस्थान, मध्यभारत आदि में भी विभिन्न गद्दियाँ स्थापित हो गईं और नये पंथ का प्रचार नये जोश से होने लगा। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन का, सन्तों के माध्यम से, देश के वृहत् भाग में प्रचार हुआ। सम्प्रदाय विशेष के लिए साहित्य-सृजन भी किया गया जिससे धार्मिक साहित्य की अभिवृद्धि हुई और सर्वाधिक महत्व है साहित्य-संग्रह-सम्बन्धी। इसके पहले सन्तों की बानियाँ सुनियोजित रूप से संग्रहीत नहीं की जाती थीं। पर अब सम्प्रदाय के लिए शास्त्र की आवश्यकता थी, साखी की अनिवार्यता थी, फलतः तदर्थ प्रयत्न किये गये जिससे धार्मिक साहित्य का संरक्षण हुआ।

अब हम संत मत पर विचार करेंगे। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया था, संतों को दार्शनिक गुत्थियों से कोई काम न था। तत्व-मीमांसा के लिए उन्हें भटकना न था और न आचार-मीमांसा के विस्तार में जाना था। वे अनुभव जनित सीधी-सादी बात कभी सरल ढंग से और कभी मौज में आकर उलट-पुलट कर कह देते थे। पारिभाषिक शब्दावली

भी इनकी इच्छा पर बनती बिगड़ती रही, पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि वे बेसिर पैर की बातें करते थे या उनके विचारों में तारतम्य तथा स्पष्टता न थी। वे तो अपनी जगह पर ठीक सुव्यवस्थित हैं, शब्दावली भलेही दायें बायें घूम जाती हो। उदाहरणार्थ एक ही परमतत्व को वे कभी राम तो कभी रहीम कहते हैं, कहीं इसे 'ब्रह्म' तो कहीं 'खुदा' कहते हैं और कभी परम पद या 'निर्वाण' की संज्ञा भी दे डालते हैं। इतना ही नहीं, इसके अनेक नामों में से केवल 'नाम' भी एक नाम है और यही 'सत' भी है। दोनों को मिला कर 'सन्त नाम' भी इसी परमतत्व का सूचक बन जाता है। किन्तु संत अथाह ज्ञान-कोष में से अपने अनुभव जनित अंश को अधिक महत्व देते रहे। अतः 'सत' को तो इन्होंने परमतत्व का बोध और 'नाम' को इसका वह अंश स्वीकार किया जितना उनके निजी अनुभव में आ चुका है। यही कारण है कि 'नाम' को संत-मत में अधिक महत्व मिला। इसी नाम के स्मरण को इन्होंने साधना का केन्द्र बनाया। पर इनका 'नाम-स्मरण' वैष्णवों के 'नाम-स्मरण' से पूर्णतया भिन्न है। यहाँ न तो इसके लिए वैराग्य की आवश्यकता है और न गृहस्थ-जीवन की व्यस्तता में से कोई एक निश्चित समय अलग से निकालना है। संतों का लक्ष्य सत्य की अविरल अबाध अनुभूति करना है। इस अनुभूति में एक क्षण का भी बाध नहीं है। फलतः सांसारिक काम-काज और साधना संग-संग चलती है। बस यहीं उन्हें अपने जीवन में काया-पलट लाना पड़ता है क्योंकि बिना इसके दोनों कार्य साथ-साथ करना सहज नहीं है। पर ज्यों ही ये स्मरण को ठीक 'स्मृति' के अर्थ में लेकर उसकी साधना करने लगते हैं तो यह साधना सहज हो जाती है। तब उन्हें मन में गुनने और उंगली पर गिनने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। हाथ अपना सांसारिक काम निपेक्ष भाव से करता जाता है और मन सत्यान्वेषण में लीन रहता है। यही है संतों की सहज-साधना। बौद्ध सहजियों द्वारा 'सहज' शब्द मध्यकाल तक कितना सस्ता बनाया जा चुका था, यह कहने की आवश्यकता नहीं। पर सहज-सहज कहने वाले सभी सहज को नहीं पहचान पाते थे, यह स्वयं कबीरदास ने ही ललकार कर कहा था और सूचित किया था कि 'जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजे सोई', अस्तु बौद्धों के सहज से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं।

जगत् जीव और परमतत्व का सम्बन्ध संतों ने इस प्रकार सूचित किया है —

'सबद' सृष्टि का आदि कारण है और सारा संसार इसी 'सबद' से बँधा है। इसी 'सबद' का प्रतिरूप हममें भी है। इस प्रकार जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वही हमारे पिण्ड अर्थात् शरीर में भी है। संतों ने 'सबद' के अनादि संगीत की तान को 'सुरति' और ताल एवं लय को 'निरति' कहा है। 'सुरति' उस परमतत्व का ही जीवात्मा रूप है जो हममें स्थित है और इसी सुरति-निरति में बँध कर असीम परमात्मा भी स्वयं को प्रकट करता है।

संतों की साधना 'सुरति' का 'सबद' के साथ योग कर देने में निहित है। 'सुरति-सबद योग' से ही 'सत' या परमतत्व की अनुभूति सम्भव है। पर 'सुरति-सबद-योग' की क्रिया का तभी महत्व है जब वह अविरल-अबाध गति से होती रहे। इसी तन्मयता और तल्लीनता से 'सुरति' एक स्रोत की भाँति 'सबद' की ओर स्वतः प्रवाहित होती रहती है जिससे साधक, साध्य से समरसता स्थापित करते हुए सदा उससे मिला-जुला-सा रहता है। यही है उसकी तदा-कारता की स्थिति। ऐसी स्थिति आ जाने पर अर्थात् 'सत' और साधक का अभेद हो जाने पर

‘सत’ स्वयं साधक के रूप में संत का भाव ग्रहण कर लेता है। और चूंकि ‘सत’ स्वयं विश्व का मूल एवं कल्याणमय है इसलिए सन्त के जीवन का भी काया-पलट हो जाता है और वह भी विश्व-कल्याणमय बन जाता है। यहीं संतों के ‘सहज’ का भी एक दूसरा रहस्य छिपा हुआ है। जब ‘सत’ के साथ तदाकारिता स्थापित हो जाती है तो फिर नामस्मरण-साधना स्वतः चलती रहती है। इसीलिए इसे ‘अजपाजप’ कहते हैं। इसके लिए किसी विशेष प्रयासपूर्ण समाधि की भी आवश्यकता नहीं, प्रत्युत सहज समाधि ही पर्याप्त है।

संतों के साहित्य में यौगिक तथ्यों एवं क्रियाओं के सूचक अनेक शब्द आते हैं किन्तु उनका अर्थ ठीक वही नहीं है। योगियों का ‘कुण्डलिनी योग’, उनकी ‘इश-पिंगला-सुषुम्ना’ नाड़ियाँ, ‘अष्टांग योग’ के ‘यम-नियम-आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि’ आदि का उल्लेख करते हुए भी सन्त उसके विस्तार में नहीं जाते हैं, उनका साँगोपाँग वर्णन नहीं करते हैं। वास्तविकता यह है कि इन सबको उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से सत्यान्वेषण और सामाजिक दृष्टि से नैतिकता की ओर उन्मुख कर दिया है। उदाहरणार्थ ‘प्रत्याहार’ तथा ‘धारणा’ की चर्चा यहाँ मन के स्वभावादि का वर्णन करते हुए किया गया है। ‘संयम’ के स्वरूपों में मनोमारण, मनोयोग आदि पर बल दिया गया है जिससे मन की एकाग्रता बनी रहे। ‘आसन’ में से भी उसीको प्रधानता दी गई है जिसमें किसी प्रकार का कष्ट या कृत्रिमता न हो। इन सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है सारे साधनों को प्रेमोन्मुख कर देना। इसीलिए ‘ध्यान’ और ‘समाधि’ को भी यहाँ ‘विरह’ और ‘परचा’ शीर्षक दे दिया गया है।

संतों की भक्ति-भावना पर विचार करने के पूर्व हम विषय के अधिकारी आचार्य हजारी प्रसाद जो द्विवेदी का निम्न मत उद्धृत करना चाहेंगे जिसमें उन्होंने मध्यकालीन ‘कथनी, तथा ‘करनी’ प्रधान दो मार्ग की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए लिखा है—

“निर्गुण भक्ति मार्ग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मार्गों की परम्परा का ही अंतिम रूप रही होगी..... वस्तुतः इनकी साखियाँ आठ योगांगों के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। इन उपदेशों में ज्ञान-प्रवण नैतिक स्वर ही प्रधान है, योग सम्बन्धी स्वर गौण। इसी ज्ञान-प्रवण नैतिकता-प्रधान योग-मार्ग के खेत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई, उसी का नाम निर्गुण भक्ति-मार्ग है।”

संतों की भक्ति—सगुण ब्रह्म का भक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध आदि काल से ही स्थापित किया जा रहा था और जैसा कि हमें ज्ञात है ब्रह्म के दोनों स्वरूपों को महत्व देने वाले ‘भागवत’ ने भी अन्त में सगुण साकार ब्रह्म की अवतारी लीलाओं का ही प्रचार किया था। वैष्णव आचार्यों ने भी अद्वैत की भावना को अस्वीकृत करने कराने के ही प्रयत्न किये थे। ऐसी अवस्था में भक्ति और सगुण ब्रह्म का अपृथक सम्बन्ध सिद्ध होता चला आ रहा था, पर संतों के उदय के साथ भक्ति-आन्दोलन में एक नवीन तत्व का (जिसे सर्वथा नवीन तो नहीं कह सकते क्योंकि ‘गीता’ तथा उपनिषदों में ही इसका सूत्रपात हो चुका था) समावेश होता है। निर्गुण और निराकार के प्रति संतों ने जो भक्ति-भाव दिखाया उसे पण्डितों ने ‘अभेद भक्ति’ की संज्ञा दी ही दी है। केवल ‘निर्गुण भक्ति’ कहने से सन्तों की भक्ति-भावना का केवल

एकान्गी बोध ही होता है क्योंकि इनका 'संत' जितना निर्गुण है उतना ही सगुण भी। इस सगुण ब्रह्म की प्रतीति संतों के उन कथनों से होती है जहाँ वे इसे सर्वव्यापक बताते हुए इसके साथ अपना गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, सखा-सखी का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं, उसके प्रत्यक्ष न होने पर वे विरहावस्था का भी अनुभव करते हैं। प्रेम की यह अवस्था केवल संतों तक ही सीमित नहीं है। स्वयं भगवान् ने भी प्रेम की ज्वाला में जलकर ही सृष्टि-रचना की थी और सारी सृष्टि—जीव-जगत् उसी भगवान् के प्रेमरूप है। इन समस्त भावों ने संतों के निर्गुण ब्रह्म को एक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है जो वैष्णव भक्तों के सगुण ब्रह्म के काफी निकट आ जाता है। इस अनन्य भगवत्प्रेम को संत नामदेव के शब्दों में इस प्रकार बताया जा सकता है—

जैसी भूषे प्रीति अनाज, त्रिषावन्त जलसेती काज ।

जैसी मूढ़ कुटुंब पराइन, ऐसी नामे प्रीति नराइन ॥

जैसी परपुरखारत नारी, लोभी नर धन का हितकारी ।

कामी पुरुष कामनी पिआरी, ऐसी प्रीति मुरारी ॥

जैसी प्रीति वारिक अरु माता, ऐसा हरिसेंती मनुराता ।

प्रणव नामदेउ लागी प्रीति, गोविंद बसै हमारे चीति ॥^१

और कबीरदास तो इसे 'अकथ कहानी' तथा 'गूँ केरी सरकरा' कह कर कुछ न कह कर मन ही मन बैठे मुसकाने की स्थिति तक पहुँचा देते हैं क्योंकि वैसे तो ये स्वयं पागल नहीं हुए पर राम ने उन्हें 'बौरा' दिया है। इसी राम से लौ लगा कर ये संत उसकी प्रेम-रूपी मदिरा में छके रहते हैं। किन्तु इस प्रेम की उपलब्धि इतनी सरल नहीं है कि सभी पा जायँ—

कबीर निज घर प्रेम का । मारग अगम अगाध ।

सीस उतारि पग तलि धरै । तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥

इन सन्तों ने भक्ति को इतना महत्व दिया है कि इसके आगे ये मुक्ति को भी हेय समझते हैं। भक्ति ही इनका साधन और साध्य दोनों है।

संत तो भगवान् से अपने को पृथक् मानता ही नहीं तब मुक्ति कैसी, बैकुंठ कैसा ?
कबीर तो अपने राम से यहाँ तक पूछते हैं—

राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो ।

सो बैकुण्ठ कहो यूँ कैसा, करि पसाव मोहि दैहो ॥

जो मेरे जीव दोइ जानत है, तो मोहि मुक्ति बताओ ।

एकमेक रमि रह्यो सबनि में, तो काहे भरमाओ ॥

तारण तिरण जब लगि कहिये, तब लग तत्त न जाना ।

एक राम देख्यो सबहिन में, कहै कबीर मनमाना ॥^२

अपनी उत्कृष्ट भक्ति-भावना द्वारा इन सन्तों ने भक्ति-आन्दोलन के प्रसार में जो योग दिया था वह तो धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा ही, साथ ही, उच्च नैतिक आदर्शों को अपने गृहस्थ जीवन

१. संत काव्य, पृ १२७, १२८ ।

२. संत काव्य, पृष्ठ १५८

तक में दिखाकर उन्होंने पूर्व मध्यकाल से पतनोन्मुख होते हुए समाज को बहुत बड़ा नैतिक बल प्रदान कर दिया।

कुछ प्रमुख संत

प्रारम्भिक युग

सन्त नामदेव (१२६९-१३५० ई०)—ये सतारा के निवासी थे। इनके प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। संत ज्ञानेश्वर के साथ इन्होंने देशाटन भी किया था और बाद में वे पंजाब में रहने लगे थे, जहाँ से उन्होंने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया। इनमें निर्गुण एवं सगुणोपासना का समन्वित रूप मिलता है, जैसा कि परवर्ती सन्तों में प्राप्य है। वे परमतत्त्व परमात्मा को ही सब कुछ स्वीकार करते हुए पंढरपुर के विट्ठल भगवान को अपना इष्टदेव कहा करते थे। सम्भवतः यह केवल परम्परा-पालन ही था। संत नामदेव ने मराठी भाषा में ही अधिक लिखा है पर कुछ कविताएँ हिन्दी में भी लिखी हैं। संत-साहित्य के विशाल कोष 'आदि-ग्रन्थ' में इनके ६० से भी अधिक पद संग्रहीत हैं। उत्तरी भारत के सन्तों ने इन्हें आदर और सम्मान दिया था। संत कबीर ने तो इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

निर्गुण रामभक्ति शाखा के उन्नायकों में संत नामदेव का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। इनकी भक्ति का उदाहरण प्रसंग वश पीछे दिया जा चुका है। इनके 'राम' अनेक नामधारी हो जाते थे; कहीं गोपाल और कहीं केवल 'नाम' भी, पर हैं ये सर्वव्यापी—

सबं घट रामु बोलै रामा बोलै, राम बिना को बोलै रे।

सकल माटी कुंजर चीटी, भाजन है बहु नान्हा रे ॥

असथावर जगम कीट पतंगम, घटि घटि राम समाना रे।

.....

प्रणवै नामा भए निहकामा, को ठाकुर को दासा रे ॥^१

कबीर दास (१३९९-१५१८ ई०)—साधना और साहित्य दोनों दृष्टियों से कबीर-दास का स्थान संतों में काफी अंचा है। समाज के उपरले स्तर के कुछ लोगों को चाहे इन्होंने भले प्रभावित न किया हो पर हिन्दू एवं मुसलमान समाज के एक बहुत बड़े भाग को, अपने युग में, कबीरदास ने प्रभावित किया था। उत्तरी भारत की अनेक बोलियों के 'निर्गुन' कबीर की ही आत्मा के प्रतिरूप हैं और वे इस अमरसंत और उसके मत की लोकप्रियता के जीते-जागते प्रमाण हैं।

यद्यपि ये पढ़े न थे पर गुने बहुत थे। बड़े-बड़े ज्ञानियों, पण्डितों, मुल्लाओं से इनका निकट का सम्बन्ध रहा जिससे ये न केवल बहुश्रुत होगये प्रत्युत इनके विचारों में भी समन्व-यात्मकता आ गई। गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी ये आध्यात्मिक जीवन का आनन्द उठाते रहे हाथ से 'कर का मनका' करघा और मन से 'मन का मनका' 'अजपाजाप' चलाते हुए ही, ये जीवन बिताते रहे। इनके विशाल व्यक्तित्व में अब तक की सारी साधनाएँ साररूप

में समा गई थीं और इन्होंने एक ही साथ नाथपंथियों एवं सहजयानियों का मिश्रित रूप, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म को आत्मसात कर लिया था। किन्तु इन सब में भक्ति-भावना ही सर्वोपरि थी जिसका कबीरदास ने सच्चे साधक के रूप में प्रसार किया था।

कबीर साहब की रचनाओं का संग्रह 'आदि-ग्रन्थ' में बहुत अधिक परिमाण में पाया जाता है। 'बीजक' नाम से इनकी रचनाओं का एक स्वतंत्र संग्रह भी है जिसके विषय में यह कहा जाता है कि कबीर दास के शिष्य धर्मदास ने सन् १४६४ ई० में संग्रहीत किया था। 'कबीर ग्रन्थावली' नाम से 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' काशी ने भी एक संग्रह प्रस्तुत किया है। 'बाबन अखरी' तथा 'रमैनी' की भी रचना कबीरदास ने की थी। इनके पदों और साखियों का अपना महत्व है। भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सर्वप्रथम साहित्यिक योगदान देने की दृष्टि से कबीर को हम प्रथम स्थान दे सकते हैं।

(समाज के प्रति इनके विचारों का कुछ विवरण हम अन्यत्र प्राप्त करेंगे।) ये नैतिकता एवं सदाचार को धर्म-साधना का प्रमुख अंग मानते थे और कभी-कभी खीझ कर इसके विरुद्ध जाने वालों को खरी-खोटी सुनाने में भी नहीं चूकते थे। बाह्याडम्बर के विरोध में कबीरदास के समान किसी हिन्दी कवि ने आवाज नहीं उठायी थी। गुरु रामानन्द की भाँति ही ये जाति-पाँति के विषय में कट्टरता को नहीं स्वीकार करते थे। आशय यह कि एक उदार, समुन्नत एवं नैतिकता प्रधान समाज में जिन-जिन सामाजिक गुणों की आवश्यकता थी उनके निर्माण एवं प्रचार में कबीरदास ने भगीरथ प्रयत्न किया था।

धर्म-साधना को हठयोगियों, सिद्धों और नाथों ने एक टेढ़ी खीर बना दिया था और सहजयानियों ने इसे विषसिक्त मधु का रूप दे दिया था। गुरुओं की माया और चेलों की छाया तले चलने वाली उपर्युक्त सभी धर्म-साधनाएँ लोगों को उबा देने वाली सिद्ध हो रही थीं। ऐसे ही अवसर पर कबीरदास ने उन्हीं गुरुओं की भाषा में, उनकी ही शब्दावली में, धर्म को व्यावहारिक एवं प्रायोगिक रूप प्रदान करना आरम्भ किया। पूर्ववर्ती आचार्यों का परमानन्द यहाँ सच्चिदानन्द से आबद्ध कर दिया गया और उनकी सिद्धि भक्ति से जोड़ दी गयी।

संतों ने, जैसा कि सन्त-मत पर विचार करते समय देखा गया था, किसी दार्शनिक मत-वाद की स्थापना की चिन्ता नहीं की थी, पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनका कोई ठोस या सुव्यवस्थित सिद्धान्त ही न था। कबीर दास ने भी ब्रह्म, माया, जगत्, जीव, जड़, चेतन आदि पर जो विचार व्यक्त किये हैं वे सर्वथा सुव्यवस्थित हैं। शास्त्रग्रन्थों का आधार न लेते हुए भी इन्होंने सत्संग एवं अनुभूति से जो ज्ञान प्राप्त किया था उसने इन्हें तत्व-मीमांसा की गहराई तक पहुँचा दिया था। पर इन सबको वे लौकिकता, व्यावहारिकता एवं उपयोगिता की कसौटी पर कसते हैं। उनका ब्रह्म केवल जिज्ञासा की वस्तु नहीं है प्रत्युत वह साधक के सुख-दुख का साथी है। इतना ही नहीं, वह स्वयं त्रिभुवन-भोगी है, अतः उसको प्राप्त करने के लिए योग या वैराग्य की क्या आवश्यकता। कबीरदास ने 'जिहि तू चहहि सो त्रिभुवन भोगी, कह कबीर कैसे जग-जोगी' कहकर उस परमतत्त्व को प्राप्त करने के लिए लोक-विमुख होने का निरादर ही किया है। इसी प्रकार ज्ञान भी थोथा मानसिक भार नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों हितों के साधन में समर्थ है। कबीर के 'ज्ञान की आँधी' से बात स्पष्ट हो जायेगी—

संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे ।

भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी , माया रहै न बाँधी ॥

दुचिते की दुई थुनी , गिरानी मोह बलोंडा टूटा ॥

त्रिसना छानि परी घर ऊपरि , कुबधि का भांडा फूटा ।

जोग जुगति करि संतो बाँधी , निरञ्ज चुबै न पांणी ॥

कूड़ कपट काया का निक्क्या , हरि की गति जब जाणी ।

आँधी पीछे जो जल बूठा , प्रेम हुरी जन भीने ॥

कहै कबीर भान के प्रगटै , उदित भया तम बीना ॥^१

इस ग्यान की आँधी से आध्यात्मिक जगत् में जहाँ वादों रूपी भ्रम हल हो जाता है, जीवात्मा और परमात्मा में भेद उत्पन्न करने वाली माया मिथ्या सिद्ध हो जाती है, पंथ-निर्धारण-सम्बन्धी दुविधा का अन्त हो जाता है, आदि आदि, वहीं लौकिक जगत् में माया, मोह, लोभ, दुर्बुद्धि, कपट आदि की इति हो जाती है और प्रेम के रस में सब सराबोर हो जाते हैं। और तो और धर्म-साधनाओं का चरम लक्ष्य बैकुण्ठ, गोलोक, परमपद आदि भी कबीर की दृष्टि में इसी धरती पर हैं और उन्होंने स्पष्ट घोषणा की 'साध संगति बैकुण्ठहि आहि'। और कबीर के साधु सच्चे अर्थों में पूर्ण मानव, त्यागी, सदाचार, दयालुता एवं नैतिकता के साकार मूर्ति हैं। ऐसे और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ कबीरदास ने अध्यात्म को जीवन की कसौटी पर कसा है। सफलता तो यह है कि अनेक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक विषयों का निरूपण कबीरदास ने पूर्णतया लौकिक रूपकों से किया है जिसकी अनुमति की गहराई में श्रोता या पाठक स्वतः उतरने के लिए प्रेरित हो जाता है। अपने करघे और ताना-बाना, वैवाहिक रीतियों, विधि-विधानों आदि पर इन्होंने जो रूपक बाँधे हैं वे लौकिक चक्षु से अलौकिक ज्योति दिखाने में पूर्णतया सफल हुए हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीरदास की अनेकानेक सफलताओं एवं उपलब्धियों में से यह भी एक प्रमुख उपलब्धि है। कबीरदास ने धर्म-साधना का एक ऐसा सहज मार्ग निकाल दिया जिसमें साधना सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा इसी प्रकार के समस्त सांसारिक कार्य करते समय भी सहज सम्भव थी। इसी सहज समाधि के लिए जहाँ योगियों ने प्राणायाम द्वारा वायु को ब्रह्म रंघ में चढ़ाने का यदि असाध्य नहीं तो कष्ट-साध्य विधान किया था वहाँ कबीर ने कहा—

साधो सहज समाधि भली ।

गृह प्रताप जा दिन सो उपजी दिन दिन अधिक चली ॥

जहँ जहँ डोलौ सो परिकरमा जो कछु करौ सो सेवा ।

जब सोवौ तब करौ दण्डवत पूजौ और न देवा ॥

कहौ सो नाम सुनौ सो सुमिरन खाँव-पियौ सो पूजा ।

गिरह उजाड़ एक सम लेखौ भाव न राखौ दूजा ॥

आँख न मूँदी कान न रुधौं तनिक कष्ट नहिं धारों ।
 खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारों ॥
 सबद निरन्तर से मन लागा मलिन बासना त्यागी ।
 ऊठत बैठत कबहुँ न छुटै ऐसी तारी लागी ॥
 कह कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि भाई ।
 दुख सुख से कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई ॥^१

कबीरदास माया का भारी जंजाल दिखाते हुए भी राम का आधार लेकर उससे निश्चिन्त हो जाते हैं। विभिन्न मत-मतान्तरों, विधि-विधानों में न पड़ करके वे राम की शरण में जाते हैं और जब बिछुड़े हुए राम एक बार फिर मिल गये तो—

अब तोहिं जान न देहूँ राम पियारे ।
 ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे ॥
 बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
 चरन लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥^२

किन्तु वह ठिठाई किस बल पर ! बात यह है कि राम और कबीरदास का नाता ही कुछ इसी प्रकार का है कि वे घर बैठे मिल जाते हैं—

हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव ।
 हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥
 हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ॥
 राम बड़े मैं छुटक लहरिया ॥

.....
 अबकी बेर मिलन जो पाऊँ । कहै कबीर भौजलि नहिं आऊँ ॥^३

भक्त और भगवान का यह जो घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ है और इस प्रकार साधक जो इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर परमपद को प्राप्त कर ले रहा है उसके लिए कबीर-दास किसी अलौकिक साधन की योजना न करके पूर्ण नैतिक विधान बताते हुए कहते हैं—

काम क्रोध अहं लोभ विवर्जित हरिपद चीन्हें सोई ।

.....
 अस्तुति निंछा आसा छाड़ै तजै मान अभिमाना ।
 लोहा कंचन सम करि देखे, ते मूरति भगवाना ।
 च्यंते तो माधो च्यंतामणि, हरिपद रमै उदासा ।
 त्रिसना अरअभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा ॥^४

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ७६ से उद्धृत ।

२. सन्त काव्य पृष्ठ १५१ से उद्धृत

३. वही, पृष्ठ १४५-४६

४. वही, पृष्ठ १६२-६३

वन्त में हम इनकी भक्ति की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता की ओर ध्यान देंगे। हमें ज्ञात है कि परम्परित भगवद् भक्ति में या तो कोरी भावुकता थी जिसका आदर्श ब्रज की गोपियाँ रहीं और जिसकी चरम परिणति आगे चलकर गौड़ीय या राधावल्लभीय भक्तों में हुई या फिर 'अन्ध श्रद्धा' थी जिसके पौराणिक आदर्श के उदाहरण स्वरूप हनुमान को और परवर्ती युग के दास्यभावधारी अनेक सगुणोपासक भक्तों को लिया जा सकता है। उधर सूफियों की प्रेम-साधना में 'माशूक हकीकी' और 'माशूक मजाजी' के रुदन-गान और मूर्छा में लौकिकता से अलौकिकता की ओर खींच ले जाने का तनाव था, पर "कबीर-दास के प्रेम और भक्ति में वह जलदस्तु भावुकता नहीं थी जो जरा सी आँच से पिघल जाये। यह प्रेम ज्ञान द्वारा नीत और श्रद्धा द्वारा अनुगमित था। उनका मन जिस प्रेम रूपी मदिरा से मतवाला था, वह ज्ञान के महुवे और गुड़ से बनी थी, इसीलिए अन्ध श्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उसमें एकान्त अभाव था।"^१

कुछ अन्य संत—कबीरदास की भाँति इस परम्परा में कुछ अन्य संत भी आते हैं। संत सेन नाई (चौदहवीं शती) की गणना भी स्वामी रामानन्द के शिष्यों में की जाती है जिन्होंने मराठी में ही अधिक लिखा है। 'आदि ग्रन्थ' में इनका केवल एक पद सेन की आरती नाम से उद्धृत है। सेन नाई के ही समकालीन संत पीपा जी थे जिन्हें रामानन्द का शिष्य बताया जाता है। स्वामी जी के साथ इन्होंने भी अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। इस परम्परा के संतों में काशी के चमार रदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अपनी सरलता, दीनता और भगवद्प्रेम के लिए ये प्रसिद्ध थे। इनकी भक्ति में आत्मनिवेदन की प्रधानता है। 'आदि ग्रन्थ' में इनके लगभग ४० पद संग्रहीत हैं। इन्होंने अपने ब्रह्म या गोविन्द को इस प्रकार याद किया है—

माधो भरम कसहु न बिलाई , ताते द्वैत दरसै आई ।
कनक कुण्डल सूत पट जुदा , रजु भुवंग भ्रम जँसा ।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यों , ब्रह्म जीव दुति ऐँसा ॥
विमल एक रस उपजै न बिनसै , उदय अस्त दोऊ नाहीं ।
विगता विगत घटै नहि कबहूँ , बसत बसै सब माँही ॥
निश्चल निराकार अज अनुपम , निरभय गति गोबिन्दा ।
अगम अगोचर अच्छर अतरक , निरगुन अंत अनन्दा ॥
सदा अतीत ज्ञानघन वर्जित , निरविकार अविनासी ।
कह रैदास सहज सुन्न सत , जिवन मुक्त निधि कासी।^२

पर निराकार ब्रह्म पर मन स्थिर करना कुछ कठिन होता है अतः इस अगम-अगोचर से भी उनका यह नम्र निवेदन है—

नरहरि चंचल है मति मोरी । कैसे भगति कहुँ मैं तोरी ॥
तुँ मोहि देखै हौं तोहि देखूँ , प्रीति परस्पर होई ।

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १०५

२. संत काव्य, पृष्ठ १८६

तू मोहिदेखै तोहि न देखूं, यह मति सब सुधि खोई ॥^१

कबीरदास की भाँति इन्होंने भी अपने गोविन्द से बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित किया है पर वह बहुधा सेवक भाव सूचक ही है। वे स्वयं को सेवक और राम या गोविन्द को ठाकुर की उपाधि देते हैं। पर ये भी अपने राम के दर्शन बिना व्याकुल हो कर कह उठते हैं—

दरसन दीजै राम, दरसन दीजै ।

दरसन दीजै बिलम्ब न कीजै ॥

दरसन तोरा जीवन मोरा ।

बिन दरसन दयों जिवै चकोरा ॥२

ठाकुर के सामने यह सेवक कातर भाव से नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ, आर्तनाद करता है जो भक्ति की उत्कृष्टतम अनन्यता का सूचक है। इतनी दीनता, निरीहता और असहायता का प्रदर्शन सभी संतों में, बहुत अधिक परिमाण में नहीं मिलता है। इसी दीनता का वर्णन करते हुए वे 'जाती ओछा, पाती ओछा, ओछा जनमु हमारा कहि रविदास चमारा' तक भी अपने राम से सूचित करते हैं जिसका स्पष्ट आशय अपनी सामाजिक उपेक्षा की ओर संकेत करना है, और इस प्रकार वे स्वयं को राम के चरणों में समर्पित करके 'जिऊ जानहु तितु करु गति मोरी' का आश्रय ले लेते हैं। पर संतों की दीनता न तो भय या पलायन की वृत्ति की उपज होती है और न वह किसी हीन-भावना (इन्फीरियार्टी कम्प्लेक्स) का कुफल ही है, प्रत्युत साधक में अपने आराध्य-साध्य के प्रति जितना ही दृढ़ विश्वास रहता है और साथ ही स्वयं अपनी साधना का जितना ही अधिक बल रहता है, उतना ही वह दीन बनता है। यह ठीक नल की गति है, जितनी ही नीचे जायेगी उतनी ही उँचे उठेगी। केवल इसी दृढ़ विश्वास और बल पर ही कोई यह कह सकता है—

जउ हमें बांधे मोह फाँस हम प्रेम बंधनि तुम बांधे ।

अपने छुटन को जतिन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥

साधव जानत हहु जैसी-तैसी अब कहा करहुगे अँसी ।

कहि रविदास भगति इक बाढी , अब इह कासिउ कही अँ ।

जा कारनि हम तुम अराधे , सो दुष अजहूँ सहोअँ ॥^३

और अंत में सेवक अपने प्रेम-बन्धन से 'ठाकुर' को बाँध कर स्वयं इतना ऊपर उठ जाता है कि उससे धुल-मिलकर एक हो जाता है। तब तो 'जब हम होते तब तुम नाहीं, अब तूँही हम नाहीं' की अवस्था आ जाती है।

रैदास जी की इसी महान दीनता ने युग के अनेक संतों और कवियों को आकृष्ट किया था। मीरां बाई ने भी इन्हें अपने गुरु के रूप में याद किया है। इनकी विरह-

१. वही, पृष्ठ १८९

२. वही, पृष्ठ १९३-९४

३. वही, पृष्ठ १९

वेदना भी 'सह की सार सुहागनि जाने, तजि अभिमानु सुख रलीआ माने,' के भाव में व्यक्त हुई है जहाँ मान-अभिमान की कोई गुंजाइश नहीं। 'नाम' तथा गुरु को महत्व इन्होंने भी अन्य संतों की भाँति दिया है, पर ये 'सो गुरु करौं जो बहुरि न करना' और अन्त में ऐसी मृत्यु भी चाहते हैं कि 'ऐसो मरौं जो बहुरि न मरना' हो।

संत रैदास के बाद प्रारम्भिक संतों में कमाल और धन्ना का नाम गिनाया जा सकता है। इन संतों का साम्प्रदायिक महत्व ही अधिक है। साहित्य-साधना के क्षेत्र में इनका कोई विशेष योगदान नहीं है।

मध्ययुगीन संत कवि

मध्य युग संतों की संख्या-बहुलता के लिए प्रसिद्ध है और इस युग में जितने संत हुए प्रायः उतने ही मत या पंथ भी बने। युग के पूर्वार्द्ध में संत जंभा नाथ के राजपूताने में 'विशुद्धि सम्प्रदाय', गुरु नानक देव के पंजाब में 'नानक सम्प्रदाय', छत्तीस गढ़ में धर्मदास द्वारा प्रवर्तित 'कबीर पंथ' राजस्थान में दादू दयाल के 'दादू पंथ', दिल्ली के आसपास बाबरी साहिबा के 'बाबरी पंथ', राजस्थान में हरिदास के 'निरंजनी सम्प्रदाय', उत्तर प्रदेश में मलूक दास के 'मलूक पंथ' आदि का निर्माण मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में हो चुका था।

उत्तरार्द्ध में इस प्रवृत्ति में और अधिक तीव्रता आ गई और हर गद्दीनशीन 'आदि गुरु' बनने की चिन्ता में नये पंथ का निर्माण करने लगा।

इतना ही नहीं, अब इनमें से कुछ ने तो स्वयं को अवतार तक कहना और कहलवाना आरम्भ कर दिया और कुछ तो इतने आगे बढ़े या चेलों द्वारा बढ़ाये गये कि बिहारी दरियादास दूसरे कबीर बन गये तथा प्राणनाथ ने स्वयं को पुराणों के कल्कि अवतारी तथा मसीहा कहना आरम्भ किया।^१ यद्यपि कुछ संतों ने हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई धर्मों में भी समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की थी पर कुल मिला-जुला कर संकीर्ण साम्प्रदायिकता का ही अन्ततोगत्वा साम्राज्य स्थापित हुआ। आश्चर्य तो यह है कि उत्तर-पूर्व युग के संत मूल से भी पृथक् होते गये और अब इनके मत में आचारगत भेदों के अतिरिक्त तत्वगत भेद भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे। हाँ, साहित्यिक गतिविधि में अवश्य आशातीत प्रगति हुई जिसे हम युग का प्रभाव ही कह सकते हैं। इसी युग में राम तथा कृष्णोपासकों का साहित्य बहुत अधिक परिमाण में रचा गया था। अब संतों ने भी अपने खटपटिया छन्दों में कुछ परिवर्तन ला दिया और पदों, दोहों, रमैनियों की जगह सबैयों, कवित्तों तथा अरिल्लों ने ले लिया। यह भी युग का प्रभाव था। इन परिवर्तनों से संत साहित्य का अपना निरालापन तो अवश्य धूमिल पड़ गया पर साथ ही यह युग की रूचि के अनुकूल भी हो गया। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि प्राचीन छन्दों को एकदम भुला दिया गया। साखी और पद अब भी चलते रहे। भावों का परिमार्जन भी किया गया जिससे संत-साहित्य में माधुर्य आ गया।

सम्प्रदाय-निर्माण की बात ऊपर कही गई है। इस उत्तरार्द्ध युग में प्रमुख नवोदित पंथ थे—पंजाब में बाबालाल का 'बाबा लाली सम्प्रदाय', बिहार में धरनीदास का

‘धरनीश्वरी सम्प्रदाय’, गुरु गोविन्द सिंह का सिक्खों की ही एक शाखा के रूप में ‘खालसा पंथ’, बाराबंकी में जगजीवनदास का ‘सत्तनामी’ (कोटवा शाखा) सम्प्रदाय, मारवाड़ में संत दरिया साहब का ‘दरिया पंथ’, रोहतक के संत गरीबदास का ‘गरीब पंथ’ बिहार में बिहारी दरियादास का ‘दरियादासी सम्प्रदाय’, दिल्ली में संत चरण दास का ‘चरणदासी सम्प्रदाय’, गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) के संत शिवनारायण का ‘शिवनारायणी सम्प्रदाय’ तथा जयपुर में संत रामचरण का ‘रामसनेही सम्प्रदाय’ ।

उपर्युक्त सभी संतों ने संत-साहित्य के कुछ पुराने विषयों—गुरु-महत्त्व-प्रदर्शन, ‘सत्’-प्रकाशन, खण्डन-मण्डन तथा भक्ति-निरूपण को अपनाते हुए भी अपने साहित्य में कुछ नवीन विषयों का समावेश कर दिया था। यह नवीन विषय और कुछ नई केवल अपने पंथ की विशिष्ट साधना-पद्धति से सम्बन्धित है। यद्यपि अधिकांश संतों के साहित्य का साम्प्रदायिक महत्त्व ही अधिक है पर इनमें कुछ सफल कवि भी हो गये हैं। मध्य युग के पूर्वाद्ध में गुरु नानक देव, दादू दयाल, गुरु अर्जुन देव तथा मलूकदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है और उत्तरार्द्ध के सुप्रसिद्ध कवि हैं तुलसी, रज्जबसाहब, सुन्दरदास, (दादूपंथी) गुरु गोविन्द सिंह, गरीबदास, दरियादास (बिहारी), चरणदास तथा रामचरण ।

नानक सम्प्रदाय के संस्थापक गुरु नानक देव (१४६९-१५३८ ई०) का नाम साम्प्रदायिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टिकोणों से आदर के साथ लिया जाता है। इनकी सरलता और तन्मयता से सम्बन्धित अनेक कथायें सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। इन्हें केवल सिख धर्म के प्रवर्तक के रूप में न मान कर मध्यकालीन उन सन्तों में इनकी गणना की जानी चाहिए, जिन्होंने मानवी गुणों को नैतिकता की ओर ले जाने और विश्व-प्रेम का प्रचार करने में अपना सारा जीवन लगा दिया। इनका सत्संग-प्रेम हर धर्म और वर्ग के महात्माओं के प्रति था। गुरु नानक देव की बानियाँ ‘आदि ग्रन्थ’ में संग्रहीत हैं। बानियों के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनायें भी संग्रहीत की जा चुकी हैं। गुरु की रचनाओं में काफी गम्भीरता है और साथ-साथ इनमें मस्ती की भी झलक दिखाई पड़ती है। बाह्याडम्बर का खंडन करते हुए इन्होंने जो उपदेश दिये हैं उनका स्वर प्रारम्भिक संत-मत से काफी मिलता-जुलता है। साधना के भी वही प्राचीन रूप देखने को मिलते हैं। अपने आराध्य देव से इन्होंने बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित करते हुए हम धरि साजन आये’ कहा है और ‘आवहु’ भीत पियारे मंगल गावहु न रे’ अथवा ‘सखी मिलहु रसि मंगल गावहु’ का भाव व्यक्त किया है। ‘हुकमुन जापी खसम का’ से भी सम्बन्ध की निकटता प्रकट होती है। इन्होंने भी राम नाम को ही अपनाया है जो इनके हृदय में धँस गया है ‘राम नामि मनु बेधिया’ और ‘जिउ भावै तितु राखु तूं मैं’ हरि नामु अवाहूँ और फिर ‘मन रे साँची खसम रजाई’ कह कर राम के प्रति ये पूर्ण आत्म-समर्पण करते हुए ‘तुझ बिनु अवरुन कोई मेरे पियारे तुझ बिन अवरुन कोई हरे’ की विनती करके माँगते हैं केवल—

अब तब अवरुन माँगउ हरि पति । नामु निरंजन दीजै पियारि ।

नानक चाबिकु अंम्रित जलु मागै । हरि जमु दीजै किरपा धारि ॥

यद्यपि उनके भी राम अलख, अपार अगम अगोचर’ हैं और ‘ना तिसु मात पिता

सुत बन्धवु ना तिसु कामु न नारी, है और जो 'घट-घट अंतरि ब्रह्म लुकाइयां' है, तथापि उसके प्रति जो रागात्मक भाव नानक ने स्थापित किए हैं उससे निराकार राम को भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान हो जाता है। गुरु नानक द्वारा चलाए गये पंथ को स्थायित्व प्रदान करने और उसे सबल बनाने में परवर्ती गुरुओं ने जो योग-दान दिया है वह भी साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अनेक नानक पंथी सन्तों ने तो उन्हीं के नाम पर रचनायें भी की थीं।

गुरु नानक के बाद दादू-पंथ के स्थापक संत दादू दयाल (१५५३-१६०३ ई०) का स्थान साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अधिक दिनों तक इन्होंने पैतृक व्यवसाय—धुनिया-गिरी करके परिवार का भरण-पोषण किया था, पर अंत में ये घर-बार छोड़ कर देशा-टन में लग गये। 'हरडेवाणी' नाम से सम्भवतः सर्वप्रथम इनकी रचनाओं का संग्रह किया गया था और तत्पश्चात् 'अंगबन्धु' नामक संशोधित संग्रह तैयार किया गया। हजारों की संख्या में इनके पद पाये जाते हैं। दादूदायाल ने अपने इस विशाल साहित्य द्वारा सिद्धान्तों का सफलता पूर्वक निरूपण किया है जिसमें अनुभूति की गहरी छाप है। इनके महान व्यक्तित्व और विशाल साहित्य ने दादू का सा असर किया और देखते-देखते राजस्थान के एक बहुत बड़े भाग पर इनका आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित हो गया।

ब्रह्म के व्यापकत्व पर सभी सन्तों ने बहुत कुछ कहा है पर कबीर को छोड़, कर, दादू की भाँति, बहुत कम संतों ने इसे अपने असीम अनुराग की सीमा में बाँध लेने में सफलता प्राप्त की है। दादू का 'ग्यान' बस यही है—

तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पॅड परान ।

सब कुछ तेरा तूँ है मेरा, यह दादू का ग्यान ॥

'जीव पीव न्यारा नहीं सब संगि बसेरा' द्वारा दादू हमें उपनिषदों के जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षियों की याद दिला देते हैं जो एक ही नीड़ में संग-संग निवास करते हैं किन्तु यहाँ 'जीव' 'पीव' के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता है। 'माता बालक दूध न देवै सो कैसे करि जीवै' की अवस्था वाला भक्त इसीलिए अपने राम को एक क्षण भी नहीं छोड़ना चाहता है, उसे बाँध कर रखता है। दादू बड़े विश्वास के साथ कह सकते थे—

रती रती करि डारे मोहीं । सांइ संग न छाड़ौं तोहि ॥

भावे ले सिर करवत दे । जीवन मुरी न छाड़ौं ते ॥

पावक में ले डारे मोहि । जरै सरौर न छाड़ौं तोहि ॥

इव दादू ऐसी बनि आई । मिलौ गोपाल निसान बजाई ॥^१

अन्त में हम दादू के प्रेम तथा विरह की ओर ध्यान देते हुए केवल इतना कहेंगे कि वे पहले विरह की अनुमति करते हैं तब प्रीति का प्रवाह होता है। ये विरह और मिलन इसीलिए बाह्य न होकर पूर्णतया आभ्यान्तरिक है। विरह के उद्भवसे ही आतुरता जनित वेदना उत्पन्न होती है और यह अलौकिक वेदना ही जीव को जाग्रत करती है—

पहिली आगम बिरह का, पीछे प्रीति प्रकास ।
 प्रेम मगन लैलीन मन, तहाँ मिलन की आस ॥
 मनही मांहै झूरणा, रोवे मन ही माहि ।
 मनही माहै धाह दे, दाह बाहरि नाहि ॥
 दाह बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव ।
 जीव जगावै सूरति को, पंच पुकारै पीव ॥^१

दाह का विरह एकांगी नहीं है। जिस प्रकार वे अपने भगवान के विरह में आकुल हैं उसी प्रकार उनके भगवान भी विरह का अनुभव करते हैं क्योंकि उनकी जाति ही प्रेम की है, उनका रूप-रंग प्रेम का है—

जे हम छाड़ै राम कौ, तौ राम न छाड़ै ।
 दाह अमली अमल थै, मन क्युं करि काढ़ै ।
 राम बिरहनी ह्वै रह्या, बिरहन ह्वै गई राम ।
 दाह बिरहा बापुरा, अैसे करि गया काम ॥
 दाह इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग ।
 इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग ॥^२

दाह के विरह का महत्व हमें तब समझ में आता है जब 'विरह अग्नि में जरि गये मन के विषै विकार' कह कर वे भगवद्प्रेमानुराग को बहुत ऊँचा उठा देते हैं और बिना किसी श्रम के ही उसी विरह द्वारा सारी विषय-वासना का अन्त करा देते हैं।

सिख धर्म के उत्थान में महत्वपूर्ण योग-दान देने वाले गुरु अर्जुन देव (१५६३-१६०६ ई०) का नाम भारतीय इतिहास में आदर के साथ लिया जाता है। अकबर के प्रिय चाटुकार बीरबल तथा अर्थ मंत्री चंद दास के कुचक्रों एवं द्वेष की चक्की में बुरी तरह पिस कर और जहाँगीर के बन्दी-गृह में कष्ट सह कर अन्त तक गुरु अर्जुन देव ने सत्य का पल्ला नहीं छोड़ा था, बाध्य होकर शरीर अवश्य छोड़ दिया था। साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर सिखों की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति का प्रयास किया। देश की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए गुरु अर्जुन देव के इस प्रयास को हम कभी नहीं भूला सकते। साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्होंने अद्वितीय कार्य किया था। यह गुरु अर्जुन देव के अदम्य उत्साह का ही प्रतिफल है कि सिखों को तथा अन्य सन्तों को भी 'आदि ग्रंथ' उपलब्ध हो सका। संत-साहित्य का यह वृहद कोष 'आदि ग्रंथ' वैष्णवों के 'भागवत' की भाँति ही मध्य युगीन सन्तों में आदरणीय रहा और सिख धर्म का तो यह सचमुच आदि ग्रंथ है। गुरु अर्जुन देव की रचनायें 'आदि ग्रंथ' में अधिक 'संख्या में' पाई जाती हैं। इनकी 'सुखमनी' को भी सिख बहुत अधिक आदर देते हैं।

गुरु अर्जुन देव की भाषा बहुत सुधरी है और भावों को वहन करने की उसमें

१. संत काव्य, पृष्ठ २५९

२. वही " "

पूरी क्षमता है। यद्यपि विषय वही पुराने हैं, कहने का ढंग भी लगभग वैसा ही है तथापि इनमें अनुभूति की गहराई के कारण एक अपनापन-सा आ गया है। इनके अनुराग का निम्न चित्र द्रष्टव्य है—

बिसरत नहि मन ते हरी ।

अब इह प्रीति महा प्रबल भई , आन बिषै जरी ॥

बूंद कहा तिआगि चात्रिक , मोन रहत न घरी ।

गुन गोपाल उचरु रसना टेव एह परी ॥

महानाद कुरंक मोहिऊ बेधि तोषन सरी ।

प्रभु चरन कमल रसाल नानक, गाँठ बांधि धरी ॥

अपनी मस्ती और निर्भीकता के लिए प्रसिद्ध मलूक दास (१५७४-१६८२) का नाम भी इस युग के अन्तिम खेव के संत कवियों में गिना जाता है। ये प्रयाग के रहने वाले थे और बहुत दिनों तक भगवद्दर्शन की लालसा से भटकते रहे। पर सत्संग और देशाटन ने भी इन्हें गृह त्यागने के लिए बाध्य नहीं किया और संतों की परम्परानुसार ये ब्रह्म-साधना और गृहस्थ-साधना साथ-साथ करते रहे। रचनाएँ इनकी संख्या में ९ बताई जाती हैं। मलूक दास जी की बानी का प्रचार अधिक है। इनकी भाषा अधिक सरल और मधुर है। कथन बहुत सुस्पष्ट तथा अनुभूति जनित हैं। कृत्रिमता किसी प्रकार की नहीं है। इनकी साखी के अनेक उदाहरण आज तक लोगों द्वारा दुहराये जाते हैं। 'मलूका सोई पीर है जो जानै पर पीर, जो पर पीर न जानही सो फकीर बेपीर', 'कठिन पियाला प्रेम का पिये जो हरि के हाथ, चारो युग माता रहे उतरे जिय के साथ' और आलसियों द्वारा प्रतिदिन याद किये जाने वाले 'अजगर करै न चाकरी' वाले मलूक दास भी यही हैं।

संत मत के अधिकांश सिद्धान्तों को इन्होंने ज्यों का त्यों अपने साहित्य में उतारा है। राम ही इनके आधार हैं, इनकी पूंजी हैं, इनके साहस हैं और इसीलिए वे 'कह मलूक मोरे रामे पूंजी जीव बराबर राखों' कहते हैं। इनका परिचय इन्हीं के शब्दों में—

ददं दिवाने बावरे , अलमस्त फकीरा ।

एक अकीदा लै रहै , ऐसे मन धीरा ॥

प्रेम पियाला पीवते , बिसरे सब साथी ।

आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी ॥

उनकी नजर न आवत , कोई राजा रंका ।

बंधन तोड़े मोह के , फिरते निहसंका ॥

साहब मिलि साहब भये , कछु रही न तमाई ।

कहे मलूक जिस घर गयों , जहँ पवन न जाई ॥^१

मध्य युग के उत्तरार्द्ध के संत कवियों में सत रज्जब का नाम पहले आता है। ये दाढ़ू के शिष्य थे और उन्हें भगवान के समान ही समझते थे। इनकी सहृदयता प्रसिद्ध थी। पहुँचे हुए संत के साथ-साथ ये सफल कवि भी थे। इनका विपुल साहित्य प्रकाशित

हो चुका है। रज्जब ने केवल साहित्य-सृजन ही नहीं किया था प्रत्युत अनेक संतों की रचनाओं के संग्रह भी इन्होंने तैयार किये थे। दादू जी की रचनाओं का संग्रह 'अंगबन्धू' तथा अन्यान्य संतों का संग्रह 'सर्वांगी' नाम से रज्जब जी ने ही तैयार किया था। इनकी अपनी रचनायें काफी सफल कही जा सकती हैं। इनके दृष्टान्त तो गहरे अनुभव व चिन्तन का परिचय देते हैं। इनकी कुछ उक्तियाँ सीधे हृदय में उतर जाती हैं और जीवन के सत्य का उद्घाटन करने लगती हैं। रचना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

ज्यूँ सुन्दरि सर न्हावता, अभरण धरै उतारि।

त्यूँ रज्जब रमिराम जल, स्वांग शरीरहि डारि॥

शृंगार सहित अथवारहित, पति पर से सुत होय।

रज्जब भामिनि भेषबल फल पावै नहि कोय॥^१

तनमन ओले ज्यूँ गलहि, बिरह सूर की ताप।

रज्जब निपजै देखतूँ यूँ आपा गलि आप॥

घट दीपक बाती पवन, ज्ञान जोति सु उजास।

रज्जब सींचे तेल लै, प्रभुता पुष्टि प्रकास॥^२

रज्जब के गुरु भाई और उनके समकालीन सन्त सुन्दर दास (छोटे) (१६०२-१६८९ ई०) का भी संत-साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने सन्त-परम्परा को आगे बढ़ाने में काफी योग दिया था। इनकी प्रतिभा से ही प्रभावित होकर रज्जब जी ने इन्हें काशी विद्याध्ययन के लिए भी भेजा था और चौदह वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात् सुन्दर दास दर्शन और साहित्य के मर्मज्ञ हो गये। तदुपरान्त देशाटन द्वारा उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार दीन और दुनियाँ को निकट से देख लेने वाले इस सन्त का जीवन गहरी अनुभूतियों और शास्त्रीय सिद्धान्तों का एक समन्वित स्वरूप हो गया जिसे सुन्दर दास के कवि ने वाणी प्रदान करके मुखरित कर दिया। सुन्दर दास ने छोटे-बड़े ४२ ग्रन्थों की रचना की जिनका संग्रह 'सुन्दर ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित है। इनके काव्य की आत्मा शास्त्रोन्मुख संत-तत्त्ववाद तथा शरीर रीतिकालीन है। कई भाषाओं पर अधिकार तो सुन्दर दास का था ही, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इनकी साहित्यिक उपलब्धि के संबंध में भी विचार करते हुए लिखा है—

“वास्तव में व्याकरण एवं छन्द-नियम के अनुसार दोषहीन रचना करने की दृष्टि से तथा रस, अलंकार जैसे साहित्यिक अंगों के प्रयोग में प्रवीणता दिखाने के विचार से भी सुन्दर दास का स्थान सारे सन्त कवियों में सर्वोच्च जान पड़ता है।”^३

सुन्दर दास ने युग के प्रभावानुसार लम्बे विस्तार वाले वर्णन ही अधिक दिये हैं। संतों की वह बात इनमें नहीं है जो थोड़े शब्दों में अधिक तत्त्वों का निरूपण कर देते थे। सवैया और कवित्त उन्हें अधिक प्रिय थे। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

१. संत काव्य, पृष्ठ ३४१

२. वही, पृष्ठ, ३३५

३. वही, पृष्ठ ३४६

एक कहूँ तो अनेक सौ दीसत , एक अनेक नहीं कछु ऐसो ।
आदि कहूँ तिहि अंतहूँ आवत आदि न अंत न मध्यमुकँसो ॥
गोपि कहूँ तो अगोपि कहा यह गोपि अगोपि न ऊभौनबँसो ।
जोइ कहूँ सोइ है नहि सुन्दर है तौ सही परि जैसे को तँसो ॥ १

गरीब पंथ के प्रवर्तक संत गरीबदास (१७१७-१७७८ ई०) की गणना भी सफल संत कवियों में की जाती है। ये रोहतक निवासी थे। अन्त तक इन्होंने गृहस्थ जीवन बिताया था। जीवन और साहित्य सब में कबीरदास की स्पष्ट छाप इन पर दिखाई पड़ती है। इनके साहित्य का संग्रह 'गरीबदास जी की बानी' नाम से प्रकाशित है। विषय वही पुराने हैं और उन्हें देखने का ढंग भी लगभग वैसा ही, पर छन्द कुछ नवीन हैं और पदों-साखियों के साथ रेखता भी है। भाषा में पंजाबीपन है, पर बहुत खटकने वाला नहीं। खण्डन की प्रवृत्ति रहते हुए भी कटुता में कुछ कमी आ गई है। अपने पंथ के विषय में इन्होंने कहा है—

आदि सनातन पंथ हमारा । जानत नाहीं यह संसारा ॥
पंथों सेती पंथ अलहदा । भेखो बीच पड़ा है वहदा ॥
षट् दर्शन सब खटपट होई । हमारा पंथ न पावै कोई ॥
हिन्दू मुसलमान कदर नहि जाने । रोजा ग्यारस करै धिक ताने ॥
दोनों दीन यकीन न आसा । बे पूरब बे पछिम निवासा ॥
दुहूँ दीन का छोड़ा लेखा । उत्तर दक्खिन में हम देखा ॥
गरीबदास हम निःचँ जाना । चारों खूँट दशों दिस ध्याना ॥ २

बिहार वाले संत दरियादास (१६७४-१७८० ई०) ने भी संत-साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया था। इनका अपना पंथ भी था जो संतों की लगभग सभी प्राचीन मान्यताओं को लिये हुए चल रहा था। इन पर भी गरीब दास की भाँति कबीर की बहुत गहरी छाप है। कहा जाता है कि इन्होंने बीसों ग्रन्थों की रचना की थी पर सभी प्रकाशित नहीं हैं। 'दरियासागर' तथा 'ज्ञान दीपक' ही इनके प्रसिद्ध प्रकाशित ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों का साम्प्रदायिक महत्व ही अधिक होते हुए साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है।

रागानुगामिकता की ओर इनका झुकाव अधिक था और ये भी अपने पूर्ववर्ती संतों की भाँति तादात्म्य भाव की ओर आकृष्ट थे—

मैं कुलवंती खसम पियारी । जाँचत तूँ लै दीपक बारी ॥
गन्ध सुगन्ध थार भरि लीन्हा । चंदन चर्चित आरति कीन्हा ॥
फूलन सेज सुगन्ध बिछायो । आपन पिया पलंग पौढ़ायो ॥
सेवत चरन रँनि गइ बीती । प्रेम प्रीति तुमहीं सो रोती ॥
कहै दरिया ऐसो चित लागा । भई सुलछनि प्रेम अनुरागा ॥ ३

१ संत काव्य, पृष्ठ ३५०

२. वही, पृष्ठ ४१३

३. संत काव्य, पृष्ठ ४२०-२१

मध्ययुग के उत्तरार्द्ध के अन्तिम चरण में संत चरन दास (१७०३-१७८२ ई०) का आविर्भाव भी सन्त-मत एवं साहित्य के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ये मेवात के निवासी थे और दिल्ली में रहकर इन्होंने ५० वर्षों तक अपने मत का प्रचार किया था। कहा जाता है कि इन्होंने २१ ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से लगभग सभी प्रकाशित हो चुके हैं। इन पर 'भागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भक्ति, ज्ञान तथा योग इनके प्रिय विषय रहे हैं। संतों की उच्च नैतिकता का भी इन्होंने साहित्य द्वारा प्रचार किया है।

भगवान के आनन्दमय रूप को ही इन्होंने अपनाया है और इसी वल पर ये सारा 'गम' दूर करके निश्चिन्त भाव से आनन्दित होते रहे—

आदिहुँ आनंद अन्तहुँ आनंद, मध्यहुँ आनंद ऐसेहि जानो।

बंधहुँ आनंद मुक्तहुँ आनंद, आनंद ज्ञान अज्ञान पिछानो॥

लेटेहु आनंद, बैठेहु आनंद, डोलत आनंद आनन्द आनो।

चरनदास बिचारि सब कहू, आनंदछाड़ि दुखकै न ठानो।^१

'रामसनेही सम्प्रदाय' के संस्थापक संत रामचरण (१७१९-१७९८ ई०) ने भी संत-काव्य की श्रीवृद्धि में योग दिया था। ये जयपुर के निवासी थे और प्रारम्भ में, अग्रदासी शिष्य-परम्परा में दीक्षित हुए थे किन्तु राम का वह रूप इन्हें न लुभा सका और तब इन्होंने शाहपुरा में अपना उक्त नया मत चलाया जिसमें राम का निर्गुण रूप प्रधान रहा। प्राचीन संतों के अनेक सिद्धान्त इन्होंने अपनाये थे। ये भक्ति द्वारा ही भगवान की प्राप्ति सम्भव बताते रहे। इन्होंने बीसों ग्रन्थों की रचना की थी। जो 'अण मैवाणी' नाम से संग्रहीत है। इनके विरह का एक चित्र द्रष्टव्य है—

रमइया मोरि पलक, न लागै हो।

दरस तुम्हारे कारण, निसिबासर जागै हो॥

दसू दिशा जातर करूँ, तेरे पथ निहालूँ हो।

राम राम की ढेर दे, दिन रैन पुकारूँ हो॥

नैन दुखी दीदार बिन, रसना रस आस हो।

हिरदो हुलसै हेतकुं, हरि कब परकासै हो॥

स्वाति बूंद चातक रटै, जल और न पीवै हो।

घन आसा पूरै नाहीं, तो कैसे जीवै हो॥

दासकी या अरदास सुण, पिया दरसन दीजै हो।

रामचरण बिरहिन कहै, अब बिलसनकीजै हो॥^२

संतों की यह परम्परा आधुनिक युग तक कुछ समसामयिक तत्वों को लेकर चलती रही है।

१. संत काव्य, पृष्ठ ४२८

२. वही पृष्ठ ४५५

१२ : पूर्व मध्यकालीन सांस्कृतिक पर्यावरण

धर्मशास्त्रों या धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित दर्शन तथा धर्म-साधना-पद्धतियों का तत्कालीन समाज से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहता है। कभी-कभी तो शास्त्र पीछे छूट जाता है और लोकमत ऊपर उठ आता है। यही लोकमत कालान्तर में स्वयं नूतन धर्मशास्त्रों के प्रणयन की प्रेरणा प्रदान करने लगता है। अतः समसामयिक धर्मशास्त्रों के साथ-साथ लोकमत का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक हो जाता है। हमें ज्ञात है कि उत्तर भारत में भक्ति-भावना दो रूपों में स्वीकृत हुई—निर्गुण तथा सगुण। हमें यह भी ज्ञात है कि उक्त दोनों रूपों में प्राण एक होते हुए भी स्वर भिन्न है। यह भिन्नता इतनी उत्कट है कि दोनों रूपों में सामाजिक दृष्टिकोण से एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। जहाँ सगुण भक्तों ने आधुनिक शब्दावली में 'आदर्शवादियों' की भाँति अपनी प्राचीन परम्पराओं—सामाजिक एवं वैदिक रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया वहाँ निर्गुण भक्तों ने 'प्रगतिवादियों' की भाँति समाज की अनेक प्राचीन मान्यताओं का उपहास किया। इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने लिखा है कि "सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है। पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में। एक ने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया तो दूसरे ने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस।"^१ दोनों श्रेणियों के भक्तों के लिए एक ही भक्ति-आन्दोलन की प्रेरणा है और दोनों के पास धर्मशास्त्रों की समान थाती है जिसकी नींव पर वे भावी भक्ति का प्रासाद खड़ा कर सकते थे। फिर यह विभेद क्यों? इसके मूल में भक्त विशेष की वैयक्तिक भिन्नता, रुचि-वैशिष्ट्य, मौलिकता आदि को ही स्वीकार करके सन्तोष नहीं किया जा सकता है। वास्तव में यह तत्कालीन सामाजिक या सांस्कृतिक पर्यावरण है, जिसने उपर्युक्त दो श्रेणियों के भक्तों को दो प्रकार से सोचने की प्रेरणा दी थी।

यह तो भक्त कवियों की बात हुई। अब शेष जनता की बात लें। जिस जनसमुदाय में धर्मचार्यों या भक्त कवियों ने यह रसमय धारा प्रवाहित की थी उसमें इस धारा को ग्राह्य करने की कितनी उत्कंठा थी, कितना वेग था और थी कितनी क्षमता, इस दृष्टि से भी उक्त पर्यावरण का अध्ययन आवश्यक है। इन परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किये बिना हमारा अध्ययन अपूर्ण ही रह जायगा।

हमारे इस अध्ययन की सीमायें इस प्रकार हैं—

- (क) भक्ति-आन्दोलन के प्रारम्भ के पूर्व के उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था तथा उसका जन-जीवन पर प्रभाव,
- (ख) आलोच्य काल की सामाजिक परम्परा एवं तत्कालीन जन-जीवन तथा
- (ग) तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदाय एवं उनका प्रभाव-क्षेत्र।

राजनीतिक अवस्था

जिस युग में भक्ति-आन्दोलन का उत्तर भारत में सूत्रपात होता है उसे इतिहास में तुर्क-अफगान काल के नाम से अभिहित किया जाता है। यह युग बारहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलता है और सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में इसका अन्त हो जाता है। तुर्क-अफगान जातियों का शासन होने के कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। तत्पश्चात् भारत पर मंगोल या मुगलों का शासन स्थापित होता है। इन दो विदेशी जातियों के शासन-काल में ही उत्तर भारत में भक्ति की निर्झरिणी प्रवाहित होती है। प्रारम्भ होता है तुगलों के पराभव और सैय्यद तथा लोदी वंशों के उदय में और विकास-सोपानों का क्रम चलता रहता है अन्तिम महान साम्राज्यवादी मुगलों (Imperial Mughal) तक। अतः यहाँ केवल तुगलक-सैय्यद तथा लोदी सुल्तानों की उन अवस्थाओं का चित्रण ही अभीष्ट है जिनसे उत्तर भारत (हिन्दी प्रदेश) का जन-जीवन प्रभावित हुआ था और भारतीय मनीषियों को कुछ विशेष ढंग से सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

राजनीतिक अशांति का जो ताँता वर्षों से चला आ रहा था और जिसे गुलाम तथा खिजली वंश के शक्तिशाली सुल्तान भी नहीं समाप्त कर सके थे उसे सर्वप्रथम गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-१३२५ ई०) ने एक बार समाप्त कर दिया। यह राजनीतिक अशांति भी देशीय राज्यों से संघर्ष, मंगोलों के आक्रमण तथा आंतरिक विद्रोह। ये तीनों ही अवस्थाएँ उत्तर भारत के शासन के लिए कई शताब्दियों से समस्या के रूप में चली आ रही थीं जिनसे लोक-जीवन को भी निरन्तर आघात पर आघात सहने पड़ते थे। देशी राज्यों के संघर्ष में भी हिन्दुओं का बध और विदेशी आक्रमणों में भी हिन्दुओं का कत्ल-ए-आम सामान्य सी बात थी। गयासुद्दीन तुगलक का शासन-काल सामाजिक दृष्टिकोण से मुसलमानकालीन भारतीय जीवन की पहली मरहमपट्टी है। यही वह युग है जिसमें सांस्कृतिक समन्वय तथा हिन्दू-मुसलमान जातियों के स्वेच्छापूर्ण धर्म-परिवर्तन (बलपूर्वक परिवर्तन नहीं) की परिस्थितियाँ अंकुरित होने लगती हैं। यद्यपि सिंहासनारोहण के समय का जो वृत्तान्त बर्नीने दिया है अथवा 'गाजी' (हिन्दुओं का बध करने वाले) की जो उपाधि गयासुद्दीन को दी गई है उससे कुछ शंका उत्पन्न होती है किन्तु अन्यान्य साक्ष्यों से हमें गयास का कुछ सहिष्णु और सुधारवादी रूप ही परिलक्षित होता है। (यहाँ 'सहिष्णु' शब्द का ठीक वही अर्थ नहीं लिया गया है जिस अर्थ में पूर्ववर्ती अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्द्धन या फिर परवर्ती अकबर को लेते हैं।) जहाँ नासिरुद्दीन (१२४६-६६ ई०) जैसे सुल्तान हुए थे, हुए जिन्होंने 'धर्म-युद्ध' करके इतनी अधिक संख्या में हिन्दुओं का बध किया कि जिसकी गणना नहीं की जा सकती,^१ जहाँ बलबन (१२६६-८६ ई०) जैसे शासकों का काठोर शासन रहा जिन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि "खुदा की इस अनुपम देन बादशही के प्रति वही बादशाह अपना कर्त्तव्य-पालन करता है जो अपना वैभव, ऐश्वर्य, प्रताप, लाव-लश्कर, कर्मचारी, राजकोष, सम्पत्ति आदि, जो खुदा ने उसे प्रदान किये हैं, उन सबको कुफ्र और काफिरों, शिर्क और बुतपरस्तों के विनाश में लगा सके। दीन-ए-इस्लाम के विपक्षियों का मूलोच्छेदन कर दे। यदि यह सम्भव न हो तो खुदा और मुहम्मद साहब के

शत्रुओं को अपमानित करे तथा उनके विश्वास और आदर का अन्त कर दे। अपने राज्य में उनकी सुख-सम्पन्नता, उनके मान तथा पदों का नामोनिशान न रहने दे।”^१ जिस प्रदेश में अपनी हृदय-कोमलता और दयालुता के लिए इसलामी जगत् में विख्यात जलालुद्दीन खिलजी (१२९०-९६ ई०) जैसे कन्न में पैरलटकाये हुए शासक भी इस प्रकार का पश्चात्ताप कर सकते थे कि “.....यह नहीं देखता कि वे हिन्दु, जो खुदा और मुस्तफा के दुश्मन हैं, प्रतिदिन बड़े ठाट-बाट तथा शान-शौकत से मेरे महल से होकर यमुना तट पर जाते हैं, मूर्ति-पूजा करते हैं और शिर्क तथा कुफ्र के आदेशों का हमारे सामने ही प्रचार करते हैं, हम इतने बेहया हैं जो अपने आप को बादशाह कहते हैं, उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते। उन्हें हमारा, हमारे अधिकार तथा बल का कोई भय नहीं।....(वे) खुल्लमखुल्ला मूर्ति-पूजा करते हैं, ढोल पीट-पीटकर कुफ्र तथा शिर्क की आज्ञाओं का प्रचार करते हैं। हमारी बादशाही.....पर थू है—लानत है क्योंकि... उनके खून की नदियाँ नहीं बहाई जा रही हैं,”^२ और अन्त में जहाँ रक्त और तलवार में आस्था रखने वाले अलाउद्दीन (१२९६-१३१६ ई०) जैसे तथाकथित ‘शासन-सुधारकों’ का राज्य रहा, जिन्होंने बर्नी के कथनानुसार “बुद्धिमानों को उन अधिनियमों तथा कानूनों को तैयार करने की आज्ञा दी थी जिन नियमों द्वारा हिन्दुओं को दबाया जा सके और धन-सम्पत्ति.... उनके घरों में न बच सके। हिन्दुओं के पास इतना धन भी न बच जाय कि वे घोड़े पर सवार हो सकें, हथियार रख सकें, अच्छे वस्त्र पहन सकें तथा सुखपूर्वक निश्चिन्त होकर जीवन बिता सकें” तथा जहाँ बर्नी ने ही इस उद्देश्य की सफलता का उल्लासपूर्वक चित्रण करते हुए बताया है कि इन नियमों ने हिन्दुओं को इतना निर्धन बना दिया कि “खूतों तथा मुकद्दमों की स्त्रियाँ मुसलमानों के घर जाकर काम करने लगीं और मजदूरी पाने लगीं, और हिन्दू भय से चूहों की भाँति बिल में घुस गये।” वहाँ ऐसी नीति वाले शासकों के बाद गयासुद्दीन का शासन कुछ कोमल शासन का ही युग कहा जा सकता है जिसने हिन्दुओं से कर वसूलने की नीति का निर्धारण करते समय यह स्पष्ट आज्ञा दी थी कि “.....उनके साथ ऐसा कठोर व्यवहार भी न किया जाय कि वे कृषि-कार्य त्यागने को बाध्य हो जायँ। उनके साथ मध्यम मार्ग का अनुसरण ही सर्वथा उचित है।”^३ अवान्तर होते हुए भी गयासुद्दीन तुगलक के सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक होगा कि वीरता, उदारता एवं धर्म-परायणता की त्रिवेणी उसके व्यक्तित्व में एक साथ मिल गई थी और इसका कारण यह था कि वह भारतीय माता से उत्पन्न हुआ था। उसमें हिन्दुओं की विनम्रता, कोमलता एवं तुर्कों का पराक्रम एवं पौरुष था। इस अल्प अवधि में मंदिरों के विध्वंस की परम्परा कुछ दिनों के लिए स्थगित हो जाती है और इस प्रकार हिन्दुओं के आर्थिक विकास को—विशेषतया कृषि-विकास को प्रोत्साहन मिलने लगता है। उन्हें कुछ धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई थी और तब कुल मिला-जुलाकर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि हो गई जिसमें लगभग दो सौ वर्षों से कुचली जाने वाली जाति को पुनः उठने का अवसर प्रदान हुआ। उधर आपसी तनाव भी कम हो गया और अब दोनों वर्गों के लोगों को परस्पर सम-

१. यह बर्नी द्वारा सुल्तान के विचारों का विवरण है।

२. अहमद चप तथा सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी का वार्तालाप बर्नी द्वारा वर्णित।

३. बर्नी—‘तारीख-ए-फिरोजशाही।’

ज्ञान-समझाने का अवसर प्रदान हुआ। यह अवस्था केवल पाँच वर्षों तक ही (१३२०-१३२५ ई० तक) चलती है कि सौभाग्यवश कुछ और भी सुन्दर और उपयुक्त प्रभावोत्पादक वातावरण की पृष्ठभूमि निर्मित होने का सुन्दरतम अवसर आता है। यह है विश्व में बहुनिन्दित-बहु-प्रशंसित सुलतान मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३६१ ई०) का दिल्ली तख्त पर आसीन होना। मुसलमानों की दृष्टि में यह 'काफिर' तुर्क सुलतान अपने समय से बहुत आगे बढ़कर स्पष्ट घोषणा कर देता है कि उल्मा, मौलवियों, काजियों आदि के हाथ में प्रजा को सौंपकर अन्याय का बीजारोपण करना ही है। उसने शताब्दियों से उपेक्षित हिन्दुओं को भी राजकाज में उच्च पद प्रदान किये तथा धर्मनिर्पेक्षता की नीति का जोरदार समर्थन और पालन किया। ध्यान देने योग्य तथ्य तो यह है कि 'तारीख-ए-फिरोजशाही' के रचयिता ने सुलतान की इस नीति की कटुतम आलोचना की है। बर्नी ने सुलतान के तथाकथित नीच कुलोत्पन्न पदाधिकारियों की एक लम्बी सूची भी प्रस्तुत की है जिसमें नाई, बावर्ची, माली, गायक आदि सम्मिलित थे। वास्तव में यही पहला सुलतान था जिसने इसलामी जगत् के संकीर्ण राजत्व सिद्धान्त को एक जोरदार झटका देकर धर्मगत विभेद और तनाव को अप्रत्यक्ष रूप से कम कराने की सफल चेष्टा की थी। यद्यपि इस कार्य के लिए उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ा था और इससे एक ओर तो षड्यंत्रों और राजनीतिक उपद्रवों के मूल स्रोत मुल्ला-काजी आदि इस 'काफिर' से असन्तुष्ट हो गये तथा समस्त भारतीय मुसलमान पदाधिकारी, सैनिक, मुसलमान प्रजा आदि हष्ट हुई और दूसरी ओर उसकी कुछ असफल योजनाओं से हिन्दू प्रजामें भी सुलतान के प्रति अविश्वास के भाव जागृत हो गये। पर यह सब होते हुए भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि तुर्क-अफगान काल में (बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक में) हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का जो सम्न्वय हुआ है उसमें मुहम्मद तुगलक की बहुत बड़ी देन है। तत्पश्चात् २५ वर्षों तक की सहिष्णुता का न केवल अन्त कर देने वाला प्रत्युत घोर साम्प्रदायिक सुलतान फीरोज तुगलक (१३६१-१३८८ ई०) का शासन आरम्भ हुआ जिसने हिन्दुओं के मंदिरों के विध्वंस, असंख्य ब्राह्मणों-पुजारियों आदि के नृशंस बध के पश्चात् यह घोषणा की कि "जो कोई भी इसलाम स्वीकार कर मुसलमान बन जायेगा वह जजिया से मुक्त कर दिया जायेगा।" फलस्वरूप "जनता के कानों में यह सूचना पहुँची और बड़ी संख्या में हिन्दू उपस्थित हो गये तथा उन्हें इसलाम ग्रहण करने का सम्मान प्रदान किया गया—" (अफीफ, इलियट ३, पृ० ५८६)। इतना ही नहीं कट्टर सुन्नी होने के नाते उसने शिया सम्प्रदाय वालों के साथ भी समान कठोरता का व्यवहार किया था। इलियट की शब्दावली में सुलतान के अपने वाक्य द्रष्टव्य हैं—

आगे सुलतान ने कुछ अन्य सम्प्रदायों के दमन का उल्लेख करते एहू कहा है—

"The Sects of Shias... had endeavoured to make proselytes. They wrote treatises and gave instruction and lectures upon the tenets of their sect, and traduced and reviled the first chiefs of our religion..... I seized them all and I convicted them of their errors and preversion. On the most zealous I inflicted punishment, and the rest visited with censure (tazir) and threats (tahdib) of public punishment. Their books I burnt in public and so by the grace of God the influence of the sect was entirely suppressed."

“मुलाहिदों तथा अबतियानों के सम्प्रदाय भी थे जो लोगों को पथ-भ्रष्ट और धर्मच्युत (इसलाम धर्म से च्युत) कर रहे थे। वे किसी निश्चित समय में निश्चित स्थान पर रात्रि में मित्रों-अपरिचितों सहित मिलते थे। वहाँ मदिरा-पान होता था और इसे वे अपनी धार्मिक उपासना घोषित करते थे। वे अपने साथ अपनी पत्नियों, माताओं तथा पुत्रियों को भी लाते थे। तब (मद्यपान के पश्चात्) पुरुष पूजा के निमित्त धरती पर पड़ जाते थे और फिर जिस स्त्री का भी वस्त्र वे पकड़ लेते थे उसी के साथ भोग करते थे। मैंने इस सम्प्रदाय के नेताओं का बध करवा दिया और शेष को बन्दी अथवा निष्कासित बना दिया। इस प्रकार उनके जघन्य कृत्यों का अन्त हो गया।” यहाँ एक तथ्य की ओर ध्यान जाता है। महदवियों, मुसाहिदों तथा सूफियों^१ के साथ घोर अत्याचार करके और साथ ही हिन्दुओं को तो कल्पनातीत प्रताणना देकर सुलतान ने दोनों सम्प्रदायों को एक दूसरे के निकट खींच लाने में कितना अप्रत्यक्ष योग दिया होगा, इसकी कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं। हम जानते हैं कि हमारे भक्त कवियों का सूफियों से कुछ लगाव है। अस्तु मुहम्मद तुगलक की सहिष्णुता की जो लीपापोती प्रारम्भ हुई वह आगे भी उसी रूप में गतिशील रही। छोटे-मोटे सुलतानों की बातें छोड़ दें। सब से प्रचंड आघात देता है सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७ ई०) जिसने हिन्दुओं के मन्दिरों के विध्वंस के साथ-साथ उनके समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। एक लाख हिन्दुओं की जो हत्या तैमूर ने पहले ही १३९८ ई० में कत्लेआम के रूप में की थी वह देश के लिए कोई नई बात नहीं। इसके पूर्व भी अनेक बार कत्लेआम हो चुके थे और आगे भी बहमनी वंश के अहमदशाह तथा मुहम्मद शाह ने लाखों की संख्या में हिन्दुओं का बध करवाया था। फरिश्ता ने तो मुहम्मद शाह द्वारा बध किये गये हिन्दुओं की संख्या ५० लाख बताई है। मुसलिम इतिहासकारों ने उत्साहपूर्वक हिन्दुओं की लाशों के ‘पहाड़’ ‘खलिहान’ आदि का वर्णन करते हुए दुर्गन्ध से मीलों की भूमि विषाक्त हो जाने की बात अनेक स्थलों पर कही है। परतब इनके इतिहासकार का गला इसलाम के पंजों में रहता है, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा।

यह है हमारा पूर्वमध्यकालीन (बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का) हिन्दी प्रदेश जहाँ हिन्दी भक्ति-साहित्य के प्रणेताओं एवं उनके अनेक आचार्यों का उदय हुआ था। सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश की यही अवस्था थी, यदि कुछ स्थानीय शांति थी तो वह अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के पश्चात् से मेवाड़ के राणाओं के युग में, जहाँ कृष्ण की अनन्य प्रेमिका तथा भगवान के गुणों की अमर गायिका मीराबाई का उदय हुआ था।

बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत का हमारे आलोच्य विषय से कोई बहुत गहरा सम्बन्ध अभी नहीं है, फिर भी, इतना कह देना आवश्यक होगा कि जिस समय उत्तर भारत के विश्रृंखल और परस्पर शत्रु-भाव रखने वाले दम्भी राजपूत नरेश, एक-एक करके मुसलमान शक्तियों के सामने धुटने टेक कर अपनी हिन्दू प्रजा को मुस्लिम शासकों की कृपा पर छोड़ते जा रहे थे उस समय दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म के नाम पर अनेक बार संयुक्त मोर्चे

१. ये तीनों मुसलमान सम्प्रदाय उत्तर भारत में, विशेषतया दिल्ली के आसपास, प्रचलित थे। इनमें इसलामी कट्टरता का अभाव था और साथ ही लोकतत्त्व की प्रधानता थी।

के संगठन की चेष्टाएँ की गई थीं। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में धर्म के नाम पर ही प्रताप रुद्रदेव द्वितीय ने कर्नाटक के महान राय बल्लाल देव तथा अन्यान्य दक्षिणी हिन्दू राजाओं का एक संगठित मोर्चा तैयार किया था। फरिस्ता के शब्दों में “बल्लाल देव तथा कृष्ण नायक की सम्मिलित सेना ने भावर तथा द्वारसमुद्र को मुसलिम शासक के चंगुल से सदा के लिए मुक्त करा दिया। युद्ध तथा मृत्यु की इस मरणान्तक लपट ने दक्षिण भारत से मुसलिम सत्ता का अन्त कर दिया। सचमुच दक्षिण भारत में प्रताप रुद्र द्वितीय तथा वीर बल्लाल तृतीय ने एक ऐसी ज्योति जगा दी थी जो विजयनगर के पतन के पहले कभी नहीं बुझ सकी।” सन् १३६६ ई० में सुप्रसिद्ध विद्वान विद्याराय (विद्यातीर्थ) की प्रेरणा से हरिहर तथा बुक्का आदि पाँच भाइयों ने विजयनगर राज्य की स्थापना की “जिसका प्रयोजन अधर्म की उन शक्तियों का अवरोधन करना था जिन्हें म्लेच्छों ने सारे देश में बिखेर दिया था।”

धार्मिक असहिष्णुता की इस्लामी प्रतिक्रिया

जिन लोगों का यह मत है कि तुर्क-अफगान शासकों की घोर असहिष्णुता के कारण हिन्दुओं को हतप्रभ होकर भगवान की शरण में जाना पड़ा था उनसे यह नम्र निवेदन है कि वे इन सुलतानों के आंतरिक विरोधी तत्वों और उनके विद्रोह एवं दमन की कहानी पर भी दृष्टिपात करें। फीरोज तुगलक का उदाहरण दिया जा चुका है, पर यह अकेला उदाहरण नहीं है। भारत में सूफियों तथा शिया मुसलमानों के साथ अनेक तुर्की सरदारों ने जो अत्याचार किये वे किसी प्रकार भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। कभी-कभी तो इसकी बहुत ही भयंकर प्रतिक्रिया हुई थी। रजिया बेगम (१२३७-३८ ई०) के शासन-काल में इसमाइलिया मुसलमानों ने तो जामा मस्जिद तक पर आक्रमण कर दिया था। जलालुद्दीन फीरोज खिलजी के समय में सीदी मौला का विद्रोह उन भयंकर विद्रोहों में से है जो यदि सफल हो गया होता तो दिल्ली सल्तनत की धार्मिक नीति में आश्चर्यजनक परिवर्तन आ जाता। इस दरवेश की भौतिक एवं दैवी शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा बर्नी ने की है। तुर्की अत्याचारों का मुँहतोड़ उत्तर देने वाला शासक हुआ नासिरुद्दीन खुसरो शाह जिसे ‘तारीख-ए-फीरोजशाही’ में गुजरात की ‘बराओ’ (हिन्दू मेहतर) जाति का बताया गया है। तब सन् १३२० ई० में कुछ दिनों के लिए दिल्ली राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया था और इब्नतूता के शब्दों में “सुलतान की हिन्दुओं पर विशेष कृपा थी इसीलिए उसने मुसलमानों की निन्दा आरम्भ कर दी। वह इसलाम के विरुद्ध काम करने लगा। गो-हत्या बन्द कर दी गई। यदि कोई व्यक्ति गो-हत्या कर देता तो उसी गाय की खाल में उसे भरवाकर मार डाला जाता था।.... उसने मुसलमानों को गाय का सम्मान करने के लिए बाध्य किया।” यदि बर्नी पर विश्वास किया जाय तो खुसरो ने मस्जिदों में देव-मूर्तियाँ तक प्रतिष्ठित कराई थी जिनका आसन ‘कुरान’ बताया गया है। गयासुद्दीन तुगलक के युग में तो सूफी सन्त निजामुद्दीन औलिया की तृती बोल रही थी। गयास ने धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया था फलतः किसी भी विरोधी इस्लामी सम्प्रदाय को विद्रोह करने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। अनेक राजनीतिक क्रान्तियों में नवोदित इसलाम सम्प्रदायों ने भाग लिया था और विशेषतया पश्चिमोत्तर तथा दक्षिण भारत

के हिन्दू-विद्रोहों में तो इन्होंने काफी योगदान दिया था। राजनीति का आश्रय लेकर कट्टर मुसलमानों की धर्मान्धता में कमी लाने का प्रयत्न शिया, सूफी तथा खोजा लोग बराबर करते रहे। इनके इन प्रयत्नों से हिन्दू जनता अपरिचित न थी। धार्मिक अवस्थाओं का अध्ययन करते समय हम देखेंगे कि नव-मुस्लिम समाज तथा सहिष्णु मुसलमान धर्मावलम्बी (शिया, सूफी, ख्वाजा या खोजा आदि) किस प्रकार इस रक्त और तलवार के युग में भी माशूक-मजाजी के माध्यम से लोगों को माशूक हकीकी तक पहुँचा रहे थे।

जनसमुदाय पर प्रभाव—लगभग चार शताब्दियों तक की कठोर राजनीतिक शृंखला ने जन-जीवन को अशान्त बना दिया था। दिल्ली सल्तनत के आंतरिक विद्रोहों, पारस्परिक संघर्षों, असंख्य युद्धों-षड्यंत्रों, प्रान्तीय शासकों के अत्याचारों तथा सर्वोपरि आर्थिक शोषणों और 'जेहादों' ने हिन्दू जाति को निश्चित रूप से दुर्बल बना दिया था, किन्तु यह दुर्बलता केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही थी। हमें यह सोचने के लिए कोई गुंजाइश नहीं कि इस राजनीतिक पराभव का प्रभाव तत्कालीन भारत के बौद्धिक साम्राज्य पर भी पड़ा। "इसलाम ने भारत के राजनीतिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया, उसकी सेनाओं को नियंत्रित किया और उसके राजस्व को हड़प लिया, किन्तु फिर भी भारत ने अपनी सब से प्रिय वस्तु मानसिक साम्राज्य को हाथ से नहीं जाने दिया और उसकी आत्मा ने कभी घुटने नहीं टेके"। हैबेल महोदय न आग लिखा है कि भारत ने उस वीरक्षत्राणी (फिरोज की माता) की भाँति अपने शरीर को विजेताओं को अर्पित कर दिया जिससे उसके गर्भ से एक नया इसलाम जन्म ले सके। और यह हुआ भी। मुल्लाओं तथा उल्मा के इशारों पर चलने वाले सुल्तानों की धार्मिक असहिष्णुता ने हिन्दुओं के साथ-साथ कभी-कभी अन्यान्य धर्मों या सम्प्रदायों को जो यातनायें दीं उनसे स्वयं इसलामधर्म में ही लचीलापन आता गया। 'शरा' का फतवा जितनाही कठोर होता गया, ढीलापन उतनाही बढ़ता गया। इसका सबसे बड़ा प्रभाव तो यह है कि धर्म से बहुत अधिक लगाव (कमसेकम ऐसा लगाव जैसा कि पूर्ववर्ती सुल्तानों में पाया जाता था) न रखने वाले मुहम्मद तुगलक को भी रोजा-नमाज की पाबन्दी न करने वाले तथा इसलाम धर्म के वसूलों में लापरवाही बरतने वाले मुसलमानों को कठोर आदेश देने पड़े थे और पतान नहीं बेचारे उन ९ मुसलमानों ने क्या किया था जो केवल नमाज न पढ़ने के अपराध में ही मृत्यु-दण्ड के भागी हुए। जो भी हो, इतना तो निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक नीति ने दोनों समुदायों के मध्यम वर्ग को धर्म के प्रति सहिष्णु होने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया। शिया मतावलम्बियों तथा महदवियों, मुलाहिदों, सूफियों आदि पर हुए अत्याचारों ने तो संव्रत समुदाय को और निकट लाने में सहायता दी। बलात् मुसलमान बनाये गये अथवा आर्थिक विपन्नता के कारण इसलाम धर्म स्वीकार करने वाले समुदाय ने भी इस लचीलेपन को प्रोत्साहन प्रदान किया। हमें अपने भक्त कवियों को ये सारे तत्व प्राप्त होते हैं। उनमें जो विशोभ, जो उग्रता और राजसत्ताओं के प्रति अवहेलना की जो भावना कभी बहुत दबी और कभी बहुत उभरी

हुई मिलती है, उसके मूल में पूर्वकथित राजनीतिक परिस्थितियाँ ही हैं। इन्हीं परिस्थितियों ने हमारे कवियों—कम से कम प्रारम्भिक कवियों को प्रभावित किया है। यह प्रभाव और किसी दृष्टि से नहीं है, प्रत्युत केवल समन्वयात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होना है।^१ तुर्क-अफगानकालीन अनेक काजियों, मुल्लाओं, पीरों तथा अन्यान्य मुसलिम नेताओं के विद्रोहों में जहाँ राजनीतिक कारण हैं, वहीं सामाजिक कारणों का भी उनमें बहुत बड़ा हाथ है। उनकी इसी सामाजिक भावनाओं ने अनेक मुसलमान कवियों को भारतीय कथाओं—ब्राह्मण कथानकों—को अपना वर्ण्य विषय बनाने को प्रेरित किया था। सूफियों की बात छोड़ दें तो भी अनेक मुसलमान कवियों को उक्त राजनीतिक परिस्थिति ने ही समन्वय की प्रेरणा दी थी।

सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करते समय हमें बोध होता है कि दिल्ली सुलतानों के आर्थिक शोषण ने किस प्रकार हिन्दू समुदाय को विलासिता से बचा लिया था जबकि उच्च मुसलमान समाज तथा अधिकांश सामान्य मुसलमान समाज भी घोर विलासिता और अनैतिकताकाशिकार था। कबीरने समाजकी कुरूपता के चो चित्र खींचे अथवा घोर अहिंसा रक्तपात, अत्याचार-अनाचार आदि के जो संकेत किये हैं वे उसी युग के शासक और शासित समाज के तग्न रेखा-चित्र हैं।^२ नानक ने मुसलमान शासकों को (अन्य मुसलमानों को भी) दयालुता को अपनी मस्जिद, ईमानदारी को अपना नमाज पढ़ने का कालीन, न्याय को अपनी कुरान, नम्रता को अपना खतना, सौजन्य को अपना रोजा, सत्य को अपना पीर, सत्कर्म को अपना मजहब बनाने की जो सलाह दी है वह स्पष्ट ही तत्कालीन क्रूरता के प्रति एक मधुर भक्त का अप्रत्यक्ष विरोध है।

१. राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव तात्कालिक पड़ता है। यह तो सांस्कृतिक परिस्थितियाँ ही हैं जो शताब्दियों और युग-युग तक प्रभावित करती जाती हैं। बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से लेकर चौदहवीं शताब्दी के बीच तक का भारतीय जीवन वास्तव में उक्त राजनीतिक परिस्थितियों का अनुभवकर्ता रहा है और तत्कालीन कवियों में हमें पूरे जोश के साथ प्रतिक्रिया का भाव प्राप्त होता है। शार्ङ्गधर (खिलजी कालीन) के 'मच्छि मेच्छिआ के पुत्ते' श्रीधर (तुगलक कालीन) के 'कुमल कायर थरहरई' तथा विद्यापति (तुगलक कालीन) के 'छोटऊ तुरका भभकी मार' आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

२. काजियों द्वारा अनुशासित एवं उत्प्रेरित क्रूरता (जुलुम) का उल्लेख करके कबीर ने उन्हें कई बार खुदा से डरने की बात कही है—

(क) जोर किया सो जुलुम है लेइ जवाब खुदाई।

दपतर लेखा नीकसै मार मूहै मूह खाई॥

बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की सामाजिक परम्परा एवं प्रगति

उत्तर भारत के अन्तिम शक्तिशाली सम्राट हर्षवर्द्धन के अन्त के साथ ही हिन्दू साम्राज्यवाद का पतन आरम्भ हो जाता है और सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक का उत्तरी भारत अनेक राजनीतिक इकाइयों में विभक्त होकर शक्तिहीन बन जाता है। फलतः मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-साहित्य का रचना-क्षेत्र उत्तर भारत कालान्तर में पराधीनता की शृंखला में आबद्ध होकर सर्वथा नवीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अनुभव करने लगता है।

आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण से ही (कासिम से) उत्तर भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे और अन्त में राजपूतों के पतन के पश्चात् क्रमशः दास (१२०६-१२९० ई०), खिल्जी (१२९०-१३२० ई०) तुगलक (१३२० ई०-१४१२ ई०), सैयद (१४१४ ई०-१४५१ ई०) तथा लोदी वंशों (१४५१ ई०-१५२६ ई०) का शासन ३२० वर्षों तक चलता रहा। इनके राजनीतिक उत्कर्ष के मूल में धार्मिक प्रेरणायें थीं। तुर्क अफगान मुलतानों की धार्मिक असहिष्णुता ने अनेक बार अपना नग्न रूप प्रदर्शित किया था और इस धार्मिक असहिष्णुता से जो अशान्ति उत्पन्न होती थी उसमें अत्यधिक तीव्रता ला देता था राजवंशों का शीघ्र परिवर्तन, जो इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी। लगभग ३२० वर्षों में ही पाँच बार राज-वंश-परिवर्तन हुआ और प्रायः प्रत्येक राज-वंश में आंतरिक विद्रोहों एवं घातक षड्यंत्रों का ताँता लगा रहा। इस राजनीतिक उथल-पुथल और अशान्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रजा पर पड़ता था। इसमें भी हिन्दू प्रजा अत्यधिक प्रभावित होती थी क्योंकि हर अशान्ति या विद्रोह अर्थात् भाव का कारण बन कर आता था और साधारण मुसलमान सैनिक से लेकर सुलतान तक हिन्दुओं को 'कारुँ का खजाना' समझ कर उन्हें चूसना अपना परम कर्तव्य समझता था। जजिया की जंजीर हर बार कसती जाती थी और यहाँ तक कि ब्राह्मणों को भी, जो कभी इस कर से मुक्त थे, आगे चलकर 'जजिया' देने के लिए बाध्य किया गया। अब तक असंख्य मन्दिर मस्जिदों में परिवर्तित हो चुके थे, वेदियाँ 'जा-ए-नमाज' बन चुकीं थीं, पूजन-अर्चन की ध्वनियाँ घर की चहार-दीवारी में बन्द हो चुकी थीं। सारांश यह कि राजनीतिक सत्ता हाथ से जाते ही हिन्दुओं को धार्मिक पराधीनता का भी आभास होने लगा था। अनेक तथाकथित निम्नवर्गीय हिन्दुओं ने दरिद्रता के भार या प्राण के मोह में इसी युग में मुसलमान धर्म स्वीकार किया था। इस

(ख) हम मसकीन खुदाई बंदे तुम राजसु मन भावे ।

अल्लह अवलिदीन को साहिब जोर नहीं फुरमावे ॥

काजी बोल्या बनि नहि आवै ॥

.....

निवाज सोई जो न्याय बिचारै कलमा अकलहि जानै । आदि

तत्त्व ने भी अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया। शासक वर्ग जिस विलासिता का प्रदर्शन कर रहा था और सामन्त या सरदार वर्ग उसका जो अनुकरण कर रहा था, उससे सम्पूर्ण उत्तर भारत में उच्च मुसलमान समाज में अनैतिकता और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। मुरा सुन्दरियों में लीन सुलतान और सरदार देश को हर दृष्टि से खोखला बनाते जा रहे थे। केवल दो एक सुलतान ही इसके अपवाद स्वरूप थे। पर पराधीनता और निर्धनता ने हिन्दू समाज को इस नैतिक पतन से बचा लिया था। वह अपने उच्चादर्शों से अब भी चिपका रहा और वैदिक काल की ग्राम-सभ्यता को, इस नागरिक विकर्षण ने पुनर्जीवन का अवसर प्रदान किया। कारण यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों तक अरबी-तुर्की घोड़ों की टापें किंचित ही सुनाई पड़ पाती थीं। हाँ, अब हिन्दू समाज में जातियों की उपजातियाँ, वर्गों के भी उपवर्ग तीव्र गति से बनने लगे थे। ऊँच-नीच के भेद-भाव की खाई और गहरी हो गई थी। धार्मिक दबाव, राजनीतिक अत्याचार और आर्थिक शोषण ने पूरे समाज को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ग्रन्थिल शिशु (Complexed child) बना कर छोड़ दिया था। यदि राजनीतिक पराधीनता को कुछ देर के लिए पृथक रखकर देखें तो ज्ञात होगा कि छठी शताब्दी ई० पू० की समस्त परिस्थितियाँ विचाराधीन युग में प्रस्तुत हो गयी थीं। वही धर्माडम्बर या अन्ध-विश्वास, जाति-पाँति-सम्बन्धी वही कठोरता, ब्राह्मणों की वही ठेकेदारी आदि इतिहास दुहराता है। जिस प्रकार छठी शताब्दी ई० पू० की परिस्थितियों ने बौद्धिक क्रान्ति को जन्म दिया था उसी प्रकार पूर्व मध्यकालीन धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थाओं ने सुधारार्थक प्रवृत्ति की दृष्टि से लगभग समान प्रकृति वाले धर्म-सुधार-आन्दोलन तथा भक्ति-आन्दोलन को प्रसारित किया। (आश्चर्य है कि प्राचीन विश्व के अधिकांश सभ्य देशों में छठी शताब्दी ई० पू० बौद्धिक क्रान्ति के लिए प्रसिद्ध है। जिस प्रकार भारत में महावीर तथा गौतम ने समाज के कल्याण के लिए नवज्योति का आलोक किया, ठीक उसी प्रकार चीन में लाओत्से तथा कन्फ्यूशस ने, ईरान में जरथुस्त तथा यूनान में दार्शनिक विचारकों ने अनेक अपने देश की भ्रमिता और बौद्धिक दृष्टि से पक्षाघात ग्रसित जनता को पुनर्जीवन प्रदान कराने की चेष्टा की थी। और इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि मध्यकाल में, जब भारत में, अनेक आचार्यों के मृदु उपदेश तथा सन्तों की झाड़ू-फटकार आरम्भ होती है तो योरोप में भी इसी समय मार्टिन लूथर, जान कालविन, जान नाक्स आदि ने रोम के पोप के ढोल का पोल खोलना आरम्भ कर दिया। अन्तर यह था कि भारतीय धर्म-सुधार-आन्दोलन अधिकांशतः परम्परित था जब कि योरोपीय आन्दोलन पूर्णतया प्रतिक्रियात्मक था और इसका विकास सहसा हुआ था। यह वास्तव में एक प्रोटेस्ट ही था जब कि भारतीय आन्दोलन पूर्णतया समन्वयात्क रहा।)

विचाराधीन काल के पूर्वलिखित सांस्कृतिक समन्वय की प्रवृत्ति की ओर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। हमें ज्ञात है कि प्राचीन काल में यूनानी, शक, कुषाण, हूण आदि अनेक विदेशी जातियों का हमारे देश में प्रवेश हुआ था और इन जातियों ने यहाँ

अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया था, किन्तु भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति इतनी प्रभावशालिनी थी कि शासकवर्गीय विदेशियों ने भी स्वयं इसकी प्रभुता स्वीकार की और वे इस संस्कृति में इस प्रकार घुल-मिल गये कि कुछ ही शताब्दियों बाद यह ज्ञात करना तक कठिन हो गया कि भारतीयों में कितने विदेशी रक्त के हैं और कितने विशुद्ध। राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारों के नाना मत-मतान्तर और पौराणिक क्षत्रियों का राजपूतों से पारस्परिक सम्बन्ध-निर्धारण-सम्बन्धी समस्या इस जातीय सम्मिश्रण का ज्वलन्त उदाहरण है; किन्तु विदेशियों का भारतीयों में सम्मिलित हो जाने का क्रम केवल तुर्कों के आगमन के पूर्व तक ही चलता रहा। इसके बाद से ही परिस्थिति बदल जाती है। तुर्क-अफगान एक ऐसी जाति थी जिसका अपना पृथक सुदृढ़ सामाजिक संगठन था, कठोर धार्मिक विश्वास थे और साथ-साथ था अपना सशक्त राजनीतिक संगठन। तुर्क-अफगानों के सामाजिक और धार्मिक आदर्शों से भारतीय आदर्शों का मेल किसी प्रकार नहीं खा पाता था। यही कारण था कि विशाल वर्तुलाकार हिन्दू समाज के भीतर भी यह त्रिभुजाकार तुर्क-अफगान समाज न समा सका। दुर्भाग्यवश जैसा कि हम देख चुके हैं, दिल्ली सल्तनत के कुछ ही शासक धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपना सके थे। ऐसी दशा में हिन्दू समाज में मुसलमान समाज का खप जाना नितान्त कठिन हो गया था। पृथकता का एक प्रमुख कारण तो यह भी था कि सम्पूर्ण मुसलमान समाज में श्रेष्ठता तथा आत्मगौरव-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थियाँ (Self Assertion Complex and Authority Complex) घर कर गई थीं और इसके ठीक प्रतिकूल आक्रमणकारियों द्वारा हिन्दू समाज में हीनता की भावना-ग्रन्थि (Inferiority Complex) बलात् ठूसने की चेष्टा की जा रही थी। ऐसी अवस्था में बहुत सम्भव था कि गजनी और गोरी के वंशधर भारतीयों से पूर्णतया पृथक रह गये होते और दोनों एक दूसरे से शत-प्रतिशत अप्रभावित भी रहते पर सौभाग्यवश दोनों विरोधी समाजों में कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारकों का अभ्युदय हो चुका था जिन्होंने अपने-अपने धर्म एवं समाज की धर्मान्विता एवं संकीर्णता के मूल पर ही कुठाराघात आरम्भ कर दिया। इन विचारकों ने आदि तत्व प्रेम को ही धर्म की घुरी बना कर मन्दिर-मस्जिद के गुम्बदों के घेरे से बाहर निकल कर, बाह्याडम्बरों की देहरी को ठुकरा कर समन्वय की भूमि तैयार कर दी थी। इन विभूतियों में समाज के 'वेद' और 'कुरान' रूपी दो तटों को मिलाने वाले पुल-स्वरूप सर्वप्रथम नाम कबीर का आता है। प्रमुख भक्त कवियों में कबीर को ही विकटतम परिस्थिति का सामना भी करना पड़ा था। उन्हें यह भी दृढ़ विश्वास हो चुका था कि 'म्लेच्छों' की सामाजिक उपेक्षा से कोई लाभ नहीं, धार्मिक दृष्टि से दोनों पथभ्रष्ट हैं। यही कारण है कि कबीर ने दोनों धर्मानुयायियों की कटु आलोचना आरम्भ कर दी। कुठाराघात किया गया बहुधा निम्नलिखित तत्वों पर—

(१) जातिगत तथा ऊँच-नीच की भावना पर जिससे सामाजिक सौहार्द को ठेस पहुँच रही थी और हिन्दू-मुसलमान के बीच न केवल खाई उपस्थित हो गई थी

प्रत्युत बहुत पुराने समय से स्वयं हिन्दू जाति के ही अनेक परस्पर विरोधी टुकड़ होते चले आ रहे थे और उनमें महान कट्टरता आ गई थी ।^१

(२) हिंसात्मक प्रवृत्ति पर कुठाराघात जिससे उदात्त मानवी गुणों का ह्रास होता जा रहा था । यह प्रवृत्ति दोनों जातियों में व्याप्त थी ।^२

१. (क) पेट न काहू बेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुकनहि आया ।

(ख) आपुहि करता भये कुलाला, बहुविधि बासन गढ़े कुँभारा ।

गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा, काको कहिये ब्राह्मन सूद्रा ।

झूठ गरब भूलो मति कोई, हिन्दु तुरुक झूठ कुल दोई ।

(ग) जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाये, अवर राह ते काहे न आये ।

जो तुम तुरुक तुरुकनि जाये, पेटहि काहे न सुनति कराये ॥

(घ) छूतिहि जेवन छूतिहि अचवन, छूतिहि जगत उपाया ।

कहहि कबीर ते छूति बिबरजित, जाके संग न साया ॥

(ङ) एक बूंद सो सिस्टि कियो है, को ब्राह्मन को सूद्रा ।

.....

कहहि कबीर राम रहिये रमि, हिन्दू तुरुक न कोई ।

(च) करम ते सुनति और जनऊ, हिन्दू तुरुक न जाने कोऊ

२. (क) संतो पांडे निपुन कसाई ।

बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल मँह दरद न आई ।

.....

गाय बधे तेहि तुरुक कहिये, इनिते वै का छोटे ।

(ख) हँडिया हाड़ हाड़ थरिया, मुख, अब षट करम बनेऊ ।

जो तोहरा को ब्राह्मण कहिये, काको कहिये कसाई ॥

(ग) हिन्दु किदया मेहर तुरुकन की, दोनों घट सों त्यागी

वे हलाल वे झटके मारैं, आगि इनौं घर लागी ॥

(घ) काजी काज करहु तुम कैसा, घर घर जबह करावहु भैंसा

.....

दरद न जानहु पीर कहावहु, बैता पढ़ि पढ़ि जग भरसावहु

कहैं कबीर एक सैयद कहावैं, आप सरीखा जग कबुलावैं

दिन भर रोजा रहत हौं, रात हनत हौ गाय ।

यहै खून वह बन्दगी, क्यों कर खुसी खुदाय ॥

(३) धार्मिक असहिष्णुता एवं पाखण्डों पर जो कटु मुसलमानों के साथ-साथ विभिन्न भारतीय धर्म-सम्प्रदायों में चली आ रही थी ।^१

और अन्त में, इन सब के ऊपर, कबीर ने एक मानव-जाति और मानव-धर्म का जोरदार समर्थन करके अस्त-व्यस्त तत्कालीन समस्त भारतीय समाज को (हिन्दू-मुसलिम समाज को) पास्परिक तनाव कम करके समन्वय की ओर अग्रसर किया। इस कड़ी में सूफी कवियों का भी नाम उल्लेखनीय है जिनका स्वर, जहाँ तक एक मानव-जाति और समान मानव-धर्म का सम्बन्ध है, कबीर के स्वर से काफी मिलता रहा। इसका अध्ययन हम अन्यत्र करेंगे। दूसरे, शताब्दियों तक मुसलमान-सम्पर्क अनवरत बना रह गया। लोक-संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक सरल और सहिष्णु होती है। फलतः धीरे-धीरे सहवास ने निकट परिचय का रूप धारण किया और फिर परिचय ने प्रेम का रूप ग्रहण करना आरम्भ किया। लोकतत्व में समन्वय का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। इस सांस्कृतिक समन्वय ने तत्कालीन समाज को तो प्रभावित किया ही, साहित्य पर भी इसकी गहरी छाप पड़ी। भक्ति-आन्दोलन के उत्तरी रूप में इस समन्वय का कुछ अंश स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है जिसका संकेत प्रारम्भ में ही किया गया है। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार मुसलमान संतों-दरवेशों ने अपने 'कमालों' तथा 'करामातों' द्वारा समाज में एक बिल्कुल नये तत्व का समावेश करा दिया था। इसके पूर्व भारतीय समाज को इतने बहुरंगी वातावरण और द्विविभाजनक परिस्थिति का सामना कभी नहीं करना पड़ा था। हिन्दू-समाज देख रहा था कि एक ओर

१. (क) 'आपु सरोखा जंग कबुलावै' वाला उदाहरण।

(ख) संतो राह दुनो हम डोठा।

हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सभन्हि को मीठा।

हिन्दू बरत एकादसि साधै, दूध सिधारा सेती।

.....

तुरुक रोजा निमाज गुजारै, बिलमिल बाँग पुकारै।

इनकी भीस्त कहाँ ते होइ है, साँझे मुरगी मारै॥

(ग) जैन धर्म का भरम न जाने, पाती तोरि देवघर आनै।

(घ) महादेव का पंथ चलावे -----

करहि लराई मति के मंदा, ई अतीत की तरकस बंदा।

(ङ) जटा तोरि पहिरावै सेली, जोग जुगति के गरब दुहेली।

(च) जाके पाँव जगत उठि लागै, सो ब्राह्मणजीव बध करै।

.....

ग्रहन अमावस ढुकि ढुकि माँगै, कर दीपक लिये कूप परै॥

(छ) रोजा बाँग निमाज का कीजे, हुजे हुजरे भीतर पैठि मुवा।

पंडित वेद पुरान पढ़तु है, मोलना पढ़े कुराना।

कहिं कबिर दोउ गये नरक मँह, हरदम रामहि न जाना॥

घोर हिंसा द्वारा उसका राजनीतिक एवं धार्मिक शोषण किया जा रहा है और दूसरी ओर उन घावों पर मरहम पट्टी लगाने वाले वही 'म्लेच्छ' अनेकानेक रूप धारण करके उसे गले लगा रहे हैं। वह यह भी देख रहा था कि ये गले लगाने वाले भी शासन की कुदृष्टि के समान रूप से शिकार हो रहे हैं। सारांश यह कि पूरे हिन्दू-समाज के सम्मुख एक विचित्र सामाजिक समस्या उपस्थित हो गई थी। अब उनका यह पुराना अस्त्र नहीं काम कर पा रहा था जिससे वे अनेकानेक विदेशी एवं विधर्मी जातियों को आत्मसात कर लेते थे। वास्तविकता तो यह है कि अब परिस्थिति ठीक विपरीत हो गई थी। जहाँ ये अपने विरोधी सम्प्रदाय के संस्थापक (उदाहरणार्थ गौतम) को अपनी वृहत अवतार-श्रृंखला में बाँध कर सारा झगड़ा ही मिटा देने का मार्ग अपनाते चले आ रहे थे वहाँ स्वयं इन्हीं के अस्त्रों का प्रयोग इन पर ही किया जाने लगा था। भारतीय समाज के इतिहास में बारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी का युग चिरस्मरणीय रहेगा जब नूरुद्दीन, उसके शिष्य राम दे (राजपूत), सदरुद्दीन, शमसुद्दीन आदि खोजा (स्वाजा) सम्प्रदाय वालों ने न केवल 'सतगुरु', 'सहदेव' आदि हिन्दू-उपाधियाँ धारण करके माया फैलाने की चेष्टा की थी प्रत्युत सदरुद्दीन ने तो, जो १४३० ई० में भारत आया था, 'दशावतार' नामक ग्रन्थ लिख कर और विष्णु के ९वें अवतारों को अपने ढंग से स्वीकार करते हुए 'अली' को भगवान विष्णु का दसवाँ अवतार स्वीकार कर लिया था। उसके इस नये पंथ 'सतपंथ' में असंख्य हिन्दुओं ने दीक्षा ले ली थी। इस प्रकार ब्राह्मणों से ठुकराई हुई तथाकथित दलित शूद्र जाति 'अली' के सहिष्णु प्रतिनिधि पीर की गोद में जा गिरी। काश्मीर, पंजाब, सिन्ध, गुजरात आदि प्रदेशों में ही इस प्रकार के नाटकीय धर्म-परिवर्तन द्वारा जातीय सम्मिश्रण अधिक हुआ था। आज भी इन प्रदेशों में अनेक ऐसी जातियाँ मिलेंगी जिनके रीति-रिवाज-परम्परा आदि हिन्दू-मुसलिम मिश्रित हैं। जोगियों की जाति भी कुछ ऐसी ही है। गुजरात की कबी, खरवा, कोरी आदि जातियों के लोग बहुत बड़ी संख्या में, बारहवीं शताब्दी में इसी प्रकार धर्म-परिवर्तित किये गये थे।^१

उपर्युक्त परिस्थिति एक सामान्य सामाजिक परिस्थिति थी। अब हम तत्कालीन समाज के कुछ प्रमुख वर्गों का पृथक-पृथक अध्ययन करेंगे। हमारे भक्त कवियों का अपने समाज से बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। कुछ को तो यदि हम केवल अपने समाज की ही उपज कहें तो अनुचित न होगा। हमारा आशय कबीर और तुलसी से है। इन दोनों विभूतियों में साहित्य के विद्यार्थी को रस की जितनी सामग्री उपलब्ध होती है, दर्शन के जिज्ञासुओं को अध्यात्म का जितना साधन मिलता है, इतिहास के विद्यार्थियों को उनसे किसी प्रकार भी कम सामग्री तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक इतिहास के अध्ययन के लिए नहीं मिलती। पुनश्च समाज और धर्म की तीव्र आलोचना का कार्य पूर्व लिखित सन्त कवियों

१. उक्त विवरण का आधार 'Outline of Islamic Culture' by A.M.A. Shushtery है। उक्त विद्वान ने How Islam Came To Gujrat, by Cow से तत्सम्बन्धी सामग्री का प्रतिपादन किया है और जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है।

न भी अधिक किया है जिन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के अन्तर्गत रखा है। हम यहाँ इन्हीं कवियों द्वारा प्राप्त सामग्री का उपयोग करेंगे।

कबीर ने जैसा पाया—तत्कालीन भारतीय समाज की दुरवस्था का अत्यन्त ज्वलन्त चित्रण कबीर के कुछ पदों में प्राप्त होता है। इनमें कभी अत्यधिक खीझ, कभी आश्चर्य और कभी दुःख की भावना भी व्यक्त हुई है—

‘ऐसो है संसार तिहारो, ई है कलि बेवहारो ।
को अब अनुख सहे प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो ॥
सुम्ति सुहाय सभैकोई जानै, हिरदय तंतु न बूझै ।
निरजिव आगे सरजिव थापै, लोचन किछुबो न सूझै ॥
तजि अम्रित विष काहे को अंचवै, गाँठी बांधे खोटा ।
चोर न दीन्हों पाट सिंघासन, साहुन से भौ ओटा ॥
कहाँहि कबीर झूठे मिलि झूठा, ठगहीं ठग बेवहारा ।
तीनि लोक भरिपूर रहो है, नाहीं है पतियारा ॥

इस विषाक्त वातावरण में जब रहना कठिन था तो फिर कोई उसका पथ-प्रदर्शन कैसे करता—

को असकरइनगरकोतवलिधा, माँसु फैलाग्रगीध रखवरिया ।
मुस भौनाव मंजार कंड़िहरिया, सोवै दादुल सरप पहरिया ॥
बैल बियाय गाय भैं बंझा, बधुवहि दूहीं तिनतिन सेंझा ।
नित उठि सिंध सियारसोजूझै, कबिरकापद जनबिरलाबूझै ॥

उक्त पद में ‘बूझने’ के लिए चाहे जितना भी ‘विरलापन’ की आवश्यकता हो, पर इसे तत्कालीन परिस्थिति के प्रामाणिक चित्र के रूप में लिया जा सकता है।

समाज में अहंकार और दम्भ की जो भावना उच्चवर्ग में घर कर गई थी और जिससे नाना प्रकार की असामाजिकता उत्पन्न होती जा रही थी उस ओर लक्ष्य करते हुए कबीर ने कहा था—

सबही मद माते, कोइन जाग, सांझहि चोर घर मूसन लाग ।
जोगी माते जोग धियान, पंडित माते पढ़ी पुरान ।
तपसी माते तप के भेव, सन्यासी माते करि हंमेव ।
मौलाना माता पढ़ी मुसाफ, काजी माते दे नीसाफ ।
संसारो माते माया धार, राजा माते करि हंकार ।

समाज की जो दयनीय अवस्था हो गई थी उसमें केवल बाह्य परिस्थितियों का ही प्रभाव नहीं था, जैसा कि कबीर के कथन से ज्ञात होता है, अतः हम यह नहीं कह सकते कि चौदहवीं शताब्दी का भारत सामाजिक दृष्टि से केवल इसीलिए गिरता जा रहा था कि उसे मुसलमानों का सामना करना पड़ा था और इस जाति की बर्बरता ने उसमें आत्महीनता की भावना भर दी थी, प्रत्युत उक्त साहित्यिक साक्ष्य से हमें यह सोचने का कारण भी उपलब्ध हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय समाज को नैतिक और आध्या-

त्मिक दृष्टि से पीछे धकेलने में स्थानीय तत्वों का भी कम हाथ न था। विभिन्न धार्मिक गुरुओं की 'करतूतें' इसका प्रमाण हैं कि वे किस प्रकार हमारे समाज और धर्म में आध्यात्मिकता के स्थान पर घृणित मांसलता भरते जा रहे थे। इन्हीं गुरुओं की ओर लक्ष्य करके कबीर ने कहा था—

जाका गुरु है अधरा, चेला काह कराय।

अंधे अंधा ठेलिया, दोऊ कूप पराय॥

ऋग्वैदिक काल से महत्व प्राप्त ब्राह्मणों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। कबीर ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया था कि उनमें और कसाई में कोई भेद ही नहीं। ब्राह्मणों की निन्दा का कबीर-साहित्य में बाहुल्य देख कर हमें यह कंदापि नहीं सोचना चाहिए कि स्वयं जुलाहा होने के कारण कबीर में यह प्रतिक्रिया उपजी थी। कबीर को तो वास्तव में ब्राह्मणों के इस पतन पर दुःख था। वे 'जा मुख वेद गायत्री उचरै, जाके वचन संसार तरे' तथा आगे 'जाके पाँव जगत उठि लागे' की बात भी करते हैं और तब क्षोभ प्रकट करते हैं कि ऐसे महान् बौद्धिक एवं धर्मप्रधान नेता-वर्ग का यह पतन ! सत्य तो यह है कि अनेक 'वेद-विरोधी' सम्प्रदायों से ब्राह्मण समुदाय इस युग में प्रभावित हो गया था और अपने धर्म को शास्त्रानुमोदित (श्रुतिसम्मत) बताते हुए भी अवैदिक कर्म-काण्ड करने से नहीं चूकता था—

सुमिति आहि गुनन को चीन्हा, पाप पुन्र को मारन कीन्हा।

सुमिति वेद पढ़े असरारा, पाखण्ड रूप करे हंकारा।

पढ़े वेद औ करे बढ़ाई, संसय गाँठ अजहुँ नहि जाई।

पढ़े के सास्त्र जीव-बधकरई, मूढ़ि काट अगमन के धरई।

कहंहि कबिर पाखण्ड ते, बहुतक जीव सताय।

अनुभव-भाव न दरसई, जियतन आपु लखाय॥

और भी

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा, आपु अपन-पौ जानुन भेदा।

.....
अवसर के छिये लेत हौं सींचा, तुमसे कहहु कवन है नींचा।

यह सब होते हुए भी पुरोहितों का प्राचीन प्रभाव समाप्त नहीं हो पाया था। वेद-विरोधी स्वर वालों का भी कोई प्रभाव इनके सामाजिक प्रभुत्व को ठेस नहीं पहुँचा सका था और स्वयं कबीर के साक्ष्य से ही प्रमाणित होता है कि अब भी समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी और वे लोगों को दीक्षित करते फिरते थे—

संतो पाँडे निपुन कसाई।

.....
अति पुनोत ऊँचे कुल कहिये, सभा माँहि अधिकाई।

इनते दीच्छा सभ कोई माँगै, हंसि आवत मोंहि भाई॥

पाप कटन को कथा सुनारहि, करम करावै नीचै।

हम तो बोज परस्पर देखा, जम लाये हं धोखे॥

गाय बंधै तेहि तूख कहिये, इनिते वै का छोटे।

कहाँ कबीर सुनहु हो संतो, कलि मंह ब्राह्मन खोटे।।

किन्तु इन 'खोटे' ब्राह्मणों में अब भी इतनी क्षमता थी कि वे पाप-पुण्य का पासा पलट सकते थे—भले ही इससे जगत् का विनाश ही क्यों न हो जाय—वे कुल-वाहन तो कहलाते ही रहे—

पाप पुन्य के हाथे पासा, मारि जगत को कीन्ह बिनासा।

ई बहनी कुल बहनि कहावै, ई ग्रिह जारे ऊ ग्रिह मारें।।

और केवल ब्राह्मण नाम से परिचय दे देने से ही उन्हें 'पंचासन' दिया जा रहा था।

ऐसी बिधि सुर बिप्रभनीजै, नाम लेत पंचासन दीजै।

दान लेने के प्रति ब्राह्मणों का झुकाव बहुत अधिक था और समाज में दान की महिमा का ढिठोरा चारों ओर पीटा जा रहा था।

क्षत्रियों के हाथ से शासन-सत्ता जा चुकी थी, पर अभी क्षात्र धर्म नहीं गया था। विचारा-धीन युग की कुछ राजनीतिक क्रान्तियों को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि उनके रक्त में अब भी राजपूती शान जोश मार रही थी। प्रारम्भिक शताब्दियों को छोड़ दें तो भी तुर्कों के सुदृढ़ीकरण के पश्चात् भी यत्र-तत्र राजपूत-विद्रोहों के उदाहरण मिलते हैं। खिलजियों ने भारत में राजपूत राज्यों का उन्मूलन करके अपनी सत्ता पूरी तरह स्थापित कर दी थी, पर वह केवल राजनीतिक सत्ता ही थी। राजपूतों की परम्पराित वीरता का वे अन्त नहीं कर पाये थे। यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि राजपूतों द्वारा शासन-सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्र विद्रोह कम हुए थे, अधिकांश विद्रोहों में असन्तुष्ट तुर्की, अमीर सरदार, मुल्ला तथा पदलोलुप सूबेदारों का हाथ ही रहता था। कबीर ने क्षत्रियों को जो उपदेश दिया है उससे केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि उनमें हिंसात्मक वृत्ति अभी तक विद्यमान थी जिसे कबीर ने सत्य और सद्बृत्ति में परिवर्तित करने का उपदेश दिया—

छत्री करइ छत्रिया धरमा, वाके बड़इ सवाई करमा।

जिन अवधू गुरु ज्ञान लखाया, ताकर मन तहाँ ले धाया।

छत्री सो जो कुटुम से जूझै, पाँचों मेदि एक कै बूझै।

जीव मारि जीव प्रतिपाले, देखत जनम आपनी हारे।

हालै करै निसाने घाऊ, जूझि परै तहाँ जनमथराऊ।

क्षत्रियों को वास्तव में अब इसी 'जूझने' और 'निसाना' करने का अवसर रह गया था, शत्रु रह गया था 'मन-मथ'। बाह्य शत्रुओं से युद्ध करने का अब कोई अवसर कबीर को नहीं ज्ञात हो रहा था।

इससे तथाकथित उच्चवर्गीय जातियों—ब्राह्मण तथा क्षत्रियों—की गिरी अवस्था का भान हो जाता है। न ब्राह्मणों में प्राचीन ब्राह्मणत्व रह गया था और न क्षत्रियों में वह क्षात्रधर्म। वैश्यों की अवस्था का कोई प्रत्यक्ष साहित्यिक साक्ष्य कबीर की रचनाओं में नहीं प्राप्त होता है, पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे

अब पूर्णतया वणिक वृत्ति में लीन हो चुके थे। विचाराधीन युग में वैश्यों के इतिहास का एक बहुत रोचक अंश है उनका क्षत्रिय समुदाय से पृथक होकर वैश्य समुदाय में मिल जाना। राहुल जी ने 'हिन्दी काव्य धारा' में तलवार के स्थान पर तराजू पकड़ने का बड़ा ही ठोस कारण बताया है राजनीतिक उत्थान की ओर से निराशा तथा वाणिज्य में अत्यधिक लाभ का अनुभव। शूद्रों की दुर्दशा के अति कारुणिक चित्र उपलब्ध होते हैं। कबीर ने छुआछूत के विरुद्ध जो नारा बुलन्द किया था उसके मूल में इन शूद्रों का धार्मिक दृष्टि से (सामाजिक दृष्टि से भी) अधिक हीन होना ही था। 'गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा, काको कहिये ब्राह्मण सूद्र' जैसी उक्ति कबीर के साहित्य में अनेक बार मिलती है। ऊँच-नीच की मूल भावना पर ही कुठाराघात करने के लिए कबीर ने जोरदार शब्दों में, अनेक स्थलों पर यह घोषणा की है कि मनुष्य मात्र एक ही पिता की सन्तान है—अतः सभी समान हैं और ऊँच-नीच का भेद-भाव हेय वस्तु है—

ऊँच-नीच है मझिम बानी, एक पवन एकै है पानी।

एकै मटिया एक कुंभारा, एक सभन्हिका सिरजन हारा।

एक चाक सम चित्र बनाया, नाद बिंद के मध्य समाया ॥

व्यापक एक सकल की जोती, नाम धरे का कहिये मोती।

ऐसे ही समाज का महात्मा कबीर दास ने दर्शन किया था जिसका 'दुख' उनसे नहीं सहा जाता था और उन्हें 'नाहिन रहनि हमारो' कह कर यह भी कहना पड़ा था कि—

मारो मरे कुसंग की, केरा साथे बरे।

वे हाले वे चींघरे, बिधिने संग निबरे ॥

अन्यान्य सन्त कवियों द्वारा समाज का चित्रण—कबीर ने जो समाज देखा था उसमें अगली दो शताब्दियों तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ दीखता। यदि हम कबीर के परवर्ती सन्तों की 'बानियों' को प्रमाण स्वरूप स्वीकार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर कालीन समाज अभी अपनी रूढ़िवादिता नहीं छोड़ पाया था। समाज रूढ़ियों का ही प्रतिफल होता है अतः किसी प्रगति को तब तक सार्वभौमिकता नहीं प्राप्त हो पाती जब तक वह स्वयं परम्परा न बन जाय। अन्यान्य सन्त कवियों ने कबीर के स्वर के साथ जो स्वर मिलाया है उसे हम इसी प्रगति को परम्परा का रूप देना ही कह सकते हैं। यद्यपि हम यह नहीं स्वीकार करते कि इस दोहरे-तिहरे स्वर से भारतीय समाज में कोई आमूल परिवर्तन उसी समय या उसके ठीक बाद वाले युग में हुआ—ऐसा परिवर्तन जो उल्लेखनीय हो, पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गौतम, महावीर आदि ने जातिवाद के विरुद्ध जो नारा लगाया था उसमें इन सन्तों का नारा एक बहुत ही सशक्त कड़ी है। इन सन्तों ने सांस्कृतिक समन्वय की भी कम चेष्टाएँ की थीं। समकालीन तथा परवर्ती दोनों सन्त कवियों ने समन्वय, सामाजिक सुधार आदि को लक्ष्य करके कुछ न कुछ कहा है। गुरु नानक ने भी, जिन्हें सनातन आर्य धर्म की रक्षा का अधिक मोह था, कभी भी साम्प्रदायिकता का गान नहीं गाया। वह भी निष्पक्ष भाव से ब्राह्मण और मुस्लाओं के दुर्गुणों की समान आलोचना करते रहे—

कूड़े करहि तकब्बरी, हिन्दू मुसलमान ।

लहन सजाई नानका, बिन्दु नावें सुलतान ॥

मुसलमानों की 'कुर्बानी' और दैनिक जीव-हत्या (मांस-भक्षण) के विरुद्ध नानक ने भी जोरदार आवाज उठाई थी—

लै फुरमान दिवान का, खसी पियादे खाहि ।

बाँही बद्धे मारियहि, मारें दे कुरल्लाहि ॥

हिन्दू-समाज के कर्णधार ब्राह्मण और मुसलिम जमात के रहनुमा काजी-मुल्ला दोनों की अवस्था पतनोन्मुख होती चली आ रही थी और वे अविवेकी हो गये थे। नानक ने उनसे बचने का उपदेश देते हुए लिखा था—

पाधे मिस्कर अंधुले, काजी मुल्लाँ कोर ।

तिनां पास ना भिटियै, जो सबदे दे चोर ॥

जाति-पाँति मानने वालों के प्रति नानक की जो भावना है वह भी द्रष्टव्य है—

खत्री ब्रह्मण सूद्र बैस, जाती पूछि न दई दाति ।

नानक भागे पाइयै, त्रिह पहरे पिछली राति ॥

दादू दयाल के युग तक आते-आते यद्यपि मुगलों का आधिपत्य पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका रहता है और धार्मिक असहिष्णुता का प्राचीन तनाव इतिहासकारों के कथनानुसार कुछ ढीला पड़ चुका रहता है पर साहित्यिक साक्ष्यों से इसका पूरा-पूरा समर्थन नहीं हो पाता। सूफियों का दल मुसलमान-समाज की परम्परित हिंसा-भावना को कुछ भी कम न कर सका था। ध्यान देने की वस्तु तो यह है कि राजनीतिक संघर्षों में भी मुसलमानों ने अपने शत्रु राजपूतों के समक्ष राजनीति (युद्ध-नीति) का जो हेय रूप प्रस्तुत किया था और करते चले आ रहे थे, उससे पूरे हिन्दू-समाज में वे नैतिक दृष्टि से गिरे हुए माने जा रहे थे। यहाँ हम दिल्ली के सुलतानों की विलासिता की ओर भी संकेत करना चाहेंगे जिससे पूरे मुसलमान-समाज में विलासिता और अन्यान्य चारित्रिक दुर्बलताएँ आ गई थीं। दादू ने अनेक स्थल पर उनकी हिंसात्मक वृत्ति और साथ ही अविश्वसनीय प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है—

मसीत सँवारी माणसों, तिसकों करै सलाम ।

ऐन आप पैदा किया, सो ढाहै मूसलमान ॥

इसी हिंसावृत्ति को प्रेम में परिवर्तित करने का उपदेश दादू ने अनेक स्थलों पर दिया है जिससे यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि मुसलमान-समाज में तब भी प्राचीन असहिष्णुता विद्यमान थी और कबीर के स्वर को बार-बार दुहराने की आवश्यकता थी। दादू ने मुसलमान-समाज को जो सीख दी है वह द्रष्टव्य है। उनकी निर्दयता को लक्ष्य करके दादू ने कहा था—

काला मुँह करि करदर का, दिल थैं द्वरि निवार ।

सब सूरति सुबहान की, मुल्ला मुग्ध न मारि ॥

फिर हिंसात्मक प्रवृत्ति के रेचन का मार्ग बताते हुए दादू ने 'गला गुसे का काटिये,

मियाँ मनी को मारि' की भी बात कही और अन्त में मुसलमान और काफिर का भेद बताते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि—

‘मुसलमान जो राखै मान, साई को माने फरमान ।

.....
सो मोमिन जो मोम दिल होई, साई को पहिचाने सोई ।’

सो काफिर जो बोले काफ, दिल अपना नहिं राखे साफ ।

जोर करे मिसकीन सतावे, गरब करे अति अपनी देह ।

जोरजुलूम करि कुटुंब सुखाई, सो काफिर दोजग में जाई ।

इतना ही नहीं, दादू ने तो एक स्थान पर मुसलमानों के विश्वासघात तक की ओर संकेत किया है और हिन्दू-समाज को इस पर विश्वास न करने की सीख दी है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति ही कुछ ऐसी थी जिसने दादू को इस प्रकार सोचन की प्रेरणा दी। यह भी सम्भावना है कि विभिन्न मुसलमान फिकों ने हिन्दुओं पर जो अपने ‘करामात’ दिखाने आरम्भ कर दिये थे, उसे देखते हुए ही दादू ने कहा था—

छल करि बल करि धाड़ करि, सारै जेहि तेहिं केरि ।

दादू ताहि न धाजिये, परण सगो पतेरि ॥

और फिर उन्हीं के भाषा-छन्द में दादू ने कहा—

बेमिहर गुमराह गाफिल गोश्त खुर्दनी ।

बेदिल बदकार आलम हयात मुर्दनी ॥

मोमिनों की कटुआलोचना करते दादू नहीं थकते हैं, कारण इन मोमिनों को ही मुसलमान धर्म का विशेष गर्व था और समाज में वे अपने को श्रेष्ठ समझते थे—

नाहर सिंह सिगाल सब, केते मुसलमान ।

मांस खाइ मोमिन भये, बड़े मियाँ का ज्ञान ॥

समाज में व्याप्त क्रूरता और मिथ्या धार्मिक विश्वासों पर मलूक को भी आघात करना पड़ा था। उनके युग में भी समाज में नाना प्रकार की धार्मिक भ्रातियाँ प्रचलित थीं। पीर की परिभाषा करते हुए मलूक ने कहा है—

मलुका सोई पीर है, जो जानै पर पीर ॥

जो पर पीर न जानही, सो काफिर बेपीर ।

ध्यान देने योग्य है कि पीरों के ‘काफिर’ की परिभाषा ही मलूक ने बदल दी और इस्लाम में दया को वास्तविक महत्व (किताबी महत्व नहीं) देने पर बल दिया। पीरों और दरवेशों ने जो बहुरूपिया रूप धारण करके समाज को बहकाना आरम्भ कर दिया था उनकी ओर भी मलूक ने दृष्टि डाली थी—

बहुतक पीर कहावते, बहुत करत हैं भेस ।

यह मन कहर खुदाय का, सारै सो दरवेश ॥

सूफी सन्त भी, जिनका स्वर इन संतों से बहुत कुछ मिलता था, मलूक की पैनी दृष्टि से न बच सके और मलूक ने उनके दोषों एवं अक्षमता की ओर भी संकेत किया था—

नारी घोंटी अमल की, अमली सब संसार।

कोइ अस सूफी न मिला, जा संग उतर पार॥

दोनों सम्प्रदाय वालों में दया की पूर्वलिखित भावना भरने के अभिप्राय से ही मलूक ने दोनों के बाह्याडम्बरों की आलोचना की थी जिससे यह बोध होता है कि केवल बाह्याडम्बर में ही दोनों वर्ग भूला हुआ था और शास्वत मानवी गुणों का उनमें अभाव था—

सबका मदिना द्वारिका, बद्री और केदार।

बिना दया सब झूठ है, कहे मलूक विचार॥

बाह्य समाज का वह कवीरकालीन रूप आगे भी मिलता है और परवर्ती सन्त कवि धरनी ने भी लगभग समान भाव-भेषधारी समाज का चित्रण किया है। दया की पुकार उनकी भी लगभग वैसी ही है—

भेष लियो दाया नहीं, ध्यान धतूरा भाँग।

धरनी प्रभु काँचा नहीं, जो भूले ऐसे स्वाँग॥

धार्मिक अवस्था

किसी समाज की धार्मिकता परम्परित होती है अतः इसकी आलोच्यकालीन परिस्थितियों के बोध के लिए हमें कुछ शताब्दी पीछे जाना पड़ेगा—कम से कम उन शताब्दियों तक जाना पड़ेगा जिनमें विचाराधीन युग की धार्मिकता का स्वरूप या स्वरूप प्रदान करने वाले तत्व पूर्ण या आंशिक रूप से निहित हैं। अतः हम यहाँ आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की धार्मिक अवस्था का अध्ययन कर रहे हैं।

बहु देवता-देवी

तत्कालीन भारत में वे प्राचीन ब्राह्मण-वैष्णव, शैव तथा बाह्यणेतार बौद्ध और जैन धर्म ही प्रचलित थे पर उनका रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका था। ब्राह्मण धर्म में वैदिक धर्म की अवस्था कुछ परिवर्तन की ओर मुड़ चुकी थी, देवी-देवताओं की पूजा को प्रधानता मिलती जा रही थी, मन्दिरों का बाहुल्य था। 'स्कन्ध' पुराण के नागर 'खण्ड' अध्याय १०७ में ६८ प्रसिद्ध शिव-मन्दिरों की सूची दी गई है। वैष्णव मन्दिर भी कम न थे। मुलतान के सूर्य-मन्दिर, कांगड़ा का ज्वालामुखी देवी-मन्दिर, गाजीपुर का विन्ध्य-वासिनी देवी-मन्दिर, (काशी) विश्वनाथ जी का मन्दिर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्दिरों में 'सोना बरसने' की बात सभी साक्ष्यों से सिद्ध होती है और मुलतान के अरबों ने तो केवल इसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से ही अपने यहाँ सूर्योपासना की आज्ञा दे दी थी। मन्दिर-मिर्माण और मन्दिरों को दान-अनुदान इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तविकता यह है कि आर्य-अनार्य सम्मिश्रण ने अब तक अनेक देवी-देवताओं को जन्म दे दिया था, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय देवी-देवताओं का जन्म बहुत ही तीव्र गति से हो रहा था और तब कुछ प्राचीन देवी-देवताओं के लिए मन्दिर और नवोदित देवी-देवताओं के लिए 'स्थान' 'वेदी', 'चौरा', आदि का निर्माण राजकीय या सार्वजनिक सहयोग द्वारा होने लगा। इन्हीं देवी-देवताओं के बाहुल्य को देखकर दसवीं शताब्दी के एक अरब

यात्री ने यहाँ ४२ धार्मिक सम्प्रदायों की बात कही है तथा ग्यारहवीं शताब्दी के यात्री अल-इब्रीसी ने भी उसका समर्थन किया है। किन्तु सचमुच भारत में ४२ धर्म नहीं थे। अरबों ने समझने में भूल की है। उन्होंने वैदिक देवताओं की पूजा, स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा तथा इन दोनों के साथ उपासना-पद्धतियाँ आदि को मिला कर गिनना आरम्भ किया और तब यह संख्या ४२ तक पहुँच गई। कहीं इन पर्यटकों को यदि विस्तृत भू-भाग पर घूमना पड़ा होता तो यह संख्या सकड़ों तक पहुँच जाती। पितृ-पूजा को श्राद्ध ने बहुत अधिक महत्व दे रखा था। रहस्य था श्राद्ध में मांस का उपयोग क्या आश्चर्य है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में ही मांस-भक्षण अधिक था, वैश्यों में बहुत कम। यह वैदिक प्रभाव ही कहा जा सकता है, हाँ सुरा से ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य सभी वंचित कर दिये गये थे, केवल शूद्रों को इसकी छूट थी। 'तस्माद् ब्राह्मण राजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिवेत' स्मृति-वाक्य का सम्भवतः पालन हो रहा था। यहाँ अवान्तर होते हुए भी यह कहना आवश्यक है कि उन दिनों सुरा राजकीय आय का एक सुन्दर साधन था। तो क्या शूद्र ही इतनी अधिकता से इसका प्रयोग करते थे? सम्भवतः ऐसी बात न थी। निश्चय ही अन्य वर्णों में भी इसका प्रयोग होता था। भैरवी-चक्र भी इसकी खपत के लिए मुँह बाये हुए था। मांस-भक्षण के प्रश्न पर ही ब्राह्मणों में सर्व प्रथम आगे चलकर दो दल हुए थे। आठवीं शताब्दी में उपजातियों का कोई विशेष महत्व नहीं है और उल्लेख भी कम है।

शास्त्रों का प्रणयन, परिवर्द्धन एवं हिन्दू धर्म

आठवीं से दसवीं शताब्दी का युग धर्मशास्त्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण युग है। जैसा कि देखा जा चुका है, अनेक देवताओं एवं विभिन्न देवियों की पूजा आरम्भ हो गई थी और लोकजीवन में प्रचलित पूजाओं एवं आस्थाओं को मान्यता प्रदान करने के लिए सम्प्रदाय या दल विशेष के विद्वान सदा से ही शास्त्रों का प्रणयन करते चले आ रहे हैं। उक्त काल में भी अनेक शास्त्रों का निर्माण हुआ। इनमें आगम विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ आगम निश्चित रूप से प्राचीन हैं, जैसे पूर्ववर्ती 'पांचरात्र' आगम, किन्तु अधिकांश इसी युग की देन हैं। 'पांचरात्र' को हम महाभारत कालीन स्वीकार कर सकते हैं किन्तु 'शैवागम', 'सौरागम', 'विनायक आगम', 'देवी आगम' आदि निश्चित ही नवीं-दसवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। 'पांचरात्र' आगम से ही 'वैष्णव' आगम विकसित हुआ था जिसे अपेक्षाकृत प्राचीन कह सकते हैं। विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व तो निश्चित रूप से 'वैष्णव' आगम का प्रणयन हो चुका था। विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक प्राचीन धर्म-ग्रन्थों—विशेषतया महाभारत-पुराण आदि में परिवर्द्धन की प्रवृत्ति भी तीव्र हो उठी थी। ब्राह्मणों ने मिथ्या विश्वासों को फैलाने तथा वयस्क मानवता को बच्चा बनाने के लिए पुराणों की संख्या और कलेवर को इसी काल में खूब बढ़ाया था। बुद्धि रखने वालों पर यह हथियार नहीं चलता, इसलिए इसी युग में बुद्धि को भूल-भूलैया में डालने के लिए शंकर (७८८-८३० ई०), श्री हर्ष (११८० ई०) जैसे दार्शनिकों ने 'मुँह में राम बगल में छूरी' वाला अद्वैतवाद पैदा किया। राहुल जी ने 'हिन्दी काव्य-धारा' में जो उपर्युक्त मत व्यक्त

किया है उसका अधिकांश तो सब को मान्य ही होगा। विचाराधीन युग में पुराणों की अभिवृद्धि धार्मिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है और निस्सन्देह इस धार्मिकता में साम्प्रदायिकता का अंश ही अधिक था। इस विवरण का ध्येय यह रहा कि शास्त्रकार बहुमत प्राप्त करने का भगीरथ प्रयास कर रहे थे जिसके लिए उन्हें एक ओर तो प्राचीन मान्य धर्म-शास्त्रों की दुहाई देनी पड़ रही थी और दूसरी ओर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे मोहक तत्वों के समावेश की भी चिन्ता करनी पड़ती थी। यह प्रवृत्ति साहित्याचार्यों में भी विद्यमान थी जो 'धर्मार्थ काम मोक्षेषु' की बात कर रहे थे।

शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों की स्थिति—पौराणिक युग के पूर्व ही, सम्भवतः महाकाव्यों के युग के ठीक बाद ही जब भारतीय मनीषियों के बुद्धि-वृन्त पर वैदिक देवताओं की स्थिति डाँवाडोल होती जा रही थी और जिनमें से कुछ को 'बनाया' और कुछ को 'बिगाड़ा' जा रहा था उसी समय विष्णु और शिव के महत्व को लेकर दो पृथक दल हो गये थे। आठवीं शताब्दी से तो शैव सम्प्रदाय वालों की शक्ति अधिक बढ़ गई थी। 'शैवागम' बहुत अधिक रुचि से पढ़े जाते थे और इनके आचार्यों का समाज में बहुत अधिक आदर था। श्री सी० वी० वैद्य ने अधिकांश आचार्यों को शूद्र बताया है, पर यह प्रश्न विवादास्पद ही है। यदि हम राजपूतों को वैदिक क्षत्रिय स्वीकार करते हुए उन्हें विदेशी नहीं मानते तो फिर समस्या और भी टेढ़ी हो जाती है। हमें ज्ञात है कि तत्कालीन अधिकांश राजपूत नरेश शैवोपासक थे। गहलोत, चाहमान, राष्ट्रकूट, परमार, हैहय, चन्देल आदि प्रायः एकनिष्ठ शैव थे। हाँ कुछ ऐसे राजवंश भी थे जो बहुत उदार थे और उनके वंश में वैष्णव-शैव दोनों मतानुयायी होते रहे। कन्नौज के प्रतिहार सम्राटों में प्रथम तो परम वैष्णव, द्वितीय परम माहेश्वर, तृतीय भगवती-भक्त तथा चतुर्थ परम आदित्य-भक्त था। दसवीं शताब्दी में बुन्देलखण्ड के चन्देल-नरेश यशोवर्मन द्वारा कन्नौज के देवपाल को पराजित करके उससे बलपूर्वक एक विष्णु-प्रतिमा छीन लेने का प्रमाण मिलता है। सारांश यह कि अधिकांश राजपूत नरेशों ने शिवोपासना को प्रश्रय दिया था और शिवालयों के निर्माण एवं अनुदान में योग देकर उन्होंने शैव धर्म को बहुत अधिक बढ़ने का अवसर प्रदान किया था। शैव सम्प्रदाय के उदय एवं विकास के इतिहास से हमारा कोई सम्बन्ध यहाँ नहीं है पर इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि अधिकांश इतिहासकारों ने शैव सम्प्रदाय की लिंग-पूजा और शिव-मूर्ति की समनुत्य आकृति सिन्धु-युगीन चित्रों में पाकर इसका मूल द्रविड़ घोषित किया है। जो भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस द्रविड़-पूजा का भी वैदिककरण रुद्र के गुण-साम्य के कारण हो गया और तब 'श्वेताश्वतर' उपनिषदकार ने तो शिव को परम ब्रह्मत्व प्रदान कर दिया। दसवीं शताब्दी में लकुलिस शैव सिद्धान्त प्रचलित था। (लकुलिस की तिथि यहाँ विचारणीय नहीं है।) कुमारिल और शंकर का प्रभाव अभी फलोत्पादक नहीं हुआ था।

वैष्णव सम्प्रदाय के सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि शैव सम्प्रदाय की स्पर्धा में वह किसी प्रकार खड़ा था। कुछ राजाओं ने, जैसा कि हमें ज्ञात

है, वैष्णव सम्प्रदाय को भी प्रश्रय दिया था पर इनकी संस्था कम थी। अब भी वैदिक यज्ञों का छायानुकरण चल रहा था। हिंसा का प्राधान्य था। कुमारिल भट्ट के निम्नलिखित विवरण से यह ज्ञात होता है कि हिंसापरक यज्ञों में कोई कमी नहीं होने पाई थी—

‘पशु हिंसाद् संबंधे यज्ञे तुष्यन्ति हि द्विजाः ।

तेभ्य एवह हि यज्ञभ्यः शाक्याः क्रुध्यन्ति पीडयाः ॥’

शाक्यमुनि के उपासकों का इन हिंसापरक यज्ञों से पीड़ित होना स्वाभाविक ही था। बाह्याडम्बरों से परिपूरित वैष्णव धर्म तब भी शैवधर्म की अपेक्षा विनम्र और मधुर माना जाता था। भागवत धर्म की प्रतिष्ठा, बौद्ध-धर्म एवं उन्नायक मौर्यों के विनाशक ब्राह्मण शुंगवंश ने बहुत पहले ही बढ़ा दी थी और गुप्तों का शक्तिशाली वरद हस्त इसे प्राप्त हो चुका था।

जैन व बौद्ध धर्म

जैन धर्म की अवस्था इस युग में कुछ अच्छी हो जाती है। हिंसात्मक प्रवृत्तियों का कुफल सर्वसाधारण से छिपा नहीं रह गया था। फलतः ८वीं से १०वीं शताब्दी के बीच में वैश्य वर्ग वालों ने बहुत अधिक संख्या में जैन धर्म स्वीकार कर लिया। कृषकों द्वारा भी यह धर्म अपनाया गया और कुछ राष्ट्रकूट नरेशों द्वारा इसे प्रश्रय भी मिला। दक्षिण मराठा प्रदेश में भी इसी युग में जैन धर्म का प्रचार हुआ था। जैनाचार्य संस्कृत में शास्त्रार्थ करके पूर्व मीमांसिक पण्डितों को पराजित करने में बड़ा गौरवान्वित होते थे। शास्त्रार्थ में नाना प्रकार की शर्तें रखी जाती थीं। प्रभाव-क्षेत्र अब इन दो शताब्दियों में (८००-१००० ई०) दक्षिण भारत ही रह गया। उत्तर भारत में अवस्था बुरी थी।

बौद्ध धर्म की अवस्था शोचनीय थी। अब तक महायान सम्प्रदाय ने हीनयान पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। यह बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म में विलीन करने का प्रथम अनजाना प्रयास और महत्वपूर्ण सोपान था। इसकी रही-सही शक्ति को कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने धूलधूसरित कर दिया। वंसे इनके विनाश का प्रयास धार्मिक या राजनीतिक किसी भी कारण से पतंजलि के युग में ही पुष्पमित्र शुंग द्वारा हो चुका था और उसके बाद फिर एक ही हर्ष उत्पन्न हुआ था जब कि कई ‘पुष्यमित्रों’ की अवतारणा हो चुकी थी। कुमारिल ने तो बौद्धों से ही दीक्षा ले कर उनपर कुठाराघात किया था। (शायद इसी पश्चात्ताप से उन्होंने अग्नि में कूद कर आत्महत्या कर ली थी।) महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने बौद्धों के पतन का बहुत ही यथार्थ चित्रण हिन्दी ‘काव्यधारा’ में किया है—

“..... सरहपा का सहजयान, तन्तर-मन्तर, भूत-प्रेत, देवी-देवता-सम्बन्धी हजारों मिथ्या-विश्वासों और ढोंगों को पैदा करने का कारण बना। ये सारे मिथ्या-विश्वास, सारी दिव्य शक्तियाँ महमूद और मुहम्मद बिन-बख्तियार के सामने थोथी निकलीं और तारा, कुसकुला, लोकेश्वर और मंजुश्री के मन्दिरों और मठों में हजार-हजार वर्ष की जमा हुई अपार सम्पत्ति अपने मालिकों और पुजारियों के साथ ध्वस्त हो गई। बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए जब न कोई विहार रहा, न उनके संरक्षक या पोषक सेठ-सामन्त पहिली अवस्था में रहे, न साधारण जनता का विश्वास पूर्ववत्

रहा, तो उन्हें भारत में दिन काटना मुश्किल होने लगा। पश्चिम की धरती तो उनके हाथ से पहिले ही निकल चुकी थी, लेकिन, उत्तर (तिब्बत), पूरब (बर्मा, चीन) और दक्खिन (सिंहल) में अब भी उनके स्वागत करने वाले मौजूद थे। इस प्रकार बचे-खुचे बौद्ध भिक्षु—बौद्ध गृहस्थों के अगुवा बाहर चले गये। भिक्षुओं के अभाव में गृहस्थ बौद्ध धर्म को भूलने लगे और जिधर जिसकी सींग समाई, उधर चले गये। इस प्रकार नालन्दा, विक्रमशिला के ध्वंस के बाद पाँच ही छः पीढ़ियों में बौद्ध-धर्म नाम शेष रह गया।”

अब हम दसवीं से बारहवीं शताब्दी की अवस्था पर दृष्टिपात करेंगे

दसवीं शताब्दी के समाज का इतिहास हमें सूचित करता है कि इस समय समाज में अन्तर्जातीयता की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही थी। प्राचीन हिन्दू-युग से ही गणतंत्रों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता से अप्रत्यक्ष रूप से स्थान-स्थान के वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों आदि) में श्रेष्ठता की भावना का बीजारोपण होता चला जा रहा था। इधर अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों की शास्त्रीय मान्यताओं (स्मृति-सम्बन्धी-मान्यताओं) में भी लचीलापन आता जा रहा था और झूठों के प्रति उदारता-अनुदारता का वृन्ता भी ऊपर-नीचे होता जा रहा था जिससे अन्तर्जातियों के निर्माण की पृष्ठभूमि पहले से ही प्रस्तुत हो चुकी थी। ब्राह्मणों में तो स्थान विशेष, स्थानान्तरण तथा भोजन (आमिस या निरामिस) के आधार पर पहले ही अन्तर्जातियाँ बन चुकी थीं। आलोच्यकाल में इस अन्तर्जातीयता ने विभिन्न सम्प्रदायों के निर्माण एवं विकास पर भी आंशिक प्रभाव डाला था। कभी-कभी इनके स्थानीय या स्वजातीय देवता से किसी पौराणिक देवता का मेल मिला देने वाला ‘गुरु’ या ‘पाधा’ महत्व पा जाता था और वह वहीं मठाधीश बन कर बैठ जाता था। अभिप्राय यह कि दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक का युग राजनीतिक दृष्टि से जितना उथल-पुथल वाला था, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी उतना ही क्रियाशील था; यह दूसरी बात थी कि यह क्रियाशीलता केवल बाल की खाल खींचने और कथनी कथने तक ही सीमित थी। समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले तत्कालीन साहित्यकारों एवं साहित्याचार्यों तक में इस प्रवृत्ति के प्रमाण मिलते हैं जो काव्यशास्त्र में एक के एक सौ और फिर सौ के हजार भेदोपभेद बनाने में न थकते थे, न झिझकते थे। यहाँ इस विवरण से हमारा केवल यह अभिप्राय रहा है कि इस युग के समाज में विलगाव और भेदोपभेद की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल हो उठी थी जिसका धार्मिक अवस्था पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। राहुल जी ने तो ‘हिन्दी-काव्य-धारा’ में सामाजिक विशृंखलता और अन्तर्जातीयता के निर्माण में धर्म के ठेकेदारों पण्डितों का बहुत बड़ा हाथ प्रदर्शित किया है। वास्तविकता जो भी हो, यहाँ हमारा उद्देश्य इस विवरण से केवल यह है कि आलोच्यकाल में लगभग सभी भारतीय धर्मों में शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्षों में जो टीका-टिप्पणी, परिवर्तन-परिवर्द्धन प्राप्त होता है उसके मूल में युग की पूर्वकथित प्रवृत्ति ही कार्य कर रही थी। अतः हम कह सकते हैं आगामी शताब्दियों में विकसित होने वाले भक्ति-आन्दोलन के पीछे कुछ सीमा तक यह परिस्थिति और प्रवृत्ति भी कार्य कर रही थी। तत्कालिक राजनीतिक

कारण तो इस विकास को आंशिक रूप से उत्तेजना भर प्रदान करते हैं—मूल तो अधिकांशतः पूर्वकथित प्रवृत्तियों में ही निहित है। अब हम तत्कालीन धर्मों का संक्षिप्त रूप में विवरण प्रस्तुत करेंगे।

हिन्दू धर्म—नव वैष्णव धर्म^१

इसका अध्ययन हम अन्यत्र भक्ति का विकास देखते समय करेंगे। यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि १०वीं से १२वीं शताब्दी के बीच में सर्वसाधारण में अहिंसा के प्रति अधिक आकर्षण बढ़ता जा रहा था और अब 'महाभारत' के 'बसु उपरिचरों' की भी संख्या अधिक बढ़ गई थी जिससे हिंसा प्रधान 'यज्ञों' (वास्तव में देवी-देवताओं की बलि-पुजाओं) के विरोध में जोरदार आवाज उठाई जा रही थी। नव वैष्णव धर्म इसी विरोध का प्रतिफल था। शीघ्र ही सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक इस धर्म का प्रचार हो गया। कुछ राजाओं ने भी वैष्णवधर्म की इस दिशा में योग दिया। कश्मीर का अवन्ति वर्मन (८५५-८८४ ई०) स्वयं इसी धर्म (नव वैष्णव धर्म) का मानने वाला था और उसने अहिंसा का घोर पालन किया था। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना अवान्तर होना न होगा कि इसी आधार पर श्रीसी० वी० वैद्य तथा कुछ अन्य इतिहासकार यह मानने को तैयार नहीं हैं कि यह नवीन भावधारा दक्षिण भारत से आई अथवा उसका श्रेय 'भागवत' पुराण को दिया जाना चाहिए। उत्तरवर्ष में इस धर्म का विशेष प्रचार आलोच्यकाल में हो चुका था। उसकी सामान्य विशेषता थी राम तथा कृष्णोपासना जिसमें सरसता कम न थी, हाँ, अभी गोपियों में राधा का वह रूप नहीं सँवारा गया था, इसके लिए जयदेव की प्रतीक्षा हो रही थी, बल्लभ और चैतन्य आने वाले थे। श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 'भारत में भक्तिरस का प्रवाह' लेख (कल्याण-भक्ति-अं० पृ० १०१) में लिखा है कि ध्वन्यालोक (८५० ई०) में कृष्ण के संग राधा को देवार्चन प्राप्त करने वाली कहा गया है और धार के राजा (९८० ई०) के एक शिलालेख में राधा को कृष्ण की प्रेयसी चित्रित किया गया है। चोड़गंग के ११५० ई० के जगन्नाथमन्दिर के भित्तिचित्रों की गवाही पर यह भी कहा जा सकता है कि उद्दाम शृंगार की भावना के लिए पृष्ठभूमि निर्मित हो रही थी।

विभिन्न तार्किक साहित्य से प्रभावित एवं कुमारिल तथा शंकर से उत्प्रेरित अनेक पंथों और सम्प्रदायों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में पड़कर देवताओं का पद ऊँचा-नीचा होता रहा, उपासना-पद्धतियों में भी उलट-फेर होते रहे। अवतारों की संख्या भी बाढ़ पर थी। जहाँ पूर्ववर्ती 'महाभारत' और 'हरिवंश' पुराण में यह संख्या केवल ६ थी वहाँ परवर्ती पुराणों में यह दस तक पहुँच गई। हजारी प्रसाद जी द्विवेदी की धारणा है कि सम्भवतः 'वाराह' पुराण में ही सबसे पहले दस अवतारों का उल्लेख किया गया है और भागवत ने इसे २२ तक पहुँचा दिया। बुद्ध भी इसी लपेट में आ गये हैं और इस पर भी जब भागवतकार को सन्तोष नहीं हुआ तो उसने कह दिया कि भगवान के तो असंख्य अवतार हैं। पंचदेव (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य तथा गणपति) की उपासना को तो अनुश्रुतियाँ शंकराचार्य की ही देन मानती हैं।

१. 'नव' शब्द का प्रयोग यहाँ इसी अर्थ में किया गया है कि तत्सम्बन्धी प्राचीन संस्थाओं को, जो बीच में सुषुप्त हो गई थीं, नई चेतना मिली। अन्यथा वैष्णव धर्म में अहिंसा को महत्व देने का प्रयास बुद्ध पूर्व भी हो चुका था।

ब्रह्मा का उक्त नामावली में अभाव कुछ इसी प्रकार से सोचने की प्रेरणा भी देता है। हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने 'मध्यकालीन धर्म-साधना' पृष्ठ २४ पर लिखा है—“पंचदेवों में ब्रह्मा-का नाम न आने से कुछ पण्डित अनुमान करते हैं कि यह निश्चय ही उस समय की कल्पना होगी जिस समय ब्रह्मा की पूजा उठ चुकी रही होगी। विक्रम के सातवीं शती के आसपास इस प्रकार की कल्पना की गुंजाइश है। इस अनुमान के साथ अनुश्रुति का कोई विरोध नहीं देख पड़ता। इसलिए यह कहना असंगत नहीं है कि शंकराचार्य के समय में ही यह उपासना प्रचलित हुई।” अभिलेखिक साक्ष्यों से भी उपर्युक्त मत का समर्थन हो जाता है, हाँ इतना अवश्य है कि पंच देवोपासना में, बारहवीं शताब्दी तक ब्रह्मा को निश्चित रूप से स्थान प्राप्त हो जाता है और वह स्थान केवल शास्त्रगत ही नहीं, समाजगत भी था। देवी-देवताओं की पूर्व प्रचलित पूजायें उन्नति पर थीं। तीर्थयात्रा की तो जैसे होड़ लग गई थी। ब्राह्मणों का समाज में उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पुराणों ने 'महाभारत' को छोड़कर वैदिक ब्राह्मणों के महत्व को बढ़ाने में जितना योग दिया था सम्भवतः इसके पूर्व अन्य किसी प्रभावशाली ग्रन्थ ने इतना जोरदार कदम इस ओर नहीं उठाया था। ब्राह्मण धर्म के कर्णधार ये ब्राह्मण ही थे।

तंत्र-मंत्र और भैरवी चक्र में ब्राह्मणों ने भी बौद्धों से होड़ लगा रखी थी। भूत-प्रेत जादू-टोना और देवी-देवताओं की बहुरंगी उपासना का जितना आविष्कार इस युग में हुआ उतना न तो इसके पूर्व किसी युग में हुआ था और न आने वाली शताब्दियाँ ही इस दृष्टि से इतना उर्वर सिद्ध हुईं। ब्राह्मणों की चक्रपूजा पर आश्चर्य प्रकट करने का अवसर सभी सुधी को हो सकता है, क्योंकि बेचारे बौद्ध भिक्षुओं को तो दस शीलों की मुहरबन्दी ने छिपकर यौन-स्वातंत्र्य की उपलब्धि की प्रेरणा दी थी पर ब्राह्मणों के सामने तो ऐसी कोई समस्या ही न थी—रास्ता खुला था बहु विवाह का भी, दासी-पालन का भी—माँसाहार की भी छूट थी, वर्जित थी केवल वारुणी।

दक्षिण भारत की अवस्था का चित्रण यहाँ अमीष्ट नहीं है फिर भी इतना कहना बिषयान्तर होना न होगा कि पूर्वकथित नवोदित वैष्णव धर्म या अधिक उपयुक्त शब्दों में पुनर्स्थापित वैष्णव धर्म दक्षिण भारत में अपेक्षाकृत कम शृंगारपरक ही कहा जा सकता है। यहाँ अहिंसा तो स्वीकृत कर ली गई थी, तप का भी समर्थन किया गया था, वेद, ब्राह्मण और वर्णाश्रम धर्मों को स्वीकृति प्रदान की गयी थी। पर शंकर के विरोध का स्वर इन सबसे ऊँचा था इसलिए शास्त्रों का सहारा लेकर मायावाद के प्रचारक शंकर के विरोध में वहाँ आलवार भक्तों के ठीक बाद ही आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ जो शास्त्रों द्वारा ही—‘उपनिषदों’, ‘गीता’, ब्रह्मसूत्रों की अपनी व्याख्या द्वारा ही—प्राचीन मागवत धर्म की पुनर्स्थापना करना चाहते थे और जिसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली थी। पांचरात्र-आगमों को अपनाकर श्री रामानुजाचार्य द्वारा दक्षिण के मंदिरों में इसी आधार पर पूजा-पद्धति का आयोजन आदि इस प्रयत्न का व्यावहारिक पक्ष है।

लिंगायत—दक्षिण भारत के इसी प्रसंग में इतना और जोड़ देना उचित होगा कि जिस समय आंध्र तथा तमिल में शैव धर्म के विरुद्ध वैष्णव धर्म खड़ा हो रहा था उसी समय लिंगायत सम्प्रदाय के रूप में, कर्णाटक में, शैव धर्म नई शक्ति

के साथ जगा। मण्डारकर महोदय ने इस नव-शैव सम्प्रदाय को पूर्व प्रचलित 'आराध्य' सम्प्रदाय का नवविकसित रूप ही माना है और वासव को इसका पुनर्स्थापक। 'ऊं नमो शिवायः' का पाठ करने वाले ये लिगायत प्रथम ब्राह्मण धर्मानुयायी कहे जा सकते हैं जिन्होंने ब्राह्मण धर्म की रक्षा के लिए एक ओर तो जैनियों से संघर्ष किया जिनका दक्षिण भारत में बहुत अधिक प्रचार अब भी था और दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म की जातीय कठोरताओं एवं वर्णाश्रम धर्म के बन्धनों की उपेक्षा की। बौद्ध और जैनियों की भाँति उन्होंने भी ब्राह्मणों के सामाजिक प्रभुत्व को स्वीकार नहीं किया। तब सन्यास और तप यहाँ कैसे टिकते। युग की प्रमुख प्रवृत्ति अहिंसा, जिसके लिए नव वैष्णवधर्मावलम्बी भी चिंतित थे और जिसका समर्थन बहुत पहले ही महाभारतकार ने जोरदार शब्दों में किया था, यहाँ प्रधानता पाती है और नैतिकता पर बल देकर इस नव-शैव धर्म ने ब्राह्मण विरोधी बौद्ध तथा जैन धर्मों को सहज ही पीछे धकेल दिया जिससे भक्ति-आंदोलन के विकास के लिए भूमि और अधिक उर्वर हो गई। लोक-भाषा कनाड़ी को अपने प्रवचन या साहित्य का माध्यम बनाकर वासव ने युग की आवश्यकता को ठीक-ठीक पूरा करने की चेष्टा की और उसे उसमें सफलता भी मिली थी।

जैन धर्म

जैन धर्म को इस युग में गुर्जर सोलंकी (९६१-१२५७ ई०) नरेशों का प्रश्रय प्राप्त रहा पर इस प्रश्रय को हम बहुत अधिक महत्व नहीं दे सकते। इस प्रश्रय ने जैनियों की घोर अहिंसावादिता में लोच उत्पन्न करने के अतिरिक्त कोई अन्य महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया। अब ब्राह्मण धर्म की भाँति जैन धर्म में भी बाह्याडम्बरों की प्रधानता हो गई, यहाँ भी जाति-पाँति का भेद-भाव बढ़ गया—ठीक अपने प्राचीन धर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध। आश्चर्य तो यह है कि अब स्वयं महावीर स्वामी को भी, जिन्होंने ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं स्वीकार किया था, परमेश्वर विरुद्ध से विभूषित किया जाने लगा। फिर तो सामान्य जैन गृहस्थ इस 'परमेश्वर' में अपनी आवश्यकतानुसार नाना गुणों का समावेश स्वयं ही कर लेता था। दार्शनिकता की दृष्टि से तो जैन धर्म भी बौद्ध धर्म की भाँति शताब्दियों पहले ही पंगु हो चुका था। अब केवल पुरानी कमाई खाई जा रही थी जिसके व्याज के रूप में जैन-भिक्षुओं को सूदखोर और तुलाजीवी वणिकों का प्रश्रय प्राप्त होता रहा। इस युग की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि तलवार के स्थान पर 'डण्डी-पल्ला' पकड़ने का कार्य जैन मतावलम्बी राजपूतों द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर सम्पन्न हुआ। यही वह युग है जब जैनियों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का महत्व तीव्र गति से बढ़ा क्योंकि जब उच्च कुलीन सामन्तों या उच्च राज्यपदाधिकारियों के घरों में यह धर्म पहुँचा तो फिर वहाँ नग्नता नहीं चल सकती थी। साथ ही अब जैन मुनियों को मठ छोड़ कर बस्ती में बसना पड़ा। और यह बस्ती का आवास। बेचारे आदि 'ब्रह्मचर्य' की आफत आ गई और देखते-देखते तंत्र-मंत्र के साथ भैरवी चक्र-गुप्त यौन-क्रियाओं का प्राबल्य हो उठा। अब ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों सम्प्रदायवालों में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत में होड़ लग गई। आशय या अधिक से अधिक चेला 'मूड़ना' और इस प्रकार अपनी तृप्ति के साथ-साथ अपने सम्प्रदाय का अधिकाधिक प्रचार करना। हाँ, जैनियों में अभी भैरवी चक्र के लिए चक्रेश्वरी देवी विराजमान भरहुई थीं जिसके आधार पर आगे भैरवी चक्र की गुंजाइश

हो सकती थी। जैन मुनियों ने ब्राह्मणों के बढ़ते हुए धार्मिक साहित्य से होड़ लेने के लिए देशज-भाषा में कथा-कहानियों की सृष्टि में अथक परिश्रम का परिचय दिया। विचाराधीन युग में दक्षिण की अपेक्षा पश्चिम में ही जैन धर्म का प्राधान्य था। दक्षिण में इसे शंकर तथा वासव के विरोध ने टिकने नहीं दिया।

इसलाम धर्म

भारतीय धर्मों-विभिन्न हिन्दू-धर्म-सम्प्रदायों के पश्चात् तत्कालीन इसलाम धर्म की अवस्थाओं का अध्ययन करना आवश्यक प्रतीत होता है। दो दृष्टियों से इस अध्ययन का लगाव हमारे विषय से है—१. भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक पक्ष या सामाजिक महत्व सम्बन्धी पक्ष तब तक पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं हो सकता जब तक कि तत्कालीन भारतीय मुसलमानों के विभिन्न सम्प्रदायों की अवस्था न जान ली जाय तथा २. हिन्दी सूफी कवियों की विचार-धाराओं का कुछ अंश समझने में इन्हीं सम्प्रदायों से सम्बन्धित प्रसंगों, प्रभावों आदि के अध्ययन की आवश्यकता पड़ेगी।

सूफी और खोजा (फारसी ख्वाजा) सम्प्रदायों का अध्ययन ही हमारी विषय-सामग्री से सम्बन्धित है, अतः यहाँ हम उन्हीं दोनों वर्गों पर विचार करेंगे। कुरानाश्रित कट्टर मुसलमान धर्म पूर्ववत् शरीयत के अनुसार चल रहा था।

सूफी—आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का युग विश्व-इतिहास में आध्यात्मिक प्रगति का युग कहा जा सकता है। इसी युग में ईरान के सूफियों, भारत के वेदान्तिकों तथा योरप के रहस्यवादियों का उदय हुआ था। सूफियों का उद्गम-स्थान मिश्र है। उन पर धुर उत्तर तथा दक्षिण-पूर्व में बसे हुए बौद्ध भिक्षुओं तथा ईसाई साधुओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।^१ कालान्तर में इन्होंने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया और अगली दो शताब्दियों में ही इनके पाँच प्रमुख केन्द्र स्थापित हो गये— १. ईरान, २. मेसोपोटामिया, ३. सीरिया, ४. उत्तरी अफ्रीका तथा ५. भारत।

तलवारों के साथे में नमाज-ए-हक अदा करने वाले आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी के साथ भारत में प्रथम ऐतिहासिक सूफी सन्त मुइनुद्दीन चिश्ती ११९२ ई० में आया था और उसने अजमेर को अपना निवास-स्थान बनाया था। इसका प्रभाव अधिकांश पश्चिमोत्तर भारत के जन-जीवन पर पड़ा। इसकी शिष्य-परम्परा में बख्तियार काकी, शेख फरीदुद्दीन शकरगंज, निजामुद्दीन औलिया (अमीर खुसरो का पीर), अलाउद्दीन अली अहमद सबर, शेख सलीम (अकबर का पीर) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने अधिकांश जीवन में सूफियों को कट्टर मुसलमान धर्मविलम्बियों से संघर्ष करना पड़ा था। हम दिल्ली सल्तनत के युग में इनकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। यदि हम आगे का इतिहास देखें तो ज्ञात होगा कि मुगल युग में भी इन्हें अनेक कट्टर पंथियों द्वारा पददलित होना पड़ा था। हाँ, राजकुमार दाराशिकोह सुप्रसिद्ध सूफी सन्त हुआ जिसने अनेक भारतीय ग्रन्थों—‘रामायण’, ‘भगवद्गीता’, ‘उपनिषद्’ आदि के अनुवाद की व्यवस्था करवाई थी। हिन्दू धर्म से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने अपनी अँगूठी पर ‘प्रभु’

शब्द खुदवाया था। 'मजमूल बहरे' उसकी सुप्रसिद्ध रचना है। यदि उसे अवसर प्राप्त हुआ होता तो निश्चय ही हिन्दू-मुसलिम समन्वय-विशेषतया भक्ति और सूफीयत का अद्भुत समन्वय-देखने को मिला होता। अन्तिम प्रमुख सूफी सन्तों में औरंगजेब की पुत्री राजकुमारी जीबुन्निसा का नाम उल्लेखनीय है।

सूफी धर्म की सर्वप्रमुख विशेषता है एकान्तिक प्रेम। उनकी कुछ उक्तियों से हम उनकी आस्था का रूप जान सकते हैं—

इब्राहीम अधम (८७५ ई०) का कथन है—

“एक हृदय में दो प्रेम नहीं पल सकते हैं—ईश्वर प्रेम और जगत-प्रेम।”

“किसी राज्य पर अधिकार करने से कहीं सुन्दर है आत्मा पर अधिकार करना।”

हल्लाज ने नवीं शताब्दी में गुजरात की यात्रा की थी। यह वही प्रसिद्ध धार्मिक शहीद है जिसने 'अनलहक' की घोषणा की थी और विरोधियों द्वारा पददलित किया गया था।

सिन्धी सूफी लतीफ, जो तमूरा बजाकर मधुर स्वर में गाया करता था, कहता था—
“जब मूल तत्त्व एक है और माशूक एक है तब मनुष्य व्यर्थ ही साधनों को लेकर क्यों झगड़ता है।”

शाह बिस्तरी ने (१२५०-१३२० ई०) जो विरह या कहर काव्य (मसनवी) लिखने में अपने पूर्ववर्ती जलालुद्दीन के बाद प्रथम स्थान रखता था, बहुत ही मार्मिक शब्दों में एक प्रश्नकर्ता का उत्तर देते हुए कहा था—

“जब 'मैं' 'तू' का झगड़ा मिट जायगा तो फिर मस्जिद, सिन आजगागर (यहूदी-पूजा-स्थली) और मन्दिर सभी एक हो जायेंगे।.....तुम 'अनलहक' की घोषणा करने वाले मन्सूर जैसे सूफी प्राणियों को ले सकते हो, ईश्वर के प्रेम-मद में छके हुए तुम उसी भाव से उसकी प्रार्थना और बन्दना कर सकते हो, एक वृक्ष भी कहता है 'मैं ईश्वर हूँ' और जब एक वृक्ष अपने को ईश्वर घोषित कर सकता है तो फिर धर्मनिष्ठ मनुष्य क्यों नहीं कह सकता 'हम' 'तू' और 'वह' सब एक ही हैं क्योंकि उस इकाई में व्यक्ति का कोई विभेद नहीं।”

उपर्युक्त विचार सभी सूफी सन्तों ने इसी रूप में ग्रहण किया था। ये उनके व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित थे। दार्शनिक विचारों से हमारा यहाँ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, अतः हम 'शरीयत', 'मारिफत' 'हकीकत' आदि की गहराई में न जाकर केवल इतना कहना चाहेंगे कि इन्होंने कुरान से मूल प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी अपने मत के प्रेम-पक्ष को इसलाम धर्म से पूर्णतया भिन्न दिशा में मोड़ा।

ख्वाजा सम्प्रदाय निजारी-धर्म-प्रचारक—ख्वाजा सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध निजारी मिशनरियों से है। सम्भवतः बारहवीं शताब्दी में प्रथम निजारी धर्म-प्रचारक नूरुद्दीन भारत आया था और गुजरात को उसने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया था। यदि खोजा साक्ष्यों पर विश्वास किया जाय तो इसी नूरुद्दीन ने गुजरात की तथाकथित शूद्र जातियों को, जिनमें कुनबी, खरवा, कोरी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, इसलाम धर्म में दीक्षित किया था। यह सन्त काजी और मुल्लाओं की कटु आलोचनाएँ किया करता था जिसे लोग एघाचित्त

होकर सुनते थे।^१ नूरुद्दीन ने अपना नाम 'सतगुरु' रक्खा। इसके शिष्यों ने पश्चिमोत्तर तथा पश्चिम भारत में इसके 'करामातों' की ऐसी-ऐसी कहानियाँ गढ़ीं कि शीघ्र ही चारों ओर से हिन्दू-मुसलमान इसके दर्शनार्थ आने लगे। इन चमत्कारिक कहानियों में से एक महत्वपूर्ण कहानी का उल्लेख बी० एम० माउ महोदय ने 'How Islam came to Gujrat' में किया है। घटना बारहवीं शताब्दी की है जब इस चमत्कारिक कहानी के बल पर ही नूरुद्दीन को मंदिर-प्रवेश में सफलता मिली थी।

कच्छ और काठियावाड़ में भी इसी समय नूरुद्दीन के शिष्य ने इसलाम धर्म का प्रचार किया। फिर पीर शमशुद्दीन (छोटे गुरु) का काश्मीर में आगमन होता है। उसने तो इसलाम के प्रचार में सचमुच 'करामातों' से काम लिया। कहा जाता है कि दशहरा के उत्सव में, गर्वा नृत्य में लीन सैकड़ों की संख्या में हिन्दुओं पर अपने नाच-गान से शमशुद्दीन ने जैसे जादू-सा कर दिया और तब उनको इसलाम धर्म में दीक्षित कर लिया। आज भी पंजाब में पीर शमशुद्दीन द्वारा धर्मपरिवर्तित लोग 'शमशी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

काश्मीर, पंजाब और सिंध में, पन्द्रहवीं शताब्दी तक ख्वाजा सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या निश्चित रूप से बढ़ गई थी क्योंकि इन क्षेत्रों के ख्वाजा संप्रदाय की देख-रेख के लिए १४३० ई० में पीर सदरुद्दीन को भेजा गया था जिसने यहाँ आकर अपना नामकरण सहदेव किया। यही वह व्यक्ति है जिसने अली को विष्णु का दसवाँ अवतार घोषित किया था और जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। इसने अली का मन्दिर भी बनवाया था और कीर्तन के लिए मजनों की भी रचना की भी। परिस्थिति उसके अनुकूल थी। फीरोज तुगलक कन्न में पड़ा था और दिल्ली के तख्त पर दुर्बल, सैयद सुलतानों का शासन चल रहा था। उसके इस प्रकार के अभिनय ने हजारों हिन्दुओं को आकृष्ट किया। उधर शागिर्द पीर की 'करामातों' को 'अलिफ लैला' या 'किस्सा चहार दरवेश' की भाँति बढ़ाते-सुनाते जा रहे थे। इसकी पुस्तक 'दशावतार' ने तो उक्त अभिनय में मंच का कार्य किया। जैसा कि अन्यत्र देखा गया है, सदरुद्दीन ने विष्णु के नवों अवतार को स्वीकार कर लिया और तब दसवाँ अवतार अली को घोषित किया। उसके इस 'सतपंथ' में अनेक हिन्दू सम्मिलित हो गये। आज भी गुजरात में इस सम्प्रदाय के लोग पाये जाते हैं जिनकी एक पत्रिका गुजराती भाषा में निकलती है।^२

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि जहाँ उत्तरी भारत में अधिकांशतः कट्टर सुन्नी मुसलमान धर्मावलम्बियों का प्राधान्य था वहाँ पश्चिमोत्तर और धुर उत्तर में बारहवीं शताब्दी से ही सूफियों तथा अनेक नाजिरी सम्प्रदायों का प्रभाव स्थापित हो चुका था। विषयान्तर होते हुए भी यह कह देना आवश्यक है कि भक्ति-आन्दोलन पर इसलामी प्रभाव देखने

1. "When Nur preached the rabble used to gather round him. He used to say that the learned Sunniti and their flocks were Nasilis and to call them 'Marjis'.

(Note :—Nasilis are enemies of Ali and the Mareis or 'procrastinators' are a sect who think faiths sufficient and works unnecessary)"

Dr. Hoilister—"The Shia of India. p. 350.

२. इस विवरण के लिए हम पूर्णतया डाक्टर जान नार्मन हालिस्टर के आभारी हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक 'दि शिया आफ इण्डिया' में इस पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

वालों को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि जिस इसलामी सम्प्रदाय का कुछ भी प्रभाव भक्ति-आन्दोलन पर भूले-भटके पड़ सकता था, वह अभी पश्चिमोत्तर में भटक रहा था।

आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक की जिस धार्मिक अवस्था का चित्र पिछले पृष्ठों में खींचा गया है वही भक्ति-आन्दोलन के विकास के युग की विरासत है। हमारे सन्तों और भक्तों को इन्हीं धार्मिक मान्यताओं से अनुप्राणित समाज मिलता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। कबीर की दृष्टि में तत्कालीन धर्म

जिस युग का अध्ययन किया जा रहा है वह भारतीय धर्मों के इतिहास में खण्डन-मण्डन की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। श्रुतिसम्मत और श्रुति-असम्मत (वैदिक और अवैदिक) का झगड़ा बहुत पहले से चला आ रहा था पर दसवीं शताब्दी से विरोधी मतों को हेय और अवैदिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति में अत्यधिक अभिवृद्धि हो जाती है। ब्राह्मण धर्मावलम्बी बौद्धों को हेय सिद्ध करने के अनेकानेक सक्रिय प्रयत्न करते चले आ रहे थे और उधर बौद्ध एवं जैन आचार्य ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों, बाह्याचारों की खिल्ली उड़ाते नहीं अघा रहे थे—यद्यपि वे स्वयं भी इसके शिकार थे। सिद्धों और हठयोगियों ने समान रूप से ब्राह्मण धर्म पर कुठाराघात आरम्भ कर दिया था और बड़े ही जोरदार शब्दों में उनकी वैदिकता और श्रेष्ठता को चुनौती दी थी।^१ नाथपंथी योगियों द्वारा भी ब्राह्मण धर्म की (मुसलमान धर्म की भी) आलोचना प्रारम्भ हो चुकी थी। इसी साहित्यिक पर्यावरण में आलोच्य कालीन निर्गुण सन्तों का आविर्भाव होता है। आश्चर्य तो यह कि 'कूर्म' पुराण में जिन अवैदिक सम्प्रदायों—कापाल, लाकुल, वामा, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पाँचरात्र, पाशुपत आदि का उल्लेख किया गया है उनमें से अधिकांश अन्यान्य शास्त्रकारों द्वारा वैदिक घोषित किये जा रहे थे। और तो और, पाशुपत सम्प्रदाय को अवैदिक घोषित करने वाले शंकराचार्य को भी प्रच्छन्न बौद्ध कहकर उनके मायावाद को अवैदिक कहा गया। इस विवरण से केवल उस प्रवृत्ति की ओर ही संकेत करना अभीष्ट था जो हमारे संत एवं भक्त कवियों में भी पाई जाती है।

कबीर ने ब्राह्मण-धर्म के कर्णधार ब्राह्मणों का जो 'यशोगान' किया है, उसका अध्ययन पहले ही किया जा चुका है। यहाँ ब्राह्मण धर्म में प्रचलित अंधविश्वासों की जो आलोचना

१. पंडिअ सअल सत्तर बक्खाणइ । देहहि बुद्ध बसंत न जाणइ ।

अमगागमग ण तेन बिखंडिअ । तोइ णिलज्ज भणइ हउं पंडिअ ॥

—सरह या सरोज वज्र ।

‘प्रतरन्नपि गंगायां नव इवा शुद्धिमर्हति ।

तस्माद्धर्मधिपांपुसां तीर्थ स्नानं तु निष्फलम् ॥

धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानां कृतार्थता ।

नर्त्त दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा ॥

—आर्यदेव (कर्णरीपा) ।

गंगा जल पक्खलियवि सुणिहि कि होइ पवित्त ।

—सोमप्रभ सूरि ।

की गई है उसका उल्लेख करके हम तत्कालीन ब्राह्मण धर्म की वास्तविक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।

हमें ज्ञात है कि विचाराधीन काल में अनेकानेक पौराणिक तथा स्थानीय महत्व के देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी जिसमें बहुधा बलियाँ दी जाती थीं। 'काली को खस्सी भवानी को भैंसा' की जो किंवदंती आज भी भारत के अनेक क्षेत्रों में प्रचलित है, वह उन दिनों अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। शक्ति सम्प्रदाय वालों का अलग प्रभाव था और उस पर टोना-टुटकावाले सोखा-ओझा का प्राधान्य। इस प्रकार धर्म के नाम पर घोर अधर्म हो रहा था। कबीर ने ऐसे ही पूजकों को चेतावनी देते हुए कहा था—

यह भ्रम-भूत सकल जग लाया, जिनि-जिनि पूजातिनि जहँडाय।

अंड न पिंड न प्रान न देही, काटि-काटि जिव कौतुक देही।

बकरी मुरगी कीन्हैउ छेवा, अगिलि जनम उन अवसर लेवा।

कहँहि कबीर सुनहु नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई।

तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों के हाव-भाव का अत्यन्त स्पष्ट और प्रामाणिक चित्रण कबीर के निम्नलिखित 'शब्द' से प्राप्त होता है—

संतो देखत जग बौराना।

साँच कहौं तो मारन धावे, झूठहि जग पतियाना॥

नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करें असनाना।

आतम मारि पषानहि पूजै, उनिम हं किछुअ न ज्ञाना॥

बहुतक देखा पीर अवलिया, पढ़े कितेब कुराना।

कै मुरीद ततबीर बतावैं, उनिमहँ उहै जो ज्ञाना॥

आसन मारि डिंभ धरि बैठें, मनमहँ बहुत गुमाना।

पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गरब भुलाना॥

माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप तिलक अनुमाना।

साखी-सबदैगावत भूलें, आतम खबरि न जाना॥

हिन्दू कहै मोहि राम पियारा, तुस्क कहै रहिमाना।

आपस भेँ दोउ लरि-लरि मूये, सरम काहु नहि जाना॥

घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना।

गुरु सहित सीस सब बूडे, अंत काल पछिताना॥

कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, इ सभ भरम भुलाना।

केतिक कहौं कहा नहि मानै, सहजै सहज समाना॥

कबीर ने अपने उक्त 'शब्द' में समसामयिक धार्मिक बिडम्बनाओं की कटु आलोचना करते हुए हमें प्रचलित अन्धविश्वासों तथा धार्मिक रीतियों से अवगत कराया है। अब हम उनकी इसी आलोचना-पद्धति के माध्यम से ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की अवस्था—कबीर द्वारा वर्णित अवस्था जो पूर्णतः ऐतिहासिक है अतः प्रामाणिक है—का बोध करेंगे।

‘महादेव’ का पंथ चला कर ‘बड़ो महंत’ कहलाने वालों की दशा का बोध कराते हुए कबीर ने कहा है—

ऐसा जोग न देखा भाई, भूला फिर लिये गफिलाई ।
महादेव को पंथ चलावै, ऐसो बड़ो महंत कहावै ।
हाट बजारे लावैं तारी, कच्चे सिद्ध नमाया प्यारी ।
कराहिं लराई मत के मंदा, ई अतीत की तरकस बंदा ।
भये बिरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिनि लजावैं बाना ।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा, गाँव पाय जस चलें करोरा ।

(तिय) सुन्दरि ना सोहई, सनकादिक के साथ ।

कबहुँक दाग लगावई, कारी हाँड़ी हाथ ॥

महंतों की अतुल सम्पत्ति का विवरण हमें तत्कालीन इतिहासकारों से भी प्राप्त होता है। उनकी विलासिता और अनैतिकता की कहानियाँ भी सुनने को मिलती हैं। कबीर ने हठयोगियों तथा वाचक ब्रह्मज्ञानियों का जो चित्र खींचा है वह भी उल्लेखनीय है—

सोग बधावा सम करि माना, ताकि बात इन्द्रह न जाना ।
जटा तोरि पहिरावैं सेली, जोग जुगति कै गरब दुहेली ।
आसन उड़वे कवन बड़ाई, जैसा कौआ चील्ह मिडराई ।
जैसी भीति तेंसी है नारी, राज पाट सम गनाह उजारी ।
जसा नरक तस चन्दन जाना, जस बाउर तस रहै सयाना ।
लपसी लवँग गनै एक सारा, खाँड़ छाँड़ि मुख फाँकै छारा ।
इहै बिचार बिचार ते, गये बुद्धिबल चेत ।

बुझ मिल एकै हो रहा, काहि लगाऊँ हेत ।

तत्कालीन समाज पर योगियों की मायावी लीलाएँ छा रही थीं और सुनी-सुनाई करामातें सम्पूर्ण समाज में व्याप्त होकर अन्धविश्वासों का जो गट्ठर भारी करती जा रही थीं उस पर कबीर ने अनेक बार चोटें की हैं और लोगों को ऐसे हठयोगियों से बचने की राय दी है। हठयोगियों की योग-शब्दावली में ही कबीर ने अनेकानेक स्थलों पर उनकी जो तीव्र आलोचना की है उससे परिलक्षित होता है कि विचाराधीन काल में हठयोग का प्राधान्य रहा और ये हठयोगी समाज को प्रभावित करते जा रहे थे। ‘ब्रह्मज्योति’ के उपासकों का परिचय हमें कबीर के निम्न ‘शब्द’ से प्राप्त होता है—

कहहु निरंजन कवने बानी ।

हाथ पाँव मुख लवन जीभि नहि, का कहि जपहु हो प्रानी ॥

जोतिहि जोति-जोति जो कहिये जोति कवन सहिदानी ।

जोतिहि जोति-जोति दै मारै, तब कहाँ जोति समानी ॥

चारि बेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुँ न या गति जानी ।

कहाँहि कबीर सुनहु हो संतो, बूझहु पंडित जानी ॥

दशावतारों की जो पौराणिक मान्यताएँ समाज ने स्वीकार कर ली थीं और फलस्वरूप उसे जो आश्चर्यजनक महत्व प्रदान किया गया था उसका उल्लेख कबीर ने बहुत ही विस्तृत रूप से किया है और २२ पंक्तियों के 'शब्द' (संतों आवै जाय सो माया) में इसका खण्डन किया है। यहाँ उनके खण्डन से हमें कोई प्रयोजन नहीं है, अभीष्ट है यह देखना कि तत्कालीन समाज में अवतारवाद कितना महत्व प्राप्त कर चुका था। दशावतारों की गणना कराने के पश्चात् अन्त में कबीर ने इस 'शब्द' में घोषित किया है 'दस अवतार ईसरी माया'। कबीर के युग में ढोंगी भक्तों का भी अभाव न था जो 'कविरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय' अथवा 'भगति न जानै भगत कहावै' कह कर कबीर द्वारा याद किये गये हैं। कहीं-कहीं तो कबीर ने अपने युग के ऐसे भक्तों की बुरी तरह खिल्ली उड़ाई है जिससे हमें तत्कालीन भक्ति की कुछ स्थिति का आभास हो सकता है—

कहा भयो तिलक गरं जपमाला, मरम न जानै मिलन गोपाला ।

बिन ही प्रम कहा भयो रोये, भीतरि मँल बाहरि कहा धोये ।

गल-गल स्वाद भगति नहिं धीर, चीकन चंदवा कहै कबीर ॥

थोरी भगति बहुत हंकारा, ऐसे भगता मिलै अपारा ।

दशावतार की आलोचना करने वाले कबीर ने यत्र-तत्र सगुण भक्तों की जो तीव्र आलोचना की है उससे यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन समाज में सगुण भक्तों का बाहुल्य था। कबीर ने बहुदेववादियों को वेश्या तक कहा है—

रही एक की भइ अनेक की, वेस्या बहुत भतारी ।

कहाँहि कबीर काके संग जरि है, बहु पुरुषन की नारी ॥

(इस प्रकार की तीखी बोली बोलने पर भी कबीर आशा करते थे कि कोई कुछ न बोले—संतों बोले ते जग मारै।)

भागवत धर्म के अनेकानेक पक्षों की जो आलोचना कबीर ने की है उससे इतिहास के विद्यार्थी को उक्त सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है और यह ज्ञात हो जाता है कि विचाराधीन युग में भागवत तथा पाँचरात्र संहिताओं का कितना प्रभाव था। कबीर ने भक्ति के साधन-पक्ष की यत्र-तत्र निन्दा की है जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सगुण भक्ति का विकसित रूप तुर्क-अफगान काल में विद्यमान था।

अब हम कबीर द्वारा चित्रित जैन धर्म को लेते हैं। जैसा कि देखा जा चुका है, जैन बौद्ध धर्म में अब तक पर्याप्त परिवर्तन आ चुके थे और अवस्था कुछ ऐसी हो गई थी कि सम्भवतः स्वयं भगवान महावीर और बुद्ध भी यदि उस समय अपने इन अनुयायियों के धार्मिक कृत्यों को देखते तो पहचान न पाते कि क्या यह उन्हीं का वह प्राचीन धर्म है जो ब्राह्मण कर्मकाण्डों के खोखलेपन के विरोध में प्रवर्तित किया गया था अथवा ब्राह्मण धर्म की ही कोई शाखा है। जैनियों में जो नवीन प्रथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं उनका विवरण हमें कबीर की इस 'रसैनी' से प्राप्त हो जाता है जिसमें अनेक धार्मिक प्रथाओं का उल्लेख किया गया है—

औ भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहा लपटाई।
 जीव सीव का आहि नसौना चारिउ बेद चतुरगुन मौना।
 जैन धरम का मरमन जानै, पाती तोरि देव घर आनै।
 दवना मरवा चंपा फूला, मानहु जीव कोटि समतूला।
 औ पृथ्वी के रोम उचारै, देखत जनम आपनो हारै।
 मन्मथ-बिन्दु करै असरारा, अलपै बिन्दु खसै नहि द्वारा।
 ताकर हाल होय अधकूचा, छव दरसन में जैन बिगूचा।

बौद्धों की अवस्था का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कबीर ने उन्हें भी भूले भटकों की कोटि में रक्खा है।

कबीर का उपर्युक्त विवरण भले ही वैयक्तिक दृष्टिकोण से किया गया चित्रण है और कबीर की आँखों पर 'सहज' का जो चश्मा चढ़ा था उससे देखा गया विवरण है पर इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि कबीर का चश्मा रंगीन नहीं है जिससे प्रतिपाद्य विषय-वस्तु पर कोई विशेष रंग चढ़ गया हो, प्रत्युत उसे हम यथार्थ चित्रण के रूप में, काफी सीमा तक स्वीकार कर सकते हैं। ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी तत्कालीन विडम्बनाओं का परिचय प्राप्त हो जाता है, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है। परवर्ती कवियों ने भी कुछ इसी प्रकार की धार्मिक अवस्था का परिचय दिया है।

इसलाम धर्म के विषय में हमें कबीर द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे उक्त धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता और न इसलाम समाज में प्रचलित लोक-धर्म का ही कुछ बोध होता है। कबीर केवल उनके रोजा, नमाज, अजान, कुर्बानी, मुसलमानी (खतना), मस्जिद आदि का ही मजाक उड़ाते रह गये हैं और हर प्रकार से हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के अनुयायियों को भटका हुआ सिद्ध करके और यह दिखा कर कि दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है, वे आपसी तनाव को कम करने की प्रेरणा देते रहे हैं। वे बार-बार 'कबिर पोंगरा अलह राम का, सो गुरु पीर हमारा' की घोषणा करते रहे।

सामाजिक व धार्मिक समन्वय के प्रारम्भिक प्रयत्न

विचाराधीन युग की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक घटना है हिन्दू-मुसलिम समन्वय, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है। भक्ति-आन्दोलन में तीव्रता लाने और उसको गति प्रदान करने में इस प्रवृत्ति का बहुत बड़ा हाथ है। यदि कबीर, नानक, दादू आदि संत कवियों ने यह चेष्टा न की होती और वे मुसलमान शासकों की क्रूरता का केवल विरोध करते रह गये होते तो सम्भवतः शासन की धार्मिक नीति कुछ और उग्र रूप धारण कर लेती और तब धार्मिक असहिष्णुता में अभिवृद्धि हो गई होती; किन्तु इन सन्तों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति ने न केवल अकबर जैसे सम्राट की सहिष्णु धार्मिक नीति के लिए भूमि तैयार कर दी थी प्रत्युत समस्त मुसलमान समाज में कट्टरता और अलगाव की भावना में कमी ला दी। हिन्दू धर्म की रक्षा की दृष्टि से भी उक्त कवियों के प्रयास सराहनीय हैं। सूफियों और ख्वाजा सम्प्रदाय वालों के जो प्रयत्न चल रहे थे वे सम्भवतः अधिकांश हिन्दू-समाज के सरलतापूर्वक धर्म-परिवर्तन में सफल सिद्ध होते। कारण यह था कि उन्होंने इसलाम धर्म की कट्टरता का अन्त करके एक मानव-धर्म और एक मानव-जाति का जो नकशा खींचा था वह तत्कालीन हिन्दू-

समाज के लिए बहुत ही उपयुक्त जँच रहा था। युग-युग से उपेक्षित तथा कथित शूद्र हिन्दुओं को तो उससे सुन्दर कोई मार्ग ही नहीं दीख रहा था। आश्चर्य तो यह कि ये शिया मतावलम्बी मुसलमान सन्त स्वयं सुन्नी मुस्लाओं की कटु आलोचना करते भी नहीं थकते थे। नूरुद्दीन ने तो इनकी पूरी भर्त्सना की है। स्वभावतः हिन्दुओं को यह सोचने की प्रेरणा मिलती थी कि ये नवागत संत कुछ और हैं और अत्याचारी मुसलमानों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नाच-गाकर मुसलमान धर्म की निन्दा करके और साथ ही हिन्दू उपाधियाँ—‘सतगुरु’ ‘सहदेव’ आदि धारण करके और स्वयं अपने पंथ का नाम ‘सतपंथ’ रखकर दशावतार को स्वीकृत करके तथा ‘अली’ को भगवान् विष्णु का दसवाँ अवतार स्वीकार करके, इन ख्वाजा लोगों ने हिन्दुओं को ऐसा प्रलोभन दे रक्खा था कि जो कार्य इसलाम का प्रचार और काफिरों के विनाश की प्रतीज्ञा लेकर सिंहासनासीन होने वाले सुलतान नहीं कर सके वह नूरुद्दीन, राम दे, शमशुद्दीन आदि सन्तों ने सरलतापूर्वक कर दिया। भोली-भाली जनता को एक ओर तो यह धार्मिक सरलता मुग्ध कर रही थी और दूसरी ओर इनके ‘करामातों’ की लम्बी-चौड़ी कहानियाँ इनके प्रति उनमें श्रद्धा और विश्वास भरती जा रही थीं क्योंकि इनमें वह अदम्य शक्ति और साहस देख रही थी। सबसे बड़ी बात तो यह भी है कि ये मुसलमान संत तत्कालीन हिन्दू धर्म की सभी साधना-पद्धतियों को स्वीकार करने को तैयार थे। वे वैष्णवों के विष्णु को भी अपना सकते थे और शैवों के शिव को भी। उनका किसी से कोई झगड़ाना था। उद्देश्य एक था घर-घर और जन-जन में अपने मत का प्रचार जिसके लिए वे भेजे जाते थे। इन निजारी मिशनरियों का पूरा विवरण प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य नहीं है अतः अब हम इनके उपर्युक्त अस्त्रों के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक भारतीय प्रयत्नों की ओर आते हैं, जो अभीष्ट है। वास्तव में इनके विरोध की दृष्टि से किसी भारतीय संत ने कुछ नहीं कहा है और न इन संतों में किसी प्रकार की संकीर्णता थी, ये तो एक मानव-धर्म और एक मानव-जाति की वकालत करने के लिए ही ऐसा कर रहे थे और इनकी इसी चेष्टा ने सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की थी। दूसरी ओर इन्होंने हिन्दू-समाज और धर्म की बहुत बड़ी रक्षा की। जिस प्रकार ‘द्यानन्द न होते तो सुनति होती सबकी’ की बात की जाती है ठीक यही अवस्था उस युग में कबीर की थी। हम पुनः दुहराना चाहेंगे कि कबीर तथा अन्यान्य सन्तों के समन्वयात्मक प्रयत्नों ने भक्ति-आन्दोलन के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है, विशेषतया यदि हम भक्ति-आन्दोलन के परिणामों की दृष्टि से विचार करें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश परिणामों के मूल में इन्हीं समन्वयात्मक प्रयत्नों को ही गिना जा सकता है। यदि तत्कालीन भारतीय समाज में कबीर ने अपने तीखे स्वर द्वारा हिन्दू-मुसलमान दोनों के बाह्याडम्बरो और दोनों के खोखलेपन की कटु आलोचना की होती तो आचार्यों का कार्य अधिक कष्टसाध्य सिद्ध हुआ होता और भक्ति के मूल प्राण प्रेम का बीज अंकुरित कराने में तो उन्हें बहुत ही जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता। कबीर ने दोनों सम्प्रदाय वालों में जिन सामाजिक गुणों की अपेक्षा का नारा लगाया था और उससे जो पारस्परिक सामाजिक तनाव में लोच आती जा रही थी वह भावी धर्म-सुधारकों के लिए वांछित थी, आवश्यक भी थी। हमें यहाँ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस कार्य में सूफी संतों ने भी कम हाथ नहीं बटाया था।

१३ : मध्यकालीन सांस्कृतिक पर्यावरण

भक्ति-आन्दोलन का आचार्य युग लगभग १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। यह युग भारतीय इतिहास में पूर्व मध्यकाल के नाम से अभिहित है। चारों प्रमुख वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना भी उसी युग में हो चुकी थी। हमने तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करते समय आचार्य युग तथा कुछ प्रमुख संतों के युग की विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओं का विवरण प्राप्त किया था। आचार्य युग के पश्चात् भक्ति-आन्दोलन में 'काव्य-युग' का सूत्रपात होता है। यह संज्ञा यहाँ केवल इस दृष्टि से दी गई है कि लगभग सभी भारतीय भाषाओं में भक्ति-भावना के उन्नयन का भार कवियों ने ले लिया था और इस युग के आचार्यों तथा अन्याय भक्तों ने भी काव्य के माध्यम से ही भक्ति-भावना का प्रचार आरम्भ किया था, वैसे प्राचीन युग से ही भारत में सभी विषयों का प्रतिपादन काव्य के माध्यम से करने की परम्परा चली आ रही थी और स्वयं भागवत धर्म के भी अधिकांश ग्रन्थ काव्य में ही लिखे गये थे। किन्तु यहाँ काव्य केवल पद्यबद्ध रचना के अर्थ में न लेकर विशद साहित्य के अर्थ में लिया गया है। मध्यकालीन साहित्य का इतिहास भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। लगभग सभी प्रदेशों में कवियों ने भक्ति के विभिन्न अंगों को अपना प्रतिपाद्य बनाया था। इनमें कहीं निर्गुण ब्रह्म का आग्रह है तो कहीं सगुण का, कहीं कृष्ण नायक बनते हैं तो कहीं राम। आशय यह कि आचार्यों द्वारा संगठित भक्ति-आन्दोलन अब काव्य के माध्यम द्वारा देश के कोने-कोने में प्रचारित किया जाने लगा। बस इसी दृष्टि से १५वीं से १७वीं शताब्दी तक के भक्ति-आन्दोलन के युग को 'काव्य युग' की संज्ञा दी गई है।

यहाँ हम मध्ययुग की उन विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे जिनसे होकर भक्ति-आन्दोलन चल रहा था और भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं में भक्ति-साहित्य की रचना हो रही थी।

संक्रान्तिकाल—प्रान्तीय राज्य एवं राजनीतिक विभ्रंखलता

पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक अस्वस्थाओं का अध्ययन करते समय हमें ज्ञात हुआ था कि तुर्क-अफगान जाति ने, जिसने भारत के अधिकांश भागों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, अनेक बार धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया था। किन्तु उनकी आन्तरिक दुर्बलताओं, प्रान्तपतियों की महत्वाकांक्षाओं तथा बाह्यक्रमणों ने उस समय स्थिति और भी दयनीय कर दी जब दिल्ली सल्तनत विभिन्न छोटे-छोटे राजनीतिक विभागों में बँट गया और लगभग समस्त भारत में प्रान्तीय राज्यों का उदय हो गया। इस राजनीतिक अनेकता ने सारे भारतीय जीवन को विभिन्न एवं विविध समस्याओं एवं विरोधी परिस्थितियों के सम्मुख खड़ा कर दिया। बंगाल, जौनपुर, गुजरात, मालवा, खानदेश,

दक्कन का बहमनी वंश, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बरार तथा बीदर के मुसलमानी राज्यों का इतिहास अधिकांशतः युद्धों एवं स्वतंत्रित विद्रोहों का इतिहास है। पर कुछ राज्यों ने अब भी सांस्कृतिक प्रगति में बाधा न उपस्थित करके इसे फलने-फूलने का अवसर दिया था।

बंगाल, जहाँ कभी सेनवंशीय राजाओं ने वैष्णव धर्म एवं साहित्य के सम्बर्द्धन में महत्वपूर्ण योग दिया था, पूर्व मध्यकाल में भी सौभाग्यवश हुसेन शाही वंश के अधीन सांस्कृतिक प्रगति करता रहा। बोलजले हेग ने ठीक ही लिखा है कि "सामान्यतया बंगाल के मुसलिम शासकों ने अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया किन्तु पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या के आधिक्य से स्पष्ट है कि समय-समय पर उस प्रदेश में धर्म-परिवर्तन की लहर अवश्य आई होगी क्योंकि बंगाल के सब मुसलमान आक्रमणकारियों की ही सन्तान नहीं हो सकते थे।" स्मिथ महोदय ने भी बंगाल के मुसलमान शासकों की धार्मिक सहिष्णुता का उल्लेख किया है। हुसेन शाह (१४९३-१५१८ ई०) में न केवल हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा थी प्रत्युत वह भागवत-साहित्य से भी प्यार करता था। उसने 'महाभारत' का बंगला अनुवाद करवाया था। कहा जाता है कि 'महाभारत' का बंगला अनुवाद इसके पूर्व भी चौदहवीं शताब्दी में हो चुका था और यह दूसरा अनुवाद हुसेन शाह के सेनापति परागल खाँ की आज्ञा से तैयार किया गया था। बंगला साहित्य में हुसेन शाह के प्रति हिन्दुओं के प्रेम-भाव तथा श्रद्धा का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है और कुछ इतिहासकारों का तो यह भी मत है कि मुसलमान सम्राटों तथा सामन्तों के संरक्षण तथा समर्थन के कारण ही बंगला भाषा को हिन्दू राजाओं के दरबार में स्थान प्राप्त हुआ था, वैसे अपने ब्राह्मण गुप्तों के प्रभाव के कारण वे संस्कृत को प्रोत्साहन दिया करते थे। हुसेन शाह ने 'सत्यपीर' नामक सम्प्रदाय की भी स्थापना की थी जिसका उद्देश्य हिन्दू-मुसलिम समन्वय था। सत्यपीर की पूजा बंगाल में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही करते रहे। बंगाल के बड़े-बड़े हिन्दू जमींदारों द्वारा, जो किसी भी रूप में किसी राजा से कम न थे, वैष्णव धर्म को जो प्रोत्साहन दिया जा रहा था, उसमें कोई बाधा न उपस्थित करके हुसेन शाह ने हिन्दू-मुसलमान के समन्वय की ही चेष्टा की थी। सत्यपीर की प्रशंसा में बंगला साहित्य में अनेक कविताएँ आज भी उपलब्ध हैं। 'सत्यनारायण की कथा' पर पीरी प्रभाव भी यहाँ द्रष्टव्य है। इब्नबतूता ने भी बंगाल में फकीरों की १५० गदियों का उल्लेख किया है। इन फकीरों तथा वैष्णव भक्तों में हुसेन शाह तथा उसके वंशजों को धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण ही घनिष्ठता तथा प्रेम-भाव स्थापित हो सका था और दोनों के विरोध के बहुत कम विवरण प्राप्त होते हैं। पिता की भाँति नुसरत शाह भी धर्म-सहिष्णु व्यवृत्त था। उसने अपने शासन-काल में (१५१८-१५३२ ई० में) सांस्कृतिक समन्वय की अनेक चेष्टायें की थीं।

जौनपुर का शर्की वंश यद्यपि केवल अपनी कला एवं साहित्यप्रियता के लिए प्रसिद्ध है तथापि हिन्दू धर्म के प्रति—यदि मुसलमान इतिहासकारों पर विश्वास किया जाय तो—इस वंश के कुछ शासक असहिष्णु थे जिनमें इब्राहीम (१४००-१४४० ई०) का नाम विशेष

उल्लेखनीय है। इसमें संदेह नहीं कि पन्द्रहवीं शताब्दी में, पूर्वी भारत में, इसलामी सम्यता एवं संस्कृति के प्रसार का बहुत कुछ श्रेय शर्की वंश को ही दिया जा सकता है।

गुजरात का इतिहास पूर्णतया युद्धों एवं संघर्षों से परिपूर्ण है और मुगलों के अधिकार में आने के पूर्व तक यहाँ राजनीतिक अशांति का साम्राज्य छाया रहा, किन्तु इसके सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यपूर्ण नगर की प्रशंसा लगभग सभी पर्यटकों ने की है। मुसलिम इतिहासकारों ने गुजरात के एक सुप्रसिद्ध शासक मुहम्मद बीगड़ या बघर्नी (१४५९-१५११ ई०) को 'धार्मिक युद्धों में सफल' घोषित किया है पर उसकी धार्मिक असहिष्णुता का हमें कोई अन्य प्रमाण नहीं उपलब्ध है। हाँ बीगड़ के शासनकाल में ही ईसाइयों तथा मुसलमानों के बीच प्रथम संघर्ष होता है जब गुजरात तथा तुर्किस्तान की सम्मिलित सेना ने १५०८ ई० में पुर्तगालियों से युद्ध किया था।

मालवा के प्रारम्भिक नरेश तो कुछ शक्तिशाली रहे पर निरन्तर युद्धों ने उन्हें खोखला बना दिया। अपनी विलासिता के कारण भी वे दुर्बल होते गये। तभी उनमें धार्मिक असहिष्णुता भी आ गई। सम्भवतः इस असहिष्णुता का कारण राजनीतिक था न कि धार्मिक। पड़ोसी हिन्दू राज्यों से संघर्ष करते रहने के कारण हिन्दुओं के प्रति उनमें स्वभावतः कटुता आ गई थी।

प्रान्तीय मुसलमानी राज्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली दक्कन का बहमनी राज्य था। इसका आधिपत्य-काल भी अपेक्षाकृत अधिक लम्बा था। दक्षिण भारत में इस वंश का अधिकार १३४७ ई० से १५२६ ई० तक चलता रहा। इसके अधिकांश शासकों ने शक्ति संवर्धन एवं सुव्यवस्था की सफल चेष्टाएँ की थीं और इनके प्रश्रय में इसलामी संस्कृति को बढ़ने का अवसर प्रदान हुआ था, किन्तु युग की सामान्य राजनीतिक प्रवृत्ति युद्ध, विद्रोह एवं पारस्परिक संघर्ष से यह वंश भी नहीं बच सका था। अधिकांश नरेशों ने धार्मिक असहिष्णुता का भी परिचय दिया था। ये बहुधा अपने पड़ोसी, दूर दक्षिण में स्थित विजयनगर के हिन्दू राज्य से संघर्ष करने में ही अपनी सारी शक्ति लगाते रह गये। इसी प्रकार गुजरात तथा मालवा के मुसलमान राज्य एवं उड़ीसा के हिन्दू राज्य से भी ये निरन्तर युद्ध करते रहे। जिसका प्रवृत्तिवाले शासकों का तो जैसे इस वंश में बाहुल्य हो गया था। जब कभी इन शासकों को हिन्दू राज्य पर विजय मिली थी तो इन्होंने खुलकर कत्लेआम किया और मन्दिरों को धरा-शायी बनाने में अपरिमित उत्साह का परिचय दिया। मुहम्मद शाह प्रथम (१३५९-१३७३ ई०) ने तिलगाना तथा विजयनगर के हिन्दू राज्यों में जो रक्तपात किया था और जिस प्रकार मन्दिरों का विध्वंस किया था वह हमें दिल्ली के तुर्कों की स्मृति दिलाता है। इसी प्रकार मुजाहिद (१३७३-१३७७ ई०) की पक्षपातयुक्त इसलामी नीति ने भी दक्षिणात्य हिन्दुओं को पददलित करने में योग दिया। मुहम्मदशाह द्वितीय (१३७८-१३९७ ई०) के शासन-काल में हम राजनीतिक शक्ति का वातावरण पाते हैं और इसी शासक ने सुन्दर शासन-व्यवस्था द्वारा कुछ दिनों के लिए प्रजा को सुख की नींद सोने का अवसर प्रदान किया। किन्तु अहमदशाह (१४२२-१४३५ ई०) ने पुनः अशान्ति का वातावरण उपस्थित कर दिया और उसने विजयनगर में पुरुषों, स्त्रियों तथा शिशुओं तक को, कुल लगभग बीस हजार की संख्या में

मृत्यु के घाट उतार दिया। इसकी हिन्दू-प्रतिक्रिया इतनी भयंकर हुई थी कि कुछ हिन्दुओं ने अहमदशाह के बच की चेष्टा तक की थी पर सौभाग्यवश वह बच निकला। परवर्ती बहमनी शासकों ने भी हिन्दू राज्यों तथा हिन्दुओं के दमन में ही शक्ति-व्यय करना अपना कर्तव्य समझा था। यहाँ तक कि वंश का सर्वश्रेष्ठ कलाप्रिय, विद्यानुरागी एवं सुधारक शासक महमूद गाँवा (१४६३-१४८२ ई०) भी 'दूतपरस्तों' को दबाने में नहीं चूका था।

बहमनियों के पतन के पश्चात् बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा तथा बीदर के जो मुसलमान राज्य खड़े हुए थे उनमें धार्मिक असहिष्णुता पूर्ववत् बनी रही। हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के पूर्व-मध्यकालीन प्रतिपोषक सुप्रसिद्ध विजयनगर राज्य से युद्धरत रहने में इन राज्यों ने भी वही उत्साह दिखाया था और अवसर हाथ लगने पर हिन्दुओं तथा मन्दिरों के विध्वंस में इन्होंने उसी लगन एवं उत्साह का परिचय दिया था।

खानदेश का मुसलमान राज्य भी नवोदित प्रान्तीय राज्यों में एक था। मलिक रजा-फारूखी (१३७०-१३९९ ई०) के शासन-काल में हिन्दुओं के साथ सुन्दर व्यवहार किया गया था। इस वंश के अन्य शासक भी प्रायः धर्मसहिष्णु ही थे।

समकालीन हिन्दू राज्य थे विजयनगर, उदयपुर तथा उड़ीसा। भागवत धर्म के लिए ये तीनों क्षेत्र पूर्व मध्यकाल में अपना महत्व रखते थे और सौभाग्यवश जब यहाँ हिन्दू शक्तियों का अधिकाधिक विकास हुआ तो वैष्णव धर्म को फलने-फूलने का और भी सुन्दर अवसर प्रदान हो गया। इनमें विजयनगर के राजवंशों के दीर्घकालीन शासन ने तो हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में जो योगदान दिया था उसकी तुलना हम गुप्तों से कर सकते हैं। विजयनगर के नरेशों तथा मंत्रियों ने साहित्यकारों तथा कलाकारों को प्रोत्साहन और प्रश्रय प्रदान करके हिन्दू संस्कृति की उन्नति में महत्वपूर्ण हाथ बँटाया। संस्कृत तथा तेलगू का अच्छा विकास इस साम्राज्यकाल में हुआ। प्रसिद्ध भाष्यकार तथा वैष्णवाचार्य मध्व इस साम्राज्य की विभूति थे। शासकों में भी नरसिंह तथा कृष्णदेवराय कुशल कवि तथा विद्वानों के आश्रय-दाता थे। तेलगु का महान कवि अलसनी कृष्ण राय का राज्यकवि था। वस्तुकला के प्रति इन शासकों का जो अनुराग था उसके फलस्वरूप विजयनगर अनेक देवालयों से भर गया था। किन्तु दुर्भाग्यवश वे सारे वैष्णव मंदिर एवं मूर्तियाँ मुसलमानों की प्रतिहिंसा की अग्नि में स्वाहा हो गईं।

दक्षिण भारत के मुसलमानी राज्यों से लोहा लेने में भी विजयनगर ने अदम्य उत्साह तथा धैर्य का परिचय दिया। यह विजयनगर का ही बूता था कि १५५७ ई० में उसने बीजापुर तथा गोलकुण्डा के मुसलमानी राज्यों को भी मिलाकर दूसरे मुसलमानी राज्य अहमदनगर पर आक्रमण करके 'मस्जिदों एवं कुरान का अपमान किया।' किन्तु इसकी मुसलमानी प्रतिक्रिया का परिणाम भी बड़ा भयावह सिद्ध हुआ और तालीकोट के निर्णयात्मक युद्ध (१५६४ ई०) में अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा तथा बीदर के मुसलमानी राज्यों ने संघटित होकर विजयनगर पर आक्रमण करके भीषण नर-संहार एवं विध्वंस का दृश्य उपस्थित कर दिया। सीबेल महोदय ने इस नर-संहार एवं विध्वंस का मार्मिक चित्र खींचते हुए लिखा है—

“पाँच महीने तक विजयनगर को शान्ति नहीं मिली। शत्रु विनाश के ध्येय से आये थे

और वे अविश्रान्त रूप से अपने ध्येय की पूर्ति में लग गये। वर्तमानपूर्वक नर-संहार किया गया और मन्दिर तथा प्रासादों को ऐसा ध्वस्त कर दिया गया कि कुछ पाषाण-निर्मित विशाल मन्दिरों तथा दीवारों को छोड़कर उस समृद्ध नगर का कोई चिह्न अवशेष नहीं रह गया। शत्रुओं ने मूर्तियों को ध्वंसित कर दिया। यहाँ तक कि नरसिंह की विशाल प्रतिमा भी खण्डित कर दी गई।..... उन्होंने नदी-तट पर स्थित विठ्ठलस्वामी के मन्दिर के भव्य भवन में प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित कर दी और इसकी प्रस्तर-कलाओं को राख कर दिया। अग्नि तथा तलवार, भाले तथा कुल्हाड़े से वे दिन पर दिन विनाश का ताण्डव नर्तन कराते रहे। इतने अल्प समय में तथा अकस्मात् रूप से विश्व के इतिहास में ऐसे भव्य और समृद्ध नगर का ऐसा विनाश शायद कभी नहीं हुआ था।”

पर जिस समृद्धि और सांस्कृतिक प्रगति की उच्चतम सीढ़ी पर विजयनगर पहुँच चुका था उसका सर्वनाश केवल बाह्य रूप में ही मुसलमानों ने किया था। हिन्दुओं की आत्मा विजयनगर के पतन के पश्चात् भी दब न सकी और आगामी शताब्दियों में भी हम यहाँ हिन्दू संस्कृति को फलते-फूलते देखते हैं।

उदयपुर राज्य तथा हिन्दू संस्कृति का नाम इतिहास में साथ-साथ लिया जाना चाहिए। मेवाड़ के सिसोदिया वंश ने प्राचीन युग से लेकर मुगलों के सशक्त साम्राज्यवादी युग में भी अपनी स्वतंत्रता बनाये रखते हुए हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति के गौरव की रक्षा की थी जिसका इतिहास साक्षी है। मेवाड़ के राणा द्वारा जिस प्रकार सर्वसाधारण में स्वतंत्रता का बीजारोपण किया गया था उससे समूचे पश्चिमोत्तर भारत के हिन्दू-समाज में अपने धर्म तथा जाति के प्रति उस संकट काल में भी प्रगाढ़ मोह एवं उसकी रक्षा के लिए अदम्य उत्साह भरता जा रहा था।

भागवत धर्म के इतिहास में अपना पृथक् महत्व रखने वाला उड़ीसा प्रदेश बहुत दिनों तक अपनी स्थिति के कारण मुसलिम प्रभाव से अछूता रहा और अनन्तवर्मन (१०७६-११४७ ई०) द्वारा निर्मित पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में हजारों की संख्या में धर्मयात्रियों का मेला निरन्तर लगता रहा। किन्तु मुहम्मद बख्तियार (१२०५ ई०) तथा फीरोज शाह (१३६० ई०) आदि के आक्रमणों ने इसकी शांति भंग कर दी थी। फिर भी अकबर के पूर्व इस हिन्दू राज्य की सत्ता का उन्मूलन नहीं हो सका और छिटपुट मुसलमान आक्रमणों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ पाया। पुरी तथा भुवनेश्वर के भागवत-केन्द्र पूर्ववत् प्रेरणा देते रहे।

काश्मीर भी बहुत दिनों तक हिन्दू राज्य बना रहा किन्तु दुर्भाग्यवश जब इस पर मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तो वह प्रारम्भ में क्रूरता एवं धार्मिक असहिष्णुता का शासन सिद्ध हुआ। काश्मीर के धर्मान्ध मुसलमान शासकों में सिकन्दर (१३८६-१४१० ई०) का नाम अधिक कुख्यात है जिसे लोग ‘काश्मीर के बुतशिकन’ के नाम से याद करते हैं। मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि सिकन्दर ने इस्लाम के प्रचार के लिए खुलकर तलवार का प्रयोग किया और राज्य की बहुसंख्यक जनता को बलपूर्वक बाह्य रूप से इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। किन्तु एक ओर सिकन्दर है तो दूसरी छोर पर जैनुल आब्दीन। इसने अपने शासन-काल (१४१७-१४६७ ई०) में सिकन्दर द्वारा दिये गये धावों की मरहम-पट्टी की—निर्वासित ब्राह्मणों को पुनः अपने घरों में लौट आने का आदेश दिया,

अजिया कर उठा दिया, हिन्दुओं को मन्दिर-निर्माण की पूरी छूट दे दी, गोवध का निषेध करवा दिया। स्वयं सदाचार एवं सच्चरित्रता का उदाहरण प्रस्तुत करके इसने हर प्रकार से भय-वस्त काश्मीरी हिन्दू जनता के हृदयों को आश्वस्त कर दिया। संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा इसने हिन्दू धर्म की प्रगति को भी आगे बढ़ाने में योग दिया था। उसकी इसी सहिष्णुता के कारण उसे कभी-कभी 'काश्मीर का अकबर' कहा जाता है।

उपर्युक्त विवरण से हम यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाल सकते हैं कि दिल्ली मुलतानों के कठोर चंगुल से किसी प्रकार मुक्ति पाने के पश्चात् भी भारत के अधिकांश भाग पर उन्हीं तुर्कों या अफगानों के वंशधरों का शासन बना रहा जहाँ वही पुरानी धार्मिक नीति चलती रही। केपकमोरिन (धुर दक्षिणी विन्दु) से लेकर कृष्णा नदी तक ही, यदि सच पूछा जाय तो हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतिपोषक रह गये थे, और उधर पश्चिमोत्तर में सिसोदिया थे। बस यही दो वास्तविक शक्तियाँ थीं जो पूर्व-मध्यकाल एवं मध्यकाल के संक्रांति युग में भारतीय संस्कृति का संरक्षण कर रही थीं। शेष देश मुसलमानों की कृपा पर निर्भर था — चाहे जो धर्म चलावें, जो रीति निकालें।

मुगलों की धार्मिक नीति

दिल्ली की जर्जर शक्ति को १५२६ ई० में बाबर ने एक ही धक्के में धराशायी बना दिया और सूर मध्यान्तर (१५४०-१५५५ ई०) को छोड़ कर पूरे मध्यकाल में, लगभग सम्पूर्ण भारत पर, मुगलों का एक छत्र राज्य बना रहा। बाबर (१५२६-१५३० ई०), हुमायूँ (१५३०-१५४०, जुलाई १५५५ से जनवरी १५५६ ई०), अकबर (१५५६-१६०५ ई०), जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०), शाहजहाँ (१६२७-१६५८ ई०) तथा औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) ये छः सम्राट् मुगलवंश के छः स्तम्भ थे। इनके पश्चात् गुडिया मुगल सम्राटों का शासन आरम्भ हुआ जो हर दृष्टि से अमहत्वपूर्ण रहे।

शक्ति एवं सुव्यवस्था तथा सांस्कृतिक प्रगतियों के लिए मुगल साम्राज्य का भारतीय इतिहास में अपना पृथक् महत्व है। यहाँ हम पहले इसकी धार्मिक नीति पर दृष्टिपात करेंगे जिसका हमारे विषय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और तत्पश्चात् तत्कालीन समाज का अवलोकन करेंगे।

बाबर को शासन करने के लिए केवल चार वर्ष मिल पाये थे, अतः उसकी किसी निश्चित नीति का अनुभव भारतीय समाज न कर सका। फिर भी इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बाबर पूर्णतया धर्मसहिष्णु था। इस सहिष्णुता का कारण था उसकी धर्म-सम्बन्धी ढिलाई। अनेक बार तो वा तोड़ कर भी शराब पीनेवाला बाबर धर्मान्ध हो ही नहीं सकता था। पिता की भाँति हुमायूँ भी धर्मसहिष्णु था किन्तु पैतृक धर्म के स्थान पर वह सूफी मत की ओर अधिक झुका हुआ था और उसके कार्य प्रायः सूफियाना ही होते थे। जेहाद की भावना तो उसमें बिल्कुल हीन थी। बलात् धर्म-परिवर्तन को वह कभी भी प्रोत्साहन नहीं देता था। इन दो मुगलों के बाद उस महान् मुगल सम्राट् का दीर्घकालीन शासन आरम्भ होता है तो इतिहासकारों के लिए अपने धार्मिक विश्वासों को लेकर आज तक रहस्य बना हुआ है। वास्तव में अकबर की धार्मिक नीति को प्रभावित करने वाली विविधतापूर्ण पृष्ठभूमि ही ऐसी है जिसमें उसकी धार्मिक मान्यताएँ कुछ इस प्रकार पल्लवित हुईं कि उसमें

विविधता का समावेश हो गया। पैतृक धार्मिक सहिष्णुता, शिक्षक अब्दुल लतीफ तथा संरक्षक बैरम की धार्मिक सहिष्णुता, काबुली दरबार के सूफी विद्वान तथा शेख मुबारक सूफी तथा उनके दोनों प्रतिभाशाली पुत्रों-अबुलफजल एवं फैजी के सूफियाना विचारों, राज-पूत तथा राजपूतानियों के सम्पर्क, विभिन्न धर्माचार्यों—हिन्दू आचार्य पुरुषोत्तम तथा देवी, जैनाचार्य हरिविजय सूरि, भानुचन्द उपाध्याय तथा जिनचन्द, सिक्ख गुरु एवं विभिन्न जेसुइट पादरियों—के प्रभावों ने अकबर की धार्मिक नीति का निर्धारण किया था। उधर तुर्क अफगानकालीन मुल्लाओं की कट्टर धर्मान्धता से उत्पन्न धृष्टा ने भी उसे धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया था। इन सारी परिस्थितियों ने अकबर को इस प्रकार प्रभावित किया था कि उस सशक्त एवं प्रतिभाशाली सम्राट ने, जिसका साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तरी, पूर्वी एवं पश्चिमी भारत पर तथा दक्षिण में गोलकुण्डा एवं बीजापुर की सीमा तक प्रसरित था, भारत के अधिकांश भाग की जनता को, धर्म पर से राजसत्ता का रुढ़िगत अधिकार हटाकर, स्वधर्मानुसार आचरण करने की छूट दे दी। यद्यपि 'दीन इलाही' का मजाक अधिकांश इतिहासकारों ने उड़ाया है और इस आधार पर कुछ लोगों ने अकबर को ढोंगी तक कहा है किन्तु अबुलफजल के शब्दों पर हम इतना तो विश्वास कर ही सकते हैं कि राजा कभी-कभी अनेक तत्वों के समूह में समन्वयात्मक तत्वों का दर्शन करता है, और इसी समन्वय तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर वह राष्ट्र का धार्मिक नेतृत्व करता है। अकबर के कटु आलोचक बदायूनी पर हम कितना विश्वास कर सकते हैं, इसका निर्णय करना सरल नहीं, पर उसका यह कहना कि "बेचारे शेख, जिन्हें हिन्दू अर्थ-सचिवों की कृपा पर छोड़ दिया गया था, अपने निर्वासन में अपनी आध्यात्मिकता को भी भूल बैठे और निवास के लिए उनके पास चूहों के बिलों को छोड़ कर और कोई दूसरा स्थान नहीं रह गया था," निश्चय ही प्रतिक्रियात्मक है। वास्तविकता यह है कि अकबर ने हिन्दुओं को जो छूट दी थी तथा हिन्दू आचार्यों को जो सम्मान एवं महत्व प्रदान करते हुए कट्टर एवं धर्मान्ध मुल्लाओं एवं उनके पिटुओं की जो उपेक्षा की थी उससे एक बदायूनी तो क्या भारत के हजार-हजार 'बदायूनी' अकबर से असन्तुष्ट हो गये थे। हिन्दू रीति-रिवाजों एवं धार्मिक मान्यताओं को आदर देने वाले और साथ ही हिन्दुओं को उच्च राजपद प्रदान करने वाले अकबर से अनेक मुसलमान सरदार भी असन्तुष्ट थे, पर वे विवश थे। अकबर की शक्ति के समक्ष किसी का साहस न था कि कुछ बोलता। जौनपुर का मुल्ला मोहम्मद याजदी १५८० ई० में सम्राट के विरुद्ध फतवा निकाल कर भी उसका कुछ न बिगाड़ सका, हाँ कुछ मुस्लिम धार्मिक संस्थाओं की भूमि अवश्य अकबर द्वारा विवश होकर छिनवाली क्योंकि अकबर किसी भी असहिष्णु धार्मिक संस्थान को पनपने नहीं देना चाहता था। इस प्रकार अकबर की धार्मिक नीति ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि कर दी थी जिसमें भागवत धर्म को फलने-फूलने का पूर्ण अवसर प्रदान हुआ।

अकबर ने पारस्परिक समन्वय के लिए अन्य साधनों के अतिरिक्त साहित्य के अनुवाद को भी प्रश्रय दिया था और यह अनुवाद-कार्य एक सुनियोजित रूप में किया गया। इसके लिए अकबर ने एक पृथक् विभाग की भी स्थापना की थी जिसका यह उत्तरदायित्व था कि वह संस्कृत, अरबी और योरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों का अनुवाद करवाये।

बदायूनी ने 'रामायण' का, बदायूनी तथा हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने 'अथर्व वेद' का तथा अनेक अनुवादकों ने मिलकर 'महाभारत' का अनुवाद किया था। शताब्दियों के बाद हिन्दुओं को यह प्रथम अवसर प्रदान हुआ था जब वे खुलकर देवालयों में पूजा कर सकते थे और सड़कों पर भक्तिपरक गीत गाते चल सकते थे। पिता की धर्म सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाला जहाँगीर भी पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष राज्य का समर्थक था और उसने घोर संघर्षों से जूझकर अकबर द्वारा स्थापित धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर किसी प्रकार की आँच न आने दी। इतना ही नहीं, उसने हिन्दू धर्म का महत्व आँका था और मुसलमान मुल्लाओं को भी इस महत्व से परिचित कराने के लिए उसने अनेक पौराणिक ग्रन्थों का फारसी अनुवाद करवाया। जहाँगीर द्वारा सूरदास को सम्मानित किये जाने की भी किंवदन्ति है। अब्दुर्रहीम खानखाना ने इसी युग में रचनाएँ कीं। जहाँगीर को कुछ राजनीतिक कारणों से कहीं-कहीं कठोरता से काम लेना पड़ा था पर इसका धर्म से कोई सम्बन्ध न था।

किन्तु शान्ति एवं सुव्यवस्था हिन्दुओं के लिए अधिक दिनों तक न टिक सकी। मुगलों का साम्राज्य उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था, उनके प्रभाव-क्षेत्र में अधिकाधिक भू-भाग आते जा रहे थे और आगामी दो बादशाहों के युग तक तो धुर दक्षिण के कुछ भाग को छोड़ कर सारा भारत मुगलों की अधीनता में आ जाता है। ठीक इसी समय, जब साम्राज्य पराकाष्ठा की सीमा पर पहुँचता है, साम्राज्याधिकारियों की धर्मान्धता भी चरम सीमा को छूने लगती है। तभी तुर्क-अफगानों के युग की जैसे पुनरावृत्ति-सी होती है और १५२६ ई० से १६२७ ई० तक अर्थात् सौ वर्षों तक जिस सुख-शान्ति का उपभोग हिन्दुओं ने किया था उसका न केवल आगामी सौ वर्षों तक कहीं नाम-निशान तक नहीं रह जाता है प्रत्युत काफिरों की सुविधाओं से ईर्ष्या करने वाले काजी तथा मुल्लाओं ने शाहजहाँ तथा औरंगजेब पर जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जादू डाला था उससे ये दोनों बादशाह उस सभ्य, सुसंस्कृत एवं समन्वय के युग में भी मंगोलों की प्रारम्भिक संकीर्णता की ओर उन्मुख हो गये जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं को उत्पीड़न एवं अत्याचारों का सामना करना पड़ा।

सिंहासनासीन होने के समय तक शाहजहाँ पर पैतृक प्रभाव प्रधान था। उस समय तक उसने धार्मिक असहिष्णुता का परिचय नहीं दिया था किन्तु जैसे-जैसे उलमाओं एवं मुल्लाओं का प्रभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे उसमें संकीर्णता आती गई। उसकी इन संकीर्णताओं पर, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे, वास्तव में आश्चर्य ही होता है क्योंकि शाहजहाँ की कलाप्रियता, स्वभाव की मृदुलता एवं गुणग्राहकता की प्रशंसा अधिकांश इतिहासकारों ने की है। डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'शाहजहाँ आफ देलही' में लिखा है—

“देश में व्याप्त शान्ति तथा सम्राट की व्यक्तिगत रुचि से कला एवं साहित्य के विकास को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। आश्रय तथा संरक्षण की खोज में कवि, दार्शनिक, विद्वान तथा कलाकार दरबार में एकत्र हो गये और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को शायद ही कभी निराश लौटना पड़ा हो।”

डा० सक्सेना ने यह भी कहा है कि शाहजहाँ के शासन-काल में हिन्दी भाषा एवं साहित्य का चरमोत्कर्ष हुआ था जिसका प्रभाव शाहजहाँ पर भी पड़ा था। वह स्वयं हिन्दी बोलता था, हिन्दी संगीत से प्रेम करता था और हिन्दी कवियों को उसने आश्रय दिया था। सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्र आदि हिन्दी कवियों का उसके दरबार से सम्बन्ध था।

ऐसा ज्ञात होता है कि इन प्रोत्साहनों के मूल में उसकी कलात्मक प्रवृत्ति थी और हिन्दुओं के प्रति अत्याचार में उल्हासों का प्रभाव कार्य कर रहा था। हमें ज्ञात है कि राज्यारोहण के सातवें वर्ष ही शाहजहाँ ने यह आदेश दे दिया कि हाल के बने हुए मन्दिरों को ध्वंस करा दिया जाय और भविष्य में नये मन्दिर न बनवाये जाय। अकबर के प्रयासों से हिन्दू-मुसलिम समन्वय की एक धारा-सी चल पड़ी थी और खान-पान, रीति-रिवाज, रोटी-बेटी तथा वेश-भूषा में ये दोनों एक दूसरे का अनुकरण कर रहे थे। पर शाहजहाँ ने हिन्दुओं द्वारा मुसलमानी वेश-भूषा का धारण तथा मुसलमान स्त्रियों का पत्नी रूप में ग्रहण आदि कार्यों को इसलाम का अपमान स्वीकार किया और उसने एक आदेश निकलवा कर इन सारे कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पंजाब तथा जम्मू में हिन्दुओं ने बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान स्त्रियों से व्याह करना आरम्भ कर दिया था जिसके फलस्वरूप उन्हें एक ओर कारागार अथवा दूसरी ओर इसलाम धर्म का द्वार खोल दिया गया। प्रलोभन ही नहीं, शक्ति द्वारा भी शाहजहाँ ने हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया था। उसकी यह असहिष्णु नीति केवल हिन्दुओं के विरुद्ध ही न थी जिससे विभिन्न हिन्दू धर्म सम्प्रदायों को आघात पहुँचा था प्रत्युत स्वयं कट्टर सुन्नी होने के कारण उसने शिया मुसलमानों पर भी किसी प्रकार कम अत्याचार नहीं किये थे। दक्षिण के मुसलमान राज्यों को रौंदने का एक कारण यह भी था कि वे शिया मतावलम्बी थे। अब बेचारे ईसाइयों की भी अवस्था दयनीय हो गई जिन्होंने अपना प्रचार-कार्य आरम्भ ही किया था। हुगली के बन्दी ईसाइयों को शाहजहाँ ने आदेश दे दिया कि या तो वे मुसलमान धर्म स्वीकार कर लें या गुलाम हो जायें। शाहजहाँ के प्रोत्साहन से ही बदायूनी के वे मुल्ला, जिन्हें चूहे के बिलों की ही शरण रह गई थी, अब हिन्दू पण्डितों तथा शिया धर्माचार्यों को अपशब्द तक कहने लगे। किन्तु शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह तथा एक अन्य व्यक्ति मोहसिन फानी पर सहिष्णु धार्मिकता की छाप थी। दारा ने तो सूफी दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे और 'मजमूलबहरीन' नामक ग्रन्थ लिख कर उसने सूफी तथा हिन्दू धर्म के अनेक पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या की। उसने 'गीता', 'योग वाशिष्ट' तथा पचास उपनिषदों का भी पण्डितों की सहायता से अनुवाद करवाया था।

औरंगजेब ने घोर नृशंसता एवं धर्मान्धता का परिचय दिया। राज्यलिप्सा के लिए पिता तक को बन्दी बनाने वाले व्यक्ति से हिन्दू प्रजा क्या आशा कर सकती थी। सिंहासनासीन होते ही उसने सबसे पहला कार्य तो यह किया कि अकबर तथा जहाँगीर द्वारा प्रोत्साहित एवं सुनियोजित हिन्दू-मुसलिम-समन्वय (सुलह-कुल) की लीपापोती के लिए अनेक प्रतिबन्धात्मक नियमों को कठोरतापूर्वक लागू कर दिया। इस प्रकार शाहजहाँ की योजना कार्यान्वित करके औरंगजेब ने दोनों समाजों के बीच एक ऐसी खाई का निर्माण

कर दिया जो कभी न पट सकी। हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर तो उसने प्रत्यक्ष आघात किया था और इस दिशा में वह धर्मान्ध तुर्क-अफगानों को भी पीछे छोड़ गया। देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस, हिन्दू पाठशालाओं का सर्वनाश, बलात् या प्रलोभन द्वारा धर्म-परिवर्तन, कुछ हिन्दू धार्मिक रीति-रिवाजों पर प्रतिबंध, जजिया तथा भेद-नीति पर आघात चुंगी का आरोपण, हिन्दुओं को राजकीय पदों से वंचित करना तथा सिक्खों के दमन के प्रयास उसके ऐसे कार्य थे जिनसे सारा हिन्दू समाज प्रकम्पित हो उठा था। औरंगजेब के उपर्युक्त हिन्दू-विरोधी कार्यों के विस्तृत विवरण में न जाकर हम केवल इतना ही उल्लेख करना चाहेंगे कि आज की अधिकांश मध्यकालीन मस्जिदों की दीवारें न जाने कितने विष्णु एवं शिव-मन्दिरों के पत्थर से निर्मित हैं और उन मस्जिदों की ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ सैकड़ों हजारों विष्णु-मूर्तियाँ हैं। मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तन का कार्य एक सुनियोजित ढंग से किया गया था और नये मन्दिरों का निर्माण तो कराया ही नहीं जा सकता था। मथुरा का केशव राय का मन्दिर, गुजरात के अनेक मन्दिर, अम्बर के मन्दिर, अयोध्या, प्रयाग, हरिद्वार, काशी आदि प्रधान हिन्दू नगरों के अगणित मन्दिर मस्जिदों में बदल दिये गये। जब नये मन्दिरों का निर्माण बन्द हो गया और प्राचीन मन्दिर मस्जिदों में बदले जाने लगे तो विष्णु तथा शिवोपासकों को घर की चहारदीवारी में ही अपने आराध्य देव की उपासना एकान्त में करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया। औरंगजेब की इस नीति ने भागवत धर्म के बढ़ते हुए प्रचार में एक बहुत बड़ा गतिरोध उत्पन्न कर दिया। उधर हिन्दू पाठशालाओं के विध्वंस द्वारा हिन्दू धर्म की शिक्षा का भी अन्त करने की चेष्टा की गई थी जिससे इस गतिरोध में और अधिक स्थायित्व आ जाय। बलात् धर्म-परिवर्तन या फिर प्रलोभन देकर मुसलमान बनाने की योजना और भी घातक सिद्ध हुई। अपनी इसी नीति की पूर्ति के लिए औरंगजेब ने गुरु तेग बहादुर, गुरु गोविन्द सिंह के दो बेटे, शम्भाजी, कवि कलश आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों को भी मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी और इनमें से गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह के दोनों बेटों का तो उसने तदर्थ बध करवा दिया था।

किन्तु पुराणकारों के भगीरथ प्रयत्नों तथा आचार्यों की दीर्घकालीन तपस्याओं से सिंचित हिन्दू धर्म अब तक इतनी गहरी नींव डाल चुका था और इसका इतना व्यापक प्रचार हो चुका था कि यह झंझावात ऊपरी वस्तु ही बनकर रह गया। हिन्दू जनता ने खुल कर इन औरंगजेबी अत्याचारों से लोहा लिया। उसके शासन-काल में ही तथा उसके बाद भी हिन्दुओं के भयंकर विद्रोह चलते रहे। मथुरा के जाटों का विद्रोह, मेवात तथा नारनौल के सतनामियों का विद्रोह, बुन्देले राजपूतों का विद्रोह, सिक्खों का स्थायी विद्रोह, मराठों का संघर्ष आदि मध्यकालीन इतिहास की वह घटनाएँ हैं जिन्हें हम धर्म-युद्ध की संज्ञा दे सकते हैं। औरंगजेब के अत्याचारों तथा जागरूक हिन्दू धर्मात्माओं द्वारा उसके विरुद्ध विद्रोहों ने सारे देश में एक नई धार्मिक क्रांति को जन्म दे दिया और जहाँ औरंगजेब हिन्दू-जाति एवं धर्म का आमूल उच्छेदन करना चाहता था वहाँ अब हिन्दू धार्मिकता और दुगने-चौगुने जोश से उभड़ी।

कवियों ने भी विद्रोह की आग भड़काने और हिन्दुत्व की रक्षा के लिए जन समुदाय को जगाने में कम सहयोग नहीं दिया था। लाल कवि ने शाहजहाँ तथा औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति की ओर संकेत करते हुए कहा था—

साहिजहाँ उमड़यो घन घोरा । चंपति झंझा पवन झकोरा ॥
जब ते चंपति कियो पयानो । तबते पर्योहीन हिन्दुवानो ॥
लग्यो होन तुरकन को जोरा । को राखै हिन्दु न को तोरा ॥

जब ते साह तख्त पर बैठे । तब ते हिन्दुन के उर ऐंठे ॥
मँहगे कर तीरथन लगाये । बदे देवालै निदरि डहाए ॥
घर घर बाँधि जेजिया लीन्है । अपने मन भाये सब कीन्है ॥

इसी प्रकार महात्मा सूर किशोर जी ने भी, जिन्होंने मुसलमानों द्वारा पददलित मिथिला का उद्धार किया था, मुगलों के अत्याचारों का नग्न चित्रण करके हिन्दुओं को उनके विरुद्ध भड़काया था।

औरंगजेब की धार्मिक नीति का कुफल उसके योग्य पुत्र बहादुर शाह को मुगलतना पड़ा था और उसके शासनकाल (१७०७-१७१२ ई०) में भी बन्दा की संरक्षता में सिक्खों ने विद्रोह किया था। राजपूतों के विद्रोह तो बराबर होते ही रहे। यद्यपि बहादुरशाह ने पर्याप्त सहिष्णुता का परिचय दिया था पर उसके पिता द्वारा किये गये कुकृत्यों एवं अत्याचारों से त्रस्त प्रजा इतने से ही सन्तुष्ट न हो सकी। फलतः उत्तरकालीन गुडिया सम्राटों के युग में भी विद्रोह बार-बार उठते रहे। बन्दा वैरागी ने पुनः विद्रोह किया, जाटों का भी विद्रोह दुहराया गया और छिटपुट हिन्दू विद्रोह तो यत्र-तत्र होते ही रहे। दक्षिण भारत के मराठे अब मालवा, गुजरात, बुन्देलखण्ड तथा बंगाल तक घावा बोलने लगे। मथुरा के जाटों का औरंगजेब कालीन विद्रोह व्यापक होता जा रहा था और यह उत्तर कालीन मुगलों का सरदर्द बन गया। अन्त में आन्तरिक विद्रोहों तथा नादिरशाह के बाह्य आक्रमण (१७३८-१७३९ ई०) ने मुगलों की कमर तोड़ दी और उस शासन का अन्त हुआ जिसमें मुसलमानों की वृद्धि तथा हिन्दुओं के पतन के लिए राजकीय योजनाएँ बनाई जाती रहीं और जिसमें प्रजा के हिन्दू धर्मों के अन्त के लिए छल-बल तक का संगठित प्रयोग किया जा रहा था।

सामाजिक विषमता तथा नैतिक पतन

जिन सामाजिक तत्वों का अनुभव मुगल काल में हुआ था वे भारतीय इतिहास को एक नई दिशा की ओर मोड़ने में सफल होते हैं। वह नई दिशा है सामाजिक स्तरों की खाई और नैतिकता की इति श्री। यदि हम मध्यकालीन समाज को विलासिता, दरिद्रता और अनैतिकता का समन्वित मुखरित चित्र कहें तो अत्युक्ति न होगी। ऐसे समाज में भी धर्म और नैतिकता का उपदेश देने वाले अथवा आध्यात्मिकता का गान गाने वाले वे आचार्य और वे कवि-स्तुत्य हैं जिन्होंने गिरते हुए समाज को एक ऐसा आश्रय दिया, एक ऐसा बल दिया जिससे पतनोन्मुख समाज और अधिक पतन से बच गया।

मुगलकालीन इतिहास के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज के तीनों स्तरों में—उच्च वर्ग, जिसमें बड़े-बड़े शाही पदाधिकारी सम्मिलित थे, मध्यम वर्ग, जिसमें व्यापारी तथा निम्न श्रेणी के राजकर्मचारी सम्मिलित थे और निम्न वर्ग, जिसमें सारा का सारा देश (कुछ उच्च एवं निम्नवर्गीय व्यक्तियों को छोड़ कर) सम्मिलित था— इतना वैषम्य और वैभिन्न्य उपस्थित हो गया था कि सम्पूर्ण हिन्दू तथा मुसलमान समाज, सामाजिक दृष्टि से एक विचित्रालय से अधिक और कुछ न था। जहाँ उच्च वर्ग अश्लील भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, मांस-मदिरा-मैथुन, जुवा और विलासपूर्ण प्रीतिभोजों के मद में चूर था और उनका पिछलग्गू नक्काल मध्यम वर्ग इन विलासों के अभिनय में, 'भेकप' करने में व्यस्त था वहीं निम्नवर्ग इन दोनों वर्गों की भूख शान्त करने में भूखों मर रहा था। धनी उत्तरोत्तर अधिक धनी होते जा रहे थे और निर्धन भिक्षाटन को जीविका का आधार बनाते जा रहे थे। दूर से देखने वालों को मुगलों की शान-शौकत व राजधानी की चमक-दमक चकाचौंध में अवश्य डाल देती थी किन्तु राजधानी तथा राजनीतिक महत्व के प्रमुख नगरों को छोड़ कर शेष भारत में दरिद्रता का ही साम्राज्य छाया हुआ था। समाज की इस दयनीय दशा का चित्रण मध्ययुगीन कवियों ने बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। स्वयं महात्मा तुलसीदास को ही दरिद्रता की किस विभीषिका का सामना करना पड़ा था, इससे हम परिचित हैं। सूरकिशोर जी ने सामाजिक अधःपतन का भी बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। इनके पूर्व महात्मा तुलसी की रचनाओं में समाज का जो रूप हमें मिलता है उसके उल्लेख के बिना भी काम चल सकता है। महात्मा जी ने उच्चवर्ग की घोर विलासिता एवं अनैतिकता तथा निम्नवर्ग की विपन्नता का यथार्थ चित्रण किया है।

यहाँ एक तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। मुगलकालीन समाज में, उच्च-वर्ग में जो विलासिता आ चुकी थी और नृत्य-संगीत का जो साम्राज्य छा गया था उसका प्रभाव केवल मुसलमान मनसबदारों एवं उच्च राजपदाधिकारियों पर ही नहीं पड़ा था प्रत्युत पगड़ी बेच कर मुकुटधारी तथाकथित हिन्दू राजाओं के सर पर भी दिल्ली की सज-धज और मुगलों की शान-शौकत का भूत सवार था। यही कारण है कि अन्तिम मुगल काल से ही साहित्य की धारा स्वान्तः सुखाय के स्थान पर राजाओं की विलासिता की ओर उन्मुख हो जाती है। हिन्दी का रीतिकाल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। मुगलों के 'गुलगुले गलीचे' और 'झाड़फानूसों' की चमक हमें इस साहित्य में यत्र-तत्र मिलती है।

दरिद्रता के अमिश्रण के साथ-साथ धार्मिक अन्ध-विश्वासों ने भी समाज को कुण्ठित कर दिया था। जादू और टोना-टोटका, झाड़-फूंक, भूत-प्रेत का प्रभाव सर्वसाधारण पर बहुत अधिक था। पीर-फकीर, साधु-सन्त वेशधारी लोग समाज को बुरी तरह ठग रहे थे। हमारे अनेक कवियों ने इस परिस्थिति का चित्रण किया है। सच्चे सन्तों का अब भी अभाव न था पर वे बहुरूपिया नहीं बन सकते थे और इसीलिए पूजित भी नहीं हो सकते थे। बाल अली जी का निम्न उद्धरण स्थिति के स्पष्टीकरण में सहायक होगा—

बनि बड़ गुरु घर-घर में डोलैं । जे गुरु मूढ़ रहैं अनबोलैं ॥

केतक गुरु शिर जटा बढ़ाई । हिये पोल गाढी भर छाई ॥

केतक परहिं महा मठ देखी । कहैं यही गुरु सिद्ध विसेयी ॥
 केतक सुन्दर रूप निहारी । कहैं मिले गुरु आप बिहारी ॥
 पंच अगिन में तपत निहारी । होहि शिष्य केते नर नारी ॥
 झारा फूँकी जो बहु करें । तिनको हरिहि मानि उर धरैं ॥
 केतक गुरु म्याने चढ़ि चालें । वस्तु न लखें पेट को पालें ॥
 केतक गुरु बहु वेष बनावहिं । वारमुखी ज्यों लोकरि सारवहिं ॥
 माया अन्ध अमित गुरु ऐसे । सूधे साधु बहुत पुनि तैसे ॥
 जे निरदम्भ सकल गुन खानी । तिनकी किउ नर सुनहि न बानी ॥

मध्यकालीन धार्मिकता के सम्बन्ध में केवल इतना कहना ही प्रयाप्त होगा कि यह धर्म-सम्प्रदायों की बाढ़ का युग था। प्राचीनकाल से चली आने वाली साधना-पद्धतियों में सूक्ष्म भेद उपस्थित करके हर 'महात्मा' गुरु बनने की सनक में पागल हुआ था। जब अकबर जैसे व्यस्त सम्राट को भी धर्म-गुरु बनने का मोह हो आया तो फिर दूसरों का क्या कहना। हर पीर औलिया कब्रिस्तानों के आसपास या फिर मस्जिदों के अगल-बगल गद्दी स्थापित करने की चिन्ता में लीन था। चेला मूडने का एक ऐसा झोंका आय था कि गाँव-गाँव में गुरुओं की बाढ़ आ गई। 'करामाती' अपनी तथाकथित अलौकिक करामातों से, तांत्रिक अपने तंत्रों से और शाक्त अपनी शक्ति से रोब जमाकर समाज के उस समुदाय को, जिसकी आँखें अभी नहीं खुल पाई थीं, चकाचौंध में डालते हुए इधर-उधर घूम-घूम कर अपने मतों का प्रचार और हितों की सिद्धि कर रहे थे। पूर्व मध्यकाल की धार्मिक अवस्था का अध्ययन करते समय जिन सम्प्रदायों का उल्लेख किया जा चुका है, लगभग वे सभी सम्प्रदाय अब भी चल रहे थे। अन्तर केवल हुआ था जैनों तथा बौद्धों में जो पतनोन्मुख हो चले थे और प्रगति हुई थी वैष्णव एवं शैव धर्म की। इनमें भी वैष्णव धर्म अब तक बहुत ऊपर उठ जाता है और जैसा कि हमें ज्ञात है, इसी युग में अन्तिम महान आचार्यों का उद्भव हुआ था, जिनकी प्रेरणा से प्रान्तीय भाषाओं में राम या कृष्ण के गुणगायक कवियों का आविर्भाव हुआ। यदि इन आचार्यों ने भक्ति एवं नैतिकता का पथ नहीं दिखलाया होता और कवियों ने सर्वसाधारण को उस पथ से परिचित नहीं कराया होता तो मुगलकालीन समाज जिस अवोगति की ओर उन्मुख था उससे वह पतन के महागर्त में जा गिरा होता। समाज तो क्या इन कवियों ने समाज के कर्णधार बादशाहों को भी कभी-कभी प्रभावित किया था। महापात्र नरहरि बंदिजन ने अपने एक छप्पय से, जिसमें 'हिन्दुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं' और अन्त में 'अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन' गाय द्वारा कहलाया है, अकबर को इतना प्रभावित किया था कि उसने गो-बध बन्द करने का आदेश दे दिया।

पर मध्यकालीन धार्मिक असहिष्णुता का कुछ प्रभाव भुक्तभोगियों पर भी पड़ा, यद्यपि वह अस्थायी ही रहा और उनमें भी असहिष्णुता का प्रवेश हो गया। इस युग में हमें साम्प्रदायिक संघर्षों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। डा० भगवती प्रसाद सिंह ने रामावत सम्प्रदाय का अध्ययन करते समय रामावतों (वैरागियों) पर शैवों

(दसनामियों) के सशस्त्र आक्रमण का उल्लेख करते हुए 'वृहद् उपासना रहस्य' तथा 'श्री महाराज चरित्र' से दो उद्धरण दिये हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि शैवों ने वैष्णव धर्म का समूल अन्त करने की चेष्टा की थी और उनके कार्य हिंसात्मक हो उठे थे—

लच्छीगिरि यक भयउ गोसाईं । प्रभुपद विमुख कंस की नाई ॥

लै सहाय बहु यती गोसाईं । बहु बैसनव मारेउ बरियाई ॥

शस्त्र लिए धावत जग डोलैं । मारहि निदरि बचन कटु बोलैं ॥

उमगे खल जिमिनदीतलावा । बैसनव धर्महिं चहत उड़ावा ॥

लच्छीगिरि के नेतृत्व में दसनामियों ने वैष्णवों पर घोर अत्याचार किये थे और यदि उक्त साम्प्रदायिक कथन पर विश्वास किया जाय तो उन्होंने स्थिति ऐसी ला दी थी कि वैष्णव सम्प्रदाय खतरे में आ गया था, किन्तु यह अवस्था केवल स्थानीय थी। शैवों का प्रभाव, जिनमें औषड़, कनफटे तथा नागे भी सम्मिलित थे, उत्तर भारत में अनेक स्थानों पर बढ़ चुका था और ये प्रमुख वैष्णव केन्द्रों पर आक्रमण कर दिया करते थे। बहुधा ऐसे अत्याचार किये जाते थे किसी विशेष उत्सव या पर्व पर जब अधिकाधिक संख्या में भक्तों का जमघट होता था। राजपूताना में तो यह संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और जैसा कि रामावत सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ 'रामादल की विजयश्री' से ज्ञात होता है जयपुर की रामानन्दी गद्दी के तत्कालीन आचार्य बालानन्द जी ने चारों वैष्णव सम्प्रदायों की एक सभा संगठित करके शैवों से आत्मरक्षा के प्रयत्न भी किये थे। यह सभा वृन्दावन में बुलाई गई थी। तभी से रामानन्दी सम्प्रदाय में अनी तथा अखाड़ों का संगठन किया गया।^१

किन्तु इन सारी असहिष्णुताओं के होते हुए भी सशक्त वैष्णव धर्म न दब सका और जैसा कि हम आगे देखेंगे साहित्यकारों ने आचार्यों का सन्देश सभी भाषा और वर्ग के लोगों तक पहुँचा कर लगभग तीन शताब्दियों में ही सारे देश को वैष्णवप्रधान बना दिया।

१. डा० भगवती प्रसाद सिंह का 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' द्रष्टव्य।

‘बंगभूमि’ जो पूर्व ‘मध्यकाल में शैव’ शाक्तों तथा बौद्ध तांत्रिकों की क्रीड़ास्थली बनी रही वही भक्ति-आन्दोलन के बहते हुए प्रभाव में आकर वैष्णव भक्ति की ओर उन्मुख हो गई। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही इस बात के प्रमाण मिलने लगते हैं कि वहाँ वैष्णवों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ना आरम्भ हुआ और सेनों के प्रश्रय में तो इसे फलने-फूलने का सुअवसर प्राप्त हो गया। जयदेव तथा विद्यापति की मधुर कृष्ण-कविताओं से सारा पूर्वी भारत गूँज उठा था और यत्र-तत्र इनके पदों को मधुर स्वर में दुहराया जा रहा था। इनमें विद्यापति ने तो समाज के बहुत बड़े भाग को राधा-कृष्ण के रस से प्लावित कर दिया और इनकी कविताएँ पूर्वी भारत ही क्या उत्तरी भारत में भी समादृत होने लगी थीं। जयदेव को उत्तरी भक्त कवियों ने भले ही उतना न पढ़ा हो और सम्भवतः सबने नहीं ही पढ़ा, पर विद्यापति तो बंगला, मैथिली और हिन्दी के एक व्यापक क्षेत्र में पढ़े गये। बंगाल में प्रेमोपासना के लिए सहजयानियों (वैष्णव सहजयानियों) ने भी राधा-कृष्ण को चुना था और वे भले ही तांत्रिक साधनाओं से सम्बद्ध थे पर उनके आराध्य राधा-कृष्ण ही रहे।

चौदहवीं शताब्दी में जब मध्वाचार्य का मत अपनी चरमावस्था को प्राप्त हो गया और इसमें राधा-कृष्ण की कमनीय कल्पना को पूर्ण विकास प्राप्त हो गया तो वह पूर्वी भारत की धार्मिक परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध हुआ। फलतः यदि बलदेव विद्याभूषण की ‘प्रेमय रत्नावली’ पर विश्वास किया जाय, जिस पर सन्देह करने का कोई ठोस कारण नहीं दीखता, तो माध्वमत के अनेक प्रबल समर्थक बंगाल में उत्पन्न हुए थे।^१

बंग-वैष्णव साहित्य में ‘भक्ति चन्द्रोदय’ की उपाधि से विभूषित मध्वाचार्य की सोलहवीं पीढ़ी के आचार्य माधवेन्द्रपुरी को ही गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का आदि अधिष्ठाता कहा जाता है जिनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना गया है। ‘चैतन्य चरितामृत’ में माधवेन्द्रपुरी सम्बन्धी जो अलौकिक कथाएँ कही गई हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि ये बाल-गोपाल के अनन्य भक्त थे और इन्होंने उड़ीसा की यात्रा भी धार्मिक दृष्टि से की थी। वृन्दावन तो इनका प्रिय स्थान था जहाँ इन्होंने गोपाल की मूर्ति की स्थापना की थी। अपने गोपाल-प्रेम के लिए ये गौड़ीय सम्प्रदाय में बहुत ही सम्मानित हैं।

-
१. बलदेव—विद्याभूषण ने माध्वमत की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है। १. मध्व—
 २. पद्मनाभ— ३. नरहरि— ४. माधु— ५. अक्षोभ्य— ६. जयतीर्थ— ७. ज्ञानसिन्धु—
 ८. दयानिधि— ९. विद्यानिधि— १०. राजेन्द्र— ११. जयधर्म— १२. पुरुषोत्तम— २३— ब्रह्मण्य
 १४. व्यासतीर्थ— १५. लक्ष्मीपति— १६. माधवेन्द्र— १७. ईश्वर, केशवभारती, अद्वैत तथा
 नित्यानन्द एवं— १८. श्री चैतन्य।

माधवेन्द्र के शिष्य थे ईश्वरपुरी जो गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में महाप्रभु चैतन्य के उत्प्रेरक के रूप में महत्वपूर्ण स्थान के भागी हैं। चैतन्य को भक्ति का जो उपदेश ईश्वर-पुरी ने दिया था वह महाप्रभु के लिए महामंत्र सिद्ध हुआ। ईश्वरपुरी की भाँति केशवभारती को भी सम्प्रदाय में आदर प्राप्त है और इन्हें भी चैतन्य को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने का श्रेय दिया जाता है।

चैतन्य महाप्रभु

बंगाल के वैष्णव धर्म में उस समय एक महान आन्दोलन की लहर दौड़ गई जब नदिया में सन् १४८५ ई० में महाप्रभु चैतन्य का आविर्भाव हुआ। बाल्यकाल में ही इन्होंने अपनी अद्वितीय नैसर्गिकी प्रतिभा का परिचय दिया था और अनेक शास्त्रों में पारंगत होकर इन्होंने दिग्गज पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करना आरम्भ कर दिया था। चैतन्य महाप्रभु (बचपन का नाम विश्वम्भर मिश्र तथा परवर्ती नाम गौरांग महाप्रभु) गृहस्थाश्रम बिता ही रहे थे कि उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाली गया-यात्रा की घटना घटती है। गया में पिण्डदान देने के अभिप्राय से गये हुए विश्वम्भर मिश्र की भेंट पूर्व लिखित ईश्वरपुरी से होती है और वहीं इनकी जीवन-धारा बदल जाती है। विश्वम्भर ने ईश्वरपुरी के गुरु भाई केशव भारती से दीक्षा ली और तभी से वे चैतन्य कहलाने लगे। अब इन्होंने सांसारिक झंझटों से मुक्ति ले ली और भारत के विभिन्न तीर्थ-स्थानों की यात्रा आरम्भ की। इन यात्राओं में दक्षिण भारत की यात्रा (१५१०-१५११ ई०) विशेष उल्लेखनीय है। इसी यात्रा में महाप्रभु ने विल्वमंगल विरचित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कृष्णकर्णामृत' (अन्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसंहिता' भी) प्राप्त किया था और वे उसे बंगाल लाये थे जिसका गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं, मधुरोपासना के क्षेत्र में हम इसे प्रथम साम्प्रदायिक ग्रन्थ स्वीकार कर सकते हैं। महाप्रभु ने वृन्दावन के उद्धार के लिए अपने सहपाठी लोकनाथ गोस्वामी को भेजा और फिर स्वयं अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए वे पुरी में बस गये। सौभाग्यवश इन्हें उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्रदेव का सह-योग भी प्राप्त हो गया जिसने इनकी शिष्यता स्वीकार करके अपने राज्य में वैष्णव धर्म को प्रश्रय प्रदान किया। नित्यानन्द गोस्वामी ने भी महाप्रभु के उपदेशों का प्रचार भक्ति-भाव से किया और देखते-देखते सारे बंगाल, उड़ीसा तथा वृन्दावन में चैतन्य मतावलम्बी भक्तों की संख्या बढ़ गई। इनके शिष्यों ने आचार्य के जीवन-काल में ही चैतन्य मत को बहुत आगे बढ़ा दिया और कृष्णोपासना के समसामयिक प्रमुख केन्द्र वृन्दावन में भी आचार्य के आदेश से इन शिष्यों ने, जिन्हें 'गोस्वामी' की उपाधि दी गई है, इस मत का प्रचार आरम्भ कर दिया। 'भक्तमाल' में चैतन्य तथा नित्यानन्द (निमाई तथा नितार्ई) को अवतार घोषित करते हुए इन दोनों की भक्ति को दसो दिशाओं में प्रचारित बताया गया है। चैतन्य महाप्रभु को कृष्ण का अवतार मानना ही यह प्रमाणित करता है कि मध्यकाल के भक्तों ने इन्हें कितना ऊँचा पद प्रदान किया था। चैतन्य महाप्रभु का देहावसान सन् १५५३ ई० में हुआ था।

भगवान कृष्ण की स्मृति में उनके कीर्तन में, विह्वल हो मूर्छित तक हो जाने वाले महाप्रभु को अपने मत के लिए किसी भाष्य की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई—प्रेम-मार्ग

में विधि-विधान और सिद्धान्त कैसा ? अतः महाप्रभु ने सिद्धान्त-निरूपण के लिए किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। इनके रचे केवल १० श्लोक ही प्राप्त होते हैं। शैव-प्रधान बंगाल में भक्ति-आन्दोलन की धारा प्रवाहित करने में महाप्रभु से प्रभावित विद्वानों ने अपने अदम्य उत्साह का परिचय दिया और चैतन्य के जीवन-काल में ही बंगाल में वैष्णव धर्म की पूर्ण स्थापना हो गई। साथ ही वृन्दावन में विराजमान गोस्वामियों ने भी बंगाल के लिए वैष्णव ग्रन्थ लिख कर वैष्णव साहित्य में श्री वृद्धि की। वास्तव में चैतन्य मत के प्रचार का पूरा-पूरा श्रेय अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, वीरभद्र तथा नित्यानन्द के बारहों शिष्यों (द्वादश गोपाल) को दिया जा सकता है। चैतन्य महाप्रभु को वंशीदास ने अवतार मानकर महाप्रभु की मूर्ति-पूजा का भी प्रचार करना आरम्भ कर दिया था और नरहरि सरकार ने इस पूजा के विधि-विधानों की व्यवस्था की। इसी प्रकार श्रीनिवासाचार्य, नरोत्तम दत्त तथा श्यामानन्द दास का नाम भी चैतन्य मत के इतिहास में प्रचार-कार्य की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। माधवेन्द्रपुरी द्वारा प्रारम्भ किये हुए मथुरा-वृन्दावन-उद्धार-कार्य को भी चैतन्य द्वारा अनुप्राणित लोकनायक गोस्वामी तथा भूगर्भ आचार्य ने सफलतापूर्वक पूरा किया जिससे कृष्ण-लीला-सम्बन्धी अनेक स्थलों की खोज हो सकी।

षट् गोस्वामी—चैतन्य मत के इतिहास में षट् गोस्वामियों का नाम अमर है। जिस समय चैतन्य मतावलम्बी विभिन्न भक्त एवं विद्वान् नाना विधियों से बंगाल तथा निकटवर्ती भू-भागों में गौड़ीय वैष्णव मत का प्रचार कर रहे थे उस समय षट् गोस्वामी वृन्दावन में बैठ कर शास्त्र-प्रणयन करते रहे और बंगाल में रचित वैष्णव साहित्य पर अपनी प्रामाणिकता की छाप लगाते रहे।

इन षट् गोस्वामियों में रूप गोस्वामी (१४९२-१५९१ ई०) तथा सनातन गोस्वामी (१४९०-१५९१ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों भ्राताओं में अनुज रूप गोस्वामी पर महाप्रभु की विशेष कृपा थी। बंगाल के नवाब हुसेन शाह का मंत्री पद त्याग कर इन्होंने महाप्रभु की शरण ली थी। इनकी प्रतिभा के परिचायक इनके अनेक ग्रन्थ हैं। वृन्दावन में निवास करते हुए इन्होंने 'ललित माधव' तथा 'विदग्ध माधव' नामक नाटक लिखे जिनमें कृष्ण-लीलाओं का वर्णन है। भक्ति-रस का शास्त्रीय निरूपण करने के लिए इन्होंने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणिद' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे। इनकी काव्य-रचना की प्रवीणता के प्रमाण हैं 'हंसदूत' तथा 'उद्धवदूत'। चैतन्य मत में 'भागवत' को तत्त्व एवं आचार-मीमांसा की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व दिया गया था और इसका बहुत कुछ श्रेय रूप गोस्वामी के 'लघु भागवतामृत' को दिया जा सकता है। चैतन्य मत को दार्शनिक सम्बल एवं 'राधा-भाव' प्रदान करने का श्रेय भी रूप गोस्वामी को ही दिया जाता है। सनातन गोस्वामी ने अनुज के कार्य में सहयोग दिया और सम्प्रदाय की आचार-पद्धति का विषय निरूपण किया। तदर्थ इन्होंने 'हरि भक्ति विलास' की रचना की। इनके दूसरे ग्रन्थ हैं 'वैष्णव तोषिणी' जो 'भागवत' की व्याख्या है तथा 'भागवतामृत' जिसमें भागवत के सिद्धान्तों का चित्रण दिया गया है। इनका और इनके छोटे भाई का प्रभाव सर्व-साधारण पर तो बहुत अधिक पड़ा ही था, प्रसिद्धि है कि अकबर भी इनकी भक्ति से

प्रभावित हुआ था और वह दर्शनार्थ वृन्दावन आया था। तीसरा नाम प्रकाण्ड विद्वान् रघुनाथ गोस्वामी (१४९८-१५८४ ई०) का लिया जा सकता है जिन्होंने वृन्दावन में, राधाकुण्ड पर निवास करते हुए, 'राधा-राधा' रटते हुए अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया, 'विलाप कुसुमांजलि', 'राधाष्टक', 'नामाष्टक', 'उत्कण्ठ दशक', 'अभीष्ट प्रार्थनाष्टक' 'अभीष्ट सूचना', 'शचीनन्दन शतक' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन्हीं की प्रेरणा से कृष्ण-दास कविराज ने चैतन्य मत के प्राणवत् ग्रन्थ 'चैतन्य चरितामृत' की रचना की थी। 'भागवत' को चैतन्य मत में जो प्रचार मिलता जा रहा था उसकी कड़ी आगे बढ़ाने में काशी के सुप्रसिद्ध पण्डित रघुनाथ भट्ट ने प्रशंसनीय कार्य किया। चैतन्य महाप्रभु की भक्ति से प्रेरित होकर इन्होंने चैतन्य मत स्वीकार किया और भगवत-निष्ठा तथा कोमल स्वर के कारण इन्हें रूप गोस्वामी की सभा में 'भागवत' की कथा पढ़ने का अवसर प्रदान हुआ। सनातन गोस्वामी के 'हरिभक्ति विलास' का उपवृहण करने और उसका अधिकाधिक प्रचार करने की दृष्टि से चैतन्य मत में श्रीरंगम निवासी गोपाल भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन पर महाप्रभु की विशेष कृपा थी और उनके आदेश से ही भट्ट जी को रूप सनातन के यहाँ भ्रातृवत् आदर प्राप्त हुआ था। श्रीनिवासाचार्य भट्ट जी के ही शिष्य थे जिन्होंने सम्प्रदाय के प्रसार एवं प्रचार में योग दिया था। छठे गोस्वामी जीव गोस्वामी थे जो रूप सनातन के परिवार के ही थे। साम्प्रदायिक ग्रन्थों के प्रणयन का कार्य इस विद्वान् गोस्वामी के जीवन का बहुत बड़ा लक्ष्य था। इनकी विद्वता की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं और अपने इसी पाण्डित्य का परिचय इन्होंने 'षट् संदर्भ', 'कृष्णार्चन दीपिका', 'क्रम संदर्भ', 'दुर्गमसंगमनी', आदि ग्रन्थों में दिया है। महाप्रभु चैतन्य द्वारा दक्षिण से लाये गये 'कृष्ण-कर्मामृत' तथा 'ब्रह्मसंहिता' की भी इन्होंने पाण्डित्यपूर्ण टीका की थी। 'क्रमसंदर्भ' भी 'भागवत' की विख्यात टीका है। इनका पाण्डित्य 'हरिनामामृत व्याकरण' से सिद्ध हो जाता है जिसमें इन्होंने व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों को कृष्ण से सम्बद्ध करने के लिए नवीन उद्भावनाएँ की हैं। चैतन्य मत में इन गोस्वामियों के अतिरिक्त कृष्णदास कविराज का नाम भी उल्लेखनीय है और यदि सच पूछा जाय तो सत्रहवीं शताब्दी से अब तक के लिखे साम्प्रदायिक साहित्य का सैद्धान्तिक और क्षेत्रीय महत्व ही रह जाता है जब कि इन्हीं महानुभाव द्वारा वृद्धावस्था में विरचित 'चैतन्य चरितामृत' बंगालियों का एकमात्र आधार-ग्रन्थ और प्रेरणा-स्रोत बन जाता है। जिस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में 'भागवत' तथा मध्यकाल से ही हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में तुलसी का 'मानस' कोटि-कोटि जनों को शास्त्रीय, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक भक्ति रस से स्निग्ध करता रहा उसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी से ही बंग-भूमि में 'चैतन्य चरितामृत' वह अमृत सिद्ध होने लगा जिसका पान करके लोग भक्ति रूपी अमरत्व की प्राप्ति की आशा ही नहीं इसका विश्वास करने लगे। इस ग्रन्थ को ८६ वर्ष की अवस्था में कविराज जी ने १५८२ ई० में सात वर्षों के परिश्रम से पूर्ण किया था। इसे आदि, मध्य तथा अन्त तीन लीलाओं में विभक्त किया गया है और चैतन्य महाप्रभु के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डालते हुए बीच-बीच में महाप्रभु के उपदेशों एवं भक्ति के सिद्धान्तों का भी निरूपण किया गया है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के सिद्धान्त—यद्यपि चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध मध्वाचार्य से स्थापित किया जाता है किन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय का दार्शनिक मत द्वैतवाद से भिन्न है और इसे अचिन्त्य भेदाभेदवाद की संज्ञा दी गई है। यह भेद-अभेद इस प्रकार है—स्वयं श्री कृष्ण ही परमतत्त्व हैं और वे सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त शक्ति से पूर्ण और अनादि हैं। पर शक्ति और शक्तिमान में न तो परस्पर भेद ही सिद्ध होता है और न अभेद ही। साथ ही इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता है। अतः यह सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाया।

प्रारम्भ में ही कहा गया था कि गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का आधार-ग्रन्थ है 'भागवत'। इसी ग्रन्थ की विभिन्न टीकायें लिख कर चैतन्य मतावलम्बियों ने सिद्धान्त-निरूपण किया था। फलतः इस मत की अधिकांश मान्यताएँ भागवत-सम्मत या भागवता-नुकूल ही हैं।

परम तत्त्व श्री कृष्ण के, शक्ति के आधार पर, तीन रूप बताये गये हैं—१. भगवान् रूप जब श्री कृष्ण की अनन्त शक्ति प्रकट रहती है, २. ब्रह्मरूप जब यह शक्ति उन्हीं में अप्रकट रहती है और ३. परमात्मा रूप जब यह उनमें कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट रहती है। इन्हें ब्रह्मज्ञानी योगियों का विषय बना दिया गया है पर भगवान् भक्तों की भक्ति से प्राप्त होते हैं। रूप गोस्वामी ने 'लघु भागवतामृत' में विभिन्न लोकों में प्रकाशित होने वाले इसी परम तत्त्व श्री कृष्ण के तीन रूप बताये हैं—

१. स्वयं रूप जो दूसरे के ऊपर आश्रित न होकर स्वयं आविर्भूत होता है, (अनन्या-पेक्षित यद रूपं स्वरूपः स उच्यते १।१२) २. तदेकात्मरूप जो स्वयं रूप से अभिन्न रहते हुए भी आकृति अंग-सन्निवेश तथा चरित के कारण उससे भिन्न भी रहता है (यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते—आकृत्यादिभिरन्याद्क् स तदेकात्मरूपकः १।१४) तथा ३. आवेश रूप जो उक्त दोनों रूपों से सर्वथा भिन्न होता है और जिस में ज्ञान, शक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट प्रतीत होते हैं, जैसे वैकुण्ठ-धाम में शेष, नारद, सनकादि ऋषिगण। उपर्युक्त तदेकात्म रूप के भी आगे दो उपभेद किये गये हैं—क. विलास रूप जो लीला विशेष के लिए प्रकट होता है और ख. स्वांश रूप जब भगवान् अपने स्वयं रूप से अपनी थोड़ी शक्ति का प्रकाश करते हैं जैसे मत्स्यादि अवतार। भगवान् के तीन अवतारों—पुरुषावतार, गुणावतार तथा लीलावतार को भी यहाँ मान्यता दी गई है। पांच रात्रिक परम्परा को निभाने के उद्देश्य से 'भागवत' में किये गये प्रयत्नों की छाप इस भागवताधारित मत पर स्वतः स्पष्ट है और इसमें भी परब्रह्म के आदि अवतार पुरुषावतार को वासुदेव कहा गया है एवं उसके तीन भेद—संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध स्वीकार किये गये हैं। प्रकृति के तीन गुण—सत्, रज तथा तम के अधिष्ठाता तीन गुणावतार हैं—विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र जो क्रमशः विश्व-पालक, सृष्टि-सृजक तथा संहारक हैं। रामचन्द्र, बुद्ध, कल्कि आदि लीलावतार हैं। भगवान् श्री कृष्ण की तीन शक्तियाँ बताई गई हैं—१. अन्तरंगा-शक्ति, २. बहिरंगाशक्ति तथा ३. तटस्थाशक्ति। प्रथम शक्ति चित शक्ति या स्वरूप शक्ति है। भगवान् श्री कृष्ण की इस अन्तरंगाशक्ति के भी तीन उपभेद हैं—क. संघिनी

ख. संवित तथा ग, ल्लादिनी। संधिनी शक्ति के बल पर भगवान् कृष्ण स्वयं सत्ता ग्रहण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान करते हुए सर्वव्यापी बने हुए हैं संवित शक्ति द्वारा वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं और ल्लादिनी शक्ति द्वारा वे स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं और दूसरों को आनन्द का अनुभव कराते हैं। बहिरंगा-शक्ति ही माया या जड़ शक्ति है जो जगत के आविर्भाव का कारण है। अन्तरंगाशक्ति तथा बहिरंगाशक्ति के मध्य में तटस्थ शक्ति स्थित है। यही जीव-शक्ति है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को पराशक्ति कहते हैं। भगवान् श्री कृष्ण की बहिरंगाशक्ति से उद्भूत जगत् चैतन्य मत में अन्य वैष्णव मतों की भाँति सत्य है, मिथ्या नहीं और प्रलय के पश्चात् भी उसकी सत्ता ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि तत्वमीमांसा के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय की कोई मौलिक देन नहीं है किन्तु भक्ति-आन्दोलन में अपनी साधना-पद्धति के लिए इस सम्प्रदाय का अपना पृथक् महत्वपूर्ण स्थान है। भक्ति रस की प्रथम शास्त्रीय व्याख्या, यदि सच पूछा जाय तो इसी सम्प्रदाय के चिरस्मरणीय भक्त एवं आचार्य रूप गोस्वामी ने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में की थी। इनका यह ग्रन्थ भक्ति रस का वास्तविक सिन्धु है। परवर्ती भक्तों को (आचार्यों को भी) गोस्वामी जी के इस ग्रन्थ से प्रेरणा मिलती रही और मधुरोपासकों के लिए तो यह 'भागवत' की भाँति ही प्रेरणास्पद रहा। भक्ति रस का सांगोपांग वर्णन करते हुए रूप गोस्वामी ने कृष्ण की गोलोक-लीला को पाँच भावों से सम्बद्ध किया है—१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. माधुर्य। इनमें भी माधुर्य भाव को प्रधानता दी गई और जहाँ रति की निम्न कोटि शान्त भाव में ठहराई गई है वहीं इसका चरम अवसान माधुर्य भाव में बताया गया है। माधुर्य भाव की रति तीन प्रकार की बताई गई है—साधारणी रति, समज्जसा रति तथा समर्था रति। इन तीनों में भी समर्था रति सर्वोच्च है जिसमें भक्त अपने स्वार्थ की कोई चिन्ता न करते हुए केवल भगवान् के आनन्द के निमित्त ही सेवा-उपासना करता है और यह सेवा इतनी प्रगाढ़ होती है कि इसमें लोक-मर्यादा तक की चिन्ता नहीं रहती। ब्रज की गोपिकायें इसका आदर्श हैं। यही भाव चरमावस्था को प्राप्त होकर 'महा भाव' या 'राधाभाव' कहलाता है। भक्ति को ही एक मात्र साधन और साध्य भी स्वीकार करने वाले (साध्य इस अर्थ में कि इन्हें मुक्ति भी भक्ति के आगे इच्छित न थी) चैतन्य मतावलम्बी परम्परित धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार शास्त्रीय पुरुषार्थों के ऊपर परमप्रेमरूपा भक्ति को पाँचवाँ पुरुषार्थ स्वीकार करते हैं। यही महान् पुरुषार्थ है। महाप्रभु चैतन्य का जीवन स्वयं इस प्रेमरूपा भक्ति का आदर्श रहा। 'भागवत' ने श्री कृष्ण का ध्यान-कीर्तन करते-करते विह्वल होकर-पागल होकर कभी हँसने, कभी रोने, कभी गाने और कभी नाचने का जो उल्लेख किया है उसके साक्षात् ऐतिहासिक उदाहरण सारे भागवतोपरान्त भक्ति-आन्दोलन में महाप्रभु चैतन्य ही हैं। इन्हीं से प्रेरणा पाकर इनके अनुयायी इस प्रेम-रस में डूब कर विशिष्ट होते रहे और सुध-बुध खोकर एक ऐसी भक्ति-पद्धति का पथ दिखला जाते रहे जिस पर चल कर लाखों भक्त भगवान् कृष्ण से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने लगे और उनके

कीर्तन में पागल होकर स्वयं पर कभी राधा और कभी कृष्ण का आरोप करने लगे। इसमें भी राधा-भाव ही प्रधान था।

गौड़ीय वैष्णव मत के अधिष्ठाता स्वयं महाप्रभु को भी कृष्ण का अवतार बताते हुए यह कहा गया कि

(क) राधा के प्रेम की महिमा कैसी है, (ख) राधा आस्वादित कृष्ण की माधुर्य महिमा कैसी है और (ग) कृष्ण-सम्बन्धी प्रेम के आस्वादन में राधा का सुख कैसा है, ये तीन लोभ कृष्णावतार में शेष रह गये थे जिनकी पूर्ति के लिए भगवान् कृष्ण ने गौरांग महाप्रभु का अवतार लिया। यही कारण है कि 'चैतन्य चरितामृत' में, महाप्रभु में राधा तथा कृष्ण दोनों तत्व साथ-साथ चित्रित किये गये हैं।

राधा-भाव को स्वयं महाप्रभु चैतन्य ने कितना अधिक महत्व दिया था इसे प्रकाशित करने के लिए हम भक्ति-साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'मध्यकालीन धर्म साधना' से वह स्थल उद्धृत करेंगे जिसमें महाप्रभु चैतन्य तथा दक्षिणी आचार्य राय रामानन्द का भक्ति सम्बन्धी ऐतिहासिक कथोपकथन दिया गया है। चैतन्य महाप्रभु ने राय रामानन्द से पूछा था कि वे भक्ति किसे कहते हैं और इसी पर वार्तालाप चला। राय रामानन्द ने 'गीता' तथा भागवतानुकूल व्याख्या आरम्भ की और महाप्रभु उनसे और गहराई में जाने को कहते गये—

- स्वधर्माचरण ही भक्ति है
- लेकिन यह भी वाह्य है, और भीतर की बात कहो।
- श्री कृष्ण को समस्त कर्मों का अर्पण कर देना ही भक्ति है।
- लेकिन यह भी ऊपरी बात है, और आगे कहो।
- सर्व धर्म परित्याग-पूर्वक भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है।
- यह भी वाह्य है, और आगे की कहो।
- भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।
- ठीक है, यह भी स्थूल है, और आगे की कहो।
- वास्य प्रेम ही भक्ति है।
- ठीक है, पर यह भी स्थूल है, आगे की कहो।
- सख्य प्रेम ही भक्ति है।
- ठीक है, पर और आगे की कहो।
- कान्ताभाव का प्रेम ही भक्ति है।
- बहुत उत्तम। लेकिन और आगे की कहो।
- राधा-भाव का प्रेम ही परम भक्ति है।
- हाँ, राधा-भाव ही श्रेष्ठ है परन्तु प्रमाण क्या है।^१

अन्तिम धारणा को सुन कर महाप्रभु ने प्रमाण इसलिए माँगा था कि 'गीता' तथा 'भागवत' में कहीं भी राधा का उल्लेख नहीं हुआ था। राय रामानन्द ने जयदेव को जो

प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया उससे यह ज्ञात होता है कि दक्षिण में तो जयदेव को राधा-भाव प्रचारक के रूप में और साथ ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया ही गया था स्वयं महाप्रभु भी जयदेव को प्रमाण-स्वरूप स्वीकार करने में सन्तुष्ट थे। पूरा चैतन्य मत राधा भाव को लेकर ही चला और अब तक उसमें इसी भाव की मान्यता है। चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति के साधनों में कीर्तन पर विशेष बल दिया था। महाप्रभु द्वारा रचित अष्टक के उपदेशों का सार 'कल्याण' के सन्त अंक में (पृष्ठ ४३७ पर) देते हुए लिखा गया है—

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का अधिक से अधिक समय भगवान के सुमधुर नामों के कीर्तन में लगाये, जो अन्तःकरण की शुद्धि का सब से उत्तम और सुगम उपाय है। कीर्तन करते समय वह प्रेम में इतना मग्न हो जाय कि उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगे, उसकी वाणी गद्गद् हो जाय और शरीर पुलकित हो उठे। भगवन्-नाम का कीर्तन करने वाला अपने को तृण से भी छोटा समझे, वृक्ष से भी अधिक सहनशील बने और स्वयं अमानी होकर दूसरों को मान दे। भगवन्नाम के उच्चारण में देश-काल का कोई बन्धन नहीं है। जो जहाँ जब चाहे भगवन्नाम का उच्चारण कर सकता है। भगवान ने अपनी सारी शक्ति और अपना सारा माधुर्य अपने नामों में भर दिया है। यों तो भगवान के सभी नाम मधुर और कल्याणकारी हैं किन्तु—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

यह महामंत्र सबसे अधिक लाभकारी और भगवत्-प्रेम को बढ़ाने वाला है। भगवन्नाम का बिना श्रद्धा के उच्चारण करने से भी मनुष्य संसार के दुःखों से छूट कर भगवान के परम धाम का अधिकारी बन जाता है।

गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा-तत्त्व के समावेश का श्रेय कुछ विद्वान महाप्रभु चैतन्य की दक्षिण-यात्रा को देते हैं पर बंगाल के वैष्णव सहजिया मत को भी, जिन्हें हम तांत्रिक तत्त्वों के लिए बौद्धों एवं शैवों की परम्परा में तथा वैष्णवात्मक तत्त्वों के लिए जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास की परम्परा में बिठा सकते हैं, कुछ श्रेय दिया जाना चाहिए। दूसरे वृन्दावनवासी गोस्वामियों को, जिन्होंने अपने साहित्य द्वारा इस मत की सुदृढ़ स्थापना एवं अभिवृद्धि की थी, राधातत्त्व की प्रेरणा स्वयं उस भूमि से भी मिली थी। कृष्ण की प्रेम-लीला लोकप्रचलित हो चुकी थी। इस लौकिक परम्परा तथा 'भागवत' की शास्त्रीय परम्परा के आधार पर ही गोस्वामियों ने कृष्ण के रसिक रूप को सँवारा था। रूप गोस्वामी को 'भागवत' में ही कृष्ण की आठ, बाइस और कहीं-कहीं अगणित पत्नियों का पता चल चका था। इन्होंने अब इसी आधार पर स्वकीया-परकीया का विस्तृत वर्गीकरण आरम्भ किया और स्वकीया की संख्या सर्वमान्य आठ के स्थान पर एक हजार आठ तक बढ़ा कर उनमें आठ को पटरानियाँ घोषित किया जिनमें कुब्जा भी एक है। परकीया के दो भेद किये गये—१. कन्या तथा २. परोढ़ा। कुमारियों की संज्ञा कन्या तथा विवाहिता स्त्रियों

को परोढ़ा कहा गया। इसी प्रकार गोपियों को भी (क) नित्य प्रिया गोपी तथा (ख) साधन परा गोपी दो वर्गों में विभक्त किया गया। सखियाँ भी इनके वर्गीकरण में सखी, नित्य सखी प्राण सखी, प्रिय सखी परम श्रेष्ठ सखी आदि के विभेदों में बैठ जाती हैं। राधा कृष्ण की प्रेम चेष्टाओं में—खण्डितावस्था एवं मानावस्था में ये सखियाँ कभी कृष्ण और कभी राधा का पक्ष लेकर कमाल दिखलाती हैं। रूप गोस्वामी ने राधा कृष्ण संभोग के भी चार भेद किये—(क) संक्षिप्त संभोग, (ख) संकीर्ण संभोग, (ग) सम्पन्न संभोग तथा (घ) ससमृद्धिमान संभोग। वास्तविकता यह है कि रूप गोस्वामी ने काम-शास्त्र एवं काव्य शास्त्र के समस्त नायिका भेदों, प्रेम चेष्टाओं, हाव-भाव, रति-विलास आदि के विवरणों एवं विधियों को अपने पाण्डित्य द्वारा राधा कृष्ण पर आरोपित करके चैतन्य मत एवं शेष वैष्णव सम्प्रदाय के समक्ष 'राधा-भाव' उपस्थित किया था। प्रीति या प्रेम रस की विस्तृत व्याख्या भी इसी आधार पर की गई। किन्तु यह अवस्था चैतन्य महाप्रभु के बाद ही आई थी इसके पूर्व परकीया भाव को स्वीकार करने में कुछ झिझक ही हो रही थी। परकीया भाव का स्वीकार में पर्यावसान कराने के प्रयत्न भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। इसी उद्देश्य से रूप गोस्वामी को राधा के साथ कृष्ण का व्याह रचाने की भी आवश्यकता का अनुभव हुआ और उन्होंने अभिन्यु गोप से राधा के प्रथम व्याह को प्रेम और मिथ्या व्याह घोषित करते हुए बड़ी कुशलता से राधा-कृष्ण का व्याह कराया। जीव गोस्वामी ने भी राधा का व्याह 'गोपालचम्पू' में कृष्ण से कराया है। किन्तु केवल इतने प्रयास से ही राधा का परम्परित रुद्धिगत परकीयत्व नहीं आ सकता था और स्वीया-परकीया में से परकीयावाद को चैतन्य मत में प्रधानता मिल गई। तब 'परकीया भाव अति रसेर उल्लास' की ध्वनि कण्ठ-कण्ठ पर गूँजने लगी। सौभाग्यवश यह मार्ग सभी वर्ग एवं जाति वालों के लिए खोल दिया गया था, फलतः सारे बंगाल तथा निकटवर्ती भू-भाग में चैतन्य की माधुर्य उपासना का तीव्र गति से प्रचार हो गया।

चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व तथा गोस्वामियों की लगन ने बंग प्रदेश में कवियों को भी प्रभावित किया था। सौभाग्यवश कृष्ण काव्य के लिए यहाँ पहले से ही पृष्ठभूमि प्रस्तुत थी और ब्रजबुलि में राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का गान करने वाले अनेक विख्यात कवि चैतन्य पूर्व युग में भी हो चुके थे। मैथिली कवि विद्यापति तथा उनके भी पूर्व जयदेव से बंग भाषा-भाषी परिचित ही नहीं प्रभावित भी थे। चण्डीदास की पदावली की भी गहरी छाप यहाँ पड़ चुकी थी।

बंगाल की वैष्णव पदावली की परम्परा (जो चैतन्य पूर्व से चली आ रही थी) चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से और भी भावपूर्ण एवं प्रवाह्युक्त होकर आगे बढ़ती है। विद्यापति के पदों पर झूमने वाले महापुत्र को उनके जीवन काल में ही अनेक महान कवि प्राप्त हो गये जिन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का बंगाल तथा ब्रजबुली में रस से सरो-बोर चित्रण तो किया ही साथ ही गौरांग महाप्रभु पर भी अनेक पद या ग्रन्थ लिख कर उनकी माधुर्य भक्ति का प्रचार किया। यहाँ हमारा सम्बन्ध इस साहित्य से विशेष नहीं है अतः केवल कुछ प्रमुख कवियों का नामोल्लेख मात्र ही किया जा रहा है। ये कवि हैं—

मुरारि गुप्त, घोष बन्धु वासुदेव, माधव तथा गोविन्द (जिनमें माधव को ही सफल कवि कहा जा सकता है) रामानन्द वसु, वंशीवादन, वृन्दावन दास, द्विज हरिदास, पुरुषोत्तम, परमानन्ददास, ज्ञानदास (जिन्हें अब तक के कवियों में सर्वाधिक आदर दिया गया था) अनन्तदास, बलरामदास, (जो वात्सल्यरस के मर्मज्ञ थे) जगन्नाथ दास, कानूरामदास, नरोत्तम दास, कृष्णदास कविराज (जिन पर प्रारम्भ में ही प्रकाश डाला जा चुका है) गोविन्द दास (जिन्हें बहुत अधिक महत्व दिया गया था) राधा-वल्लभदास, आदि। इनके अतिरिक्त भी अनेक कवि वैष्णव पदावली की परम्परा को आगे बढ़ाते रहे।

१५ : महाराष्ट्र--उत्कल तथा आसाम में वैष्णव धर्म

जैसे-जैसे 'भागवत' पुराण का प्रचार बढ़ता गया वैसे-वैसे देश के कोने-कोने में वैष्णव धर्म का प्रचार भी होता गया। कहीं प्राचीन स्थानीय धर्म-मतों ने अपने प्राचीन मत में कुछ हेर-फेर करके इसे स्थान दिया, तो कहीं किसी सर्वथा नवीन वैष्णव मत की ही स्थापना की गई जिसमें पूर्व प्रचलित साधनाओं को या तो बिल्कुल त्याग दिया गया या फिर उन्हें पूर्णतया वैष्णवात्मक बना लिया गया। महाराष्ट्र में हम इन दोनों प्रकार के कुछ महत्वपूर्ण मतों का अस्तित्व पाते हैं।

अपने साम्प्रदायिक इतिहास का बहुत पीछे—हजारों वर्ष पीछे ले जाने वाले बारकरी पंथ का नाम महाराष्ट्रीय सम्प्रदायों में विशेष उल्लेखनीय है। इस सम्प्रदाय में कृष्ण भगवान के बाल रूप 'विट्ठल' (विठोबा) उपासना की जाती है जो इसका प्रसिद्ध तीर्थ स्थान पंढरपुर है। सम्प्रदाय के आदि महात्मा पुण्डरीक माने जाते हैं जिनके लिए विट्ठल रूप में भगवान प्रकट हुए थे। 'विठोबा' भगवान की उपासना तथा तत्सम्बन्धी बारकरी सम्प्रदाय के मूल को बहुत पीछे तक सिद्ध करने की चेष्टाएँ की गयी हैं। ऐसे प्रयास बहुधा साम्प्रदायिक स्तर पर ही किये गये हैं। किन्तु मध्यकालीन बारकरी सम्प्रदाय पूर्णतया संतज्ञान देव का ऋणी है। तभी से इसका क्रमबद्ध इतिहास भी प्राप्त होने लगता है। बारकरी संतों का मत उत्तर भारत के संतों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। जो इनके पारस्परिक आदान-प्रदान का प्रतिफल है।

संत ज्ञान देव—तेरहवीं शताब्दी (१२७५-१२९७ ई०) में, महाराष्ट्र में संत ज्ञान-देव का आविर्भाव हुआ था। इनके जन्म के पूर्व ही यहाँ पंढरपुर में विट्ठल-पूजा प्रचलित थी। प्रारम्भ में इन पर गोरखपंथी योगियों का पूरा प्रभाव था और इन्हीं की भाँति इनके तीनों भाइयों पर भी उक्त पंथ की छाप थी। पर इस मार्ग में संत ज्ञानदेव ने भक्ति का सम्मिश्रण करके एक नई लहर प्रवाहित कर दी। अपने तीनों भाइयों को भी इन्होंने भक्ति के प्रचार में लगा दिया। शीघ्र ही इन्हें महाराष्ट्र में इतनी अधिक ख्याति प्राप्त हो गई कि उसी समय इनसे सम्बन्धित अनेक अलौकिक कथाएँ गढ़ ली गईं। इतना ही नहीं इन्हें सम्प्रदाय में विष्णु का ग्यारहवाँ अवतार भी माना जाने लगा।

इसमें तो सन्देह नहीं महाराष्ट्र में भागवत धर्म के इस प्रथम ऐतिहासिक प्रचारक ने अपनी २२ वर्ष की अल्पायु में ही सम्प्रदाय-संगठन तथा साहित्य-सृजन में जिस अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया था वह साधारण कोटि में कदापि नहीं रखी जा सकती है।

इसी अल्पायु में इन्होंने 'भावार्थदीपिका' ('गीता' की 'ज्ञानेश्वरी' नामक व्याख्या) 'अमृतानुभव', 'हरिपाठ', 'चांगदेव पासण्टी', आदि प्रमुख ग्रन्थों की रचना की थी। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी इनके लिखे बताये जाते हैं। अभंगों की रचना में तो इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है और सरलता के कारण इनका महाराष्ट्र में प्रचार भी बहुत अधिक हुआ है। 'ज्ञानेश्वरी' तो मराठी साहित्य की एक अमूल्य निधि है जो महाराष्ट्र के संतों के लिए प्रमाण ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। साथ ही यह साहित्यिक दृष्टि से भी एक सफल रचना कही जा सकती है।

संत ज्ञानदेव के ही समकालीन थे नामदेव जिन्होंने हिन्दी में भी रचना की थी अतः उनका संक्षिप्त विवरण हिन्दी प्रदेश के संत कवि के साथ दिया गया है।

एकनाथ (१५३३-१६०० ई०) प्रारम्भ से ही 'भागवत' का वारकरी सम्प्रदाय में 'गीता' तथा 'भागवत' को प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया जाता रहा और संत ज्ञानदेव के पश्चात् तो 'गीता' का और भी महत्व मिल गया। किन्तु १६वीं शताब्दी तक आते-आते सम्प्रदाय के सामान्य भक्तों के अतिरिक्त संतों पर भी 'भागवत' का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हो गया। इसका बहुत कुछ श्रेय एकनाथ जी को दिया जा सकता है जिन्होंने 'भागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध को मराठी भाषा में छन्दबद्ध किया और इसे 'नाथ भागवत' नाम दिया। सोलहवीं शताब्दी के बाद का वारकरी सम्प्रदाय 'भागवत' के इसी मराठी रूप को सामने रख कर प्रगति करता रहा है। पर उसकी प्राचीन परम्परा का भी लोप नहीं हो जाता है क्योंकि स्वयं एकनाथ जी भी रागानुगामित के साथ-साथ अन्यान्य निर्गुणिया संतों की भाँति अद्वैत भाव का भी प्रचार करते रहे। 'रुक्मिणी स्वयंवर' तथा 'भावार्थ रामायण' इनके दो प्रसिद्ध मौलिक ग्रन्थ हैं। साहित्य द्वारा तो इन्होंने महाराष्ट्र में भक्ति का प्रचार किया ही तीर्थ-यात्रा द्वारा भी इन्होंने इसका प्रचार किया था।

तुकाराम—(१६०८-१६५० ई०) वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास में संत तुकाराम का नाम उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। यह इन्हीं की सेवाओं का फल है कि वारकरी सम्प्रदाय को बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हो गई। अब महाराष्ट्र के एक बहुत बड़े भाग पर तुकाराम अभंग गूँजने लगे। इन्हीं महानुभाव ने शिवाजी को रामदास से दीक्षा लेने का परामर्श दिया था। इस घटना से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि तुकाराम का प्रभाव-क्षेत्र केवल साधारण जनसमुदाय तक ही नहीं सीमित था प्रत्युत अगुआ लोग भी इनसे उपदेश लेने आते रहे।

परवर्ती संतों ने भी तुकाराम का बहुत बड़ा आभार स्वीकार किया है और बहिणाबाई ने तो सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण आचार्यों के साथ इनका नाम इस प्रकार आदर से लिया है—

संत कृपा झाली इमारत फला पाली ॥

ज्ञान देवें रचिला पाया, रचि मेलें देवाल्या।

नाभा तथा चा किकर, तेणें केला हो विस्तार।

जनार्दन एकनाथ ध्वज उभारिला भागवत।

भजन करो सावकाश, तुका झाला से कलश ॥ १

वारकरी सिद्धान्त—यह वास्तव में एक विशिष्ट आचार प्रधान सम्प्रदाय है न कि कोई दार्शनिक मतवाद। इस सम्प्रदाय के आराध्यदेव हैं वाल कृष्ण के ही स्वरूप विठोवा या विट्ठल भगवान। संत तुकाराम ने वि=पक्षी, (गरुड़), ठोवा=वाहन—इस प्रकार विठोवा का अर्थ गरुड़ वाहन दिया है। इस सम्प्रदाय में मध्यकालीन संतों की भाँति राम-कृष्ण को अवतार मानते हुए अद्वैत मत को स्वीकार किया गया है। यह 'गीता' और 'भागवत' के सम्मिलित प्रभाव का ही प्रतिफल है।

साधना-क्षेत्र में भक्ति को ही सब कुछ स्वीकार किया गया है और इसके उदर से ही ज्ञान का जन्म और उसका महत्व सम्भव है। रागानुगा भक्ति को यहाँ महत्व दिया गया है पर वह सगुणोपासकों के समान न होकर संतों की भक्ति से मेल खाती है। यदि इनकी भक्ति को भी 'अभेद भक्ति' कहा जाय तो अनुचित न होगा। स्वधर्म पालन को यह बहुत महत्व देते हैं। यह भी 'गीता' का ही प्रभाव है। वर्णानुसार कार्य करते हुए नाम स्मरण, कीर्तन, भजन द्वारा भगवान की भक्ति करने का उपदेश लगभग सभी वारकरी संतों ने दिया है। निवृत्ति मार्ग को अपना कर प्रवृत्ति के प्रति ही आग्रह है। कीर्तन ठीक उसी प्रकार अपने संतों के गीत गाते हैं जैसे उत्तर भारत के अन्य संतमत वाले अपने गुरुओं के वचनों को पढ़ते सुनते थे। एकादशी व्रत का यहाँ बहुत बड़ा महत्व है और सभी संतों ने इसकी महिमा गाई है। इसे वैकुण्ठ का महापथ तक घोषित किया गया है। तुकाराम के शब्दों में ही वारकरी मत है—

आम्ही तेणे सुखी म्हाणा विट्ठल मुखी।

कंठी मिरवा तुलसी व्रत करा एकादशी ॥

वारकरी सम्प्रदाय, जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है, आचार प्रधान सम्प्रदाय है और आचार मत सम्प्रदायों में मतभेद बड़ी तीव्र गति से उठते हैं। उक्त सम्प्रदाय में भी इसी दृष्टि से विभेद उत्पन्न हुए और इसके चार प्रमुख उप सम्प्रदाय हो गये—(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनन्द तथा (४) प्रकाश। चैतन्य मत वाले आदिनाथ, गोरखनाथ आदि को अपने प्रारम्भिक गुरु मानते हैं और 'ज्ञानेश्वरी' द्वारा यह ज्ञात होता है कि स्वयं ज्ञानदेव भी इसी शाखा से सम्बन्धित थे। तुकाराम का भी सम्बन्ध इसी शाखा से था। सम्भवतः यही शाखा प्राचीन भी रही होगी। रामानुजाचार्य तथा रामानन्द स्वामी के अनुयायियों द्वारा स्वरूप सम्प्रदाय की स्थापना हुई। आनन्द तथा प्रकाश शाखा को बहुत अधिक प्रसार नहीं मिल सका है।

इन सभी उपसम्प्रदायों में केवल कुछ मंत्रों का भेद है और टीका-चन्दन में थोड़ा अन्तर है। मूल प्राण सब का एक ही है। सभी गृहस्थ जीवन को महत्व देते हुए भक्ति साधना का उपदेश देते हैं।^१

१ पं० बलदेव जी उपाध्याय ने वारकरी मत की निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के सम्बन्ध में दो विरोधी वक्तव्य भूल से दिया है—

“तथ्य यह है कि यह पंथ (वारकरी पंथ) निष्कास कर्म की शिक्षा सर्वतोभावेन देता है। यह पूर्ण प्रवृत्ति-मार्गी है यह सन्यास वृत्ति का कभी उपदेश नहीं करता।”

—भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५८८-८९

“वारकरी सम्प्रदाय पूर्णरूप से निवृत्तिपरक है”.....।” वही पृष्ठ ६०३

रामदास (१६०८-१६८१ ई०)—रामदासी सम्प्रदाय के स्थापक रामदास जी का नाम भी मराठा संतों में आदर के साथ लिया जाता है। इनका तथा शिवाजी का ऐतिहासिक सम्बन्ध प्रसिद्ध है। इनका मत भी आचार प्रधान है, जिसमें नैतिकता, राष्ट्रीयता तथा कुल मिला-जुलाकर भारतीय आदर्शवाद को मूलाधार बनाया गया है। अन्यान्य संतों की भाँति इन्होंने भी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति पर साथ-साथ बल दिया है। भगवान रामचन्द्र ही इनके आराध्य देव हैं और 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' ही 'रामदासियों' का मूलमंत्र है।

उत्कल का वैष्णव धर्म

महाराष्ट्र की भाँति उत्कल प्रदेश के वैष्णव धर्म का इतिहास भी काफी पीछे तक पहुँचाया गया है, पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु का लाख विरोध करने वाला उत्कल प्रदेश अन्त में इनकी प्रेरणा से ही पूर्ण वैष्णव होता है। यहाँ बलरामदास, अनन्तदास, यशोवन्तदास, जगन्नाथदास तथा 'अच्युतानन्ददास'—इन पाँच शाखाओं ने ब्रज भाषा के अष्ट छाप कवियों की भाँति उत्कलीय भाषा साहित्य की अभिवृद्धि की है। इन्हीं पंच शिखाओं के नाम पर 'पंच सखा' धर्म की स्थापना हुई थी जिसका समय १६वीं शताब्दी का प्रथम चरण ठहरता है।

बौद्धों एवं सिद्धों का प्रभाव इस धर्म पर बहुत अधिक पड़ा है और यही कारण है कि ये सगुण ब्रह्म के साथ निर्गुण को भी महत्व देते हैं और वर्णाश्रम धर्म की कठोरता का पालन नहीं करते। इस धर्म के साहित्य में तंत्र-मंत्र सम्बन्धी शब्दों का भी बाहुल्य है।

'शून्य पुरुष' की लीला का चित्रण भी बहुत रोचक ढंग से किया गया है और यही इनका परमतत्व है। पर इसका पर्यावसान वे राम और राधा-कृष्ण में करके भक्ति की ओर उन्मुख हो जाते हैं। राधाकृष्ण की उपासना तो पूर्णतया चैतन्य मत का ही प्रभाव है दर्शन के क्षेत्र में इनकी कोई अपनी मौलिकता नहीं है और यह भी आचार प्रधान सम्प्रदाय है।

असम का वैष्णव धर्म

शंकर देव—पन्द्रहवीं शताब्दी में असम के शक्ति प्रधान प्रदेश में शंकर देव ने सर्व प्रथम वैष्णव धर्म का प्रचार 'महाधर्म' की स्थापना करके की थी। 'भक्ति रत्नाकर' की रचना करके इन्होंने कृष्ण की लीलाओं से असमवासियों को परिचित कराया। यह ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया था जिसका असमिया अनुवाद श्री रामचरण ठाकुर ने प्रस्तुत किया। तीन अन्य ग्रन्थों—'कीर्तन' 'दर्शन' तथा 'नाम घोष' का भी असम के वैष्णवों में काफी प्रचार है।

'भागवत' की ही पूरी-पूरी छाप महाधर्म पर दिखाई पड़ती है। दार्शनिक दृष्टि से यहाँ अद्वैत भाव को ही अपनाया गया है और परमतत्व श्री कृष्ण को मानकर उनकी प्राप्ति का एकमात्र साधन भक्ति को ठहराया गया है। शंकरदेव ने 'भागवत' के ही सिद्धान्तों को अपने शब्दों में दुहराया है। नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण को महत्व दिया गया है यद्यपि कृष्ण आराध्य देव हैं पर युग की बहती हवा से यह धर्म बहुत अधिक प्रभा-

वित नहीं हुआ है और यहाँ राधा को यह महत्व नहीं दिया गया है जो तत्कालीन अन्य वैष्णव धर्मों में दिया गया है। इस सम्प्रदाय में सर्वोच्च भावना है 'एकशरण' या आत्म-समर्पण की। शरण की इसी भावना को महत्व देते हुए इस सम्प्रदाय के भक्तों को 'शरणिया' कहा जाता है। मधुरोपासना की ओर न झुक कर ये 'शरणिया' स्वभावतः दास्य भक्ति की ओर आकृष्ट हुए हैं।

शंकरदेव के मत का प्रचार करने में उनके शिष्य माधव देव ने भी पर्याप्त सहयोग दिया था। वास्तव में असमिया वैष्णव धर्म के उद्भव और अवकास का पूरा-पूरा श्रेय इन्हीं दोनों भक्तों को दिया जा सकता है जिन्होंने 'महाधर्म' को आगे बढ़ा कर और कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य की रचना करके आसाम में वैष्णव धर्म की सरिता प्रवाहित की थी।

१६ | राम भक्ति शाखा के हिन्दी कवि

(क) मर्यादोपासना शाखा

महात्मा तुलसीदास—(सन् १५३०-३२-१६२३ ई०) हिन्दी में फुटकल राम-भक्ति साहित्य का सूत्रपात हम रामानन्द से ही मानते हैं, किन्तु साहित्य तथा सम्प्रदाय दोनों दृष्टियों (रसिक सम्प्रदाय को छोड़ कर) हम महात्मा तुलसीदास को सर्वप्रथम स्थान देंगे जिन्होंने १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया लोकोन्मुख करते हुए अब तक की सारी सामाजिक दुर्बलताओं को, सारी धार्मिक विडम्बनाओं एवं कुरीतियों को एक समाज-मुधारक एवं धर्मोपदेशक के रूप में, सफल लोकनायक की भाँति समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया और जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली। आज का उत्तरी भारत महात्मा तुलसीदास की देन है, यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विषमताओं के कुष्ट रोग से पीड़ित समाज को उस समय तुलसी जैसे व्यक्तित्व की ही आवश्यकता थी। भक्ति आन्दोलन को भी इनकी आवश्यकता अनिवार्य थी— ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रथम शताब्दी ई० से आठवीं शताब्दी ई० तक के युग को वैष्णव गुराणकारों की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था, जो ज्ञान, भक्ति और कर्म के समुचित समन्वय द्वारा वैदिकता की पूर्ण रक्षा एवं वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ स्थापना करते हुए भक्ति का मार्ग सरलतम बनाकर, इसे बौद्ध, जैन, या तंत्र प्रभावित पाँचरात्र आगमों से बचाकर और कहीं-कहीं उनसे समझौता करके समाज का नेतृत्व कर सके थे और उसके सम्मुख एक ऐसा सरल पथ रख सके थे जिस पर राजा-रंक-फकीर सभी चल सकते थे। महात्मा तुलसीदास को भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में उपर्युक्त दृष्टि से यदि कलियुग का व्यास कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों एवं उनकी साधना-पद्धतियों से उस युग में और उसके पूर्व भी जो साहित्य रचा गया था उसमें लोक-कल्याण की पूर्ण उपेक्षा की गई थी। उदाहरणार्थ पूर्वमध्यकालीन संतधारा से प्रभावित हिन्दी के निर्गुणिया कवि कबीर, दादू आदि के साहित्य में लोक धर्म की अवहेलना की गई थी, वल्लभ सम्प्रदाय के कवि भी लोकरंजन की दृष्टि से ही सफल सिद्ध हुए, वहाँ भी लोक-कल्याण की कोई गुंजाइश नहीं थी और सूफी प्रेममार्गी कुतबन, मंजन, जायसी आदि तो केवल लौकिकता या अलौकिकता की छाप भर लगाकर रह गये थे। उधर बहुत पहले से चले आने वाले नाथों ने समाज को केवल भुलावा और बहुकावा ही दिया था, जिससे जनता अंधी भेड़ बनी हुई तरह-तरह की करामातों को साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ बिरले रहस्यदर्शी लोगोंका ही काम समझने लगी थी।^१ ऐसी ही अवस्था में महात्मा तुलसीदास का आविर्भाव हुआ था और उन्होंने इन सारी धार्मिक एवं सामाजिक दुर्बलताओं को पहचाना था। उन्हें इन सब का परिशोधन करना था और एक ऐसे मार्ग का निर्माण भी करना था जो सर्वथा तत्कालीन परिस्थितियों के

अनुरूप होते हुए भी समाज को उच्च नैतिक आदर्शों की भाव-भूमि पर बिठा सके। इसके लिए, जैसा कि सर्वविदित है उन्हें मध्य मार्ग का अनुसरण करना पड़ा। सामाजिक गुत्थियों के साथ-साथ अनेक दार्शनिक गुत्थियाँ भी उस समय अनसुलझी रह गई थीं। शैव-वैष्णव का वितण्डा, द्वैत-अद्वैत का झगड़ा, सगुण-निर्गुण का विवाद तथा राम-कृष्ण का द्वन्द्वात्मक आकर्षण तो समाज के सम्मुख था ही, इन तात्त्विक गुत्थियों के साथ-साथ साधनात्मक वैमिन्य भी कम मार्मिक एवं सामाजिक वैषम्य नहीं उपस्थित कर रहा था। दुर्भाग्यवश आर्थिक विपुलता इन परिस्थितियों के परिणामों में उत्तरोत्तर तीव्रता लाती जा रही थी। और उधर साहित्यकार या तो दूर से खीझकर झाड़ू-फटकार सुनाकर चल देते रहे या फिर आँख मूंद कर भजन-कीर्तन में आत्मविभोर होते रहे। समाज की ओर विशेषतया उन धार्मिक एवं सामाजिक दुर्बलताओं की ओर उदार दृष्टि से देखने की किसी ने चेष्टा नहीं की थी। जिन निर्गुणिया संतों ने इधर कुछ ध्यान भी दिया था तो उनकी भाषा इतनी चिढ़ाने वाली थी कि वे केवल अपने आक्रोश का इतिहास भर छोड़ सैद्धान्तिक दृष्टि से समाजसुधारक भर कहला सके, वास्तविक सुधार इन्हीं महात्मा ने किया था। अपने महान व्यक्तित्व, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अद्भुत काव्य शक्ति से महात्मा तुलसीदास ने दर्शन, साहित्य और समाज को कुल मिला-जुला कर भक्ति-आन्दोलन के सम्मिलित स्वरूप को अपने ढर्रे पर ढाल कर सब पर, अपनी छाप लगा दी और इनका अपना था लोक। इसी लोक के हित के लिए इन्होंने हर दार्शनिक मतवाद की मान्यताओं एवं स्थापनाओं को कुछ ऐसा लोकोन्मुख कर दिया कि तुलसी के मर्मज्ञों को उनका दर्शन कभी समन्वय-वाद और कभी विशुद्ध लोकोन्मुख दर्शन दिखाई देने लगा। यदि सच पूछा जाय तो तुलसी जिस उद्देश्य को लेकर चल रहे थे और उस उद्देश्य में उनको जैसी आशातीत सफलता मिली थी, उसे देखते हुए दर्शन के किसी एक चौक में उन्हें बाँध देना सरल नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक कवि की दृष्टि से भी ये उतने ही विलक्षण हैं और इन्हें किसी एक परम्परा में नहीं बाँधा जा सकता। वीर-गाथा काल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंगूआदि भाटों की कविता-संबैया-पद्धति, अपभ्रंश कालीन दोहा-पद्धति, मंझन-जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति के साथ-साथ लोक-छन्द सोहर की शैली भी तुलसीदास के वृहत् साहित्य भण्डार में उपलब्ध है। किन्तु यह सब तो ऊपरी बात हुई। तुलसी साहित्य की आत्मा में हमें उस पौराणिक तथा प्राचीनतम भावाभिव्यक्तियों के प्रसाधनों की स्पष्ट झलक मिलती है जो धार्मिक एवं लौकिक साहित्य में प्राचीन संस्कृत-युग से ही चले आ रहे थे। विशेषतः मानस महाकाव्य में हमें ये प्रसाधन एक ही स्थल पर नियोजित मिलते हैं। यहाँ 'महाभारत' की घटनाप्रधान विवरणात्मक शैली, उपनिषदों तथा 'गीता' की वार्तालाप या कथनोपकथन प्रधान उपदेशात्मक शैली तथा पुराणों की (विशेषतया 'भागवत' पुराण की) सरस भावात्मक शैली का समन्वित रूप देखने को मिलता है। 'मानस' में मूल कथा से निस्सृत अवान्तर या सम्बन्धित लघु कथाओं की योजनाएँ 'महाभारत' की स्मृति दिला देती हैं, भुशुण्डि-गरुड़ संवाद तथा इसी कोटि के अन्य कथोपकथन उपनिषद तथा 'गीता' की ओर ध्यान आकृष्ट करा देते हैं और कलि-

युगवर्णन, वर्णाश्रम धर्म, श्रुति सभ्यता तथा ज्ञान एवं कर्म पर भक्ति की स्थापना के प्रयत्न बरवश हमें वैष्णव पुराणों की ओर खींच ले जाते हैं। वास्तव में महात्मा तुलसीदास के युग में, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न हो गई थीं जिनके लिए उन्हें वे सारे प्रसाधन अपनाने पड़े जिन्हें पूर्ववर्ती शास्त्रकारों ने अपनाया था। तब बौद्धों, जैनियों, कर्मकाण्डियों अथवा फिर पुराणों के युग में इन तीनों के साथ-साथ शुष्क ज्ञानवादियों एवं तांत्रिकों से भक्ति की रक्षा करनी थी तो महात्मा तुलसी को इन्हीं के विकृत रूपों और उप सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित वितण्डावादों से निपटना था।

इन्होंने बारह ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें दोहावली, कवित रामायण, गीतावली, रामचरितमानस तथा विनयपत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं और रामलला-नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवैरामायण, वैराग्य संदीपनी, कृष्ण गीतावली तथा रामाज्ञाप्रश्नावली छोटे ग्रन्थों में गिने जाते हैं। कुछ विद्वान इनके लिखे अन्य कई ग्रन्थों का भी उल्लेख करते हैं।

अन्त में हम महात्मा तुलसीदास के उन प्रमुख विचारों पर ध्यान देंगे जिनसे पूर्वोक्त विषम परिस्थितियों से होकर चलने वाले समाज को एक बहुत बड़ा सम्बल मिला और संग-संग भक्ति-आन्दोलन को भी एक नई प्रगति मिली।

एक बात का उल्लेख तो प्रारम्भ में कर देना ही आवश्यक है कि तुलसीदास ने अपने साहित्य के लिए जिस मर्यादापुरुषोत्तम, लोक-कल्याणकारी, परमपिता परमेश्वर भगवान राम को आधार बनाया था उनका पूरा जीवन ही इन समस्त समस्याओं का स्वतः समाधान था। अन्य किसी पौराणिक चरित्र में वे गुण नहीं प्राप्त थे जिनके चित्रण से आवश्यकता की पूर्ति हो सकती।

जीवन के प्रति जो नैराश्य छाया हुआ था, उसे आशा में परिवर्तित करना नितान्त आवश्यक था। अतः तुलसीदास ने 'बड़े भाग मानुष तन पाया, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा' स्वयं भगवान राम से कहला कर हतोत्साहित मनुष्यों में नवस्फूर्ति का संचार किया। और धर्म-साधना के विभिन्न खर्चीले या उलझन पैदा करने वाले टेढ़े-मेढ़े साधनों के प्रचारकों के मोह-जाल में पड़ कर साधना को दुरुह समझने वालों को यहीं यह भी विश्वास दिला दिया कि यह 'मानुष तन' ही 'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा' है। विषयवासनाओं या फिर स्वर्ग के भोगों की कामना में लगे हुए लोगों को यह स्पष्ट चेतावनी दी गई—

एहि तन कर फल विषय न भाई।

स्वर्गउ स्वल्प अंत दुख दाई॥

तुलसीदास ने भगवान राम से यहाँ तक कहलाया कि—

जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाइ।

सो कृत निदक मंदमति आतमा-हृत्-गति जाइ॥

भगवान राम ने मनुष्यों को नर तन पाकर भी मुक्ति लाभ से वंचित रह जाने पर इस-लिए भी यह उक्ति कही है कि वे अपनी समस्त रचनाओं में मनुष्य को ही सर्वप्रिय मानते हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाये ।

सबसे अधिक मनुज मोहि भाये ॥

हानि का भय मनुष्य को सदा बना रहता है। अतः तुलसीदास ने इसका भय भी दिखाते हुए कहा—

हानि कि जग एहि सम कछु भाई ।

भजिय न रामहि नरतनु पाई ॥

इस प्रकार तुलसीदास ने समस्त नर समाज को यह पूर्ण विश्वास दिलाया कि मनुष्य तन से ही भवसागर तरा जा सकता है। यहाँ केवल व्यक्ति तक ही तुलसीदास का उक्त कथन सीमित नहीं है, प्रत्युत उन्होंने 'नर समाज' कह कर मानव की समाजिकता को भी लक्ष्य किया है और सम्पूर्ण मानव समाज की महत्ता स्थापित की है पत्नीहीन होने और सम्पत्तिहीन होने पर मूँड़ मुड़ाकर सन्यासी हो जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि 'नर समाज' में ही भवसागर से पार उतरने की व्यवस्था तुलसी ने कर दी थी। वह व्यवस्था, वह मार्ग कितना सरल है—

जो परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनिमम बचन हृदयदृढ़गहहू ॥

सुलभ सुखदमार्गयहभाई। भगति मोरि पुरान स्तुति गाई ॥

ज्ञान अगम प्रत्यूह अनका। साधनकठिनन मन कहँटेका ॥

करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगतिहीनमोहिप्रियनहिंसोऊ ॥

भगति सुतंत्र सकलसुख खानी।.....

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोगनमख जपतप उपवासा ॥

और यदि कुछ 'प्रयास' भी है तो बस इतना ही—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥

बयन विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥

अनारभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ विज्ञानी ॥

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा ॥

भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥

मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता-मद मोह।

जिन लक्षणों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे कितने स्वस्थ और उच्च नैतिक आदर्श के प्रतीक हैं, यह स्वतः स्पष्ट है। तुलसीदास जहाँ भक्ति का मार्ग दिखाते रहे, वहीं वे समाज-निर्माण के प्रसाधन भी जुटाते रहे। उपर्युक्त आचरणों के ही वश में स्वयं भगवान रामचन्द्र भी हैं, यह इसी स्थल पर कहलाया गया है—

बहुत कहँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई ॥^१

उच्च सामाजिक आदर्शों की स्थापना करते हुए महाकवि ने 'उत्तरकाण्ड' में ही सन्त-असंतों का लक्षण बतलाते हुए भगवान राम से ही कहलाया है—

१. उक्त उद्धरणमानस के उत्तरकाण्ड-राम द्वारा भक्ति निरूपण से लिए गये हैं।

संत असतन्ह के असि करनी । जिमिकुठार चन्दन आचरनी ॥

काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देई सुगंध बसाई ॥

विषय अलंघ्य सील गुनागर । परदुख दुख सुख सुख देखे पर ॥

सामाजिकता की इसी भावना को महान मानव धर्म घोषित करते हुए आगे कहा गया—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

पर जो लोग इस सामाजिक तत्व के विरोध में जाते हुए उदारता, सहिष्णुता आदि गुणों को त्याग देते हैं उनकी गति है—

करहिं मोह बस नर अध नाना । स्वारथरत परलोक नसाना ॥

काल रूप तिन्ह कह सैं भ्राता । सुभ अरु असुभ करम फलदाता ॥

भले ही कुछ विद्वान इसे उस राजनीतिक प्रपीड़न की ओर लक्षित मानें पर इन पंक्तियों का आदर्श समाज की स्थापना में भी कम महत्व नहीं है ।

विभिन्न वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का प्रचार अवश्य किया था और पुराण युग से ही इस मार्ग को ज्ञान एवं कर्म मार्ग के ऊपर स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया था किन्तु न तो मध्यकाल तक पुराणों को ही समाज अपना पा रहा था और न आचार्यों का स्वर ही जन-जन के हृदय को व्यापक रूप में स्पर्श कर पाया था । पर लोक भाषा में लिखा गया तुलसी का मानस पुराणों तथा आचार्यों के उद्देश्यों की पूर्ति में पूर्णतया सफल हुआ । इस सरल पथ का यदि किसी भक्त गायक ने सर्वाधिक प्रचार किया तो वे महात्मा तुलसी हैं । जिसके आराध्य देव ने भक्ति पक्ष में इतना ललकार कर कहा था भक्तिहीन ब्रह्मा भी साधारण जीवों-सा ही प्रिय है, अधिक नहीं—

भगतिहीन विरचि किन होई । सबजीविहिसमप्रिय मोहिसोई ॥

जब कि—

भगतिवत अति नीचहु प्रानी । मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी ॥

इतना ही नहीं, पुराणकारों ने जिस प्रकार घोर कलियुग का चित्रण किया था और समाज में इस युग के प्रति जो हेय धारणा बन चुकी थी उससे भी कम नैराश्य नहीं फैला था । महात्मा तुलसीदास ने उसी परम्परानुसार कलियुग का चित्रण तो किया और ठीक भागवतकार की भाँति ही तीनों युगों की धर्म साधनाओं का इस प्रकार चित्रण किया—

कृतयुग सब जोगी विग्यानी । करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी

त्रेता विविध जग्य नर करहीं । प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं ॥

द्वापर करि रघुपति पद पूजा । नर भव तरहिं उपाउन दूजा ॥

किन्तु 'कलियुग' के नेराश्य से हृत्प्रभ समाज को तुलसी ने भक्ति का विविध आडम्बर नहीं दिखाया, वरन् एक ऐसी सरल पद्धति बताई कि इस सरलतम मार्ग के कारण कलियुग के आगे अन्य युग तुच्छ हो गये—

अलियुग केवल हरिगुन गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ॥

कलियुग जोग न जग्य न ग्याना । एक अधार राम गुन गाना ॥

सब भरोस तजि जो भज रामहि । प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि ॥

सोइ भव तर कछु संसय नहीं । नाम प्राप्त प्रगट कलि माही ॥

कलि कर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुंथ्य होइ नहि पापा ॥

कलिधुग जुग सम जुग आन नहिं । जो नर कर बिध्वास ।

गाइ राम गुन बिसल । भवतर बिनहिं प्रयास ।

मध्यकालीन धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन करते समय हमें यह ज्ञात हुआ था कि उस समय जैवों ने कहीं-कहीं वैष्णवों के प्रति आक्रामक नीति अपना ली थी और इसी प्रकार ज्ञानमार्गियों ने भी भक्ति पर कुछाघात करना आरम्भ कर दिया था। महात्मा तुलसीदास पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने भी अपने सरलतम भक्तिमार्ग पर आँच न आने देने के अभिप्राय से ज्ञान मार्ग का उतना ही दुरुह चित्रण किया जितना तांत्रिकों ने इडा-पिंगला सुषुम्ना का गूढ़तम विवरण प्रस्तुत किया था। उत्तरकाण्ड में काक भृशुण्डि और गरुड़ के वार्तालाप में काकभृशुण्डि द्वारा “भगतहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा”—कहला कर भी और तब ईश्वर के ही अंश जीव को चेतन, निर्मल, सुख की राशि आदि बताते हुए माया के कारण उसे आवद्ध बताकर और तज्ज-नित जड़ चेतन में पड़ी हुई गाँठ की ओर संकेत करके इस गाँठ को छुड़ाने का साधन ज्ञान को भी स्वीकार करते हुए जैसा कि ऊपर कहा गया है, काकभृशुण्डि महाराज स्वयं ज्ञान की गाँठें खोलते हैं। यह महात्मा तुलसीदास की कुशलता का ही प्रमाण है कि ज्ञान मार्ग को दुरुहतम सिद्ध करने के लिए उन्होंने इतना दुरुह पर यथार्थ एवं शास्त्रोक्त विवरण प्रस्तुत किया कि करने की तो बात छोड़ि सुनने से भी जी ऊब जाता—सात्विक श्रद्धा रूपी गाय के हृदय में बसने, वेदोक्त यम-नियम आदितृण खाने, भावरूपी बछड़े के पेन्हाने, निवृत्ति रूपी नोई से बाँधे जाने, विश्वास रूपी वर्तन में निर्मल मन रूपी दास अहीर द्वारा परम धर्ममय दूध दुहे जाने और निष्काम भाव रूपी अग्नि पर उस दूध को गरमाने, तत्पश्चात् सन्तोष एवं क्षमा रूपी वायु से उसे ठण्डा करने और घृति तथा शम रूपी जावन देकर जमाने और तब प्रसन्नता रूपी कमोरी में विचार रूपी मथानी से दम रूपी खम्भे के सहारे सत्य एवं सुन्दर वाणी रूपी रस्सी लगाकर मथे जाने के बाद जब वैराग्य रूपी मक्खन निकाल ले तो योगाग्नि प्रकट करके शुभाशुभ कर्म रूपी ईंधन लगावे और जब मक्खन का ममता रूपी मल जल जाय तो उस ज्ञान रूपी घी को निश्चयात्मक बुद्धि से ठण्डा करे। तब विज्ञान रूपिणी बुद्धि वह ज्ञान रूप निर्मल घी पाकर उससे चित्ररूपी दिया भर कर, समता रूपी दीवट बनाकर उस पर उसे रखे। तीन अवस्था (जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति) तथा तीन गुण (सत्व, रज, तम) रूपी कपास से तुरीयावस्था रूपी रुई निकाल कर और उसे धुन कर बड़ी बस्ती बनावे। इस प्रकार तेज की राशि विज्ञानमय बस्ती जलावे जिसके समीप जाते ही मदादि रूपी सभी पतंगे जल जायें ‘सोहमस्मि’ यह जो अखण्ड वृत्ति है वही परम प्रचण्ड लोह है। जब आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश होता है, तब संसार के मूल भेद-प्रेम का नाश हो जाता है, प्रबल अविद्या के परिवार मोह आदिका सघनअन्धकार मिट जाता है, तब वही विज्ञान रूपी बुद्धि अनुभव रूपी प्रकाश पाकर हृदय रूपी घर में बैठ उस गाँठ को खोलती है, किन्तु ज्ञानमार्गियों को तुलसी-

दास इतना सस्ते नहीं छोड़ देने वाले थे और उन्हें उनकी माया ठीक ऐसे ही समय पर जब गाँठ खुलने ही वाली होती है, नाना विघ्न उपस्थित करती है, ऋद्धि सिद्धियों का मोह धर दबाता है और इतने षट्कर्म करके जलाए हुए दीपक को भी अपने आँचल से बुझा देती है। और किसी प्रकार कोई बहुत बड़ा ज्ञानी इन प्रलोभनों तथा माया की आपत्तियों को रोक भी सका तो फिर इन्द्रियों के देवता विघ्न उपस्थित करते हैं और विषय रूपी हवा को आते देख वे बरबस द्वार (इन्द्रियों के द्वार) खोल देते हैं, जिससे स्वभावतः वह इतनी साधना से जला हुआ ज्ञान दीपक बुझ जाता है। पर यहीं अन्त नहीं। महात्मा तुलसीदास ने यह भी कह दिया कि अब जब एक बार विषय-समीर ने बुद्धि को बहका दिया तो फिर सारा जीवन वह ज्ञान-दीप नहीं जल सकता और ज्ञानवादी की गाँठ अनछूटी रह गई। मोक्ष नहीं मिला अन्त में—

कहत कठिन समुन्नत कठिन, साधन कठिन दिवेक ।

होइ घुनाक्षर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥

पर वही कितनी सफाई से बेलौस कह दिया—

रामभजत सोइ मुक्ति गोसाई, अनइच्छित आवइ बरिआई ॥

इतना ही नहीं, मोक्ष तो विवश है, वह भक्ति के बिना टिक ही नहीं सकता, रह ही नहीं सकता—

जिमिथल बिनु जल रहिन सकाई, कोटि भाँति कोउ करे उपाई ॥

तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई । रहिन सके हरि भगति बिहाई ॥

तब भला भक्त क्यों मुक्ति चाहने लगा, उसे तो केवल भक्ति ही चाहिए (मुक्ति निरादर भगति लोभाने) और इस भक्ति के लिए न कोई टण्ट-घण्ट और न कोई यत्न-प्रयास—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संस्तति मूल अविद्या नासा ॥

भोजन करिय तृप्ति हित लागी । जिसिसो असन पचवउ जठरागी ॥

माया मोह लोभ, काम क्रोध तो भक्ति के भय से कोसों दूर भागे रहते हैं। अब इससे अधिक धर्म साधना का स्वभाविक सरलीकरण और क्या हो सकता था, ज्ञान के ऊपर भक्ति की इससे जोरदार और क्या स्थापना हो सकती थी कि—

जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु लभ करहीं ॥

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी, खोजत आक फिरहि पथ लागी ।

ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी । पौरि पार चाहिंह जड़ करनी ॥

ऐसे एक दो नहीं अनेक स्थल तुलसीदास से उद्धृत किये जा सकते हैं जहाँ इन्होंने निर्गुणियों, ज्ञानियों या अन्य सम्प्रदायवालों की धर्म-साधनाओं को इसी बारी से काटते हुए भक्ति की सरलता और साथ-साथ महानता की सुदृढ़ स्थापना की है।

घर के भीतर बात करने वालों और अलख को लखने वालों को तुलसीदास ने सीधे कह दिया—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिर जानी हंराम, जो नाम लिए तें ।

पंज परे प्रह्लादहु के प्रगटे प्रभु पाहन ते, ना हिये ते ॥

तुलसी अलखे का लख राम नाम भजु नीच ।

निर्गुणिया भक्तों को तो यह बार-बार सूचित किया कि 'अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा' और 'अगुन सगुन बिच नाम सुखाखी उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी' कह कर तो इन्होंने सारा झगड़ा ही भगवान राम के नाम से जो स्वयं राम ने भी बढ़कर है, मिटा दिया। धार्मिक पुनर्जागरण की जो लहर बौद्ध, शैव तथा वैष्णव आचार्यों से प्रवाहित की थी और उसकी जो विभिन्न छोटी-बड़ी उप तरंगें उठ पड़ी थीं, उनके पारस्परिक मतभेदों के संघर्ष में भक्ति-पक्ष में मध्यकालीन अन्य भक्त कवियों को केवल गवाह रूप में ही रक्खा जा सकता है, जब कि तुलसी एक सफल वकील के रूप में खड़े होकर भक्ति की वकालत कर रहे थे। महात्मा तुलसीदास की साहित्यिकता या और उचित शब्द में काव्यात्मकता उन्हें कवि पद पर आसीन करने का आग्रह और मोह हम में भले ही भर दे, अन्यथा भक्ति-सम्बन्धी अब तक की समस्त मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को एक ही स्थल पर सफलतापूर्वक नियोजित करके इन्होंने भक्ति सिद्धान्त-निरूपण एवं प्रचार के लिए जो कार्य किया था उसे देखते हुए हम उन्हें रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ तथा रामानन्द आदि को आचार्य परम्परा में बिठा सकते हैं।

राम भक्ति के प्रचारकों में तो रामानन्द के बाद इन्हीं का नाम लिया जा सकता है। तुलसीदास ने भगवान राम को ही परम तत्व स्वीकार किया है। उनके राम का स्वरूप है—

सोइ सच्चिदानन्दधन रामा, अज विग्यान रूप बलधामा ॥

व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता । अखिल असोघ सक्ति भगवंता ॥

अगुन अदश्र गिरा गोतीता । समदरसी अनवद्य अजीता ॥

निर्भय निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख सन्दोहा ॥

प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी । ब्रह्म निरोह विरज अबिनासी ॥

पर इस निराकार ब्रह्म को भी साकार रूप में अवतरित होने का कारण है—

भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ।

किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥

मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम वपु धरी ॥

जब जब नाथ सुरन्ह दुख पावा । नाना तनु धरि तुमहि नसावा ॥

—अयोध्याकाण्ड

'मध्य युग की समस्त धर्म साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम-जप के बारे में किसी का कोई सन्देह नहीं। यह नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है'^१ और सारगर्भित वाक्य के साथ यह भी कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने 'मानस' में इस उपासना को पराकाष्ठा पर पहुँचाते हुए इसे ईश्वर की उपाधि और उसकी अभिव्यक्ति बताया है—

नाम रूप दुहुँ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥

नाम रूप गत अकथ कहानी । समुझत सुखद न परति बखानी ॥

अगन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुसाखी ॥
भगवान राम ही अपनी माया से जगत की सृष्टि करते हैं—

सम माया सम्भव संसारा । जीव चराचर विविध प्रकारा ॥
अखल बिस्व यह सम उपजाया । सब पर मोहि बराबर दाया ॥
और यह माया जो सारे संसार को नचा रही है, स्वयं भगवान राम के अधीन है—
जो माया सब जगहि नचावा । जामुचरित लखि काहुन पावा ॥
सोइ प्रभु भूबिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ॥
जीव के सम्बन्ध में तुलसी दास की स्पष्ट धारणा है—

ईश्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन असल सहज सुखरासी ॥
सो माया बस भयउ गोसाईं । बँधेउ कोर मरकट की नाईं ॥
और तभी 'जड़ चेतनहि ग्रन्थि पर गई' पर ग्रन्थि को तुलसीदास मिथ्या या भ्रम ही मानते हैं, हाँ इसके छूटने में अवश्य बड़ी कठिनाई और विघ्न-बाधा उपस्थित होती है और आदि काल से स्मृतियों और पुराणों ने छुड़ाने की चेष्टा की, (अनेकानेक पथ बनते रहे) पर छूटने को कौन कहे और उलझती ही गई—

स्मृति पुरान बँहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक उरझाई ॥
किन्तु इस ग्रन्थि को खोलने वाले हैं भगवान राम । उन्हीं की भक्ति से चड़-चेतन की ग्रन्थि का अन्त होगा—

जो चेतन कहँ जड़ करे , जड़हि करे चैतन्य ।
अससमरथ रघुनाथकहि , भर्जहि जीव ते धन्य ॥
तुलसीदास ने जगत को 'सियाराम मय सब जग जानी' कह कर जगत को सत्य ही नहीं, प्रत्युत बहुत ही ऊँचा उठा दिया है पर केवल उसी के लिए जो उसे सिया (प्रकृति) और राम (पुरुष या ब्रह्म) युक्त समझे । यहीं इस ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि प्रकृति और ब्रह्म का उन्होंने अभेद स्वीकार किया है । ये दोनों एक ही हैं । इसे ही क्रमशः अचित् और चित् कहा गया है । इन दोनों की एकता या अभिन्नता का द्योतक गोस्वामी जी का निम्न दोहा है—

गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।
बंदौ सीता-राम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न ॥

गोस्वामी जी ने भक्ति के समस्त साधनों का सुन्दर विवेचन किया और शास्त्रोक्त सभी भक्ति-रूप यहाँ प्राप्य हैं, किन्तु वे सेवक सेव्य भाव को ही प्रधानता देते हैं और आत्मसमर्पण में ही सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं । लोकधर्म की ओर उनकी दृष्टि सदा सामने रहती है और इसीलिए उन्होंने सारे प्रसाधनों से श्रेष्ठ सारे आडम्बरों से हीन सरल-तम पथ—नाम-जप का प्रचार किया । सम्पूर्ण तुलसी साहित्य (गीतावली लेकर भी जिसमें मधुरोपासना का अंकुर निहत् है) इसी नामोपासना का प्रचारक और प्रसारक है । यद्यपि कुछ रसिकों ने इनको भी अपने सम्प्रदाय में खींचने की चेष्टा की है और अनन्यमाधव ने तो इन्हें 'वृन्दासखी' का अवतार मानते हुए 'तुलसी सखी' तक की उपाधि दे डाली और

‘अनन्य’ जी ने ‘सकल सखियन में सिरोमनि दास तुलसी तुम रहो’ तक की कामना की पर शक्तिमान तुलसी ने कवि के रूप में भले ही मर्यादित एवं शिष्ट संयत शृंगार की योजना कहीं-कहीं कर दी हो, भक्त के रूप में वे सर्वत्र दास ही रहे, दासी भाव उस पौरुषवान में कहाँ।^१

भक्ति-आन्दोलन को महात्मा तुलसीदास की बहुत बड़ी देन है। इनके साहित्य और व्यक्तित्व से इन्हीं के जीवन-काल में ही लगभग सम्पूर्ण भारत प्रभावित हो उठा था। अनेक तीर्थ स्थानों के भ्रमण तथा साधु-सन्तों एवं शास्त्रज्ञ विद्वानों से विचार-विमर्श एवं कभी-कभी शास्त्रार्थ द्वारा गोस्वामी जी ने अपने विचारों को दूर-दूर तक पहुँचा दिया था। उस समय तक प्राचीन भक्ति मार्ग में जो कुछ शिथिलता या कुछ दुर्गुण आ गये थे उनका भी स्वामी जी ने सुन्दर ढंग से शोधन कर दिया था। जो कार्य इनके पूर्ववर्ती आचार्यों या भक्त कवियों ने आरम्भ किया था उसे अपने ढंग से और लोकधर्म की कसौटी पर कसने के बाद गोस्वामी जी ने पूर्ण किया।

एक अन्तिम तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। हमें ज्ञात है कि शठकोप (नम्मालवार) से लेकर कृष्णदास पयहारी तक राममार्गीय रसिकोपासना इतनी विकसित हो चुकी थी और गलता गद्दी से इसका इतना व्यापक प्रचार होता जा रहा था कि कृष्णोपासकों से होड़ लगानेवाले रामोपासक कवियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। स्वामी रामानन्द के कुछ शिष्यों ने तो निर्गुण भक्ति को अपना लिया था और इनके द्वादश शिष्य अनन्तानन्द, जैसा कि ज्ञात है, रसिकोपासकों को प्रेरणा देने लगे थे। इन्हीं के शिष्य कृष्णदास पयहारी ने रसिकों का एक पृथक् सम्प्रदाय ही खड़ा कर दिया जिनकी प्रेरणा से रसिक राम काव्य में अग्रदास, नामादास, मानदास, मुरारिदास, खेमाल-रतन राठौर, प्रयागदास, मुक्तामणिदास आदि अनेक भक्तों एवं कवियों का आविर्भाव हो चुका था। ये उस अनबूझ और गूढ़ मधुर रस का राम-भक्ति में समावेश कराते जा रहे थे जो लोक-दृष्टि में भगवान राम को भी कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित कर देता। किन्तु जब महात्मा तुलसीदास ने ‘मानस’ लिख दिया तो फिर आगामी सौ वर्षों तक तो गलता या रेवासा कोई ऐसा उल्लेखनीय कवि पैदा ही न कर सका जो ‘मानस’ के राम को भागवतीय-कृष्ण के रूप में चित्रित करने का साहस करता। हाँ यहाँ हम यह भी स्वीकार करेंगे कि सामान्य रामकाव्य में भी ‘मानस’ को सब दृष्टि से पूर्ण समझ लेने के बाद, इसे रामावत सम्प्रदाय का ‘भागवत’ महापुराण मान लेने के बाद गतिरोध उत्पन्न हुआ था।

‘मानस’ की मध्यकालीन प्रशंसा का उद्धरण देकर हम तुलसीदास का अध्ययन समाप्त करेंगे। बेनी प्राचीन (समय सत्रहवीं शताब्दी) ने अपने उद्गार ‘मानस’ के प्रति इस प्रकार प्रकट किये थे—

बेद मत सोधि सोधि देखि के पुरान सबै,

संतन असंतन को भेद को बतावतो ।

१ विशेष विवरण के लिए पं० चन्द्रबली पाण्डेय का लेख तुलसी की गुह्य साधना, नया समाज, सितम्बर १९५३ द्रष्टव्य ।

कपटो कपूत कूर कलिके कुचाली लोग,
 कौन राम नाम हूँ को चरचा चलावतो ॥
 'बेनी कवि' कहे मानो मानो रे प्रमान यही,
 पाहन से हिये कौन प्रेम उपजावतो ॥
 भारी भवसागर में कैसे जीव पार होते,
 जौ पे यह रामायन तुलसी न गावतो ॥

और तुलसीदास के समकालीन नाभादास ने कहा था—

त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन ।
 इक अक्षर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन ॥
 जब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला-बिस्तारी ।
 रामचरन रसमत्त रहत अह्निसि ब्रतधारी ॥
 संसार अपार के पार को सुगम रूपनौ का लियो ।
 कलि कुटिल जीव निस्तरहित बालमीकि तुलसी भयो ॥

महात्मा तुलसीदास की भक्ति-भावना को आगे बढ़ाने में अन्यान्य कवियों ने भी महत्वपूर्ण योग दिया था, पर इस महान व्यक्तित्व के आगे वे सभी कवि दब-से गये हैं। स्वयं सूरदास जी ने भगवान राम का गुण-गान किया है। पर कृष्ण के प्रति अधिक आकर्षण होने के कारण वे कृष्ण भक्ति के ही प्रचारक और गायक माने जाते हैं। यहाँ हम राम के मर्यादित रूप को लेकर चलनेवाले प्रमुख कवियों का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने राम के उस रूप का प्रचार किया, जिसकी स्थापना तुलसीदास ने की थी और जो रसिकोपासना से भिन्न है। रसिकोपासक कवियों का अध्ययन अन्यत्र किया जायेगा।

तुलसीदास के 'मानस' की रचना के ३६ वर्ष बाद प्राणचन्द चौहान ने संवाद शैली में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी जिसमें परम्परानुसार निर्गुण-सगुण रूप का ध्यान करके भगवान राम को आदि पुरुष स्वीकार किया गया है। तत्पश्चात् हृदयराम का नाम आता है, जिन्होंने संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर सन् १६२३ ई० में भाषा 'हनुमन्नाटक', की रचना की थी। आचार्य शुक्ल ने उस युग के रामचरित सम्बन्धी रूपकों या नाटकों में हृदयराम के 'हनुमन्नाटक', को सर्वाधिक प्रसिद्ध कहा है और इनके काव्यशक्ति की भी प्रशंसा की है। रामभक्ति में आदर्श भावना को हृदयराम जी ने निश्चय ही काफी योग दिया था। लक्ष्मण तक ने सीता का क्या रूप देखा था, यह द्रष्टव्य है—

जानकी को मुख न बिलोक्यो ताते कुंडल
 न जानत हौं बीर पाँय छुबै रघुराई के ।
 हाथ जो निहारे नैन फुटियो हमारे
 ताते कंकन न देखे बोल कह्यो सतभाई को ॥
 पाँयन के परिबे कौ जाते दास लछमन
 यातें पहिचानत हूँ भूषन जे पाँय के ।

बिछुवा है आई अरु झाँझ है आई जुग

नूपुर हैं तेई राम जानत जराई के ॥

हृदयराम जी का यह ग्रन्थ शक्ति और शील के साथ-साथ उदात्त कोमल भावनाओं की त्रिवेणी बहाता हुआ चला है। राम की शक्ति का जो भव्य रूप महात्मा तुलसीदास ने जनता के सम्मुख रक्खा था उसे तो इन महानुभाव ने आगे बढ़ाया है साथ ही संवाद शैली को अपना कर जो महात्मा तुलसी की लेखनी से अछूती रह गई थी इन्होंने राम काव्य का एक नया रूप भी समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया, जिसके लालित्य का बहुत ही सुन्दर प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ा था। विरह के शील का यह निम्न उदाहरण कितना मार्मिक है—

एहो हनू कह्यौ श्री रघुबीर कछु सुधि है सिय की छिति माँही ?

है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसे तहँ रावन बाग की छाहीं ॥

जीवित है ? कहिबेई को नाथ सुक्यों न मरी हमते बिछुराहीं ?

प्राण बसे पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥

हृदयराम के पश्चात् महात्मा तुलसी के ही समकालीन आचार्य केशवदास का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अपने प्रशंसनीय पाण्डित्य तथा अद्भुत काव्य-क्षमता के द्वारा 'रामचन्द्रिका' जैसे ग्रन्थ का निर्माण किया जो राम-साहित्य प्रेमियों के साथ-साथ विशद काव्य-प्रेमियों को भी समान रूप से आकृष्ट करती है। केशवदास की धाक अपने युग में तो जमी ही थी, परवर्ती युग में भी ये कवि-शिक्षक एवं महान् कवि के रूप में समादृत रहे। इनके राम भी अन्तर्यामी, निर्गुण-सगुण, अनिर्वचनीय, असीम, अनादि तथा अनन्त हैं। ये ही परमतत्त्व हैं और इनसे ही जीव-जगत का अस्तित्व है। आशय यह कि तुलसीदास के राम में और केशवदास के राम में कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि दाम्पत्य प्रेम के चित्रण में केशवदास अपनी मूलभूत शृंगारिकता के कारण कुछ रसिकता की झलक दे जाते हैं पर शील और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं, जैसा कि रसिक सम्प्रदाय के कवियों ने किया है। 'रामचन्द्रिका' समाप्त करते हुए केशवदास ने जो भाव व्यक्त किये हैं वे उनके उद्देश्य को प्रकाशित करने में सफल हैं—

अशेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाय ।

विदेह राज ज्यों सदेह भक्त राम को कहाय ॥

लहै सुमुक्ति लोकलोक अन्तमुक्ति होहि ताहि ।

कहै सुनै पढ़ै गुनै जु रामचन्द्र चन्द्रिकांति ॥

आचार्य शुक्ल की धारणा कवि केशवदास के प्रति अच्छी नहीं रही है, यह सभी जानते हैं और उसका कारण भी सुस्पष्ट है। पर हमें यहाँ केशव की काव्यात्मकता से कोई प्रयोजन नहीं, राम साहित्य की परम्परा में केशव की 'रामचन्द्रिका' को हम केवल इसलिए महत्व देते हैं कि केशव के ठीक बाद ही हिन्दी साहित्य में जो धारा आती है उसने राजाओं और उनके पिट्ठुओं को तो चमत्कार एवं उचित वैचित्र्यपूर्ण काव्य के साथ-साथ अलंकृत कविता का प्रेमी ही बना दिया था। जन साधारण की रुचि भी उधर ही आकृष्ट

होती जा रही थी और तब ऐसी अवस्था में उपर्युक्त सभी तत्वों से युक्त 'रामचन्द्रिका' आराध्यदेव राम के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोगों को धर्म एवं साहित्य दोनों दृष्टियों से सन्तुष्ट करती रही। केशवदास की बनावट को भी चाहने वाले कम न थे। हाँ, उनके काव्य की क्लिष्टता कुछ रोड़ा अवश्य अटकाती रही होगी। पर राम भक्ति से रुचि रखने-वाले युग के सुप्रसिद्ध कवि सेनापति का नाम भी राम-साहित्य निर्माताओं में गिना जा सकता है। यद्यपि इन्होंने रामभक्ति पर कोई प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा है तथापि इनके उन फुट-कल पदों का, जिनका उनके युग में ही अधिकाधिक प्रचार हो गया था, कम महत्व नहीं है, जिनमें राम भक्ति के भाव सुन्दरतम ढंग से व्यक्त किये गये हैं। राम की सात्विक शक्ति की ओर सेनापति का ध्यान अधिक गया है। उनके राम 'राजाधिराज' हैं और 'विस्वमंगल करने' हैं। इस प्रकार एक ओर अपनी अपार शक्ति से भगवान राम 'वज्रादपि कठोर' हैं तो दूसरी ओर भक्तवत्सलता एवं दयालुता के कारण 'कुसुमादपि मृदु' हैं। सेनापति ने हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाले ग्रन्थ 'कवित रत्नाकर' (रामायण वर्णन) में जो पद लिखे हैं वे उनमें से अनेक पद राम भक्ति के जोरदार प्रचारक सिद्ध हुए होंगे; क्योंकि आज भी ब्रजभाषा प्रेमियों में इन कवित्तों का प्रचार है। 'लंका दसकंधर की दीनी है विभीषण को, संका विभीषण की सो दीनी दसकंधर को' वाला पद तथा ऐसे ही अनेक पद बहुत ही लोकप्रिय रहे हैं।

इनके बाद ही सामान्य शृंगारिक प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और उधर कृष्ण काव्य की शृंगारिकता भी अधिकाधिक प्रचार पा जाती है जिसके फलस्वरूप कवियों का ध्यान राम भक्ति की रसिक शाखा की ओर मुड़ जाता है। दूसरे महात्मा तुलसी ने 'मर्यादोपासना-साहित्य का भण्डार अकेले ही इतना पूरित कर दिया था कि कवियों को बचे क्षेत्र की शरण लेनी पड़ी। नाटक संवाद वाले क्षेत्र को तो उन्होंने पहले ही स्वीकार कर लिया था पर रसिकोपासना के लिए साहस न हो सका। यही कारण है कि प्रारम्भ में केवल रसिक सम्प्रदाय की गद्दियों के महन्त या उनके रसिक शिष्य ही रचना-क्षेत्र में उतरे। विशुद्ध कवियों द्वारा यह धारा बहुत बाद में अपनाई गई जब शृंगारिक वातावरण की पूर्ण सृष्टि कृष्ण-साहित्य तथा रसिक सम्प्रदाय द्वारा हो चुकी रहती है। आगे हम इसी शाखा के कवियों का उल्लेख करेंगे।

(ख) रसिकोपासना शाखा

इस सम्प्रदाय का साहित्य परिमाण की दृष्टि से तो विशाल है पर साहित्य की दृष्टि से इसका महत्व बहुत ही कम। इस सम्प्रदाय के सैकड़ों कवियों में इस दृष्टि से कुछ ही नाम गण्य हैं, पर जहाँ तक भक्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध है, उन सभी कवियों और रसिक रामभक्तों का महत्व है क्योंकि उन्होंने उस युग में रचना करना आरम्भ किया था जब हिन्दी भक्ति-काल का अन्तिम युग आ चुका रहता है और रीतिकालीन कवि लौकिक शृंगार को ही अपना विषय बना लेते हैं। मूले-भटके राधा-कृष्ण का नाम आ भी जाता है तो वह केवल नाम लेने के बहाने ही। अब तक अलौकिक माधुर्य रस युक्त राधा-कृष्ण

लौकिक नायक-नायिका के प्रतीकस्वरूप साहित्य में व्यवहृत होने लगते हैं। राज्याश्रित साहित्य राजसी ठाट-बाट, सज-धज, हाव-भाव में लीन हो चुका रहता है और भक्ति की धारा साहित्य-भूमि पर शुष्कप्राय सी दिखाई पड़ने लगती है। ठीक इसी अवसर पर रामभक्ति के रसिकोपासक भक्तों ने गलता (अजमेर) एवं रिवासा से प्रेरणा देना आरम्भ किया और देखते-देखते भक्तों तथा कवियों का एक ऐसा दल खड़ा हुआ जिसने रीति-कालीन कवियों के लौकिक गान के समक्ष जो अपने आश्रयदाता स्थानीय राजाओं का गुण-गान करके प्रश्रयदाता और दरबारियों का दिल बहलाते रहे, महाराजा-रामचन्द्र का गुण-गान उसी सज-धज और धूम-धाम से उपस्थित किया। यहाँ हम कुछ प्रमुख कवियों का ही नामोल्लेख मात्र करेंगे।

भक्तिकालीन कवि-रसिक सम्प्रदाय के स्थापक अग्रदास जी (१६वीं शताब्दी) स्वयं एक सफल कवि थे, आचार्य तो ये थे ही। रसिक सम्प्रदाय की स्थापना का सारा श्रेय इन्हें ही दिया जाना चाहिए।

सम्प्रदाय में इन्हें चन्द्रकला सखी का अवतार माना जाता है। हिन्दी में इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—“ध्यान मंजरी” तथा “कुण्डलियाँ”। जिस प्रकार कृष्ण कवियों ने राधा को कृष्ण से भी ऊँचा उठा दिया था, उसी प्रकार अग्रदास जी के राम भी सीता का सुमिरन करते हैं—

जगत जपत रघुनाथ नाम सब
राम करत सीता को सुमिरन।

अग्रदास पदावली पत्र ९

इन्हीं महात्मा ने रामभक्तों को यह लालच दी थी—

अमल-अमत-रसधार रसिकजन यहि रस पागे।
तेहि को नीरस ज्ञान जोग तप छोई लागे॥
यह दम्पति वर ध्यान रसिकजन नित प्रति ध्यावैं।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनैहु नहि पावैं॥

—वही

नामादास की गणना केवल रसिकोपासक भक्तों में ही नहीं की जानी चाहिए प्रत्युत भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में इन्हें साम्प्रदायिक इतिहासकार का पद दिया जाना चाहिए। अग्रदास द्वारा ही इनका गलता में पालन हुआ था और उनके साथ ही ये गलता से रैवासा चले आये। उनके ही आदेश से इन्होंने सुप्रसिद्ध ‘भक्तमाल’ की रचना की थी, जिसमें २०० भक्तों का गुणगान किया गया है। यद्यपि इनका यह ग्रन्थ आखीर काव्य ही है। अतः विशुद्ध इतिहास की भाँति इसका उपयोग नहीं किया जा सकता, तथापि अपनी भक्तमुलम भावुकता में भी ये भक्तों की भक्तिपद्धति का तो मूल्यांकन ठीक ही किया है, क्योंकि ये स्वयं भक्त थे और भक्तिशास्त्रज्ञाताओं के संसर्ग में रहते हुए विषय के मर्मज्ञ हो गये थे। पद्य ही नहीं ब्रजभाषा गद्य में भी इन्होंने रचना की है और इनके दो ‘अष्ट-याम’ गद्य तथा पद्य में प्राप्त होते हैं। किन्तु इनकी अन्य रचनाएँ अभी तक प्राप्य नहीं

हैं अतः इनकी साहित्यिक रसिकता का अधिक बोध नहीं होता। रसिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के नाते ही इनका यहाँ उल्लेख किया गया है। खोज रिपोर्ट १९०९-११ भाग २, पृ० १०६७ पर उद्धृत नामादास के अष्टकाल चरित (अष्टयाम) की निम्न पंक्तियाँ इनकी रसिकता का परिचय देती हैं—

हा रघुनन्दन चन्दन सीतल अंग ।
बिकल बालबिरहूनियाँ बिनपिय संग ॥
सखि मनमोहन सोहन जोहन जोग ।
छोहन जियत जियरवा भामिनि भोग ॥
कलित अंग सुख आभिहि 'नाभिहि' देहु
पीतम लाल पियरवा यह जस लेहु ॥

नामादास ने 'भक्तमाल' में मानदास, मुरारिदास, खेमालरतन राठौर, प्रयागदास, मुक्तामणिदास आदि का जो नाम गिनाया है उनकी कोई रचना नहीं मिलती। उनकी रसिकता के छिटपुट वर्णन भर ही मिलते हैं। इस प्रकार भक्तिकाल के अन्तर्गत हिन्दी राम काव्य में रसिक साहित्य के निर्माता के रूप में हम केवल इस सम्प्रदाय के संस्थापक अग्र-दास जी का नाम ही गिना सकते हैं। महात्मा तुलसीदास पर विचार करते समय कहा गया था कि गोस्वामी जी के 'मानस' का साम्राज्य भक्तों, कवियों और लोक के मानस पर पूर्णतया स्थापित हो जाने के पश्चात् (जो उनके जीवन-काल में ही स्थापित हो चुका था) राम साहित्य में गतिरोध आ जाता है।^१

रोति कालीन कवि—अग्रदास की पाँचवीं पीढ़ी ने बालकृष्ण बाल अली (रचना-काल सन १६६९ से १६९२ ई०) का आविर्भाव हुआ, जो चरणदास के शिष्य थे और उनके बाद रैवासा गद्दी के आचार्य भी हुए। 'ध्यान मंजरी', 'नेह प्रकाश', 'सिद्धान्त तत्वदीपिका', 'दयाल मंजरी', 'ग्वाल पहेली', 'प्रेमपहेली', 'प्रेम परीक्षा', 'परतीत परीक्षा' आदि इनके आठ ग्रंथ हैं जिनमें 'नेह प्रकाश' और 'सिद्धान्त तत्व प्रदीपिका' प्रसिद्ध हैं। इनके फुटकर पद भी सम्प्रदाय में बहुत दुहराये जाते थे। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

ढुलहिया दूल्हा बने दिलदार ।
जनक लली थे कली भाग बस भली देव तरु डार ॥
निमिकुलवंसचन्द्रिका प्रगटी अवध कियो उजियार ।
'बाल अली' रसिकेन्द्र राज की जीवन प्राण अधार ॥

'भूषण के आश्रयदाता, हिन्दी साहित्य तथा भारतीय इतिहास में समान रूप से प्रसिद्ध 'छत्रलाल' ने भी जो राधा और सीता दोनों की माधुरी के पुजारी थे, रसिक रामकाव्य की रचना की है। वैसे इनके आठ ग्रन्थ बताये जाते हैं पर राम सम्प्रदाय से लगाव रखने वाले ग्रन्थ 'रामावतार के कवित', 'रामदेवजाष्टक', 'हनुमान पच्चीसी' आदि ही हैं ;

१ इस गतिरोध का राजनैतिक और साम्प्रदायिक अशान्ति भी कारण था जिसका अध्ययन हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं।

और अन्य पाँच ग्रन्थ हैं 'राधा-कृष्ण पचीसी', 'कृष्णावतार के कवित्त' 'महाराजा छत्रसाल के प्रति अक्षर अनन्य के प्रश्न', 'दृष्टान्त और फुटकर कवित्त' तथा दृष्टान्ती तथा राजनैतिक दोहा समूह इनकी रसिकता की प्रशंसा सम्प्रदाय वालों ने दिल खोल कर की है। इनकी वंश परम्परा में भी रसिक भक्तों को प्रश्रय मिलता रहा। फलस्वरूप चित्रकूट तो पहले से ही रसिकों का अड्डा था, अब पन्ना तथा छतरपुर तक यह धारा फैल गई और आज भी वहाँ रसिक सम्प्रदाय वाले पाये जाते हैं। छत्रसाल जी का शृंगार बहुधा मर्यादित ही है। ये राम-सीता की होली और झूलन में विशेष आनन्द लेते रहे। फाग का इनका निम्न पद विशेष प्रसिद्ध है—

रचि पचि सारे कविकोविद विचारे सब
संभु रहे ध्यान औ स्वयंभु रहे गानकरि ।
व्यालपति रहे देखि ख्याल खूब फागनि कौ
गौरी रहीं गोद ले गनैसिसर पानि धरि ।
औध रही रंग पूरि महकि सुगंध रही
सरजू रही लाल लाल रंग खोत सरि ॥
एक ओर कुंवरि किसोरी रही छत्रसाल
एक ओर कुंवर किसोर रहे रंग भरि ॥

भिथिला के रामप्रिया शरण, 'प्रेमकली' का भी नाम उल्लेखनीय है, जो स्वयं को सीता की सहोदरा बहन मानते थे। 'रामायण' के आदर्श पर ही इन्होंने 'सीतायन' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना सन् १७०३ ई० में की थी। इसमें सीता की बाल एवं विहार लीलाएँ रसिकता की चरम सीमा छूने लगती हैं। सीता यहाँ 'छम-छम चलति अरति पुनि दौरति' दिखाई गई है और 'अलबेलिन की छवि लखि शतरती लजाती है।' इसी समय अयोध्या का प्रसिद्ध रसिक कवि जानकी रसिक शरण 'रसमाला' जी का भी आविर्भाव हुआ था जिन्होंने सीता राम की विहार-क्रीड़ाओं का चित्रण अपने 'अवधी सागर' में किया। ये कभी 'रसमालिनी' नाम से भी लिखते थे। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

झूलै सिय पिय रंग हिडोरै ।
प्रीतम के संग रमक बढ़ावत रंगभरी सखियाँ चहु ओरै ॥
घनगरजत बिजुली अति चमकत बरसत रिमझिम पवनझकोरै ।
'रसमालिनि' प्रीतम मन मोहत बोलत खगरव मोर चकोरै ॥ १

रसिक राम-साहित्य में जिस होली की शृंगारिक योजना हमें प्राप्त होती है उसका बहुत कुछ श्रेय रामप्रपन्न मधुराचार्य 'मधुरप्रिया' को ही दिया जा सकता है। इन्हीं महानुभाव ने विरोधियों का उत्तर शास्त्रीय ढंग से देते हुए तथा जैसा कि हमें ज्ञात है, वेद, उपनिषद, तंत्र और 'वाल्मीकी रामायण' में रसिकता प्रमाणित करते हुए असंख्य भक्तों एवं कवियों को इस ओर आकृष्ट किया था। इन्होंने संस्कृत में ही रचनाएँ की थीं, क्योंकि यह देव-

भाषा ही सैद्धान्तिक ग्रन्थों के लिए प्रामाणिक मानी जाती रही। 'भगवद् पुराण दर्पण', 'माधुर्य केलिकादम्बिनी', 'वाल्मीकि रामायण की टीका' इनके चार प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ हैं। हिन्दी के कुटुम्बक पद इनके रचे बताये जाते हैं। यहाँ भगवान राम कृष्ण की क्रीड़ाओं से होड़ लेते दिखाई पड़ते हैं—

सखि में आज गई सिय कुंज ।
देखि नृपति किसोर दोरे घेरि पिचका पुंज ॥
तब कही मैं सुनहु लालन लाल कौसल चन्द ।
फाग मिस का करहु बोरी चलहु हमरे संग ।
'मधुर प्रीतम' आजु तुमकौ जीतिहौं रति रंग ॥

गलता गद्दी के इस आचार्य महोदय ने हिन्दी कवि के रूप में भले ही ख्याति प्राप्त की हो, पर सम्प्रदाय तो इनका ऋणी है ही।

शूरकिशोर जी के साधक शिष्य प्रयागदास जी अपने गुरु के नाते जो जानकी जी को अपनी पुत्री मानते थे, भगवान राम के साले-बहनोई का नाता माने बैठे थे और रसिक सम्प्रदाय में इसीलिए इन्हें मामा प्रयागदास कहा गया है। अयोध्यावाले आज भी इनके विषय में इन्हीं का वाक्य दुहराया करते हैं—

नीम के नीचे खाट पड़ी है, खाट के नीचे करवा ।
'परागदास' अलबेला सोवै, रामलला के सरवा ॥

अठारहवीं शताब्दी में रामावत सम्प्रदाय की रसिक शाखा को नई प्रगति देने और मैहर तथा अयोध्या में सख्य सम्प्रदाय के पुनर्स्थापक के रूप रामलखे जी का नाम उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि ये दिन भर सखा रूप में और रात भर सखी रूप में भगवान राम की सेवा करते थे। इनके रचे दस ग्रन्थ बताये जाते हैं जिनमें संगीत प्रधान होने के नाते 'पदावली' की विशेष ख्याति हुई।

इनमें पाण्डित्य तो था ही काव्य शक्ति भी अद्भुत थी। इनका निम्न पद बहुत ही अधिक प्रचलित है—

आजु की हाल सुनो सजनी मड़ये प्रगटे यक कौतुक भारी ।
जवति नारि बराति सबै रघुनाथ लख्यो मिथिलेस अटारी ॥
श्री रघुबीर को देखि सरूप भई मति विश्रम गावनि हारो ।
भूलि गई अवधेश को नाम तो देन लगी मिथिलेस को गारो ॥

रसिक सम्प्रदाय के एक दूसरे महत्वपूर्ण भक्त और कवि कृपानिवास जी हो गये हैं, जिन्हें आचार्य शुक्ल जी ने एक कल्पित व्यक्ति कहा है पर सम्प्रदाय में इनका बड़ा आदर रहा और इन्हें अनेक ग्रन्थों का प्रणेता कहा गया है। अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध के रसिक कवियों में इनका निश्चय ही साम्प्रदायिक महत्व रहा होगा। युगलप्रिया जी ने एक लाख शृंगारिक छन्दों का रचयिता कहा है। 'कृपानिवास पदावली' नाम से इनका एक

प्रकाशित ग्रन्थ भी मिलता है, जिसका उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया है।^१ इनके काव्य का उदाहरण भी यहीं शुक्ल जी ने दिया है।

नीबी करषत बरजत प्यारी।

रस लंपट संपुट कर जोरत पद परसत पुनि लै बलिहारी ॥

प्रिय हुंसिरस-रस कंचुकि खोलै।

चमकि निवारति पानि लाड़िली, मुरक मुरक मुख बोलै ॥

लगभग इसी समय प्रेमसखी नामक कवि प्रयाग में हुए थे, जिन्होंने 'होली', 'कवि-त्तादि प्रबन्ध' तथा 'श्री सीताराम नखशिख' लिख कर रसिक धारा को आगे बढ़ाया। इनके राम का दर्शन कर लेने पर क्या अवस्था हो जाती थी यह उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है—

कागद तौ न उठै करते कर लेखनी कंपित कौन उठावै।

लालन दृष्टि परी जब ते प्रिय नाम सुनै अँसुवा झरि आवै ॥

'प्रेम सखी' मधुकी मखियाँ मन जाय फँस्यो अब हाथ न आवै।

मूरति श्री रघुनन्दन की लिखते न बनै लखते बनि आवै ॥

इस शताब्दी के अन्य कवियों में रामचरणदास का नाम आदर से लिया जा सकता है जिन्होंने रसिक सम्प्रदाय के संगठन और प्रचार में बहुत अधिक योग दिया था। ये प्रतापगढ़ निवासी थे। इनके रचे २५ ग्रन्थ बताये जाते हैं जिनमें कुछ सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी हैं।

१९वीं शताब्दी के मुख्य रसिक कवियों में शंकरदास, बलदेवदास, चन्द्रअली रसिक धारा के प्रमुख प्रश्रयदाता महाराज विश्वनाथ सिंह जिन्होंने ३८ प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की थी और इन सबसे महत्वपूर्ण जीवाराम जी 'युगल प्रिया' हैं जिन्होंने नाभादास के 'भक्त-माल' की भाँति केवल रसिक भक्तों की जीवनी का संग्रह 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में किया था। रसिक धारा के इतिहास में इस ग्रन्थ का अपना विशिष्ट महत्व है। इसी प्रकार तत्वसुखी सिद्धान्त के विपरीत स्वसुखी शाखा के प्रवर्तक जनकराज किशोरी शरण 'रसिक अली' का भी साम्प्रदायिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है जिन्होंने बीसों सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की थी। इनके राम-सीता का रूप द्रष्टव्य है—

जब लाड़िली कटि लचकि मचकति झुकति पिय की ओर।

तब जात बलि बलि लाडलौ गति होत चंद चकोर ॥

जब परस बाल उरोज अञ्चल उड़त सिय सकुचाय।

१९वीं शताब्दी के अन्य प्रसिद्ध कवियों में पतितदास जिन्होंने गुप्तगीता 'पतितपदावली' तथा 'भजन सर्व संग्रह' की रचना की थी; तथा पं० उमापति त्रिपाठी 'कोविद' जिन्होंने ४२ ग्रन्थों की रचना की थी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पर इन सब साधकों

और कवियों को पीछे छोड़ जाने वाले युगलानन्यशरण 'हेमलता' जी का नाम रसिक सम्प्रदाय में बहुत ही आदर से लिया जाता है। पूरे रसिक राम-साहित्य में रामचरण दास को छोड़ कर किसी से इनकी तुलना नहीं की जा सकती है। इन्होंने ८४ ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें तर्क द्वारा रसिकता को शास्त्रीय आधार देते हुए इस उज्ज्वल रस को आध्यात्मिक धरातल दिया गया है। इनके शिष्यों ने दूर-दूर तक इस धारा का प्रचार करके रसिक परम्परा को आगे बढ़ाने में बहुत अधिक योग दिया था। ये पटना के निवासी थे। सन् १८५७ का आन्दोलन भी इन्होंने देखा था। 'हेमलता' जी अपनी विद्वता के लिए हरसम्प्रदाय के संतों में आदर पाते थे। अरबी, फारसी पर भी इनका अधिकार था। संस्कृत में तो इन्होंने अनेक ग्रन्थ भी लिखे थे। काव्य-शौष्ठव की दृष्टि से भी इनका स्थान ऊँचा माना जा सकता है।

'राम रसिकावली' तथा अन्य तीसों ग्रन्थ के प्रणेता, भक्तों के परम आश्रय तथा भक्ति के प्रचारक रीवाँनरेश महाराज रघुराज सिंह का नाम भी आदर से लिया जा सकता है जिन्होंने रीवाँ राजवंश की भक्त-प्रश्रय तथा साहित्य-सृजन परम्परा को आगे बढ़ाते हुए १९वीं शताब्दी के भक्ति-आन्दोलन में बहुत बड़ा योग दिया था। दास्यभाव के उपासक होते हुए भी इन्होंने रसिक साहित्य का साथ ही राधा-कृष्ण को भी अपना विषय बनाया है। रघुराजसिंह की 'मौसी' और रसिकों के हनुमानशरण 'मधुरमाली' की सखी-भावना भी प्रसिद्ध थी जिससे मुग्ध होकर दास्य भाव वाले रघुराज सिंह ने उन्हें उक्त उपाधि दी थी। इनके लिखे पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनके बाद जानकी प्रसाद 'रसिक बिहारी' का नाम ही लिया जा सकता है जिन्हें कहा जाता है कि २६ ग्रन्थों की रचना की थी। पर प्रसिद्धि 'राम-रसायन' से ही प्राप्त हुई थी। इनके सभी ग्रन्थ धार्मिक नहीं हैं। प्रचार की दृष्टि से रघुनाथ दास रामसनेही का 'विश्राम सागर' विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ है जिस पर 'मानस' की पूरी छाप और कहीं-कहीं अनुकृति भी है। यद्यपि ये दास्य-भाव के उपासक थे और भक्ति प्रवर भरत इनके आदर्श थे पर साहित्य में इनका रसिक रूप भी कम आकर्षक नहीं है। इनके लिखे ६४ ग्रन्थ बताये जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी के रसिक कवियों में रामानुज 'रूपरस' शीलमणि, जानकीवर शरण 'प्रीतिलता', 'सरयूदास' 'सुधामुखी', परमहंस सीताशरण, पं० सीताप्रसाद, वृषभानु कुवारी 'रामप्रिया' रामवल्लभ शरण 'प्रेमनिधि' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ केवल कुछ प्रमुख कवियों का ही उल्लेख किया गया है, वैसे इनकी सूची सैकड़ों से ऊपर तक पहुँचती है और पूरा रीतिकाल तथा आधुनिक काल का प्रारम्भिक भक्ति साहित्य यदि सर्वांशतः नहीं तो अधिकांशतः इन्हीं राम रसिकों की रचनाओं से भरा हुआ है।

१७ : वल्लभ मत और अष्टछाप के कवि

वल्लभाचार्य ने जिस विधि से अपने मत की स्थापना की थी और जिस प्रकार धर्म साधना में, ऊँच-नीच, राजा-रंक तथा जातीय भेद-भाव को अमहत्वपूर्ण कहते हुए प्रत्येक के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया था, वह पूर्णतया युगानुसार सिद्ध हुआ क्योंकि पूर्व मध्यकाल से लेकर पूरे मध्ययुग तक के हिन्दू समाज में सामाजिक भेदभाव घर कर गया था। धर्म तो जैसे लौकिक दृष्टि से ठीक दो स्तरों में विभक्त होता जा रहा था—एक उच्च वर्गीय और दूसरा निम्न वर्गीय। यद्यपि पुराणकारों ने अपने ऐश्वर्यशाली भगवान को 'पत्रं-पुष्पं-फलं-तौर्यं' से सन्तुष्ट करने का विधान कर दिया था तथापि सुगुणोपासना प्रमुखतः समाज के उपरले स्तर को ही प्रभावित कर सकी थी और समाज का एक बहुत बड़ा भाग घुमक्कड़ साधुओं-योगियों तथा फकीरों की गुदड़ी से मोहित होता जा रहा था और संतों की वाणी से मुग्ध होने वाला साधारण जन समुदाय भी आगे चल कर साम्प्रदायिक संतों के 'घट' के घटाटोप में उलझ गया था। ठीक ऐसे ही वातावरण में वल्लभाचार्य ने जाति एवं वर्ग निर्पेक्ष मत की स्थापना की। अतः उनके मत की मध्यकाल में प्रचार मिल सका। सौभाग्यवश इस मत में कुछ प्रतिभाशाली संगठनकर्त्ता भी उदित हुए जिन्होंने कवियों को इस ओर आकृष्ट किया और जब युग नायक कवियों का आश्रय प्राप्त हो गया तो यह मत देश के एक बहुत बड़े भाग में प्रचारित हो गया।

गोपीनाथ—ये वल्लभ के ज्येष्ठ पुत्र थे और गद्दी पर १५३० से १५३५ तक आरूढ़ रहे।

विट्ठलनाथ—गोपीनाथ के पश्चात् छोटे पुत्र विट्ठलनाथ जी (१५१५-१५८७ ई०) गद्दी के अधिकारी हुए। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रचार का पूरा-पूरा श्रेय इन्हीं को दिया जा सकता है। कहा जाता है कि इनसे धर्मसहिष्णु भी प्रभावित हुआ था। इन्होंने 'विद्वन्मण्डल', 'भक्ति हंस', 'भक्ति निर्णय', 'निबन्ध प्रकाश टीका', 'सुबोधिनी-टिप्पणी', 'शृंगार-रस-मण्डल' नामक ग्रन्थों की रचना की थी और 'अणु भाष्य' को पूर्ण किया था। आचार्य पद पर आरूढ़ होने के समय (१५६३ ई०) से लेकर जीवन पर्यन्त ये प्रमुख स्थानों का भ्रमण करते रहे। गुजरात में तो वल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार इन्होंने ही किया था।

इनके सातपुत्रों—गिरवर, गोविन्द राय, बालकृष्ण, गोकुल नाथ, रघुनाथ, यदुनाथ तथा घनश्याम जी ने भी आचार्य के मत का विभिन्न गद्दियों पर आसीन होकर प्रचार किया था। पर इन सारे प्रयासों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास है 'अष्टछाप' की स्थापना। अब तक वल्लभाचार्य के मत से प्रभावित अनेक ब्रजभाषा कवि छिटपुट रचनाएँ करते रहे। स्वामी विट्ठलनाथ ने इन अनेक कवियों में से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुन कर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि थे—महात्मा सूरदास, परमानन्द दास, कुम्भन-

दास, कृष्णदास, नंददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी तथा गोविन्द स्वामी। इनमें से प्रथम चार वल्लभाचार्य के शिष्य बताये जाते हैं और शेष विट्ठलनाथ के।

अब तक गोवर्द्धन पर निर्मित श्रीनाथ जी का मन्दिर, जिसके निर्माण का श्रेय पूरनमल खत्री को दिया जाता है, पुष्टि मार्गियों का प्रधान केन्द्र बन चुका था। महात्मा सूरदास जी ने वल्लभाचार्य के आदेश से इसी मन्दिर में 'भागवत' की कथाओं को अपने सरस पदों में बाँधा था। पुष्टिमार्ग में सूरदास जैसे कवि के सम्मिलित हो जाने पर तो इस सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया। वास्तविकता तो यह है कि कृष्णोपासकों में साहित्यिक दृष्टि से, पुष्टिमार्गी कवियों का ही ऊँचा स्थान है। 'भागवत' पुराण को आधार मानकर चलने वाले साहित्य को महत्व मिलना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जैसा कि हमें ज्ञात है, साहित्य तथा भक्ति जिस किसी दृष्टि से भी देखा जाय 'भागवत' भक्ति साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। किन्तु इस सम्प्रदाय के कवियों के साहित्य पर जैसे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में मुगल भारत की शान-शौकत-सजवज की एक आभा तिरती सी दिखाई पड़ती है। आचार्य ने शुक्ल से इस सम्प्रदाय की विशेषता एवं इसके महत्व के सम्बन्ध में जो उद्गार व्यक्त किये हैं वे अक्षरशः सत्य हैं—

“वल्लभ सम्प्रदाय में जो उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग-राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। मन्दिरों की प्रशंसा 'केसर की चक्कियाँ चलें हैं' कह कर होने लगी। भोग-विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था। जनता पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी के भवत शिष्यों ने सुन्दर-सुन्दर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत-धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिन्दू-जीवन को सरस और प्रफुल्ल किया।”^१

इन कवियों को आचार्यों ने सेवा, शृंगार तथा कीर्तन की जो योजना बताई थी उसी पर चल कर इन्होंने कृष्ण के शृंगारिक रूप का खुलकर चित्रण किया है। वल्लभाचार्य के शिष्यों ने बहुत शीघ्र पुष्टिमार्ग में वैभव एवं राजसी ठाट-बाट का समावेश कर दिया था और उनके समर्थक मणि-मुक्ताओं से लदे हुए कृष्ण की आराधना बड़े-बड़े उत्सवों द्वारा करने लगे। सगुणोपासकों में जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया था बहुधा उपरले स्तर के धनाढ्य व्यक्ति थे। अतः स्वभावतः वल्लभ मत को, समाज के इस वर्ग ने अपना लिया पर कवियों की वाणी से जनसाधारण भी लाभान्वित होता रहा और इन कवियों को ही इस मत के परवर्ती प्रचार का श्रेय दिया जा सकता है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। जहाँ तक रसिकता का सम्बन्ध है, अष्टछाप के कवियों ने इसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

‘अष्टछाप’ की स्थापना ने कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों का विषय सीमित कर दिया और सूरदास जी जिनका इन आठों कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है, एकनिष्ठ हो

कर कृष्ण के मधुर रूप को, उस रूप को जो पुष्टिमार्गीय मतानुकूल था, चित्रित करने लगे। ये तथा इस शाखा के अन्य कवि भी इसी लिए केवल फुटकल पदों तक ही रह गये। किसी को कृष्ण का वह विस्तृत पूर्ण एवं व्यापक रूप नहीं मा सका जो किसी प्रबन्ध काव्य का विषय बनता पर साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, क्योंकि साहित्य काव्य के रूपों की कसौटी पर नहीं, आत्मा की कसौटी पर कसा जाता है और वहाँ इस सम्प्रदाय के अनेक कवि बहुत खरे उतरते हैं। हाँ, सामाजिक दृष्टि से इसे हम एक कमी स्वीकार कर सकते हैं। अस्तु, वाल एवं यौवन-लीलाओं तक ही ये सभी कवि रह जाते हैं। यदि इस अगुआ कवि ने कृष्णावतार को तत्त्वतः धर्म की रक्षा के हेतु के रूप में देखा होता तो वहाँ भी मानवजीवन की वे समस्त अनेकरूपताएँ विद्यमान थीं जो तुलसी के राम में थीं। पर यहाँ तो जयदेव और विद्यापति का आदर्श था, पुष्टिमार्ग का आग्रह था और 'अष्टछाप' की छाप थी। फलतः साहित्यिक मूल्यों के तराजू पर काव्य-सौष्ठव एवं रसिकता से भीजा हुआ यह प्रेम संगीत चाहे जितना भी भारी हो, पुष्टिमार्ग के प्रचार में चाहे जितना भी गौरवपूर्ण हो पर कोई ठोस जीवन-दर्शन देने में सूरदास और उनके समान सभी कृष्णभक्त कवि असफल रहे। आनेवाली पीढ़ी को इन्होंने 'राधा' 'कृष्ण' नामक नायिका-नायक अवश्य दे दिया।

सूरदास—यही महानुभाव इस शाखा के अगुआ मान जाते हैं सम्प्रदाय में इन्हें उद्भव का अवतार कहा जाता है। इनका समय सन् १४८३ से १५६३ ई० बताया गया है। चालीस वर्ष की अवस्था में ये बल्लभाचार्य के शिष्य हुए थे और उनकी प्रेरणा से ही 'भागवत' के पदों को ब्रजभाषा में गेय बनाकर कहने लगे जिसमें दशम स्कन्ध की कथा ने ही अधिक आकृष्ट किया। शेष स्कन्धों की कथा संक्षेप में फर्जअदायगी के लिए कह दी गई और इस प्रकार 'सूरसागर' का निर्माण हुआ। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है, जयदेव तथा विद्यापति ही 'भागवत' के बाद कृष्ण भक्त कवियों के उत्प्रेक थे। विद्यापति की 'पदावली' ने तो इन्हें बहुत अधिक प्रभावित किया था। लोकगीतों से भी सूर तथा अन्य कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रहे होंगे। रासलीला की प्राचीन परम्परा का बोध हम प्राप्त कर चुके हैं और यह भी ज्ञात कर चुके हैं कि 'भागवत' के इतर भी कोई लोक प्रचलित रास परम्परा चली आ रही थी। ऐसी अवस्था में कृष्ण सम्बन्धी मधुर लोकगीतों की परम्परा भी अवश्य रही होगी। विशेषतया ब्रजमण्डल में तो आज के अनेक प्रचलित लोकगीतों का मूल बल्लभाचार्य के उदय के भी तीन-चार सौ वर्ष पूर्व खोजा जा सकता है जिसमें ग्वालबाल की लीलाओं का संकेत मिलता है। स्वयं कबीर ने भी पदों के लिए ब्रजभाषा ही चुना था। आशय यह कि सूर पूर्व भी ब्रज भाषा में गीत रचे गये थे और लोक गीतों में कृष्ण को स्थान दिया गया था। पर कृष्ण काव्य की महत्ता सूरदास जी से ही है। राम-भक्ति के प्रसार में महात्मा तुलसीदास का जो स्थान है, वही स्थान कृष्ण भक्ति में सूरदास जी को दिया जाता है।

सूरदास जी ने भगवान कृष्ण के दो रूपों का चित्रण किया—पहला शिशु रूप तथा दूसरा शृंगारिक रूप। अतः उनके साहित्य में वात्सल्य तथा शृंगार की ही प्रधानता

है यह भी कहना अनुचित न होगा कि इन दोनों क्षेत्रों में ये अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। इनके वात्सल्य-चित्रण से प्रभावित होकर तुलसीदास ने भी 'गीतावली' में इसकी योजना की थी पर उन्हें वैसी सफलता न मिल सकी और जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है "उसमें बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल-चेष्टाओं के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भण्डार और कहीं नहीं।" १ यह सूरदास के बाल-चित्रण का ही प्रभाव है कि बाल-गोपाल के पूर्वजों की संख्या आज भी बहुत अधिक है। सूरदास के शृंगारिक पदों से किसी प्रकार कम प्रचार इन वात्सल्य भाव वाले पदों का नहीं है, यह चित्रण इतना मनोवैज्ञानिक और यथार्थ है कि स्वभावतः हर व्यक्ति की प्रवृत्ति को तुष्ट करता है। और उधर कृष्ण की रसिक लीलाओं के चित्रण में भी सूरदास जी को समान सफलता मिली है। यहाँ शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग एवं वियोग का उसी तन्मयता के साथ वर्णन किया गया है। ग्वाल बालों एवं गोपियों के साथ विभिन्न लीलाओं के चित्रण से 'सूरसागर' का अधिकांश भाग पूरित है। दान लीला, माखन लीला, चीर हरण लीला, रासलीला आदि में सूरदास ने 'भागवत' की सी ही निष्ठा दिखाई है, हाँ जब ये वियोग पक्ष की ओर आते हैं तो इनका कवि बहुत आगे बढ़ जाता है और वियोग की समस्त दशाओं का चित्रण सफलतापूर्वक करने लगता है। सूर की विर-हिणी राधा ने भी रसिक भक्तों को कम प्रभावित नहीं किया है। पर इन सभी चित्रणों से अधिक मर्मस्पर्शी और सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण 'सूरसागर' का ने 'भ्रमरगीत' है जिसमें निर्गुण के ऊपर सगुण ब्रह्म की स्थापना की गई है। सूरदास का यह कार्य सगुण भक्ति के प्रचार में प्रशंसनीय है। वैसे 'भ्रमर गीत' की परम्परा बहुत प्राचीन है और सूरदास के बाद भी चलती रही पर इन सब में 'सूरसागर' का 'भ्रमर गीत' अपने ढंग का अकेला है। अधिकांश कवियों ने बुद्धि द्वारा ही सगुण ब्रह्म की स्थापना कराने की ऐसी चेष्ट की है जहाँ उनकी गोपियाँ एक कुशल तार्किक बन जाती हैं जब कि सूरदास की गोपियाँ अपना हृदय खोलकर ही रख देती हैं जो कृष्णमय है और जिसमें सगुण ब्रह्म की लीलाएँ साँस की हर घड़कन में छिपी हैं। यद्यपि 'भागवत' में इस प्रकार की कोई योजना नहीं की गई थी। जहाँ सगुण-निर्गुण का तर्क-वितर्क होता तथापि सूरदास जी को इसकी उतनी ही आवश्यकता थी जितनी तुलसीदास को। यह पूर्णतया परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए किया गया है। तर्क यहाँ भी कम नहीं है क्योंकि सूरदास को भी निर्गुणवादियों को करारा उत्तर देना था पर इसमें भी सहृदयता है, केवल मानसिक खिलवाड़ नहीं और गोपियों के उपालम्भ ने तो जो कहीं-कहीं हृदय पर सीधे चोट करता है, सगुण की मान्यता स्वतः स्थापित कर दी है महानता यह है कि सगुणोपासना की साकार मूर्ति राधा ने इस तर्क-वितर्क से बिल्कुल पृथक् है। वे उद्धव के पास जाती तक नहीं हैं। तब लौटते समय निर्गुण ब्रह्म के समर्थक उद्धव स्वयं राधा के घर जाते हैं और कुछ संदेश माँगते हैं पर "हाय, राधिका कौन-सा संदेश दे। जिस गोपाल के साथ गुड़ियों के खेल खेले हैं, ठठोली से पनघट मुखरित हुए हैं, वेही आज मथुरा के सम्राट हैं। वे संदेश चाहते हैं, उन्होंने इन्हें भेजा है जो इतने समीप थे वे आज इतने

हूँ हो गये हैं। राधिका ने उद्धव को देखा और उनके दोनों विशाल नयन उमग चले”^१। उद्धव पर राधा की इस अवस्था का कितना गहरा प्रभाव पड़ा था यह भी सूरदास ने स्वयं उद्धव से ही उस समय कहलाया है जब वे लौट कर कृष्ण से मिलते हैं और राधा की करुण अवस्था का चित्रण करते हैं। सूरदास की राधा का मूल्यांकन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद जी ने जो हृदय-स्पर्शी भाव व्यक्त किये हैं वे उल्लेखनीय हैं—

“.....। सूरसागर की यही विरहविधुरा राधिका है। इस राधिका के आत्मसमर्पण में एक ऐसा गाम्भीर्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वे भगवान को अपना सर्वस्व दे देंगी वशर्ते कि भगवान चाहें। श्री कृष्ण को पाना उनका लक्ष्य नहीं है, श्री कृष्ण का तृप्त होना ही लक्ष्य है। राधिका का शरीर मन प्राण केवल एक ही उपादान से गठित है—उनकी तृप्ति।”^२

सूरदास ने जिस राधा को कृष्ण से मिलते समय ठग जाने की आशंका दिलाई थी वह अन्त तक—कृष्ण से मथुरा में पुनर्मिलन के बाद भी ठगी-सी ही रह जाती है। प्रथम मिलन तथा अन्तिम मिलन के ठीक बाद के दो चित्र देखते ही बनते हैं—

बूझत स्याम कौन तू गोरी

कहाँ रहत काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी ॥

काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी ।

सुनत रहति श्रवणन नंद ढोटाकरत रहत माखन दधि चोरी ॥

तुम्हरो कहा चोरि हम लहैं खेलन संग चलौ मिलि जोरी ।

सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातनि भुलाई राधिका गोरी ॥

और अन्त !

करत कछु नाहीं आज बनी ।

हरि आये हों रही ठगी सी जैसे चित्तघनी ॥

आसन हरषि हृदय नहि दीनों कमल कुटी अपनी ।

न्यवछावर उर अरघन अंचल जलधाराजु बनी ॥

कंचुकि तें कुच-कलश प्रगत है टूटिन तरकतनी ।

अब उपजी अतिलाज मनीहमन समुझत निज-करनी ॥

नन्ददास—अष्टछाप के अन्य कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्हीं नन्ददास के सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध है—“और कवि गढ़िया-नन्ददास जड़िया”। ये सूरदास के ही समकालीन थे। इनके रचे लगभग १५ ग्रन्थ बताये जाते हैं पर प्रकाशित केवल चार ही हैं और उनमें भी ‘रासपंचाध्यायी’ तथा ‘भ्रमर गीत’ का ही महत्व है। सैकड़ों फुटकल पदों की भी रचना इन्होंने की थी। कृष्ण रास-लीला का बहुत ही सुन्दर वर्णन साहित्यिक भाषा में किया गया है। ‘भ्रमर गीत’ में सूरदास वाली

सहृदयता का अभाव होते हुए भी काफी प्रांजलता एवं सबलता है। तार्किकता तो मार्क की है—

जौ उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ ते ?

बीज बिना तरु जर्म मोहि तुम कहो कहाँ ते ?

वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच ।

गुन ते गुन न्यारे भए, अमल बारि जल कीच ॥

परमानन्ददास—बल्लभाचार्य के कविशिष्यों में परमानन्ददास का नाम आदर से लिया जाता है। ये भी अष्टछाप में सम्मिलित थे। इनकी कविता इतनी भावपूर्ण होती रही कि इनके किसी पद को सुनकर स्वयं बल्लभाचार्य भी कई दिनों तक सुध-बुध भूल गये थे। इनके फुटकर पद ही प्राप्य हैं। जिन्हें साहित्यिक और साम्प्रदायिक दोनों महत्व दिया जा सकता है। ये लालित्य में कहीं-कहीं सूरदास की स्मृति दिला जाते हैं। इनकी भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है और ये ब्रजराज को छोड़कर वैकुण्ठ की भी कामना नहीं करते—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?

जहँ नहि नंद, जहाँ न जसोदा, नहि जहँ गोपी ग्वाल न गाय ।

जहँ नहि जल जमुना को निर्मल और नहीं कदम की छाँय ।

परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय ॥

‘परमानन्दसागर’ में इसी प्रकार के भक्ति-प्रचराक ८३५ पद संग्रहीत हैं। रसिकता में भी ये बहुत आगे बढ़े हुए थे और हाव-भाव के श्रृंगारिक चित्रण में इन्होंने खूब तन्मयता दिखाई है।

कृष्णदास—बल्लभाचार्य के शिष्यों तथा अष्टछाप के कवियों में कृष्णदास कवि रूप में तो अधिक प्रसिद्धि न पा सके पर सम्प्रदाय इन्हें आचार्य के कृपापात्र के रूप में बहुत अधिक आदर देता है। ये ही मंदिर के प्रधान थे। राधा-कृष्ण-सम्बन्धी प्रेम-लीलाओं के परम्परित चित्रण ने इन्हें भी आकृष्ट किया था। इनके फुटकर पद ही विशेष प्रसिद्ध हो सके थे।

कुंभनदास—“संतन को कहा सीकरी सों काम” वाले कुंभनदास अष्टछाप के उच्च-कोटि के भक्त मान जाते हैं जिनकी विरक्ति और अलोभ की कथाएँ सम्प्रदाय में बहुत अधिक प्रचार पा चुकी हैं। सूरदास की भाँति इन्होंने भी कृष्ण की बाल-लीलाओं तथा प्रेम-लीलाओं का चित्रण फुटकर पदों में किया है पर यहाँ वह सौन्दर्य नहीं है।

चतुर्भुजदास—अपने पिता कुंभनदास से तो इन्हें कृष्ण भक्ति की प्रेरणा प्राप्त हुई ही थी, बिट्ठलदास जी के शिष्य हो जाने और अष्टछाप में सम्मिलित होने के बाद तो ये पूरी लगन से कृष्ण-चरित्र के गान में लीन हो गये। इनके रचे तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—‘द्वादश यश’, ‘भक्ति-प्रताप’ तथा ‘हितजू को मंगल’।

छीतस्वामी—ये अष्टछाप के एक अन्य कवि हैं जिनके फुटकर पद आज भी मथुरा-बृन्दावन में लोगों द्वारा दुहराये जाते हैं। इनमें भी रसिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। बिट्ठलनाथ की शिष्यता में आने के पूर्व ये मथुरा में पंडागिरी करते थे। और बीरबल जैसे सम्पन्न लोग इनके जजमान थे।

गोविंद स्वामी—ये भी अष्टछाप के कवि हैं। विट्ठल नाथ ने इनके पदों से प्रसन्न होकर ही इन्हें अपना शिष्य बनाया था। संगीतज्ञ के रूप में भी इनकी अच्छी ख्याति थी और तानसेन भी इनका गाना सुनने आया करते थे। इनके फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त आठ कवियों के अतिरिक्त, जिन्हें विट्ठल नाथ जी ने चुनकर अष्टछाप की स्थापना की थी, कुछ अन्य कवि भी इस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये थे। बात यह है कि विट्ठल नाथ जी के आचार्यत्व एवं सूरदास के काव्य-कौशल ने वल्लभ सम्प्रदाय को बहुत अधिक प्रसिद्धि दे दी थी। दूसरे, इस सम्प्रदाय के कवियों ने कृष्ण के ऐसे रूप को अपनाया था जो पूर्णतया सहृदयता के अनकूल था। इस कृष्ण में माता-पिता अपनी वात्सल्य भावना की तृप्ति कर सकते थे तो रसिक अपनी रसिकता की प्यास बुझा सकते थे। फलतः सूरदास के कृष्ण का बहुत अधिक प्रचार हुआ और उससे प्रभावित होकर अनेक कवियों ने कृष्ण काव्य की रचना की। इनमें से कुछ ने विट्ठल नाथ जी से दीक्षा ली थी और कुछ स्वतंत्र रूप से बिना किसी साम्प्रदायिक प्लेटफार्म पर गये ही कृष्ण को अपने काव्य का विषय बनाकर कभी ब्रज पर कभी ब्रज की गोपियों पर तो कभी ब्रज-वल्लभ पर ब्रजभाषा में गेय पदों की रचना करते रहे। जिन कवियों को विट्ठलनाथ जी से दीक्षा मिली थी उनमें अष्टछाप के कवियों के बाद पठान रसखान का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रसखान की रसिकता का इतना प्रचार रहा है कि लोगों ने शृंगार-सम्बन्धी कविता-सवैयाओं को ही 'रसखान' संज्ञा दे डाली थी। 'प्रेम वाटिका', 'सुजान रसखान', इनके दो प्रकाशित ग्रन्थ हैं जिनमें 'सुजान-रसखान' की ख्याति बहुत अधिक हुई और भक्तों के कण्ठों पर इसके सवैसे गूँजते रहे। 'मानुष हों तो वही रसखान' या 'लकुटी अरु कामरिया पर' आज भी भक्त जन उतनी ही तन्मयता से रीझ कर 'आठहु सिद्धि नवों निधि का सुख' न्यूँछावर करने को तत्पर हो उठते हैं। इनके कृष्ण का स्वरूप देखने योग्य ही है—

सेस महेस गनस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ।

जादि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं ॥

नारद से सुकव्यास रदैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।

ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं ॥

मीरा बाई—साम्प्रदायिक दृष्टि से मीरां बाई को हम किसी एक विशेष मंच पर नहीं बिठा सकते हैं और यदि इनकी भक्ति का बीज खोजा जाय तो वह, सम्भवतः स्वयं मीरां से अपरिचित, प्राचीन आलवार परम्परा की भक्ति आण्डाल (अंदाल) की भक्ति में उपलब्ध होगा जिन्होंने कृष्ण के प्रेमोन्माद में कहा था—

“अब मैं पूर्ण यौवना हो गई हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती हूँ।”

देश के पश्चिमोत्तर भारत में सातवीं शताब्दी से ही सूफियों के बढ़ते हुए प्रभाव ने सम्भवतः मीरा को प्रभावित किया होगा। पर इन समस्त साधनों को निस्सन्देह अप्रत्यक्ष माना जायगा और 'गुरु मिला रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी' भी मीरां की भक्ति को आदि स्रोत नहीं कहा जा सकता। इन्हीं कारणों से हम मीरां को किसी सम्प्रदाय में नहीं

रख सकते। प्रभाव की दृष्टि से हम 'भागवत' तथा 'गीतगोविन्द' को ही स्वीकार कर सकते हैं जिनकी मधुरिमा एवं कृष्ण के प्रति जिनके अनन्य अनुराग ने मीरां को 'प्रेम दीवानी' बना दिया था। सन्त मत का प्रभाव तो खोजने भर के लिए ही कहा जायगा। कृष्ण भगवान को पति रूप में स्वीकार करने वाली और उन्हीं के विरह में विह्वल होकर 'ले कटारी कंठ चीरूँ कलूँगी अपघात' तक की कल्पना करनेवाली मीरां अपनी तन्मयता और कृष्ण के प्रति एकनिष्ठा में अब तक के सभी कवियों को पीछे छोड़ जाती है। उनका नारीत्व भी उनकी इस सफलता में सहायक हुआ है।

मीरां न जब राजघराना त्याग कर द्वारका और वृन्दावन के मन्दिरों में साधुओं के संग बैठ कर अपने प्रियतम कृष्ण के प्रति अपना हृदय लोक-लाज खोकर भी खोलना आरम्भ कर दिया तो सैकड़ों की संख्या में पहुँचे हुए भक्त और सघे हुए कवि मुक्त कण्ठ से इनकी प्रशंसा करने लगे। सोलहवीं शताब्दी के कृष्ण-गायकों में मीरां का स्वर काफी ऊँचा था और उनकी पुकार ही सच्ची पुकार लगती थी जिसने कृष्ण भक्तों को अपनी ओर आकृष्ट किया। 'नरसी' जी का मायरा', 'गीत गोविन्द की टीका', 'राग गोविन्द' तथा 'राग सोरठा' इनके चार ग्रन्थ बताये जाते हैं।

कृष्ण का जो रूप वल्लभ, राधा वल्लभ, हरिव्यासी, गौड़ीय तथा सखी सम्प्रदाय-वालों ने दे रखा था वह काव्य-रचना की दृष्टि से इतना आकर्षक सिद्ध हुआ कि अगणित कवियों ने इसे अपनाया और कृष्ण के किसी एक रूप पर अथवा सभी रूपों पर उन्होंने कुछ पद गाये। इन कवियों की सूची बड़ी लम्बी है और इससे भी लम्बी सूची उन कवियों की है जो इधर-उधर भटकते हुए भी कभी-कभी कृष्ण पर भी दो-चार पद लिख गये हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आगे चलकर तो प्रेम-काव्य और कृष्ण-काव्य में कोई काव्यगत अन्तर ही नहीं दीखता। किन्तु निश्चय ही इन कवियों का भक्ति आन्दोलन के विकास में कोई योग-दान नहीं है। हाँ इनमें वे, जो एकनिष्ठ होकर कृष्ण की उपासना की दृष्टि से उनके गीत गाते रहे, भक्तों को प्रेरणा देने में अवश्य सफल हुए। नरोत्तम दास जी का नाम हम ऐसे ही कवियों में गिना सकते हैं, जिनके 'सुदामा चरित्र' ने महाराजा कृष्ण की महती उदारता, बन्धुत्व और विशालता का प्रचार समस्त हिन्दी-क्षेत्र में किया था। पर इस ढंग के कवि बहुत ही कम हैं, अधिकांश ने कृष्ण की माधुर्योपासना को ही अपनाया था।

१८ : हितहरिवंश और राधा- वल्लभौय हिन्दी-कवि

हितहरिवंश

जिस समय निम्बार्क तथा वल्लभानुयायी राधा-कृष्ण की युगल उपासना का प्रचार कर रहे थे उसी समय हितहरिवंश जी ने राधावल्लभ नामक अपना एक नया मत खड़ा किया। पाण्डित्य तथा असाधारण प्रतिभा मिश्रित अपनी भावुकता को जब हरिवंश जी ने छन्दों में बाँधना आरम्भ किया तो अनेक कवि इनके अनुयायी हो गये और देखते-देखते ब्रजमण्डल में राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभुत्व स्थापित हो गया। हितहरिवंश जी का समय सन् १५०२-१५५२ माना जाता है। ये प्रारम्भ में किस मत के अनुयायी थे, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग इन्हें निम्बार्क और कुछ माध्व सम्प्रदाय से सम्बन्धित बताते हैं। वास्तविकता जो भी हो नया मत चला लेने के पश्चात् से तो कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था कि ये प्रारम्भ में किस सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी किसी पूर्ण विरक्त से ये किसी प्रकार कम न थे। राधा-कृष्ण की युगल उपासना को महत्व देते हुए भी ये राधा की ओर अधिक आकृष्ट थे और इस सम्प्रदाय वालों का तो मत है कि राधा न ही इन्हें दीक्षा भी दी थी।

इन्होंने किसी मौलिक दार्शनिक मत का प्रतिपादन नहीं किया है, सिद्धान्तों का निरूपण करने वाले इनके ग्रन्थ 'हित चौरासी' में भी केवल कृष्ण की रसिकता को ही बार-बार मान्यता प्रदान की गई है। यह ग्रन्थ ब्रज भाषा में लिखा गया है और इसकी अनेक टीकाएँ यह लक्षित करती हैं कि हितहरिवंश जी के इस ग्रन्थ का प्रचार सम्प्रदाय में बहुत अधिक हो गया था। इनका दूसरा ग्रन्थ है 'राधा सुधानिधि' जो संस्कृत में लिखा गया है।

इन्होंने अपनी साम्प्रदायिक तथा सैद्धान्तिक मान्यताओं के स्पष्टीकरण के लिए २७ स्फुट पद भी लिखे हैं। इनका चौथा ग्रन्थ है 'यमुनाष्टक' पर जैसा कि डा० विजयेन्द्र स्नातक ने सुझाया है, इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।^१

नाभादास तथा प्रियादास ने इनके विचारों पर अपने जो मत व्यक्त किये हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि हितहरिवंश जी किसी विधि या निषेध के प्रपंचों में न पड़ कर एकमात्र राधा कृष्ण उनमें भी राधा में अनन्य भक्ति को ही सब कुछ मानते थे। इनकी 'भजन की रीति' को सभी नहीं जान सकते थे प्रत्युत लाखों में कोई एक ही जान पाता था। 'राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइए' कह कर प्रियादास ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि हितहरिवंशजी राधा को ही प्रधानता देते थे और नाभादास ने 'कुंजकेलि दम्पति तहाँ की करत खवासी' लिख कर यह सूचित किया है कि वे रसिकविहारी राधावल्लभ की ही चाकरी में लीन रहते थे। पर हितहरिवंश का ठीक-ठीक मूल्यांकन उनके ही अनुयायी

श्री व्यास जी ने किया है। व्यास जी के ये उद्गार हितहरिवंश जी की मृत्यु पर प्रस्फुटित हुए थे—

हुतो रसरसिकन को आधार ।

बिन हरिवंशहि सरस रीति को कापै चलिहै भार ?

को राधा दुलरावै गावै, बचन सुनावै चार ?

वन्दावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार ?

पद-रचना अब कापै ह्वै है निरस भयो संसार ।

बड़ो अभाग अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार ॥

जिन बिन छिन-छिन जुग सम बीतत सहज रूप आगार ॥

व्यास एक कुल कुमुद चंद बिन उडुगन जूठी थार ॥

ब्रजभाषा काव्य के विकास में इन महात्मा ने बहुत अधिक सहायता पहुँचाई है। इनके शिष्य भी अच्छे कवि हो गये हैं। सिद्धान्त-निरूपण के पदों में भले ही कुछ शुष्कता हो पर इनके फुटकर पद बड़े चुटीले हैं।

एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि

स्यामा स्यामा मिले सरद की जामिनी ।

हृदय अति फूल, रसमूल पिय नागरी

कर निकरमत्त मन विविध गुन रागिनी ।

सरस गीत परिहास आवेस बस

दलित दल मदन बल कोक रस जामिनी

हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे

प्रिया अति सूर सुख-मुरत संग्रामिनी ॥

राधावल्लभ सिद्धान्त

प्रेम तत्व को आधार बना कर चलने वाले इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त-निरूपकों ने प्रेम-लक्षणा भाकेत के उपकरणों की ही छानबीन अधिक की है, और जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया था, इस सम्प्रदाय को तत्व मीमांसा के क्षेत्र में कोई पृथक् मान्यता नहीं दी जा सकती। वास्तव में यह एक पद्धति विशेष थी, न कि कोई दार्शनिक मतवाद किन्तु जब सम्प्रदाय खड़ा हो चुका था तो यह भी आवश्यक था कि इसके अनुयायी परम्परानुसार अपना कोई पृथक् दर्शन दें। फलतः सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने इस दिशा में प्रयत्न किये। हमें ज्ञात है कि मध्यकाल तक प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखने की परम्परा सुदृढ़ हो चुकी थी और वह मत लोक-चक्षु में हेय समझा जाता था जिसका कोई भाष्य न हो। इसी प्रकार द्वैत या अद्वैत में से किसी न किसी रूप में एक को स्वीकार करने के लिए भी भाष्य की समसामयिक आवश्यकता थी। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने कठिन परिश्रम द्वारा 'राधावल्लभीय भाष्य' नाम से अब तक देखने में दो और सुनने में चार भाष्यों की खोज की है। किन्तु उक्त विद्वान ने इन भाष्यों की यथार्थता पर सन्देह प्रकट

करते हुए ठीक ही लिखा है कि “हमारी यह निश्चित धारणा है कि भाष्य लिख कर वैष्णव बनने का मोह हितहरिवंश जी के बहुत बाद उत्पन्न हुआ और तभी भाष्य-लेखन-व्यापार के चक्कर में कुछ परम्परा-प्रेमी महानुभाव पड़े। अन्यथा रस-भक्ति और प्रेम तत्व की उपासना में ब्रह्मसूत्रों पर या प्रस्थानत्रयी आदि किसी भी ग्रन्थ पर भाष्य-प्रणयन की कोई आवश्यकता नहीं है। जो भाष्य राधावल्लभ सम्प्रदाय में लिखे भी गये उनका न तो पठन-पाठन हुआ और न उन्हें साम्प्रदायिक मन्तव्यों की स्थापना में किसी भी रूप में स्वीकार किया गया।”^१ इन्होंने भाष्यों की भाँति राधावल्लभ मत के “सिद्धाद्वैत” वाद के चौकटे में बरबश बाँधने के प्रयास को भी एक अनौचित्य ही स्वीकार किया है।

हम पुनः पूर्व अपने विषय पर आते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रेम तत्व पर दृष्टिपात करेंगे। प्रेम को ही इस सम्प्रदाय में परात्पर तत्व स्वीकार किया गया है और इसे ही रस की संज्ञा दी गई है। यह रस सहज और असीम है जिसका उद्भव राधा-कृष्ण के नित्य विहार से होता है। प्रेम के लिये इस सम्प्रदाय में ‘हित’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ मुक्ति की कामना भी नहीं प्रत्युत साधक राधा-कृष्ण के नित्य विहार-दर्शन को ही सब कुछ मानता है। यही उसकी मुक्ति है। सहचरी या जीवात्मा का उपास्य भाव यह नित्य-विहार-दर्शन प्रेमतत्व से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह प्रेम तत्व ही एकमात्र साधन है और इस साधन की उपलब्धि सम्भव है लौकिक रूप विसर्जित करके राधिका रानी की सेवा परिचर्या से। चराचर जगत को इस सम्प्रदाय में उपर्युक्त प्रेम तत्व युक्त माना जाता है। पर हितहरिवंश जी ने इस प्रेम तत्व को लौकिकता से बहुत ऊँचा उठाने की चेष्टा की थी। सम्भवतः उन्हें इसमें स्थूलता आ जाने की आशंका थी अतः उन्होंने इसे शाश्वत तत्व मानते हुए सांसारिक संयोग-वियोग से इसे सर्वथा रहित बताया। हितहरिवंश जी ने ही आने वाले लोगों के लिए विचित्र विरह-मिलन की योजना, जो पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा भिन्न एवं विशिष्ट थी, कर दी थी।

हितहरिवंश जी के पूर्व कृष्णोपासना में, श्री सम्प्रदाय में दास्य भाव, निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया भाव, माध्व गौड़ी सम्प्रदाय में परकीया भाव तथा वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य भावयुक्त रति की विरहावस्था की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। पर हितहरिवंश जी को ये भाव सन्तुष्ट न कर सके क्योंकि वे स्वकीया में केवल मिलन तथा परकीया में केवल विरह की स्थिति के कारण एकांगी समझते थे। अतः इन्होंने प्रेम की पूर्णता वहाँ स्वीकार की जहाँ स्वकीया-परकीया में से किसी भाव का बोध न होते हुए भी नित्य मिलन में भी विरहावस्था की स्थिति की योजना हो। यह विरह रस ही हितवंश जी के सिद्धान्तों का मूल है जिसमें ‘मिलेहि रहत मानौं कबहुँ मिलै नहीं’ का भाव जीवन पर्यन्त बना रहता है। यही कारण है कि यहाँ सदा विरहिणी राधा को प्रधानता मिल जाती है जो स्वतंत्र पराशक्ति रूप है।

लौकिक कर्मकाण्डों—विधि और निषेधों को भी इन्होंने कोई महत्व नहीं दिया था पर आचार्य के बाद की पीढ़ी ने इनकी मूल भावना पर ही कुठाराघात करते हुए, सम्प्रदाय को सैद्धान्तिक मंच पर लाने के मोह में अनेक विधि-विधानों की योजना कर दी और इस सम्प्रदाय में भी विभिन्न जटिलताओं का समावेश हो गया। हितहरिवंश जी तो दर्शन की गुत्थियों से सर्वथा दूर रह कर केवल प्रेम-तत्व-मीमांसा को ही अत्यन्त सरल एवं सुबोध ढंग से दर्शाना चाहते थे। वे केवल प्रेमा भक्ति का ही प्रतिपादन करना चाहते थे। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने प्रेम तत्व की व्याख्या सम्प्रदायसम्मत करते हुए भी इसमें कुछ नये तथ्यों का समावेश कर दिया। उदाहरणार्थ मान का प्रकरण लिया जा सकता है। मान से विरह की उत्पत्ति होती है अतः मान को भी स्थूल रूप में, प्रारम्भ में, अस्वीकार किया गया था, किन्तु विरह-काव्य, चाहे वह जिस आधार पर खड़ा हो, लाख सचेष्ट प्रयास करने पर भी मान को अधिक समय तक दूर नहीं रख सकता। यही कारण है कि व्यास जी ने अपनी वाणी में 'मान रस' प्रकरण में इसका वर्णन विस्तार से किया है, किन्तु वह हितहरिवंश जी के मत के विरोध में नहीं पड़ता है क्योंकि व्यास जी ने मिलन की दशा में ही मान की योजना कर दी। वह इस प्रकार है कि एक पल के लिए मिलनावस्था में ही राधा कुछ उदास हो जाती हैं, वस यही मान और विरह होता है। ध्रुवदास, नेहीनागरीदास, गोस्वामी रूपलाल जी आदि ने भी विरह-मान का वर्णन किया है। मान जनित विरह की कल्पना कर लेने पर विरह को भी दो भागों में विभक्त किया गया—स्थूल विरह तथा सूक्ष्म विरह। विरह की जिस अटपटी स्थिति का चित्रण ध्रुवदास ने किया है वह अत्यन्त मार्मिक है। यहाँ 'जल पीवत है प्यास को प्यास भयो जल सोई' की अवस्था एक द्वितीय अलौकिकता की ओर विरह को खींच ले जाती है। जहाँ अष्टछाप कवियों की राधाकृष्ण से दूर होकर विक्षिप्तावस्था को पहुँचती हैं (भागवत की राधा की भी प्रायः यही दशा थी) वहाँ राधावल्लभियों की राधाकृष्ण की क्रीड़ा में बैठी हुई थी सहसा 'हा मोहन ! मोहन' कह उठती हैं।

यहाँ हम आचार्य हरिवंश जी की दो प्रसिद्ध कुण्डलियों का उल्लेख करेंगे जो राधावल्लभ सम्प्रदाय की मान्यताओं की आधार-शिला मानी जा सकती हैं। उनकी इन्हीं दोनों कुण्डलियों में, जो अपने प्रगाढ़ प्रेम के लिए प्रसिद्ध सारस-युगल तथा चक्रवाक-दम्पति की उक्ति के रूप में हैं, सम्पूर्ण राधावल्लभ भाव-धारा को बाँधा जा सकता है।

सारस की उक्ति—

चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त पनकज्ज ।
 सर अन्तर, अरु काल निशि, तरफ तेज घन कज्ज ॥
 तरफ तेज घन कज्ज लज्ज तुहि बदन न आवै ।
 जल बिहून करि तैन भोर किया भाय बितवै ॥
 हित हरिवंश बिचारि याद अस कौन जु चकई ।
 सारस यह सन्देश प्रान घट रहै जु चकई ॥

चकई की उक्ति—

सारस सर बिछुरन्त को जौ पल सह्य सरीर ।
 अगिन अरुंग जु तिय भलै तो जानै पर पीर ॥
 तो जानै पर पीर धीर धरि सकहि बज्र तन ।
 मरत सारतहि फूटि पुनिन परवौ जु लहत मन ॥
 हितहरिवंश बिबारी प्रेम बिरह बिन का रस ।
 निकट संत नित रहत मरन कह जानै सारस ॥

राधा वल्लभ सम्प्रदाय में सारस का वह त्याग जिसमें, वियोग में, प्राणान्त हो जाता है और चकई की वह विरहावस्था जिसमें मिलन की उत्कट इच्छा बनी रहती है, दोनों स्थितियाँ मिलकर प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। इनमें से कोई एक स्वतः पर्याप्त नहीं है।

प्रेम-तत्त्व के निरूपण में हित हरिवंश जी ने जो श्रम किया था उसको आगे बढ़ाने और पूर्णता प्रदान करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य ध्रुवदत्त जी ने किया। उनका 'सिद्धान्त विचार' इसका प्रमाण है। उन्हीं के शब्दों में—

“प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, आधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस, रुचि तरंग बढ़ता रहै। सहज सुखन्द मधुरता, मादकता, जाको आदि अन्त नाहि छिन-छिन नूतनता, स्वाद ।”

किन्तु प्रेम का पथ बहुत ही दुरूह है और इस पर सभी नहीं चढ़ सकते हैं। लगभग सभी सम्प्रदाय के भक्तों ने प्रेम का मार्ग कठिन बताया था किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय वालों ने 'प्रेम पंथ ऐसी कठिन सब कोउ निबहुत नाहि' की ध्वनि बार-बार दुहराई है। इनके प्रेम तत्त्व के आगे ब्रज की गोपियाँ भी, जिनकी मूरि-मूरि प्रशंसा भागवत-कार ने की थी, पीछे पड़ जाती हैं। बात यह है कि “आत्म सुख” का भाव उदित होते ही शुद्ध प्रेम तत्त्व का लोप हो जाता है। इसके लिए तो प्रेमी तथा प्रेमपात्र का आत्मविसर्जन आवश्यक है तभी वे एक दूसरे की तुष्टि कर पायेंगे और यही शुद्ध प्रेम तत्त्व है। इसकी उपलब्धि सम्भव है अनन्यता से। लगभग सभी कवियों ने इस अनन्यता की आवश्यकता बताई है। राधा-कृष्ण की उपासना करते समय किसी अन्य देवी-देवता का भाव आ गया, या मन विचलित हो गया तो फिर अनन्यता कैसी और तब प्रेम कैसा। यह अनन्यता इस सम्प्रदाय में इतना महत्व पाती गई कि इसका घनिष्ठ सम्बन्ध वृन्दावन तक से जुट गया और जो इस पावन रसमय स्थान का ध्यान छोड़ कर अन्यत्र ध्यान लगाता है वह फिर धर्मी कैसा, रसिक कैसा। व्यास जी ने तो इस अनन्यता पर बहुत ही अधिक बल दिया है और प्रेम मार्ग के लिए इसे अनिवार्य बताया है।

‘नेम’ और ‘विधि’ पर भी राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने विचार किया है जिसकी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि समस्त ‘नेमों’ तथा ‘विधियों’ का पर्यावसान ये घुमा फिर कर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में कर देते हैं। प्रारम्भ में ही संकेत किया गया था कि इस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य ने अपने प्रेम तत्व में भक्ति की जटिल विधियों को कोई स्थान नहीं दिया था। यह तो रस-भक्ति है जिसमें शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादाओं का आरोप किसी प्रकार नहीं टिक सकता था। यही कारण है कि अन्यान्य सम्प्रदायों के बाह्याडम्बरों एवं आचार्यों से हट कर राधावल्लभ सम्प्रदाय एकनिष्ठ होकर केवल अलौकिक रस-साधना में ही लीन रहा।

राधावल्लभीय साहित्य—हिन्दी साहित्य की दृष्टि से राधावल्लभीय साहित्य का अपना महत्व है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस साहित्य का महत्व स्थापित करते हुए यह सूचित किया है कि इस सम्प्रदाय के बिखरे हुए विपुल वाणी ग्रन्थों का संग्रह किया जाय तो “निश्चय ही परिणाम की दृष्टि से यह ब्रजमण्डल के अन्य सभी भक्ति सम्-दायों से अधिक होगा..... विगत चार सौ वर्षों में ब्रज में जो साहित्य सृजन हुआ उसका आधा भाग राधावल्लभीय भक्तों का है..... यदि काव्य सौष्ठव के आधार पर राधावल्लभीय साहित्य की परख की जाय तो उसमें भी इस सम्प्रदाय का साहित्य सर्वथा हेय या उपेक्षणीय नहीं है। अष्टछाप के सूरदास, नन्ददास और परमानन्द दास को छोड़ कर शेष कवियों से तथा निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवियों से वह गुणोत्कर्ष में भी नीचा नहीं ठहरेगा। ब्रजभाषा साहित्य को काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से समृद्ध बनाने का श्रेय यदि अष्टछाप के कवियों को है तो उसे भक्ति-भाव तथा लीला-गान से परिपूर्ण करने का श्रेय राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों को ही प्राप्त है।”

इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्प्रदाय के कवियों ने ब्रजभाषा की बहुत बड़ी सेवा की है पर सभी पद्यकारों को हम विशुद्ध अर्थ में कवि की संज्ञा नहीं दे सकते। दूसरे, इनका साहित्य प्रायः गोप्य वस्तु के रूप में ही रहा जिससे प्रचार एवं सामाजिक प्रभाव की दृष्टि-से हम इसे वह महत्व नहीं प्रदान कर सकते हैं जो अन्य वैष्णव कवियों को दिया जा सकता है। सम्प्रदाय के आदि संस्थापक हितहरिवंश जी के पश्चात् दामोदर दास (सेवक जी), हरिराम व्यास, ध्रुवदास, नेही नागरीदास, कल्याण पुजारी, अनन्य अली, रसिक दास, वृन्दावन दास (चाचा जी) आदि का नाम राधावल्लभीय कवियों में विशेष उल्लेखनीय है।

सेवक जी—(सन् १५२०-१५५३ ई०) का महत्व उनके ग्रन्थ ‘वाणी’ के कारण सम्प्रदाय में बहुत अधिक बढ़ा हुआ है। अपनी वाणी में सेवक जी ने आचार्य हरिवंश की ‘चौरासी’ का मर्म समझाया है। इसीलिए कहा जाता है—‘चौरासी अरु सेवक वानी, इक संग लिखत पढ़त मुखदानी।’ सेवक जी की रचना का साम्प्रदायिक महत्व ही अधिक है पर उनमें सामाजिक जागरूकता की भी कम झलक नहीं मिलती है।

हरिराम व्यास (व्यास जी) (सन् १४९२-१५५२ ई०)---यद्यपि कुछ लोग इन्हें हितहरिवंश का शिष्य नहीं स्वीकार करते हैं किन्तु अधिकांश पण्डित इन्हें उनका शिष्य मानते हैं। व्यास जी ने राधावल्लभ सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया था और अपनी मधुर-सरस कविताओं द्वारा जो परिणाम में बहुत ही अधिक हैं, इस सम्प्रदाय का साहित्य भण्डार भरा था। मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए इन्होंने 'नवरत्न' नाम संस्कृत ग्रन्थ की रचना की थी और राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को ऊँचा उठाने तथा उसे रसिकों एवं भक्तों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने ७०० पदों की 'व्यास वाणी' की रचना ब्रजभाषा में की थी। इनकी 'रास पंचाध्यायी' नामक रचना का उल्लेख करते हुए आचार्य शुक्ल ने बताया है कि इसे भूल से लोगों ने 'सूरसागर' में मिला लिया है। कृष्णोपासना में रसिक-परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कवियों में व्यास जी का स्थान काफी ऊँचा है। 'रसिक अनन्य हमारी जाति' कह कर स्वयं व्यास जी ने ही अपना जो परिचय दिया है उसमें स्वयं को कुलदेवी राधा, 'बरसानो खेरो' पति ब्रजवासी और गोपाल गोत्र का स्वीकार किया है। आशय यह कि ये रसिकों की एक पृथक जाति ही मानते थे जो 'गोपाल गोत्र' के थे। राधा, गोपाल, ब्रज और इन सब के प्रति प्रेम या रसिक भाव का इससे बड़ा उदाहरण और क्या प्राप्त हो सकता है। रासवर्णन में तो ये कहीं-कहीं सूरदास की समता करने लगते हैं। शृंगारिकता यहाँ पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

इनका रास कितना रसमय है :—

सुधर राधिका प्रवीन बीना, बर रास रच्यो,

स्याम संग बर सढंग तरनि-तनया तीरे।

आनदकंद वृन्दावन सख मंद मंद पवन,

कुसुमपुंज तापदवन, धुनत कल कुटीरे ॥

रनित किकनी सुचार, नूपुर तिमि बलय हार,

अंग बर गृदंग ताल तरल रंग मीरे,

गावत अतिरंग रह्यो, मोपै नहि जात कह्यो,

व्यास, रस प्रवाह बह्यो निरखि नन सीरे ॥

ध्रुवदास—(सन् १५७३-१६४३ के आसपास)---राधावल्लभिय कवियों में ध्रुवदास का स्थान हरदृष्टि से काफी गौरवपूर्ण है। सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से तो सम्प्रदाय इनका ऋणी है। ये हितहरिवंश के शिष्य थे। सम्प्रदाय में इन्हें राधा से वरदारन प्राप्त होने की भी बात कही जाती है। इनके काव्य की रसात्मकता उच्च कोटि की है और पाण्डित्य तो इनमें था ही। फलतः इनका विषय भी व्यापक है। इनके ग्रन्थों की संख्या ४२ तक बताई जाती है जिन्हें 'लीला' नाम से अभिहित किया जाता है।^१ इनमें आचार्यत्व भी कम न था, अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को छन्द-बद्ध करने में इन्होंने कहीं भी आचार्य मत का विरोध नहीं आने दिया है प्रत्युत सर्वत्र प्रेमलक्षणा मधुरा भक्ति का सम्प्रदाय-सम्मत रूप ही चित्रित किया है। इन्होंने गद्यवार्त्ता की भी रचना की थी जिससे सिद्धान्तों को समझने में

सुविधा हो। वास्तविकता तो यह है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के किसी साहित्यकार ने अब तक इतना व्यापक एवं ठोस प्रयत्न नहीं किया था। वृन्दावन, राधा, कृष्ण, नित्य-विहार, रस, निकुंजलीला, रसोपासना, प्रेमतत्व आदि सभी सम्बन्धित विषयों पर इन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी इनका साहित्य काफी ऊँचा है।

उपेक्षात्मक कथन भी ये कितने सरल और सुन्दर ढंग से कह पाये हैं—

प्रेम बात कछु कहि नहि जाई । उलटी चाल तहाँ सब भाई ॥

प्रेम बात सुनि बौरी होई । तहाँ सयान रहे नहि कोई ॥

तन मन प्रान तिही छिन हारै । भली बुरी कछु बैन विचारे ॥

ऐसो प्रेम उपजि है जवहीं । हित ध्रुव बात बन गीत बहीं ॥

ध्रुवदास जी ने 'भवत' नामावली की भी रचना की थी जिसमें कुल १२६ भक्तों के नाम गिनाये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का अपना महत्व है, यद्यपि इसका विवरण बहुत ही संक्षिप्त है और मधुरोपासकों के अतिरिक्त कुछ अन्य भक्तों के भी नाम इसमें गिना दिये गये हैं।

नेही नागरीदास (जन्म १५३३ ई०) ध्रुवदास के बाद राधावल्लभीय कवियों में नेही नागरीदास का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने 'सिद्धान्त दोहावली', 'पदावली' तथा 'रसपदावली' की रचना की थी। 'सिद्धान्त दोहावली' का बहुत बड़ा साम्प्रदायिक महत्व है जिसमें इन्होंने हितहरिवंश की प्रेम लक्षणा भक्ति का मर्म प्रकाशित किया है। शेष दोनों ग्रन्थ रसिकता को आगे बढ़ाने वाले ग्रन्थों की कोटि में आदर पूर्वक बैठाय जा सकते हैं जिनमें नेही जी ने रास, रति क्रीड़ा आदि का शृंगारिक वर्णन किया है। इनके ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हैं और ये हस्तलिखित प्रतियों में ही पड़े हुए हैं।

कल्याण पुजारी—(अनुमानतः सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण) राधावल्लभ सम्प्रदाय को कल्याण पुजारी के रूप में दूसरा अनन्य एकनिष्ठ भक्त और सफल कवि प्राप्त होसा है जिसने अपने कोमल पदों से सम्प्रदाय-सम्मत प्रेम तत्व का प्रचार किया। इनके काव्य-सौष्ठव की प्रशंसा की जाती है। इन्होंने फुटकर पद ही लिखे हैं। उनमें जो सरसता और माधुर्य गुण है वह अद्वितीय है।

अन्य कवि—अनन्य अली, रसिकदास तथा वृन्दावन दास (चाचा जी) इस सम्प्रदाय के अन्य परवर्ती प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिन्होंने राधावल्लभ मत के प्रचार में अपनी ललित एवं विपुल रचनाओं द्वारा योग दिया था। इनमें अनन्य अली ने लगभग ६००० पदों की रचना वाणी में की है, रसिक दास की वाणी भी सैकड़ों पदों से युक्त है और चाचा जी ने तो इतने विशाल साहित्य का सृजन किया था कि लोगों ने इन्हें चार लाख पदों के रचयिता के रूप में याद किया, पर निश्चय ही वह अत्युक्ति है। इतिहासकारों के लिए इनका विपुल साहित्य भण्डार अनुसंधान का विषय बन सकता है। 'लाड़ सागर' ब्रज प्रेमानन्द सागर', वृन्दावन जस प्रकाश बेली, 'रसिक पथ चन्द्रिका।' 'कृपा अभिलाषी बेली' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

१ विशेष विवरण के लिए 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' पृष्ठ ५२४ पर दी गई तालिका द्रष्टव्य है।

१९ : हरिव्यास जी और सखी सम्प्रदाय के कवि

हमें ज्ञात है कि सर्व प्रथम निम्बार्काचार्य ने ही राधा की उपासना को प्रचारित करने का सफल प्रयास किया था। राधा को जो शास्त्रीय आधार इन्होंने दिया था उससे प्रेमोपासना का मार्ग प्रशस्त हो चुका था और शास्त्रानुमोदित तो यह भागवतकार की चेष्टाओं से पहले ही हो चुका था। यही कारण है कि निम्बार्काचार्य के सनक सम्प्रदाय से राधा-कृष्ण सम्बन्धी अनेक उपसम्प्रदायों का कालान्तर में उद्भव हुआ।

निम्बार्काचार्य के चार शिष्य कहे जाते हैं—श्री निवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, गौर-मुखाचार्य तथा लक्ष्मण भट्ट। इन शिष्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना करके राधा-कृष्ण की उपासना को आगे बढ़ाया था। इनमें भी मथुरावासी श्रीनिवासाचार्य जी प्रधान शिष्य थे जिन्होंने 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक शारीरिक मीमांसा भाष्य लिखा था। इन शिष्यों की परम्परा जैसे-जैसे आगे बढ़ती गई वैसे-वैसे राधा कृष्ण की उपासना का प्रचार होता गया। सौभाग्यवश इस सम्प्रदाय को पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, सुन्दरभट्टाचार्य, केशव काश्मीरी आदि भेदावी एवं अपरिमित प्रतिभाशाली व्यक्ति मिल गये जिन्होंने निम्बार्क दर्शन की सुदृढ़ स्थापना तथा व्यापक प्रचार में सारा जीवन लगा दिया। सुन्दर भट्टाचार्य तथा केशव काश्मीरी के पाण्डित्य का लोहा उस युग से सभी आचार्य मानते थे और इनके प्रयासों से सनक सम्प्रदाय को बहुत अधिक गौरव प्राप्त हो गया। अपने सनक मतानुयायी भाष्यों एवं टीकाओं से इन आचार्यों ने उपनिषद्, 'गीता' तथा 'ब्रह्मसूत्र' दर्शन को निम्बार्क मत के पक्ष में दिखाते हुए समकालीन वैष्णव सम्प्रदायों के समक्ष अपने सम्प्रदाय को, और विशेषतया राधा-कृष्ण की उपासना को ऊपर उठाया। राधा-कृष्ण की इस उपासना में रसिकता की पूरी-पूरी गुंजाइश लगभग सभी आचार्यों ने छोड़ रखी थी। केवल कुछ ही आचार्य ऐसे थे जो कृष्ण के मधुर भाव को महत्व न देकर उनके दिव्य भाव या ऐश्वर्य भाव को प्रधानता देते थे। केशव काश्मीरी ने भगवान कृष्ण के इसी ऐश्वर्य भाव को महत्व दिया था। पर इस ऐश्वर्य में भी मधुरिमा निहित थी और उनके शिष्य श्री भट्ट (समय अनुमानतः १६वीं शताब्दी का शेषार्ध) ने माधुर्य भाव को ही ग्रहण करके उसका व्यापक प्रचार किया था।

श्री भट्ट—निम्बार्क मत के प्रथम ब्रजभाषा कवि माने जाते हैं। १६वीं शती में इन्होंने रासलीला तथा कृष्ण की मधुर छवि के चित्रण द्वारा सनक सम्प्रदायानुयायियों को मधुरोपासना की ओर आकृष्ट किया था।

'युगल शतक' नामक १०० पदों वाले ग्रन्थ ने कृष्ण-भक्तों को अपने समय में इतना आकृष्ट किया था कि इन पदों का पाठ सम्प्रदाय के इतर भी बहुत ही आदर के साथ किया जाता था। 'आदिवानी' इनकी दूसरी रचना है। सम्प्रदाय में यह भी कहा जाता

है कि जब ये मुग्ध होकर पद गाने लगते थे तो भगवान पदानुरूप वेश में उनके सामने उपस्थित हो जाते थे। निम्न पद गाते समय राधा-कृष्ण ने उन्हें दर्शन दिया था—

भीजत कब देखौं इन नंना

स्यामा जू की सुरंग चूनरी, मोहन की उपरंना ॥

तभी राधा-कृष्ण आते हैं और पद पूरा होता है—

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े जतन कियो कछु सेंना

श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिससे घिरि आई जल सेना ॥

इनके शिष्य हरिव्यास जी ने भी गुरु के पद-चिह्नों का अनुसरण किया। वास्तव में निम्बार्क मत में रसिक सम्प्रदाय के संस्थापक हरिव्यास जी ही माने जाते हैं। इन्हीं के प्रयासों से 'रसिक सम्प्रदाय' नामक शाखा की स्थापना निम्बार्क मत में हुई थी और इस रसिक शाखा के अनुयायी तब से 'हरिव्यासी' कहे जाने लगे। हरिव्यास जी का समय १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ठहराया गया है। इन्होंने संस्कृत में 'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि', 'प्रेम-भक्तिवर्द्धिनी' जो निम्बार्काचार्य के दो ग्रन्थों की टीकायें हैं, तथा 'तत्त्वार्थ पंचक' एवं 'पंचसंस्कार निरूपण' ग्रन्थ लिखे थे। हिन्दी में 'महावाणी' नामक इनका एक ग्रन्थ मिलता है जो 'युगलशतक' के भाष्य रूप में है। मधुरोपासना को आगे बढ़ाने वाले हिन्दी के सिद्धान्त-ग्रन्थों में 'महावाणी' का अपना पृथक् महत्वपूर्ण स्थान है जिसमें सेवा, उत्सव, सुरत, सहज तथा सिद्धान्त का निरूपण ललित पदों में किया गया है। १७वीं शताब्दी के निम्बार्क मतानुयायियों में इस ग्रन्थ का बहुत आदर रहा और इसका प्रभाव भी बहुत व्यापक था। हरिव्यास जी ने 'सिद्धान्त सुख' में विद्वतापूर्वक सौन्दर्य रसामृत मूर्ति भगवान कृष्ण को ही सर्वेश्वर एवं एकमात्र परात्पर तत्त्व सिद्ध किया है और निर्गुण ब्रह्म को इन्हीं नित्य विहारी कृष्ण का चिदंश मात्र स्वीकार किया है। हरिव्यास जी का मूल्यांकन करते हुए पं० बलदेव जी उपाध्याय ने लिखा है—

'निम्बार्क मतावलम्बी कवियों में श्री हरिव्यास देव जी का वही स्थान है जो वल्लभ मतानुयायी कवियों में सूरदास जी को प्राप्त है।'

मधुरोपासना को आगे बढ़ाने में हरिव्यास जी के १२ शिष्यों ने भी बहुत अधिक योग दिया था। इनमें परशुरामाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्हें तुलसीदास का समकालीन कहा जाता है। इनके रचे अनेक ग्रन्थों का संग्रह 'परशुराम सागर' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी रुचि दर्शन की ओर अधिक थी और अपनी रचनाओं में इन्होंने तत्व मीमांसा की ओर अधिक ध्यान दिया है।

नामादास ने 'जंगली देस' (राजस्थान) में इनके प्रचार-कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

श्री भट्ट, हरिव्यास जी तथा परशुरामाचार्य द्वारा निम्बार्क मतानुयायियों में शृंगारिक कविताओं की परम्परा हिन्दी में बहुत बाद तक चलती रही। यद्यपि वल्लभा-

चार्य का प्रभाव जैसे-जैसे उत्तर भारत में बढ़ता गया वैसे-वैसे कवियों की रुझान उधर ही होती गई तथापि अपनी श्रृंगारिक विशिष्टता के कारण अनेक भावुक कवियों ने कृष्ण के बाल चित्रण की ओर आकृष्ट न होकर, जो वल्लभ सम्प्रदायी कवियों का एक प्रमुख पक्ष था, श्रृंगारिक परम्परा को ही अपनाया था। विहारी लाल, केशव, घनानन्द रसखान आदि का नाम हम इसी परम्परा में ले सकते हैं।

सखी सम्प्रदाय और टट्टी संस्थान—अकबर के युग तक पहुँचते-पहुँचते निम्बार्क मत में एक ऐसे महानुभाव का उदय होता है जिन्होंने राधा-कृष्ण की पूर्ववर्ती उपासना में और अधिक श्रृंगारिकता और निष्ठा लाने के उद्देश्य से एक पृथक सम्प्रदाय की स्थापना की। इन महानुभाव का नाम है हरिदास जी तथा इनका सम्प्रदाय है सखी सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय की गद्दी वृन्दावन में है। इसका कोई अपना दर्शन नहीं है प्रत्युत निम्बार्क मत को ही मानते हुए केवल आचार की दृष्टि से इसके अनुयायी अपने को सनक-सम्प्रदाय से पृथक रखते हैं। भक्तों के गुणगायकों ने हरिदास जी की पर्याप्त प्रशंसा की है और उनका बहुत अधिक प्रभाव दिखाया है पर नाभादास या इसी प्रकार के अन्य भक्त-गुण गायकों के साम्प्रदायिक विवरणों को ऐतिहासिक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। फिर भी इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि ब्रजभाषा साहित्य की वृद्धि में इनका योगदान महत्वपूर्ण है और कुछ विशेष क्षेत्रों में जिनमें आगरा तथा उसके निकटवर्ती मथुरा-वृन्दावन आदि सम्मिलित हैं इस सम्प्रदाय का काफी बोल-बाला रहा। यहाँ हरिदास जी की अच्छी धाक थी। इनके पद शास्त्रीय संगीतमय थे। ये स्वयं भी अच्छे संगीतज्ञ थे और इनके बारे में यह कहा जाता है कि तानसेन के माध्यम से अकबर ने भी शुरु से इनका संगीत सुना था। इनके पदों के कई संग्रह, 'हरिदास जी के ग्रन्थ' 'स्वामी हरिदास जी के पद', 'हरिदास जी की बानी' आदि नाम से मिलते हैं। यद्यपि इनके पद अन्य कृष्ण कवियों की भाँति कोमल एवं लालित्य-पूर्ण नहीं हैं तथापि भावों की उत्कृष्टता सराहनीय है। स्वामी हरिदास के शिष्य, उनके मामा विट्ठल विपुल जी ने भी इस संस्थान को आगे बढ़ाने में पर्याप्त योग दिया था। इनके बाद विहारनि देव, सरसदेव, नरहरिदेव, रसिक देव ललित किशोरी, ललित मोहिनी आदि छः अन्य आचार्य हुए जिन्होंने अपने आदिगुरु की शिक्षाओं का प्रचार किया। पर हरिदास जी के मत को साहित्य के माध्यम से आगे बढ़ाने में अद्वितीय स्थान रखने वाले, ललितमोहिनी के शिष्य भगवत रसिक का स्थान बहुत ऊँचा है। इनका समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। 'भागवत रसिक की बानी' नाम से इनकी रचनाओं का संग्रह किया गया है। इन्होंने रस और रसिक की व्याख्या में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया है और यहाँ तक घोषित किया है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप
नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र कौ जाप।
जुगल मंत्र कौ जाप, बेद रसिकन की बानी।
श्री बन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महरानी॥

प्रेम देवता मिले बिना, सिद्धि होइ न कारज ।

‘भगवत’ सब पुखदानि, प्रकट में रसिकाचारज ।

इनका पूरा साहित्य रसिकता की स्थापना का ही पूंजीभूत कोष है पर इसका ‘समझना’ सब के लिए सरल नहीं है क्योंकि स्वयं उन्होंने ही कहा है—

‘भगवत रसिक’ रसिक की बातें

रसिक बिना कोउ समझि सकै ना ।

ये सच्चे अर्थों में कवि थे और इन्होंने गद्दी का मोह छोड़ कर जीवनपर्यन्त काव्य-सृजन किया था ।

ललितमोहिनी के पश्चात् चतुरदास, ठाकुरदास तथा राधिकादास जी गद्दी के अधिकारी हुए । इन्हीं राधिका दास जी के शिष्य थे सज्जीशरण (सहचरि शरण) जिनका नाम टट्टी सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों एवं कवियों में आदर के साथ लिया जाता है । इनका समय १९वीं शती के प्रथम चरण में पड़ता है । ‘ललित प्रकाश’ तथा ‘सरसमंजावली’ इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के गुण-गान में इन्होंने विशेष रुचि ली है और इस प्रकार उन्होंने टट्टी सम्प्रदाय के आधुनिक प्रसार में योग दिया है । इन्होंने बिरह की पीर और इस पीर को हरने वाले ‘साँवलिया वैद्य’ के मनोरम चित्र प्रस्तुत करने वाले अनेक पद लिखे हैं जिनसे रसिकता की धारा गतिशील होती है ॥

इनके बाद के आधुनिक आचार्य भी टट्टी संस्थान को आगे बढ़ाने में संलग्न हैं पर प्रभाव क्षेत्र बहुत ही सीमित हो गया है और वृन्दावन के आस-पास के भागों में ही इसके मानने वाले थोड़ी संख्या में रह गये हैं ।

२० : भक्ति-आन्दोलन की आधुनिकतम प्रगति

आचार्यों के युग तक भागवत धर्म के दार्शनिक पक्ष का पूर्ण एवं पर्याप्त विकास हो जाता है। यद्यपि वह युग भी दार्शनिक मौलिकता के अभाव का युग था तथापि भाष्य-कारों की अपनी देन भी कुछ कम न थी और जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से तो यह भक्ति आन्दोलन का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। किन्तु इस युग को कालान्तर में तीन-चार सौ वर्ष पूर्व वाली राजनीतिक परिस्थितियों की पुनरावृत्ति देखनी पड़ती है, जब भारत पराधीनता की एक नई शृंखला में आवद्ध हो जाता है। १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ही पाश्चात्य शक्तियों की सक्रियता आरम्भ हो जाती है और धीरे-धीरे दुर्बल मुगल शासकों के हाथ से विभिन्न छोटी-मोटी राज शक्तियों के हाथों में भटकता हुआ देश अन्त में ईसाई-धर्मावलम्बी अंग्रेजों के हाथ में चला जाता है। राजनीतिक दृष्टि से इस घटना का जितना महत्व है सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसको उतना ही महत्व प्रदान किया जा सकता है। विशेषतया धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को तो इसने बहुत अधिक प्रभावित किया था। ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार तथा राष्ट्रीय नवजागरण ने भारत में अनेक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के संगठन को प्रोत्साहन दिया था। इन संस्थाओं में से कुछ उग्र और कुछ शांति नीति वाली थीं। नवोदित धार्मिक संस्थाओं पर भी उक्त दोनों नीतियों का प्रभाव पड़ा और कुछ धार्मिक समुदायों ने ईसाइयों का घोर विरोध किया तो कुछ ने समझौते की नीति अपनाई। वैष्णव धर्म पर भी इन नवोदित सांस्कृतिक समस्याओं का प्रभाव पड़ा, जिससे आधुनिक युग का बहुव्यापी व्यक्तिवाद प्राचीन भागवत धर्म को कुछ नवीन उप-सम्प्रदायों में विभक्त कर देता है। यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में राष्ट्रीय नवजागरण में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों को प्रेरणा प्रदान की थी। जिससे अनेक प्राचीन सम्प्रदायों को भी कुछ नवीन रूप प्रदान किया गया है। इस दृष्टि से वैष्णव तथा शैव दोनों सम्प्रदायों को आधुनिक युग में सुधारवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित देखा जा सकता है। सुधार की यह भावना इतनी प्रबल होती गई है कि कहीं-कहीं तो जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्राचीन साम्प्रदायिक मान्यताओं का विरोध तक होता दिखाई पड़ता है। आर्य समाज जैसी पूर्णतया सुधारवादी संस्था की स्थापना इसी नवजागरण का प्रतिफल है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल वैष्णव सम्प्रदाय से ही है, अतः हम यहाँ इसी सम्प्रदाय की आधुनिक गतिविधियों का अध्ययन करेंगे।

जिन विभिन्न धार्मिक संस्थाओं की आधुनिक युग में स्थापनायें हुई थीं उनमें राजाराम मोहन राय द्वारा कलकत्ते में स्थापित 'आत्मीय सभा' (१८१५ ई०) जिसका नामकरण सन् १८२८ ई० में 'ब्रह्म समाज' कर दिया गया था वह प्रमुख संस्था है जिसने देश के आध्यात्मिक एवं सामाजिक विकास में बहुत अधिक योग दिया। प्रारम्भ में तो समाज

पर उपनिषदों का ही प्रभाव रहा पर राजा राम के नेतृत्व के बाद जब १८४२ ई० में इस समाज को देवेन्द्र ठाकुर का नेतृत्व प्राप्त हुआ तब इसमें भक्तितत्व को प्रधानता दी जाने लगी और सदस्यों ने प्रार्थना तथा प्राचीन भक्ति के अनेक उपकरणों को अपनाना आरम्भ कर दिया। समाज को वैष्णव धर्म की ओर उन्मुख करने का यह प्रथम प्रयास था पर 'अन्व विश्वास' की पूर्ण उपेक्षा अब भी की जाती रही और मूर्ति पूजा का विरोध बराबर चलता रहा। निश्चय ही यह मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता के प्रति एक आन्दोलन ही था। देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने ठाकुर घराने में चली आने वाली परम्परागत दुर्गा-पूजा को भी बन्द करवा दिया। सौभाग्यवश इन्हें केशवचन्द्र सेन जैसा कर्मठ सहयोगी भी प्राप्त हो गया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में १८६२ ई० तक समाज वैष्णव तत्वों को आंशिक रूप से मान कर चलता रहा। तत्पश्चात् समाज दो दलों में विभक्त हो गया। सन् १८६६ ई० में केशव चन्द्र सेन ने एक नये समाज की स्थापना की। अब प्राचीन समाज 'आदि ब्रह्म समाज' कहा जाने लगा। वास्तव में समाज में वैष्णव तत्वों का सम्पूर्ण प्रवेश इस समय से होने लगता है। केशव ने चैतन्य महाप्रभु के मत को, जिसका प्रचार बंगाल में उस समय तक बहुत अधिक हो चुका था अपनाया और चैतन्य के परम भक्त विजय गोस्वामी को 'संकीर्तन' के लिए समाज में आमंत्रित किया। चैतन्य महाप्रभु का 'नगर-कीर्तन' कलकत्ते में बहुत अधिक प्रचलित था और जब समाज ने भी इसे अपना लिया तो इस परम्परा को बहुत अधिक बल मिल गया। नगर की गली-गली में कीर्तन करते हुए कीर्तन-मण्डली भक्ति का व्यापक प्रचार करती रही। इधर समाज ने अपने सुधार कार्यों द्वारा भी लोगों का ध्यान आकृष्ट करना आरम्भ किया। फलतः लगभग पूरे बंगाल में यह संस्था प्रसिद्ध हो गई और इसके द्वारा अनुकरणीय धर्म-साधना शिक्षितों को भी आकर्षित करने लगी। युगावतार रामकृष्ण परमहंस से मिलने (१८७५ ई०) के पश्चात् तो केशव पर वैष्णव धर्म का और भी गहरा रंग चढ़ गया और अब ये एकतारा वाजे पर कीर्तन करने और कराने लगे। अपने समाज में से १—योगी, २—भक्त, ३—ज्ञानी तथा ४—सेवक (समाज-सेवक)—चार प्रकार के लोगों को चुन कर केशव ने इन्हें अलग-अलग ढंग से प्रशिक्षित करना आरम्भ किया जिससे देश की आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति का संग्राम चलाया जा सके। लगभग १८७५ ई० तक केशव के तत्वावधान में समाज उक्त नीति का अनुसरण करता हुआ चल रहा था और केवल कुछ बातों को छोड़ कर अन्य विषयों में वह पूर्णतया वैष्णव रीतियों का पालन करता रहा। केशव स्वयं आरती करते थे, होम करते थे, दुर्गा-पूजा भी कर लेते थे और चैतन्य महाप्रभु के नृत्य और कीर्तन तो जैसे इन सब विधि-विधानों का प्राण ही था, किन्तु व्यक्तिवाद की आधुनिक प्रवृत्ति से केशव भी मुक्त न हो सके और समा के सदस्यों एवं कुछ कर्णधारों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उन्होंने स्वयं को भगवान का प्रतिनिधि कहना आरम्भ कर दिया और इसी अधिकार से आदेश देना शुरू किया। किन्तु ये आदेश सर्वग्राह्य न हो सके। फलतः समाज में भेद उत्पन्न हुआ। अब 'साधारण समाज' की स्थापना हुई, जो कि १८८४-१९१३ तक समाज में पुनः वदिक धर्म तत्व की स्थापना में सक्रिय रहा। यद्यपि भगवान के प्रति भक्ति या अनुरक्ति की

भावना यहाँ भी विद्यमान थी तथापि उसका रूप वैष्णव न होकर बहुत कुछ औपनिषदिक था। सुधार की भावना सर्वोपरि रहती थी और लगभग प्रत्येक सदस्य सामाजिक सुधारों को समाज का परम कर्तव्य मानता था। आज भी समाज के दोनों दल चल रहे हैं और यद्यपि अब इनका रूप सुधारवादी कम पर आधुनिक आध्यात्मवादी अधिक है फिर भी कम से कम उच्च वर्ग के लोगों में तो समाज धार्मिकता का बीजारोपण कर ही रहा है। १८६७ ई० में केशव चन्द्र सेन द्वारा बम्बई में स्थापित 'प्रार्थना समाज' तथा मद्रास का 'वेद समाज' भी समाज के सिद्धान्तों को अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचारित करता रहा। बम्बई के 'प्रार्थना समाज' को डा० आर० सी० भण्डारकर जैसा सदस्य प्राप्त होने का गौरव प्राप्त था यद्यपि मूर्ति पूजा का खण्डन तथा अवतारों में अविश्वास दो ऐसे तत्व थे जो पूर्णतया वैष्णव धर्म के अनुसार ही था।

समाज के तत्वावधान में वैष्णव धर्म को जो रूप प्रदान किया गया था, वह बहुत कुछ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव था। मूर्ति पूजा तथा अवतारों को आधुनिक युग में सरलता पूर्वक शिक्षितों ने स्वीकार करना आरम्भ किया था। समाज में भी इसे अस्वीकृत किया था पर भगवान के प्रति अनन्य भक्ति और नवधा भक्तियों में से कीर्तन को अधिक महत्व दिया गया और देश के कोने-कोने में इसके प्रचार की चेष्टा की गई।

मध्यकालीन धर्मों में गुरु को बहुत अधिक महत्व दिया गया था आधुनिक युग तक आते-आते कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय खड़े हुए जिनमें गुरु को ही सब कुछ माना जाने लगा। इनमें 'राधा स्वामी' मत का नाम विशेष उल्लेखनीय है इस मत के आदि गुरु शिवदयाल ने आगरा में 'राधा स्वामी मत' का प्रचार कार्य आरम्भ किया था। उन्होंने 'सद् वचन' नामक ग्रन्थ भी लिखा था। ये स्वयं को कृष्ण और अपनी पत्नी को राधा के रूप में अपने शिष्यों से पुजवाते थे। यहाँ मन्दिर को कोई महत्व नहीं दिया गया। शिष्यों के लिये गुरु गृह ही सब कुछ था। राय बहादुर लालिगराम ने भी 'प्रेम वाणी' 'प्रेम पत्र' नामक ग्रन्थ लिखे और 'राधा स्वामी' मत को आगे बढ़ाया। इनकी उपाधि थी 'हुजूर महाराजा'। इसी प्रकार ब्रह्म शंकर मिश्र ने भी हिन्दी में साम्प्रदायिक ग्रन्थ लिखे थे। 'राधा स्वामी मत' की गोपनीय साधनों को केवल उसके सदस्य ही जो 'सतसंगी' कहलाते थे सीख सकते थे। इस सम्प्रदाय में गुरु को ईश्वर मानते हुए 'सतसंगी' गुरु का चित्र लेकर साधनाएँ करते हैं। आगरा तथा बनारस के कुछ भागों तक ही यह सम्प्रदाय सीमित रह गया है। आगरा में इसके दो गुरुद्वारे तथा बनारस में एक गुरुद्वारा है। कबीर-पंथियों का इस सम्प्रदाय पर काफी प्रभाव पड़ा है। यहाँ जाति-पाँति और धर्म मत का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी 'सतसंगी' हो सकते हैं। बहुधा कबीर तथा अन्य संत कवियों के गीत यहाँ पढ़े जाते हैं। पर इन्हें हम विशुद्ध निर्गुणवादी भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि गुरु सम्बन्धी इनकी धारणायें इसके विरुद्ध पड़ती हैं।

इन आधार-प्रधान सम्प्रदाय संस्थापक गुरुओं के अतिरिक्त आधुनिक युग में कुछ ऐसे ही महात्माओं का आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता का

न केवल नवीन मूल्यांकन किया, प्रत्युत विश्व को भी इसका महत्व समझाया। इस दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द और संस्था के रूप में 'राम कृष्ण मिशन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आध्यात्मिक जगत में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात करने वाले और भारत को विश्व के समक्ष ऊँचा उठाने में योग देने वाले स्वामी विवेकानन्द का नाम आधुनिक युग के इतिहास में सर्वत्र आदर के साथ लिया जाता है। वेदान्त दर्शन का महत्व विदेशियों को सर्वप्रथम आधुनिक युग में इन्होंने ही समझाया था। इनके गुरु तथा ईश्वर के अवतार माने जाने वाले श्री रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६ ई०) ने बंगाल में महाकाली की पूजा में भक्ति तत्व का जो महत्वपूर्ण समावेश किया था उससे सारा बंगाल प्रभावित हो उठा था। परमहंस के वैष्णव धर्म की छाप युग के गणमान्य व्यक्तियों पर पड़ी थी और एक बार पुनः अनन्य भक्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। समाज कल्याण की भावना का भी इन्होंने प्रचार किया था। पर, पर महंस की आध्यात्मिक एवं भौतिक मान्यताएँ उनके सिद्धान्तों को मूर्त रूप देने का पूरा-पूरा श्रेय हम स्वामी विवेकानन्द (१८६२-१९०२) को देंगे, जिन्होंने न केवल भारत एवं विदेशों में भी वेदांत दर्शन का प्रचार किया था। यद्यपि विवेकानन्द ने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों योगों पर व्याख्या दिये तथा पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे पर गुरु का प्रभाव इन पर बहुत गहरा पड़ा था और ये भक्ति मार्ग को सर्वोच्च स्थान अंत तक देते रहे। इनके अथक परिश्रम से ही बेलूर (कलकत्ता) तथा मायावती (अलमोड़ा के निकट) में दो आश्रमों की स्थापना की गई थी। काशी, प्रयाग तथा बंगलोर में भी संस्थाएँ खोली गयी थीं। इस प्रकार 'राम कृष्ण मिशन' की विभिन्न शाखाओं द्वारा सारे भारत में अध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक कार्य किये जाने लगे और आज भी ये संस्थाएँ हर दृष्टि से समाज की सेवा में लगी हुई हैं। सेनफ्रांसिसको में भी विवेकानन्द ने 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना करके वेदान्त का प्रचार किया था जिससे अनेक विदेशी इनके अनुयायी हो गये थे। यह स्वामी विवेकानन्द का ही प्रभाव है कि आज भी न्यूयार्क, बोस्टन, वाशिंगटन, पिट्सबर्ग तथा सेनफ्रांसिसको में हिन्दू धर्म विशेषतया भक्ति प्रभावित हिन्दू धर्म को शिक्षा देनेवाली अनेक संस्थायें कार्य कर रही हैं। वैष्णव धर्म को जी प्रोत्साहन स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्राप्त हुआ था वह आधुनिक युग में अपने ढंग का अकेला है। वह आधुनिक युग तक चले आने वाले लगभग सभी वैष्णव सम्प्रदाय अधिकांशतः साधन पक्ष तक ही सीमित रह जाते थे; किन्तु विवेकानन्द ने मध्यकालीन आचार्यों की भाँति दर्शन की पुनः स्थापना द्वारा इसमें नवीन स्फूर्ति ला दी। 'ब्रह्म समाज' तथा 'आर्य समाज' द्वारा मूर्ति-पूजा तथा अवतारों के अस्तित्व के विरोध में जो प्रचार किया जा रहा था उससे यह आशंका उत्पन्न हो चुकी थी कि कहीं वैष्णव धर्म से साकार ब्रह्म की आराधना उठ न जाय किन्तु स्वामी विवेकानन्द ने स्थिति सम्भाल ली। दार्शनिक साहित्य की अभिवृद्धि तथा साथ ही भारत के सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण की दृष्टि से तो स्वामी जी द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' का बहुत अधिक महत्व है।

तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसका पूर्ण विकसित रूप हमें आधुनिक युग में, दक्षिण भारत में देखने को मिलता है, दक्षिण भारत के साथ-साथ उत्तर तथा पूर्व भारत में भी इस मत का प्रभाव चैतन्य महाप्रभु द्वारा गतिशील किया गया। वर्तमान युग में श्री के० एस० राजाजी ने सभी माध्वमतावलम्बियों का संगठन करने का सर्वप्रथम प्रयास किया था। उन्होंने तदर्थ १८७७ में 'माध्वसिद्धान्तोन्नाहिनी सभा' की स्थापना की। सौभाग्यवश इसे मैसूर तथा त्रावनकोर के महाराजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ, जिससे माध्वमत के प्रचार का बहुत अधिक बल मिल गया। अब अनेक वैष्णव ग्रन्थों का प्रणयन एवं प्रकाशन आरम्भ हुआ। भाष्य-अनुवाद कार्य भी हुआ, जिससे मध्यकालीन तत्व चिन्तन की धारा आगे बढ़ी। श्री पद्मनाभाचार ने मध्वाचार्य के सिद्धान्तों एवं जीवन पर प्रामाणिक ग्रन्थ भी लिखा। इन सारे कार्यों ने दक्षिण भारत में पुनः एक बार मध्य-कालीन भक्ति-आन्दोलन का वातावरण सृजित कर दिया।

माध्व सम्प्रदाय से प्रभावित तथा बंगाल के लोकप्रचलित वैष्णव तत्वों को लेकर चलने वाला चैतन्य मत, जिसमें गोपी-भाव का प्राधान्य था, १९वीं शताब्दी में, बंगाल में, एक बार पुनः नये जोश से उठा। इस शताब्दी में बहुत अधिक संख्या में शिक्षित वर्ग ने भी इसे अपनाया। इसके 'नगर-कीर्तन' का तो तत्कालीन बंगाली समाज पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि घर-घर और गली-गली में कीर्तन मण्डलियों की संगीतमय ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। जैसा कि हमें ज्ञात है, 'ब्रह्म समाज' जैसी संस्था पर भी इस नगर कीर्तन का प्रभाव पड़ा था। चैतन्य मत के पुनरुद्धार का सारा श्रेय हम परमभक्त श्री विजय कृष्ण गोस्वामी का देंगे जिन्होंने ब्रह्म समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने के पश्चात् चैतन्य मत के प्रचार को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। विदेशों में भी चैतन्य मत का प्रचार इस युग में श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी (बाबा भारती) द्वारा किया गया था। बाबा भारती ने १९०२ ई० में न्यूयार्क में भगवान कृष्ण पर भाषण दिया था। उन्होंने बोस्टन तथा लासएंजिल्स में तो एक मन्दिर भी बनवाया था। अनवरत पाँच वर्षों तक विदेशों में भगवान कृष्ण की भक्ति का गुणगान करके बाबा भारती ने स्वामी विवेकानन्द के कार्य को आगे बढ़ाया था। अपने जीवन के अन्त समय तक (१९१४ ई०) ये वैष्णव धर्म के प्रचार में लगे रहे। उड़ीसा तथा उत्तरी तेलगू प्रदेश में भी इन्हीं के प्रयासों से वैष्णव धर्म को एक बार पुनः नवीन स्फूर्ति एवं शक्ति प्रदान हुई है।

रामानुज के श्री सम्प्रदाय में आधुनिकता का प्रभाव उस समय पड़ता है जब 'उभय-वेदान्त-प्रवर्तन-सभा' की स्थापना १९०२ ई० में मैसूर राज्य के श्री वैष्णव सम्प्रदाय वालों ने किया। उक्त सभा में विशिष्टाद्वैत दर्शन के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया और अनेक वैष्णव रचनाओं को प्रेरित किया। इसी प्रकार मद्रास में एक दूसरी संस्था 'श्री विशिष्टा-द्वैत सिद्धान्त-संगम' के नाम से स्थापित की गई। इसने भी भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाने में तथा विशेषतया दक्षिण भारत में श्री वैष्णव सम्प्रदाय के बढ़ाने में सहायनीय कार्य किया।

उपर्युक्त विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि आधुनिक युग में भी वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए अनेक सतीषियों को भगीरथ प्रयत्न करने पड़े थे। हमें यह भी ज्ञात हुआ

है कि कुछ तो कट्टर पन्थी थे और कुछ उदारवादी। उदारवादियों ने सामाजिक समानता के अर्वाचीन सिद्धांत को महत्व प्रदान किया है और उन्होंने मध्यकालीन सन्तों की भाँति बाह्याडम्बरों तथा वर्णाश्रम की कटु आलोचना की है किन्तु कट्टर वैष्णवों ने अपनी मौलिकता बनाये रखने की भरसक चेष्टा की है। उन्होंने मंदिर एवं मूर्तियों के विरोधियों को उत्तर देने का भी प्रयास किया है। सौभाग्यवश रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ के उत्तराधिकारियों के सम्मुख विरोधी तत्व एक समस्या न बन सके थे। कारण, आधुनिकता से प्रभावित कुछ वैष्णव मतानुयायी अथवा मूर्ति-पूजा एवं जाति-पाँति के कट्टर विरोधी स्वामी दयानन्द के प्रतिवाद में 'सनातन धर्म' नामक संस्था प्रारंभ से ही सक्रिय थी। जिस प्रचार पद्धति का अनुसरण करके 'आर्य समाज' वैष्णव-पद्धति का खण्डन कर रहा था लगभग उसी पद्धति द्वारा 'सनातन धर्म' उसका प्रतिवाद कर रहा था। आशय यह कि प्रत्यक्ष संघर्ष में उदत दोनों धार्मिक संस्था न ही रहे, वैष्णव सम्प्रदायों को इनमें बहुत कम उलझना पड़ा और वे नृत्य, संगीत, भजन, कीर्तन एवं रासलीला में दिन पर दिन अधिक डूबते गये। मंदिर के अधिकाधिक निर्माण तथा विद्यापति, सूर, तुलसी तथा अन्यान्य लोक प्रसिद्ध कवियों के रसमय काव्यों का पठन-पाठन अधिकाधिक प्रचार पाता गया और आज तो लगभग सारा भारत किसी न किसी रूप में मध्यकालीन वैष्णव धर्म की साधना पद्धतियों को लेकर चलता हुआ दिखाई देता है।

श्री, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ—इन चारों प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय के सम्मेलन भी इस युग में होते रहे हैं, जिनका वैष्णव धर्म के आधुनिक इतिहास में बहुत बड़ा महत्व है। ऐसा एक सम्मेलन १९११ ई० में, प्रयाग में हुआ था, जिसकी रिपोर्ट 'ब्रह्मवादिन' (अक्टूबर १९१२) में प्रकाशित हुई थी। सन् १९१३ का सम्मेलन भी महत्वपूर्ण है। इन सम्मेलनों से वैष्णव सम्प्रदायों को बल मिलता रहा है। और पारस्परिक निकटता का भी अवसर प्राप्त होता है।

अब तक वैष्णव धर्म का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि अब्राह्मण जैन धर्म के लोक-जीवन पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका है। विभिन्न धार्मिक संस्थाओं के धर्म प्रचार एवं सेवा कार्य तथा सुप्रसिद्ध संस्थाओं के धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रकाशनों को ही इसका बहुत कुछ श्रेय दिया जायेगा।

२१ : उपसंहार

भक्ति के उद्भव के सम्बन्ध में अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा रही है कि यह ईसाइयत की देन है अथवा कुछ भारतीय विद्वान इसे द्रविड़ या इस्लाम की देन स्वीकार करते रहे हैं। स्वभावतः भक्ति को प्राचीनतम धर्म-साधना-पद्धति सिद्ध करने का मोह उत्पन्न हुआ और लोगों का ध्यान ऋग्वेद की ओर गया। (मध्यकालीन धर्म सम्प्रदायों ने भी श्रुतिसम्मतता प्राप्त करने के लिए वेद से कभी-कभी असम्बन्धित होते हुए भी स्वयं को इससे सम्बन्धित किया था)। ऋग्वेद में भक्ति खोजने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किये गये—(१) विष्णु और कृष्ण का समीकरण तथा (२) भक्ति-भावना सम्बन्धी ऋचाओं की खोज विशेषतया उन ऋचाओं की खोज जिनमें भक्त और भगवान के बीच भावात्मक या रागात्मक सम्बन्धों की झलक मिलती है। पर इस अध्ययन से न तो वैदिक विष्णु तथा भागवत कृष्ण में ही किसी प्रकार का साम्य प्राप्त हो सका है और न उपर्युक्त उद्देश्य से प्रस्तुत की गई ऋचाओं से ही आन्दोलन का रूप धारण कर लेने वाली भक्ति का बीज ऋग्वेद में सिद्ध हो सका है। ऋग्वेद की 'भक्ति' सभी आदि धर्मों में पाई जाने वाली सामान्य भावना है और वह गीता की अर्थार्थी तथा 'भागवत' की काम्या भक्ति है। कोई भी विदेशी या अब्राह्मण प्रभाव इसके मूल में नहीं है। यह पूर्णतया ब्राह्मणीय उपज है और यदि मध्यकालीन भक्ति का मूल नहीं, मूलोत्पादक अप्रत्यक्ष कारण देखा जाय तो वह वैदिक साहित्य में ही मिलेगा, अन्यत्र नहीं।

यद्यपि विष्णु को ऊँचा उठाने के लिए 'ऐतरेय' तथा 'शतपथ' ब्राह्मणों ने बहुत चेष्टा की थी तथापि अब भी वे भक्तों के लिए अपेक्षित सर्वशक्तिमान ऐश्वर्यशाली भगवान नहीं बन सके। 'ब्राह्मण' ने तृत्विक्म की कथा को भी विस्तार दिया पर वराह, वामन आदि सम्बन्धी ब्राह्मण कथाओं का अवतारों से कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात हुआ है, हाँ पुराणकारों ने अवतारों का मेल ब्राह्मणकालीन कथाओं से मिलाने की चेष्टा अवश्य की है। अस्तु ब्राह्मण ग्रन्थों का भक्ति से कोई सरोकार न था, ये यज्ञीय कर्म-काण्डों का ही विस्तार करते रहे और उधर आरण्यक ज्ञान-काण्ड को आगे बढ़ाते रहे। आरण्यकों की परम्परा को आगे बढ़ाने में उपनिषद्कारों ने योग दिया और इसी युग में (स्वेताश्वतर उपनिषद् के युग में—बुद्ध पूर्व) 'महाभारत' एवं 'गीता' में पूर्ण विकास पाने वाली भक्ति का सूत्रपात भक्ति-उत्प्रेरक समस्त मूलभूत भावों के संयोजन के साथ होता है। सगुण तथा निर्गुण—दोनों प्रकार की भक्ति का उद्गम स्थान उपनिषद् ही हैं और इनकी तिथि ९वीं-१०वीं शती ई० पू० मानी जा सकती है। उपनिषदों ने भक्ति-दर्शन को भी महती देन दी है। ब्रह्म को सर्व-शक्तिमान दिखाते हुए उसे ही जगत का कारण बताकर, उपनिषदों में, उसके दोनों रूपों की सुन्दर कल्पना की गई है, पर आग्रह निराकार ब्रह्म का ही अधिक है और आत्मा तथा

परमात्मा में निकट का सम्बन्ध दिखाते हुए दोनों को एक ही नीड़ के दो पक्षी बताया गया है। आशय यह कि औपनिषदिक ब्रह्म तथा अन्यान्य दार्शनिक मान्यताएँ भक्ति दर्शन को प्रभावित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग में सामंजस्य भी नहीं स्थापित किया गया है।

भक्ति को महत्व देने वाला, उसका व्यापक प्रचार करने वाला प्रथम ग्रन्थ है 'महाभाष्य' जिसने शताब्दियों की लौकिक भक्ति-परम्परा को सर्वप्रथम लिपिवद्ध किया। 'महाभारत' के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि भागवत धर्म तब तक लोकप्रचलित हो चुका था। भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वयं सात्वत या वृष्णिवंशीय कृष्ण थे जिसके कुल वालों ने इसके प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया था। इस सम्प्रदाय के बढ़ते हुए प्रभाव ने न जाने कितने पूर्व प्रचलित धर्म सम्प्रदायों को अपने में समेट लिया। इसी प्रकार अनेक वैदिक, उत्तर वैदिक तथा लौकिक देवताओं का समीकरण भी महाभारत युग में ही हुआ था। नारायण-वासुदेव, वासुदेव-विष्णु, वासुदेव-कृष्ण आदि का समीकरण इसी युग में किया गया था। आशय यह है कि पांचरात्रिकों के चतुर्व्यूह सिद्धांत तथा अवतारवाद की स्थापना द्वारा 'महाभारत' ने भागवत, सात्वत या एकान्तिक धर्म को सर्वप्रथम श्रुतिसम्मत सिद्ध करते हुए इसका व्यापक प्रचार किया और नारद तथा चित्रशिखण्डियों को इसके प्रचार एवं राजा वसु उपरिचर को इसके प्रश्रय का श्रेय दिया। यद्यपि यज्ञ तथा तप की अब भी उपेक्षा नहीं की जाती थी तथापि भक्ति को श्रेष्ठता प्रदान करने की चेष्टा की जाती रही और इसे लोक रुचि के निकट तक लाने का प्रयत्न भी किया जा रहा था। चित्रशिखण्डियों के एक लाख श्लोकों वाले (अथ अष्टाष्ट्य) पांचरात्र शास्त्र की रचना लोक धर्म की व्याख्या एवं उसकी श्रुतिसम्मतता के उद्देश्य से ही हुई थी जिससे जगत्-कल्याण, ईश्वर-प्राप्ति तथा हित-साधन हो सके। भागवतों या पांचरात्रिकों के आराध्य देव कृष्ण, इस अध्ययन द्वारा एक ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात हुए हैं और 'छान्दोग्य' उपनिषद् के देवकी-पुत्र कृष्ण तथा 'महाभारत' एवं पुराणों के कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं। अस्तु, मैक्समूलर तथा मैकडोनल-कीथ का पार्थक्य वाला मत मान्य नहीं है। यह भी ज्ञात हुआ है कि कृष्ण आदि देवता नहीं थे, प्रत्युत उपदेशक थे। इन्हें देवत्व प्रदान करने की घटना इनके जीवन-काल के बाद ही हो सकती है। ये सात्वत या वृष्णिवंशीय थे और मथुरा इनका जन्मस्थान था। राजनीतिक उत्पीड़न ने शूरसेन प्रदेशीय सात्वतों को दक्षिण भारत की ओर स्थानान्तरण के लिए बाध्य किया था जिसके फलस्वरूप महाभारतीय पांचरात्रिकों के उत्तरीय तथा दक्षिणीय दो दल हो गए। पांचरात्रिकों को भी अप्रत्यक्ष दीक्षित तथा कुछ अन्य विद्वानों ने अवैदिक कहा है किन्तु जहाँ तक महाभारत युग का प्रश्न है पांचरात्रिकों का वेद-मत से अपना पृथक् सिद्धांत होत हुआ भी वे वेदविरोधी तो किसी प्रकार भी न थे, हाँ, युग की आवश्यकतानुसार उन्होंने यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा तपों को भक्ति की ओर अवश्य उन्मुख कर लिया था। इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म को भी उन्होंने सहिष्णुतापूर्वक अपनाते हुए शूद्रों के लिए भी भक्ति का मार्ग खोल दिया था। पर इस युग में कहीं भी उन्होंने श्रुतियों का विरोध नहीं किया है। महाभारतकालीन भक्ति में श्रवण-कीर्तन आदि सभी विधियाँ उपलब्ध

हैं, पर उस समय तक मधुरोपासना की कोई गुंजाइश नहीं हो पाई थी और बालगोपाल से महाभारतकालीन पांचरात्रिक अपरिचित थे। पर हम डा० भण्डारकर तथा डा० राय चौधरी से सहमत नहीं हो सके हैं कि बाल गोपाल आभीरों की देन हैं। यह पूर्णतया ब्राह्मणीय मस्तिष्क की उपज है, हाँ तिथि अवश्य पहली शती ई० के लगभग पड़ती है। भक्ति का स्वरूप समन्वयात्मक था और आराध्य देव भगवान् वासुदेव-कृष्ण थे जिनका पद क्रमशः ऊँचा उठता जा रहा था। 'महाभारत' में हमें बराह, नृसिंह, वामन, भागविराम, दाशरथि राम तथा कृष्ण इन छः अवतारों के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म, बलराम तथा कल्कि को लेकर आगे दस अवतारों की कल्पना का बोध होता है। 'सर्वभूत हिताय', 'लोक कार्याय', 'भारवतरणम् पृथिव्याः' 'निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण' आदि अवतारों के उद्देश्य बताये गये हैं। पांचरात्रिक भक्तों को ही हम अवतारों की कल्पना का श्रेय दे सकते हैं, यद्यपि इसका मूल और ये व्यक्तित्व प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। पर हम मोनियर विलियम्स के इस मत से भी सहमत नहीं हो सकते कि राम तथा कृष्ण इन दोनों क्षत्रिय नेताओं को बौद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्राह्मणों द्वारा आवश्यकतावश अवतार स्वीकार किया गया। यह घटना बुद्धपूर्व ही घट चुकी थी, इसके पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं; अतः उक्त विद्वान का मत हमें अमान्य है। 'रामायण' महाकाव्य के अन्तर्साक्षियों से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जैकोबी, मैकडोनल तथा भण्डारकर महोदय का यह मत अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि वाल्मीकि ने राम को अवतार रूप में नहीं स्वीकार किया है, प्रत्युत इसके विरुद्ध तथाकथित प्रक्षिप्तांशों को छोड़ देने पर भी, शेष भाग में भी, राम का देवत्व सुरक्षित है और राम के अनन्य भक्त 'रामायण' में विद्यमान है। बार्थ महोदय के इस कथन में भी अधिक सत्यता नहीं प्राप्त हुई है कि कृष्णावतार के पश्चात् रामावतार की कल्पना की गई थी। किन्तु दोनों महाकाव्यों से भी अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गीता' है जिसमें कर्म, ज्ञान तथा भक्ति में से भक्ति मार्ग को न केवल महत्व प्रदान किया प्रत्युत इसकी सुदृढ़ स्थापना करते हुए सगुण भक्ति को बढ़ावा भी दिया। 'गीता' में भक्तों के आराध्य देव का स्वरूप भी निश्चित किया गया और यहाँ भक्तों के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का नियमन किया गया। भक्ति की लगभग सभी विधियाँ परवर्ती ग्रन्थकारों को, विशेषतया पुराणकारों को 'गीता' से ही उपलब्ध हुई हैं। यही कारण है कि प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् के बाद इसी का स्थान है।

महाकाव्य युग से भक्ति भावना का जो प्रसार हो रहा था और जिस प्रकार पांचरात्रिकों का मत उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा था, उस गतिविधि में कालान्तर में अनेक समस्याएँ बाधा बन कर खड़ी हो गईं। इन समस्याओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या थी अब्राह्मण हिन्दू धर्मों का बढ़ता हुआ प्रभाव जो भागवतों को बाह्य एवं आभ्यन्तरिक दोनों रूपों में प्रभावित करके उनके अनुयायियों को या तो अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था अथवा फिर उनकी पूजा-विधियों पर अपनी छाप छोड़ता जा रहा था जिससे आशंका इस बात की हो गई थी कि प्राचीन पांचरात्रिक, सात्वत या भागवत धर्म अपनी मौलिकता खोकर तंत्र-मंत्र के प्रभाव में आ जायेगा या फिर ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था में कुछ ऐसी ढिलाई

आ जायेगी कि भागवतों को वैदिक वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा करके कोई नया रूप ग्रहण करना पड़ेगा। इस धार्मिक कारण के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों ने भी स्थिति गंभीर कर दी थी और महाभारतीय पांचरात्रिकों को इस लहर ने इतना प्रभावित कर दिया कि उनके अधिकांश आगम वेदविरुद्ध होने लगे। ऐसी ही विषम परिस्थिति में वैष्णव पुराणकारों ने भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और इस संघर्षमय युग में सफलता के साथ आन्दोलन को आगे बढ़ाया। ब्राह्मणात्रेतर धर्मों के प्रहारों का मुहूर्त उल्टा देते, ब्राह्मण धर्म के अन्य सम्प्रदायों के बढ़ते हुए प्रभाव से भागवत धर्म की रक्षा करने तथा अपने धर्म को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने का प्रयास साथ-साथ चलता रहा। इतना ही नहीं पूर्व-प्रचलित कर्म एवं ज्ञान-मार्ग को भी बहुत ही सुन्दर ढंग से भक्ति मार्ग की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की जाती रही। पर इस व्यापक संघर्ष के लिए लोकमत का सहारा आवश्यक था जिसे पुराणकारों ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति द्वारा सरलतापूर्वक प्राप्त कर लिया। अवैदिक तत्वों का परिहार करके वर्णाश्रम धर्म एवं श्रुति-स्मृति की सुदृढ़ स्थापना करके ही शूद्र एवं नारियों तक के लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया गया और अब भगवान का लोक-रक्षक के साथ-साथ लोक-रंजन रूप भी प्रचारित हो गया जिससे उपासकों की संख्या में तीव्र गति से अभिवृद्धि होने लगी। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन तथा विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का मूल हम सरलतापूर्वक वैष्णव पुराणों में खोज सकते हैं और 'भागवतपुराण' की प्रति ध्वनि तो हम मध्यकालीन भक्ति साहित्य में स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं।

दक्षिणी भारत में सातवत या वृष्णिगों के स्थानान्तरण के फलस्वरूप भक्ति का प्रचार ई० पू० में ही हो गया और आलवार भक्तों द्वारा इसे व्यापकत्व प्रदान हुआ जिन्होंने अपने मधुर गीतों से दक्षिणी भारत के अधिकांश भाग में भक्ति की धारा प्रवाहित कर दी। किन्तु आलवार युग की भक्ति सम्बन्धी उपलब्धियों का प्रभाव शीघ्र ही खतरे में पड़ गया और शकंके मायावाद ने प्रतिकूल परिस्थिति का सृजन कर दिया। सौभाग्यवश भक्ति आन्दोलन की इस संकटमय स्थिति में आचार्यों का उदय हुआ जिन्होंने समसामयिक विरोधी परिस्थितियों का सामना करते हुए भागवत धर्म को एक बार पुनः श्रुतिसम्मत सिद्ध करने का सफल प्रयास किया। भागवत धर्म की पुनः स्थापना में इन आचार्यों ने बारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक दो महत्वपूर्ण कार्य किये थे—पहला प्रस्थानमयी पर भाष्य रचना एवं खण्डन-मण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थों का निर्माण तथा दूसरा देशाटन एवं तीर्थयात्राओं द्वारा इसका प्रचार। इसी युग में भागवत धर्म प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है—(१) रामानुज का श्री सम्प्रदाय, (२) निम्बार्काचार्य का सनक सम्प्रदाय, (३) मध्वाचार्य का ब्रह्म सम्प्रदाय तथा (४) वल्लभाचार्य का रुद्र सम्प्रदाय, स्वामी रामानन्द ने रामानन्द सम्प्रदाय की स्थापना करके प्राचीन रामोपासना को सर्वप्रथम साम्प्रदायिक रूप प्रदान किया। इन सम्प्रदायों के विकास के लिए वातावरण भी बहुत ही उपयुक्त रहा। यद्यपि पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल (तुर्क-अफगानकाल तथा मुगलकाल में) में से प्रथम युग में तो तुर्क-अफगानों की धार्मिक असहिष्णुता ने आर्थिक शोषण एवं राजनीतिक उत्पीड़न को जन्म

दिया था और द्वितीय युग के भी कुछ परवर्ती मुगल बादशाह धर्मअसहिष्णु ही सिद्ध हुए तथापि गिरते हुए मन्दिरों तथा टूटती हुई मूर्तियों के प्रति आकर्षण और अधिक बढ़ गया।

लगभग इसी युग में प्राचीन महुरोपासना का समावेश कृष्ण तथा रामावत सम्प्रदाय में होता है जिसके मूल में आन्तरिक एवं बाह्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। आन्तरिक प्रभावों में राम या कृष्ण कवियों, पुराणकारों तथा कुछ आचार्यों का उल्लेख किया जा सकता है और बाह्य प्रभावों में तान्त्रिक एवं सहजिय प्रभाव को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को आगे बढ़ाने में और इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाने में कवियों ने सर्वाधिक योग दिया। सम्पूर्ण भारत में आगे-पीछे इस आन्दोलन को साहित्यिक प्रश्रय प्रदान हुआ। पूरा का पूरा मध्यकालीन भारतीय साहित्य भक्ति भावना से ओत-प्रोत है। यह भक्ति कभी निर्गुण ब्रह्म के प्रति है तो कभी सगुण ब्रह्म के प्रति, कभी आराध्य देव कृष्ण हैं तो कभी राम। इसी युग में, भागवत सम्प्रदाय में कुछ नवीन सम्प्रदायों का भी उदय होता है। इन नवोदित सम्प्रदायों में बंगाल के गौड़ीय सम्प्रदाय, राधावल्लभी सम्प्रदाय, हरि व्यास और सखी सम्प्रदाय आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें चैतन्य महाप्रभु का गौड़ीय सम्प्रदाय तो बंगला साहित्य को ही अधिक प्रभावित करता रहा पर शेष सम्प्रदायों का हिन्दी साहित्य से सीधा सम्बन्ध था और इन सम्प्रदायों में अनेक सफल कवि हुए जिन्होंने भक्ति भावना को लोकप्रिय बनाने में सहायनी योग दिया और भारत की भावात्मक एकता की स्थापना में इन कवियों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आधुनिक युग में भी उपर्युक्त चार भागवत सम्प्रदाय पूर्ववत् भक्ति भावना को लेकर चल रहे हैं और वैष्णव धर्म के उत्थान के लिए इनके संगठित सम्मेलन भी हुआ करते हैं। इन सम्प्रदायों तथा कुछ नवोदित वैष्णव उप सम्प्रदायों ने आधुनिक युग में साम्प्रदायिक साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है।

अस्तु भक्ति आन्दोलन ने जन-जीवन को जितना और जिस रूप में प्रभावित किया है वैसे अन्य किसी भारतीय सम्प्रदाय ने किसी भी युग में देश के साहित्य, कला, समाज और धर्म को नहीं प्रभावित किया है। आदि से अन्त तक केवल समन्वयात्मक प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले इस आन्दोलन की चतुर्मुखी देवों का ही प्रतिफल आज का वर्तमान भारतीय समाज है और मस्तिष्क से चाहे जो कुछ भी हो, भारत की अधिकांश जनता हृदय से वैष्णव है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी तथा संस्कृत ग्रन्थ

- अणु भाष्य की बाल बोधिनी टीका, श्रीधर शर्मा, पूना, १९२६।
अष्टछाप राधा बल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, आचार्य सायण और माधव,
१ बलदेव उपाध्याय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४६।
उत्तरी भारत की संत परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार प्रयाग, १९५१।
उपनिषद् संग्रह—आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर।
ऋग्वेद संहिता—सायणाचार्य टीका, पूना वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
कवीर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दीग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९४२।
कल्याण भक्ति अंक, गीता प्रेस, कल्याण भक्त अंक, गीताप्रेस, जनवरी १९५२ ई०।
तैत्तिरीय संहिता, अनन्त शास्त्री स्वास्थ्य मण्डल औध
नवधा भक्ति. जयदयाल गोयनका—गीता प्रेस, गोरखपुर।
नारद पांचरात्र—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
नारद भक्ति सूत्र—गीता प्रेस, गोरखपुर।
निरुक्तम्, उमाशंकर शर्मा—वाराणसी, चौखम्भा, विद्या भवन, १९६१।
पुरुषसूक्तम्—सायणाचार्य, भाषा—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस।
भक्ति योग परीक्षा—मोतीलाल शर्मा—दुर्गापुर, मानवाश्रम, जयपुर, १९५९।
पूर्व मध्यकालीन भारत—नाहर, किताब महश, इलाहाबाद, १९५८।
प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास—नाहर—किताबमहल,
इलाहाबाद, १९५६।
प्रेम भक्ति प्रकाश—धनश्यामदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९२४।
ब्रह्मसूत्र के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन—राम कृष्ण आचार्य—विनोद
पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६०।
भगवद्गीता—चौखम्भा, संस्कृत सिरीज, १९६२।
भक्ति दर्शन—ज्ञानानन्द, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
भक्ति साहित्य की मधुरोपासना—परशुराम चतुर्वेदी—भारती भण्डार, प्रयाग, १९६१।
भागवत—हिन्दुस्तानी बुक डीपो, लखनऊ।
भारत में मुसलिम शासन का इतिहास—एस० आर० शर्मा—लक्ष्मी नारायण, आगरा,
१९५४।
भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—गौरीशंकर उपाध्याय, बनारस, १९४२।
भागवत धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

- मध्यकालीन धर्म-साधना—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—साहित्य भवन लि० प्रयाग, १९५२।
- मध्यकालीन न प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी—साहित्य भवन लि० प्रयाग, १९५२। यजुर्वेद संहिता—वैदिक संस्थान, लखनऊ।
- राधावल्लभी सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य-डा० विजयेन्द्र स्नातक-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५७।
- राम-कथा—कामिल बुल्के—हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५०।
- राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवती प्रसाद सिंह—साहित्यभण्डार, बलरामपुर, अवध १९५७।
- राम भक्ति—साहित्य में मधुरोपासना—भुवनेश्वर नाथ मिश्र—विहार राष्ट्रभाषा, परिषद्, १९५७।
- वैदिक कोष—मधुसूदन शर्मा—बालचन्द्र मंत्रालय, जयपुर।
- वैदिक पदानुक्रम कोष—विशेश्वरानन्द वैदिक शैया संस्था, लाहौर।
- वैदिक माइथालोजी—मकडोनल, अनुवादक—रामकुमार राय—चौखम्भा, विद्या भवन वाराणसी।
- वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी—विवेक प्रकाशन, प्रयाग, १९५३।
- शतपथ ब्राह्मण—अच्युत ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।
- शाण्डिल्य भक्ति सूत्र—गीता प्रेस, गोरखपुर।
- शुक्ल यजुर्वेद संहिता—सनातन धर्म प्रेस, मुरादाबाद।
- श्रीराधा का क्रम विकास—शशिभूषणदासगुप्ता—हिन्दीप्रचारक, वाराणसी, १९५६।
- मद्भागवत सुबोधिनी भाष्य—चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९९१ ई०।
- संत काव्य—परशुराम चतुर्वेदी—किताब महल, प्रयाग, १९५२।
- हिन्दी काव्य धारा—में प्रेम-प्रवाह, परशुराम चतुर्वेदी—किताबमहल, प्रयाग, १९५२।
- हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५९।
- हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—नागरी प्र० सभा, काशी, ग्यारहवाँ सं०।

- A Bird's Eye-View of Pushtimarga* by Natwarlal Gokuldas Shah, Jethlal G. Shah, Secretary, Pushtimargiya Vaishnava Mahasabha, Ahmedabad, 1930.
- Age of the Nandas and Mauryas* by K. A. Nilkant Shastri, Moto Lal Banarsi Das, Banaras, 1962.
- A Hand Book of Vir Saivism* by Dr. S. C. Nandinath, Literary Committee L. E. Association, Dharwar, S. India, 1941.
- A Short Biographical Sketch of Shreemad Vallabhacharya Jee's Life* by Natwarlal Gokul Das Lallu Bhai Chhagan Lal Desai, Ahmedabad, 1928.
- Ancient India* by Dr. Radha Kumud Mukerjee, Indian Press, Allahabad.
- Ancient India and South Indian History* by Dr. S. K. Aiyangar, Oriental Book Agency, Poona, 1941.
- Aspects of Early Vaisnavism* by J. Gonda, N. V. A. Oosthoek Vitgeners Mij. Utrecht, 1954.
- Bengal Vaisnavism* by B. C. Paul, Modern Book Agency, Calcutta, 1933.
- Chaitanya And His Companions* by Rai Bahadur Dr. Dinesh Chandra Sen, University of Calcutta, 1917.
- Chaitanya And His Age* by Rai Bahadur Dr. Dinesh Chandra Sen, University of Calcutta, 1922.
- Chaitanya Pilgrimage and Teachings* by Jadunath Sirkar, M. C. Sirkar and Sons, Calcutta, 1913.
- Chandra Gupta Maurya and His Time* by Dr. Radhakumud Mukerjee, Motilal Banarsi Das.
- Collected Works of Dr. R. G. Bhandarkar*
- Complete Works of Swami Vivekananda* Vol. III, Advaita Ashram, Almora, IV edition, 1932.
- Divine Wisdom of The Dravidian Saints* by A. Govindacharya, C. N. Press, Madras, 1902.
- Early History of the Vaisnava Faith And Movement in Bengal* by Dr. S. K. De., General Printers and Publishers, Calcutta, 1942.
- Early History of Vaishnavism In South India* by S. K. Aiyangar, Oxford University Press, 1920.
- Epic Mythology* by E. W. Hopkins, Strassburg, Verlag von Karl, Trubner, 1915.
- Harvard Oriental Series*, Vol. 18, 19, 20, 24, 25, 31 and 32 (Religion And Philosophy of the Vedas, by Keith)—Harvard University Press, 1925.
- Hinduism Through the Ages* by D. S. Sarma, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1956.
- Hindu Scriptures: Hymns From the Rigveda*, Five Upnishad, The Bhagvadgita by Macnicol Nicol, I. M. Dent, London, 1959.
- History and Doctrine of Ajivakas* by Dr. Basham-Luzar, London, 1951.
- History of Ancient India* by Dr. R. S. Tripathi, Motilal Banarsi Das, Banaras, 1960.

- History of Religion* by George Foot Moore, T. T. Clark, Edinburgh, 1914.
- History of Religion* by Allan Menzies, John Murray, London, 1927.
- History of Sanskrit Literature* by A. A. Macdonell, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1958.
- History of Sri Vaisnavas* by T. A. Gopinath Rao, Madras University, 1923.
- Indian Religion of Grace and Christianity*, Compared and Contrasted by Rudolf Otto, translated by Frank Hugh Foster, Students Christian Movement Press, London, 1930.
- Indian Wisdom* by M. Williams, W. H. Allen and Co., London, 1875.
- Influence of Islam on Indian Culture* by Tarachand, Indian Press, 1946.
- Kabir and The Kabir Panth* by Rev. G. H. Westcott, Christian Church Mission Press, Cawnpore, 1907.
- Krishna and the Purans*, Essay on the Origin and Development of Vaishnavism by Sitanath Tattvabhushan, Brahma Mission Press, Calcutta, 1926.
- Life and Teachings of Sri Madhvacharyar*, by C. M. Padmanabha-char, Progressive Press, Madras, 1903.
- Materials For The Study of Early History of the Vaishnava Sect* by Dr. H. C. Rai Chaudhury, University of Calcutta, 1920.
- Muslim Rule in Ancient India* by Dr. Ishwari Prasad, Indian Press, Allahabad.

3

- Mystics, Ascetics and Saints of India* by J. C. Oman, T. Fisher Unwin, London, 1903.
- Mythology of all Races* Vol. VI (Indian) by A. B. Keith, Marshall James and Co. 1917.
- Outlines of Islamic Culture* by A. M. A. Shastri, Bangalore Press, 1938.
- Pankaratra and Akinadhnya Samhita* by Sahreder.
- Pathway to God In Hindi Literature* by R. D. Ranade, Adhyatma Vidyamandir, Madras, 1954.
- Psalms of Maratha Saints* by Macnicol Nicol, Poona, 1919.
- Ram Das and Ram Das's* by Dr. Wilbur S. Deming, Association Press (Y. M. C. A) Calcutta, 1928.
- Rashtrakutas and Their Times* by A. S. Altekar, Oriental Book Agency, 1934.
- Redemption, Hindu and Christian* by Sydney Cave, Oxford University Press, 1919.
- Religious Sects of Hindus* by H. H. Wilson, Sushil Gupta, Calcutta, 1958.
- Report of the Summer School of Hindu Religion*, 1950 Session of Tirmulai by Prof. P. V. Ramanujswami, Tirmulai, Tirupati, Devasthanam Press, 1951.
- Sacred Books of the East and West (Upnishad)*, Oxford Claren-

- don Press, 1884.
- Social and Religious Life in the Griha Sutras* by Dr. V. M. Apte, The Popular Book Depot, Bombay, 1954.
- Shree Krishna Chaitanya*, Vol. I by Nishikant Sanyal, Sree Gaudiya Math, Royapetaha, Madras, 1933.
- Sri Madhvacharya* by C. N. Krishna Swami Aiyar and Subha Rau, G. A. Natesan and Co., Madras.
- Sri Vallabhacharya* by Bhai Mani Lal C. Parekh, Sri Bhagvata Dharma Mission, Rajkot, 1943.
- Studies in Puranic Records* by Dr. R. C. Hazra, Dacca University, Dacca, 1940.
- The Age of Imperial Unity*, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1960.
- The Ajivakas* Vol. I by Dr. B. M. Barua, University of Calcutta, 1920.
- The Bhakti Cult in Ancient India* by Dr. B. K. Goswami, B. Banerjee and Co., Calcutta, 1922.
- The Brahman Theists and Muslims of India* by J. C. Oman, T. Fisher Unwin, London.
- The Chaitanya Movement* by M. T. Kennedy, Association Press (Y. M. C. A.) Calcutta, 1925.
- The Classical Age*, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.
- The Crown of Hinduism* by J. N. Farquhar, Oxford University Press, 1919.
- The Evolution of the Khalsa* Vol. I & II by Indu Bhushan Banerjee, University of Calcutta, (Reg.) 1936 and 1947.
- The Foundation of Hinduism* by Dr. Jadunath Sinha, Sinha Publishing House, Calcutta, 1955.
- The Life of Ramanuja Charya* by A. Govindacharya, S. Murthy and Co. Madras, 1906.
- The Living Religions of the Indian People* by Macnicol Nicol, London, 1934.
- The Mythology of The Aryan Nation* by G. W. Cox, Longman Green and Co., 1870.
- The Nirgun School of Hindi Poetry* by P. D. Barthwal, Indian Bookshop, Banaras, 1936.
- The Origin and Development of Religion in Vedic Literature* by P. S. Deshmukh, Oxford University Press, 1933.
- The Philosophy of Vaisnava Religion* Vol. I by G. N. Mallik, Moti Lal Banarsi Das, Lahore, 1927.
- The Post Chaitanya Sahajia Cult of Bengal* by M. M. Bose, University of Calcutta, 1930.
- The Religion and Philosophy of the Atharva-veda* by Dr. N. J. Shende, Oriental Research Institute, Poona, 1952.
- The Religion of Hindus* edited by K. W. Morgan, The Ronald Press, New York.
- The Religion of India* by Max Weber, Free Press, New York, 1960.
- The Religion of India* by Baith

The Religious of Saria br Boith

The Religious Quest India, Indian Theism From Vedic to The Muhammadan Period by MacNicol Nicol, Oxford, 1915.

The Religion of the Rigveda by Dr. H. D. Griswold, Humphrey Milford, Oxford University Press, 1923.

The Sacred Books of the Hindus (Extra Vol. No. 5) Philosophical Teachings in The Upanisad by Pandit Mohan Lal Sandal, Pannini Office, Bhuvanewari Ashram, Allahabad, 1926.

The Tamil Saints by M. S. Purnlingam Pillai, G. A. Natesan and Co., Madras.

5

The Vakatak Gupta Age by R. C. Majumdar, Motilal Banarsi Das, Banaras, 1954.

The Vaishnavas of Gujrat by Dr. N. A. Thoothi, Longman Green and Co., Ltd., 1935.

Vaishnavism, Real and Apparent, Viswa Vaishnava Rajsabha, Calcutta, 1926.

Vedic Age, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.

Vedic Mythology by A. A. Macdonell, Strassburg, Verlag Vonkarl; Trubner, 1897.

Women Saints of East and West, The Ram Krishna Vedanta Centre, London, 1955.

Yugnaddha, The Tantric View of Life by Dr. Herbert V. Gunther, Chawkhamba, Sanskrit Series Office, Banaras, 1952.

